श्रीवृत्ति-प्रभाकर

श्रीस्वामी आत्मानन्दजी मुनि

॥ ॐ ॥

विविधग्रन्थपयोधिमन्थाचल श्रीस्वामी निश्चलदासजीप्रणीत

श्रीवृत्ति-प्रभाकर

*

अनुवादक

श्रीस्वामी आत्मानन्दजी मुनि

*

प्रकाशक

श्रीआनन्दकुटीर-ट्रस्ट, पुष्कर

शिवरात्रि सम्वत् २०२६
द्वितीयावृत्ति

मूल्य
९ रु०

प्राक्कथन

ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी निश्चलदासजीद्वारा रचित हिन्दी भाषामें वेदान्तका यह सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ है। वेदान्तमें वृत्तिमय ही संसार माना गया है। वृत्तिके स्वरूपको सूर्यके समान ज्यों-का-त्यों प्रकाशित कर देनेवाला होनेसे इस ग्रन्थका नाम वृत्ति-प्रभाकर रखा गया है, और यह आठ प्रकाशोंमें विभक्त किया गया है। ग्रन्थके आरम्भमें वृत्ति किसको कहते हैं? वृत्तिका कारण कौन है? और वृत्तिका प्रयोजन क्या है? इन तीन प्रश्नोंको लेकर ही इस ग्रन्थकी प्रवृत्ति हुई है तथा यथार्थ-अयथार्थके भेदसे वृत्ति दो भागोंमें विभक्त की गयी है। उनमें यथार्थ वृत्तिको (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धिके भेदसे षट् प्रमाणोंमें विभक्त किया गया है। इन षट् प्रमाणोंद्वारा जो ज्ञान होता है वह यथार्थ ही होता है, अयथार्थ (भ्रमरूप) नहीं। ग्रन्थके छह प्रकाशोंमें इन छहों प्रमाणोंका विस्तारसे भिन्न-भिन्न वर्णन किया गया है। सातवें प्रकाशमें अयथार्थ अर्थात् भ्रम वृत्तिका बड़े ही विस्तारसे निरूपण किया गया है, क्योंकि वेदान्तकी भाषामें यह संसार भ्रमरूप ही है, यथार्थ नहीं। रज्जु-सर्पके दृष्टांतसे सत्स्वरूप ब्रह्ममें इस संसारकी सत्-असत्से विलक्षण अनिर्वचनीयता बड़ी ही अकाट्य युक्तियोंद्वारा प्रमाणित की गई है, जो कि भाषा ग्रन्थोंमें कहीं भी प्राप्त न हो सकेगी और सत्यके जिज्ञासु इसके मननसे पूरा लाभ उठा सकेंगे। आठवें प्रकाशमें जीव-ब्रह्मका अभेद, प्रत्यक्षका स्वरूप तथा कल्पितकी निवृत्ति आदि गम्भीर विषय, जो वृत्तिके प्रयोजन बनते हैं, उनका विस्तारसे वर्णन किया गया है।

यह ग्रन्थ लगभग ७५ वर्षोंसे श्रीवेंकटेश्वर-प्रेस, बम्बईसे अनेक आवृत्तियोंमें प्रकाशित हो चुका है। परन्तु प्रेसकी असावधानीसे ग्रन्थकी सभी आवृत्तियाँ बहुत अशुद्धियोंके साथ निकलती रहीं। ग्रंथकी भाषा तो बहुत मोटी प्राचीन हिन्दी थी ही। इन दोनों त्रुटियोंके कारण ग्रन्थका महत्त्व लुप्त हो रहा था। अनुवादक महोदयने इन त्रुटियोंको महसूस किया, और बड़े परिश्रमके साथ भाषाविदोंके लाभार्थ बहुत शुद्धिके साथ वर्तमान

प्रचलित भाषामें इसका अनुवाद करके श्रीसस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्यालय, अहमदाबादसे इसकी प्रथमावृत्ति प्रकाशित करायी और प्रकाशन-अधिकार हमारे ट्रस्टको प्रदान कर दिया। इसके साथ ही अपने स्वतन्त्र और गंभीर विचारोंसे पूर्ण इस ग्रंथकी प्रस्तावना भी ५६ पृष्ठोंमें संलग्न कर दी। जिसमें ज्ञानके विना मोक्ष नहीं है, अर्थात् वेदोक्त 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' को अकाट्य युक्तियों और प्रमाणोंद्वारा सिद्ध किया गया है और इससे ग्रंथके महत्त्वमें काफी वृद्धि हुई है। उक्त प्रस्तावनाके पृष्ठ ५३ से ५५ पर इन दोनों त्रुटियों-का विस्तारसे वर्णन किया गया है। पाठकोंसे विनम्र निवेदन है कि ग्रन्थारम्भसे पहले वे प्रस्तावनाका अवश्य मनन करें। हर्षका विषय है कि पाठकोंने आदरपूर्वक इस आवृत्तिको ग्रहण किया, उसीका यह फल है कि इस ग्रंथकी द्वितीयावृत्ति ट्रस्ट प्रकाशित करनेमें समर्थ हुआ है। यह आवृत्ति पूर्ण सावधानीके साथ श्रीहिन्दुस्तानी-आर्ट-काटेज, लखनऊद्वारा प्रकाशित करायी गयी है। आशा है पुस्तककी शुद्धि और सुन्दर छपाई पाठकोंके लिये संतोषप्रद होगी। इसके लिये हम प्रेसके संचालक श्रीसत्यनारायणजी भार्गवके प्रति आभारी हैं। इस आवृत्तिके शोधनमें श्रीस्वामी विश्वेश्वरा-नन्दजी सरस्वती, वेदान्त तीर्थ बी० ए० ने पूरा सहयोग प्रदान किया है, उनकी इस निष्काम सेवाके लिये हम ऋणी हैं। वर्तमान महर्घताके युगमें प्रकाशन व्यय कितना बढ़ गया है और इस सुन्दर छपाईका तो कहना ही क्या, फिर भी ग्राहकोंकी सुविधाके लिये इस आवृत्तिका मूल्य ९) रु० ही रखा गया है।

ग्रन्थकी महिमाके सम्बन्धमें अनुवादकने अपनी प्रस्तावनाके पृष्ठ ५० से ५३ पर पूरा प्रकाश डाला है, इसलिये पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है।

ट्रस्ट द्वारा जो अन्य जीवनोपयोगी बहुमूल्य पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं, उनसे स्वयं लाभान्वित होकर यदि पाठक अपने इष्ट-मित्रोंको भी उनके लाभार्थ परिचित कराएँगे तो इसके लिये हम उनके प्रति आभारी होंगे।

के० एन० भार्गव
प्रधान
आनन्द-कुटीर-ट्रस्ट,
'पुष्कर'

ग्रन्थ-समर्पणम्

येनेरिताः प्रवर्तन्ते प्राणिनः स्वेषु कर्मसु ।
तं वन्दे परमात्मानं स्वात्मानं सर्वदेहिनाम् ।।
यस्य पादांशुसम्भूतं विश्वं भाति चराचरम् ।
रामेश्वरानन्दं वन्दे तं पूर्णानन्दविग्रहम् ।।

जिनकी प्रेरणासे सर्वप्राणी अपने-अपने कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं, उन सर्वजीवोंके निजात्मस्वरूप परमात्माकी मैं वंदना करता हूँ। जिनके पादांशमें उत्पन्न हुआ यह चराचर जगत् प्रकाशित हो रहा है, उन पूर्णानन्दविग्रह सद्गुरु श्रीस्वामी रामेश्वरानन्दजीके चरणकमलोंमें वन्दनासहित यह ग्रन्थ समर्पण है।

।। ॐ ।।

ॐ

वस्तुनिर्देशरूप मंगल

॥ दोहा ॥

जो सुख नित्य प्रकाश विभू नामरूप आधार ।
मति न लखे जिहिं मति लखे सो मैं शुद्ध अपार ॥ १ ॥

अब्धि अपार स्वरूप मम लहरी विष्णु महेश ।
विधि रवि चन्दा वरुण यम शक्ति धनेश गणेश ॥ २ ॥

जा कृपालु सर्वज्ञको हिय धारत मुनि ध्यान ।
ताको होत उपाधिते मोमें मिथ्या भान ॥ ३ ॥

ह्वै जिहिं जाने बिनु जगत् मनहुँ जेवरी साँप ।
नशे भुजग जग जिहिं लहे सोऽहं आपे आप ॥ ४ ॥

बोध चाहि जाको सुकृति भजत राम निष्काम ।
सो मेरो है आतमा काको करुँ प्रणाम ॥ ५ ॥

×

अस्तिभातिप्रिय सिन्धुमें नामरूप जञ्जाल ।
लखि तहँ आत्मस्वरूप निज ह्वै तत्काल निहाल ॥

॥ ॐ ॥

ॐ

[कृपया ग्रन्थारम्भसे पहले प्रस्तावना अवश्य पढ़िये]

प्रस्तावना

मानव-जीवनका मुख्य लक्ष्य

संसारमें प्राणिमात्रकी दौड़-धूप आसुप्तेरामृते अर्थात् जागनेसे लेकर सोनेतक और जन्मसे लेकर मरणपर्यन्त स्वाभाविक जाने अथवा बेजाने [illegible]त् अथवा परम्परासे एकमात्र परमानन्दकी प्राप्ति और दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्तिके निमित्त ही होती है। यद्यपि इसी निमित्तको लेकर प्रत्येक प्राणी सांसारिक भोग्य विषयोंकी सड़कपर अपने मनरूपी घोड़ेको सरपट दौड़ाता हुआ दीख पड़ता है; तथापि कहना पड़ेगा कि वे इसके जीवनका लक्ष्य नहीं बन सकते। क्योंकि जिस-जिस प्राणीने जिस-जिस भोग्य विषयमें और जितनी मात्रामें सुख-बुद्धि ठानकर उसके पीछे दौड़ लगाई थी, उस-उस विषयको उतनी ही मात्रामें प्राप्त कर चुकनेपर वह किसी भी अंशमें संतुष्ट नहीं दिखलाई पड़ता, बल्कि इस निमित्त उसकी प्रवृत्ति कुछ अधिक बढ़ी-चढ़ी ही दीख पड़ती है। मानो वह अपने व्यवहारसे इस बातको स्पष्ट सिद्ध कर रहा है कि उसने उस विषयको सुखस्वरूप जाननेमें सर्वथा भूल की थी और वाञ्छित सुख तो इससे आगे ही था। इसी प्रकार भोग्य विषयोंको लेकर स्वर्गके भोग तो क्या, चाहे ब्रह्मलोकके भोगोंको भी क्यों न प्राप्त कर लिया जाय, फिर भी इस त्रुटिकी पूर्ति होना असम्भव है। क्योंकि इन्द्रादि देवता भी अपने प्राप्त भोगोंसे किसी भी अंशमें संतुष्ट नहीं पाये गये, बल्कि जहाँतक शास्त्रों-द्वारा श्रवण किया जाता है, उनका तो संघर्ष इस निमित्त कुछ विलक्षण

ही सुना जाता है। शास्त्रोंमें वर्णित देवासुरसंग्राम इस विषयकी सत्यताके स्पष्ट द्योतक हैं। इससे यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है कि प्राणिमात्रके जीवनका लक्ष्य सातिशय विषयसुख कदापि नहीं हो सकता, किन्तु निर्विवादरूपसे निरतिशय परमानन्द ही उसके जीवनका स्वाभाविक लक्ष्य है। आशय यह कि मानवमात्र प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति किसी भी मार्गमें प्रवृत्त दीख पड़ता हो, परन्तु साक्षात् अथवा परम्परासे वह लक्ष्य तो एकमात्र यही बनाता है कि हममें दुःखोंका अत्यन्ताभाव हो और ऐसा सुख मिले जिसका कदापि क्षय न हो। चाहे वह अपनी भूलसे मार्ग विपरीत चल पड़े, परन्तु लक्ष्य विपरीत नहीं हो सकता। यहाँ तक कि पामर-से-पामर पुरुष भी अपनी दुष्ट प्रवृत्तिमें लक्ष्य तो यही बनाता है, चाहे उसकी भूलसे उसकी अनिष्ट प्रवृत्तिके फलस्वरूप भारी-से-भारी यम-यातना उसके पल्ले पड़ जाय, परन्तु यम-यातना कदापि लक्ष्य नहीं बनाई जाती। क्योंकि संसारमें प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिरूप यावत् प्रवृत्तियोंका फल दुःख अथवा सुख ही हो सकता है, तीसरा तो कोई फल बनता नहीं है। उनमेंसे दुःख तो कभी किसीको वाञ्छित होता ही नहीं। श्रीमद्भागवतमें समुद्रमथनके दृष्टांतसे यही विषय स्पष्ट किया गया है। जब दैवी-वृत्तिरूप देवता और आसुरी-वृत्तिरूप असुरोंने मिलकर संसाररूपी क्षीर-समुद्रका मथन किया, (क्योंकि संसारमें पामर व विषयी दो प्रकारके ही संसारी मनुष्य होते हैं और दोनोंका वाञ्छित केवल विषय-सुख ही होता है) तब उन्होंने मन्दराचलके समान कठिन पुरुषार्थसे जोकि कच्छपावताररूप भगवान्की पीठके आधारपर चलाया गया था, उस मथनके द्वारा भोग-सामग्रीरूप चौदह रत्न प्राप्त किये। जिस प्रकार क्षीरसे साररूप मक्खनकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार संसारसम्बन्धसे जीवको दुःख-सुखरूप फलकी प्राप्ति होती है और यही संसारका सार है तथा समुद्रके समान यह संसार वार-पाररहित भी है, इसलिये तो इसको क्षीर-समुद्ररूपसे वर्णन किया गया। तथा चूँकि सभी क्रिया-चेष्टा एकमात्र अचल-कूटस्थरूप भगवान्की सत्ताके आधार

ही प्रकट होती हैं, जो कि सम्पूर्ण क्रिया-चेष्टाओंमें स्वयं कछवेकी पीठके समान अचल रहते हैं, अर्थात् उनकी सत्ताविना कुछ नहीं होता और वे स्वयं कुछ नहीं करते, यही कछवेकी पीठके आधार इस मथनका तात्पर्य है। उन रत्नोंमें एक रत्न हलाहल विष (दुःख) भी निकला, भोगोंके फलस्वरूप जिसका प्रकट होना अनिवार्य है, क्योंकि लोक-परलोकके यावत् दुःखोंके मूलमें एकमात्र भोग-प्रवृत्ति ही हेतुरूप बनती है यह अटल नियम है। यदि इसका सदुपयोग किया जाय तो यही जीवका श्रेयस्कर होनेसे यह दुःख रत्नरूप भी है। उस समय अन्य रत्नोंके तो सब ग्राहक बन गये, परन्तु इस विष-रत्नका कोई भी ग्राहक नहीं हुआ और इसके भयसे सम्पूर्ण संसार कम्पायमान हो गया, क्योंकि दुःखको कोई नहीं चाहता। तब इसको तो वह ज्ञान-वैराग्यमूर्ति भगवान् शंकर ही हड़प कर सका, ज्ञानप्रभावसे जिसकी सम्पूर्ण भेद-भावनाएँ समूल दग्ध हो गई थीं, क्योंकि यावत् दुःखोंके मूलमें एकमात्र भेद-भावनाका ही राज्य होता है—

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः। (श्रुति)

इस प्रकार दुःखोंकी आत्यन्तिकी निवृत्ति प्राणिमात्रके जीवनका लक्ष्य स्वीकार करनेमें तो किसी भी प्रकार शंकाका अवकाश ही नहीं है, क्योंकि दुःखके तो नाममात्रसे ही सभी प्राणी स्वाभाविक नाक-भौं चढ़ाते दीख पड़ते हैं। इससे सिद्ध हुआ कि परमानन्दकी प्राप्ति और दुःखोंकी अत्यन्त निवृत्ति प्राणिमात्रके जीवनका स्वाभाविक लक्ष्य है और यही मोक्षका स्वरूप है, इसलिये कहना चाहिये कि मोक्षार्थी तो सभी हैं।

संसारी विषय कदापि सुखस्वरूप नहीं, सुखस्वरूप तो केवल परमानन्द ही है।

अब यदि सांसारिक विषयजन्य सुखोंकी वास्तविकतापर विचार किया जाय तो मुक्तकण्ठसे कहना पड़ेगा कि अपने स्वरूपसे वे तो कदापि

सुखस्वरूप नहीं ठहरते, किन्तु सुखशून्य भोग्य विषयोंमें सुखबुद्धि, यही एकमात्र जीवके दुःखोंकी मूल हुआ करता है। अंततः जिस-जिसने इन विषयजन्य सुखोंको अपने जीवनका लक्ष्य बनाया, कहना चाहिये कि उसने तीनों लोकोंके दुःखोंको अपना लिया है। वर्तमानमें जिस-जिस पशु-पक्षी अथवा देव-मनुष्यादि प्राणीको जिस किसी योनि अथवा तज्जन्य दुःखकी प्राप्ति हो रही है, उसके मूलमें निर्विवादरूपसे एकमात्र हेतु यही हो सकता है कि उसने अवश्य कभी-न-कभी इन सुखशून्य विषयोंमें सुखबुद्धिसे पकड़ की थी। इसीलिये वेद-वेदान्तने इन विषयोंको कदापि सुखस्वरूप नहीं कहा, किन्तु अस्ति-भाति-प्रिय अथवा सत्-चित्-आनन्द एकमात्र भगवान्‌का स्वरूप ही कथन किया है। इसलिये उनकी दृष्टिसे तो तीनों लोक और तीनों कालमें अन्य कोई भी वस्तु सुखस्वरूप ठहर ही नहीं सकती, फिर नाशवान् जड़ विषय तो अपनी जातसे सुखस्वरूप ठहर ही कैसे सकते हैं? इसीलिये उनका तो यह दावा है कि विषयजन्य सुखके भोगकालमें भी प्राणिमात्रको जिस क्षणके लिये और जितनी मात्रामें जिस सुखकी उपलब्धि होती हैं, वह सुख उस विषयसे कदापि नहीं आता, किन्तु उस विषयके निमित्तसे उस समय अपने हृद्देशमें ही स्थित एकमात्र अपने परमानन्दस्वरूपकी ही अभिव्यक्ति होती है, जोकि देश-कालकी सीमासे रहित हैं। इस विषयको संक्षेपसे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

प्रथम तो सुखस्वरूप व आनन्दस्वरूप वही वस्तु हो सकती है, जो सर्वदा एकरस स्थित हो। जो वस्तु कभी है और कभी नहीं, वह तो भला सुखस्वरूप बने ही कैसे? और एकरस वही वस्तु रह सकती है जोकि निर्विकार, देश-कालके परिच्छेदसे रहित, त्रिकालाबाध्य एवं सत्स्वरूप हो। इस प्रकार जो वस्तु निर्विकार सत्स्वरूप है उसका स्वयंप्रकाश होना तो निश्चित ही है और वही आनन्दस्वरूप हो सकती है। इसके विपरीत जब कि ये भोग्य विषय क्षणपरिणामी होनेसे विकारी, देश-कालके चक्करमें रहनेसे उत्पत्ति-नाशरूप और इस प्रकार असत्-जड़रूप अपने स्वभावसे ही हैं, तब ये तो सुखस्वरूप ठहर ही कैसे सकते हैं?

दूसरे, यदि ये विषय ही सुखस्वरूप होते हों तो इन्हें उस कालमें भी हमें सुखी बनाना चाहिये, जबकि हमको इनकी इच्छा नहीं रहती। क्योंकि उदरपूर्ति होनेपर यद्यपि भोजनकी इच्छा कुछ कालके लिये निवृत्त हो गई है; तथापि सुखकी इच्छाका तो किसी भी कालमें लोप नहीं होता और वह उस कालमें भी विद्यमान् रहती है। यदि सुख उस वस्तुसे ही आया हो तो वह वस्तु अब भी हमारे सम्मुख विद्यमान है, परन्तु उदर-पूर्ति होनेपर तो हम ऊर्ध्वबाहु होकर चिल्लाते हैं कि नहीं, नहीं, अब तो एक ग्रास भी विष है। इसी प्रकार रसके अतिरिक्त शब्द, स्पर्श, रूप और गन्ध—इन शेष चार विषयोंको भी जान लेना चाहिये।

तीसरे, यदि ये विषय सुखरूप हों तो संसार में कम-से-कम कोई एक विषय तो सबके लिये सुखस्वरूप ठहरना चाहिये। जैसे मिश्री अपने स्वरूपसे मीठी है तो उसे सभी मीठी कहते हैं। क्योंकि ब्रह्मासे लेकर चिऊँटीपर्यन्त सभी प्राणियोंकी चेष्टा अपने-अपने विचारानुसार यद्यपि भिन्न-भिन्न हैं; तथापि सभीका अभीष्ट एक सुख ही है। परन्तु संसारमें कोई एक भी विषय ऐसा नहीं पकड़ा जा सकता, जिसको सभी प्राणी सुखरूपसे ग्रहण करते हों। इसके विपरीत यहाँ तो कोई धनमें सुख बटोरता दीख पड़ता है तो कोई स्त्री-पुत्रादिमें, कोई इनके रागमें सुख ढूंढ रहा है तो कोई इनके त्यागमें।

चौथे, जिस-जिसने अपने-अपने विचारानुसार जिस-जिस विषयको सुखरूप माना, यदि वास्तवमें वही विषय सुखरूप हो तो उस विषयको प्राप्त कर चुकनेपर सुखके लिये उसकी दौड़-धूप बन्द हो जानी चाहिये, क्योंकि सुखस्वरूप वह वस्तु अब उसको प्राप्त है। परन्तु ऐसा भी देखनेमें नहीं आता, किन्तु वाञ्छित वस्तु प्राप्त हो जानेके बाद भी सुखके निमित्त उसकी अनर्गल प्रवृत्ति देखनेमें आती है।

पाँचवें, यदि विषयोंसे ही सुख प्राप्त होता हो तो सुषुप्तिमें तो सभी विषयोंका अभाव है, इसलिये वहाँ किसीको भी सुख न मिलना चाहिये, परन्तु वहाँ सभीको निर्विषयक सुखकी प्राप्ति होती है।

इस प्रकार यहाँतक यह स्पष्ट हुआ कि एकमात्र त्रिकालाबाध्य सच्चिद्रूप भगवान् ही सुखरूप हो सकते हैं, संसारी विषय कदापि नहीं। अब देखना यह है कि फिर वाञ्छित विषयके संयोगसे सुखकी अभिव्यक्ति क्योंकर होती है ? इस विषयको वेदांत इस प्रकार स्पष्ट करता है कि संसारमें यावत् दुःखोंका मूल एकमात्र रजोगुणी इच्छा ही हुआ करती है, जोकि अज्ञानका कार्य है और जो जीवके हृद्देशमें ही निवास करती है। जब-जब जिस-जिस प्राणीको किसी भी दुःख-सुखकी प्राप्ति होती है, उसके मूलमें किसी विवादके बिना एकमात्र इसी नियमका राज्य होता है कि जब किसी दुःखकी प्राप्ति होती है, तब अवश्य कोई इच्छा उसके हृदयको मसोसती जान पड़ती है और जब किसी सुखकी प्राप्ति होती है, तब अवश्य उसका हृदय किसी-न-किसी इच्छासे खाली हुआ दीख पड़ता है। प्रत्येक प्राणी अपने ही अनुभवसे इस सिद्धांतकी सत्यताको प्रमाणित करेगा। जिस प्रकार वायुद्वारा हिलते हुए दर्पण अथवा पानीमें हम अपना मुँह नहीं देख सकते, परन्तु टिके हुए दर्पण तथा पानीमें उसका स्पष्ट भास होता है; इसी प्रकार सर्वव्यापी होनेसे जो परमानन्द हमारे हृद्देशमें ही भरपूर है, रजोगुणी इच्छारूपी वायुद्वारा हिलते हुए हमारे हृदयरूपी दर्पणमें उसकी अभिव्यक्ति नहीं होती, परन्तु इच्छारूपी वायुके निकल जानेपर स्थिर अन्तःकरणमें उसकी इसी प्रकार अभिव्यक्ति होती है, जिस प्रकार स्वीच दवानेपर बल्बमें बिजलीकी अभिव्यक्ति होती है। तहाँ जाना यह जाता है कि प्रकाश बल्वका नहीं, किन्तु बिजलीका ही है; इसी प्रकार सुख विषयरूपी वल्वका नहीं, किन्तु परमानन्दकी अभिव्यक्तिका ही है। इस प्रकार वाञ्छित पदार्थने अपनी प्राप्तिद्वारा किसी क्षणके लिये हमको सुखी वनानेमें केवल इतना ही काम किया है कि उसने अपनी इच्छासे किसी क्षणके लिये हमारे हृदयको खाली कर दिया है, क्योंकि पदार्थकी प्राप्ति और उसकी इच्छा परस्पर विरोधी होनेसे एक अधिकरणमें समकालीन नहीं रह सकते। इस प्रकार सुख आया तो था एकमात्र इच्छाकी निवृत्तिद्वारा स्थिर अन्तःकरणमें हमारे हृदयमें ही स्थित उस

परमानन्दकी अभिव्यक्तिसे, परन्तु अपने अज्ञानसे सुख आया हुआ जानते हैं हम उस वाञ्छित विषयसे। क्योंकि पदार्थकी प्राप्ति, तत्सम्बन्धी इच्छाकी निवृत्ति, इच्छानिवृत्तिद्वारा हृदयकी स्थिरता और स्थिर हृदयमें परमानन्दकी अभिव्यक्ति—ये चारों एक कालमें ही घटित होते हैं। इससे जीव अपने अज्ञानसे मोहित हुआ वाञ्छित विषयसे ही सुख आया जान अधिकाधिक विषयोंकी इच्छा अपने अन्दर भरकर अपने हृदयको चञ्चल वनाता रहता है और उस परमानन्दसे दूर-से-दूर पड़ता चला जाता है। एक यही अज्ञान जीवके अनन्त दुःखोंका मूल है, इसी अज्ञानसे प्रभावित हो विषयी जीव मृगके समान इन मृगतृष्णारूपी विषयोंके पीछे दौड़-दौड़कर अपनी कमर तोड़ वैठता है और संसारसे खाली-का-खाली ही चला जाता है।

परमानन्दकी प्राप्तिका साधन केवल ज्ञान ही है

यहाँ प्रश्न होता है कि जवकि वह परमानन्द सर्वव्यापी होनेसे हमारे हृदयमें ही भरपूर है तव वह प्राप्त क्यों नहीं होता और उसको किस प्रकार प्राप्त किया जाय? इसका समाधान यही है कि वह परमानन्द है तो हमारे हृदयमें ही भरपूर और वह नित्य ही प्राप्त भी है, परन्तु जीवका हृदय अज्ञानरूपी अन्धकारसे भरपूर रहनेके कारण जीव उसको वहाँ देख नहीं सकता और इसी अज्ञानसे कस्तूरीमृगकी भाँति बाह्य विषयोंमें उसकी खोज करता फिरता है, परन्तु अन्दर खोई हुई वस्तु वाहर मिले तो कैसे? जव गुरु-शास्त्रकी कृपा और विवेक-वैराग्यादि साधनसे सम्पन्न होकर यह जीव अपने परमार्थ-पथपर आरूढ हो, तव अपने आत्मस्वरूपके ज्ञानद्वारा हृदयस्थ अज्ञानान्धकारके निवृत्त होनेपर उसको वहीं साक्षात् प्राप्त कर सकता है। जिस प्रकार अन्धकारका विरोधी प्रकाश ही हो सकता है, इसी प्रकार अज्ञानका विरोधी एकमात्र ज्ञान ही हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। यदि वह परमानन्द अपनेसे पृथक् होता तो उसकी प्राप्तिके लिए यज्ञ-दान-तप आदि अन्य साधन भी किये जा सकते थे; परन्तु जबकि वह अपनेसे अत्यन्त अव्यवहित बल्कि अपना आत्मा ही है और उससे निकट

अन्य कोई वस्तु हो ही नहीं सकती, किन्तु एकमात्र अज्ञानके प्रभावसे ही वह नित्य प्राप्त हुआ भी अप्राप्त-सा भान हो रहा है, तब उसकी प्राप्तिके लिये उसके ज्ञानको त्यागकर अन्य जो भी कुछ साधन किया जायगा, उससे उसकी प्राप्तिके स्थानपर उसको खोना ही होगा। जैसे 'दशम'* जोकि उसका अपना आत्मा ही है उसकी प्राप्तिके लिये उसका ज्ञान ही एकमात्र साधन हो सकता है, अन्य कुछ नहीं। इसीलिये मुक्तकंठसे वेदका यह ढिंढोरा है :—

१. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः—ज्ञानके सिवा मुक्ति नहीं है।
२. ज्ञानादेव तु कैवल्यम्—केवल ज्ञानसे ही मुक्ति होती है।
३. नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय—मोक्षके लिये अन्य कोई मार्ग ही नहीं है।

कर्म-उपासनादि अन्य जितने भी साधन हो सकते हैं वे सब परमानन्दके ज्ञानकी प्राप्तिमें प्रतिबन्धक जो जीवके हृदयमें रहनेवाले भिन्न-भिन्न दोष हैं, उन अपने-अपने दोषोंकी निवृत्तिद्वारा परम्पराके साधन तो हो सकते हैं, परन्तु वे कोई भी परमानन्दकी प्राप्तिके साक्षात् साधन नहीं हो सकते, किन्तु परमानन्दकी प्राप्तिका साक्षात् साधन तो परमानन्दका ज्ञान ही हो सकता है। इसीलिये जैसा वेदने ऊपर वर्णन किया है, परमानन्दकी प्राप्तिका एक ही मार्ग ज्ञान है, अन्य जितने भी साधन हो सकते हैं वे उस एक मार्गके सोपान या पड़ाव तो हो सकते हैं, परन्तु वे स्वतंत्र मार्ग कदापि नहीं हो सकते। इस विषयको यों स्पष्ट किया जा सकता है—

अज्ञानके फलस्वरूप जीवके हृदयमें मल, विक्षेप और आवरण—ये मुख्य तीन दोष स्वाभाविक ही रहते हैं। अन्य जितने भी दोष हैं वे सब इन्हींकी शाखा-प्रशाखा हो सकते हैं। यही अज्ञानान्धकार है, जिसके कारण परमानन्द जीवके हृदयमें भरपूर रहता हुआ भी और इसका निजात्मा होता हुआ भी इसको भान नहीं होता तथा नित्यप्राप्त होता

* पृष्ठ २१ पर इसकी टिप्पणी देखिये।

हुआ भी अप्राप्त-सा रहता है । इन तीनों दोषोंमें भी मूलभूत तो आवरण-दोष ही है, विक्षेप तथा मलदोष इसके परिणाम हो सकते हैं । 'मैं पुण्य-पापका कर्ता, सुख-दुःखका भोक्ता और इसके फलस्वरूप जन्म-मरणका धर्ता संसारी हूँ'—यही आवरणका स्वरूप है और इसी आवरणके नीचे वह परमानन्द छुपा हुआ है । इस आवरणके फलस्वरूप भाँति-भाँतिकी सांसारिक कामनाओंका वेग हृदयमें उमड़ते रहना, यह विक्षेप-दोष कहलाता है । कामनाओंके प्रवाहसे भले-बुरेका विचार न रहकर दुर्वासनाओंका उद्बोध होते रहना, यह मल-दोष कहा जाता है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वन्धनका मूल तो एकमात्र आवरण ही है, आवरणसे विक्षेप और विक्षेपसे मल-दोष उपजते हैं । इस प्रकार भवरोगके रोगी जीवपर अनुग्रह करके वेदने इन तीनों दोषोंकी निवृत्तिके लिये भिन्न-भिन्न तीन ही साधन बतलाये । अर्थात् प्रथम मल-दोषकी निवृत्तिके लिये निष्काम-कर्म, तदनन्तर विक्षेप-दोषकी निवृत्तिके लिये उपासना और तदुपरान्त आवरण-दोषकी निवृत्तिके लिये परमानन्दस्वरूपका ज्ञान, क्रम-क्रमसे ये तीन ही साधन कहे गये; इसीलिये कर्म, उपासना और ज्ञान त्रिकाण्डात्मक ही वेद है । यद्यपि अन्धकारका विरोधी प्रकाश ही हो सकता है, अर्थात् 'मैं कर्ता-भोक्ता संसारी हूँ' इस आवरणका विरोधी 'मैं देहादिसे पृथक् नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वरूप हूँ' साक्षात् करामलकवत् यह ज्ञान ही हो सकता है, कर्म-उपासनादि इस आवरणके विरोधी नहीं हो सकते । बल्कि भेदबुद्धिके विना कर्म-उपासनादिकी सिद्धि न होनेसे ये तो उल्टे इस आवरणके पोषक ही हो सकते हैं । तथापि जबतक प्रथम निष्काम-कर्म और उपासनाद्वारा हृदयमेंसे दुर्वासना और कामनारूपी मल-विक्षेपको न निकाला जाय, तबतक हृदयमें उपर्युक्त ज्ञानका उद्बोध होना सर्वथा असम्भव है । क्योंकि मल-विक्षेप ये दोनों ही इस ज्ञानके प्रतिबन्धक दोष हैं, इसीलिये शास्त्रकारोंने प्रतिबन्धकाभावको सर्व कार्योंके प्रति साधारण कारण-सामग्रीमें स्वीकार किया है । दृष्टांत स्थलपर इस विषयको यों स्पष्ट किया जा सकता है—

कल्पना करो कि एक हौज मटियाले पानीसे भरपूर है और प्रचण्ड वायुसे उसमें खूब हिलोरें उठ रही हैं, इसके साथ ही रात्रिका अन्धकार भी है। अब यदि हम उसमें अपना मुँह देखना चाहें तो कदापि नहीं देख सकते, यद्यपि मुँह पानीके अत्यन्त समीप भी है। पानीमें मुँह देखनेके लिये सबसे पहले हमें उसमें निर्मली बूटी डालकर उसे निर्मल बनाना चाहिये, इसके पीछे स्थल निर्वात करना चाहिये और उसके उपरान्त सूर्यका प्रकाश उदय होनेपर हम एकदम उस पानीमें अपना मुँह देख सकते हैं। यदि प्रथम जल निर्मल न बनाकर निर्वात स्थल और सूर्यका प्रकाश सम्पादन करनेमें हम सफल भी हो जायँ तो मटियाले जलमें हम कदापि अपना मुँह नहीं देख सकेंगे। यदि जल निर्मल करके निर्वात स्थल बनाये बिना किसी प्रकार हम सूर्यप्रकाश सम्पादन करनेमें सफल भी हो जायँ, तब भी हिलोरें मारते हुए पानीमें क्या हम अपना मुँह देख सकते हैं? कदापि नहीं। पानीमें अपना मुँह देखनेके लिये तो हमें प्रथम निर्मल जल, फिर निर्वात स्थल और फिर सूर्यप्रकाश, इस सोपान-क्रमसे ही चलना पड़ेगा। इसी प्रकार हृदयरूप हौजमें जो बुद्धिरूपी जल भरा हुआ है, उसमें अत्यन्त अव्यवहित अपने परमानन्द-स्वरूपका साक्षात्कार करनेके लिये भी हमें प्रथम निष्काम-कर्मद्वारा बुद्धिको दुर्वासनाओंसे निर्मल करना, तत्पश्चात् उपासनाद्वारा चंचलतारूपी विक्षेपको दूर करना होगा और फिर ज्ञानरूपी सूर्य उदय करके अज्ञानरूपी आवरणको दूर करना होगा। इसके सिवा और कोई मार्ग हो ही नहीं सकता। इससे स्पष्ट हुआ कि परमानन्दकी प्राप्तिका एकमात्र मार्ग परमानन्दस्वरूपका ज्ञान ही है और वह अत्यन्त निर्मल अन्तःकरणमें ही उद्भूत हो सकता है। अन्य जितने भी साधन हो सकते हैं वे सब-के-सब अन्तःकरणमें रहनेवाले किसी-न-किसी ज्ञानके प्रतिबन्धक दोषके निवर्तक ही होते हैं। इसलिये वे साक्षात् अथवा परम्परासे ज्ञानके ही साधन हो सकते हैं, परमानन्दके प्रापक वे कोई भी नहीं हो सकते, परमानन्दका प्रापक तो परमानन्दका ज्ञान ही हो सकता है। स्मरण रहे कि इस प्रसंगमें अन्तःकरण और हृदय पर्याय शब्द हैं। अब नीचे संक्षेपसे

इस वातको स्पष्ट किया जाता है कि ज्ञानके अतिरिक्त अन्य जितने भी साधन हैं वे सव भिन्न-भिन्न किस-किस ज्ञानके प्रतिवन्धक दोषको निवृत्त करके किस-किस रूपमें ज्ञानमें सहायक होते हैं। विस्तारसे यह विषय हमारे द्वारा आत्मविलास ग्रन्थमें स्पष्ट किया गया है, जिनको जिज्ञासा हो वहाँ देखें।

ज्ञानके प्रतिबन्धक दोष और उनकी निवृत्तिका उपाय

(१) **'निष्काम कर्म'**—जैसा ऊपर हौजके दृष्टांतसे स्पष्ट किया गया है, मटियाले जलके समान हृदयमें स्थित मलदोष ज्ञानका प्रतिवन्धक है। इस निष्काम-कर्मके आचरणसे उस मल-दोषकी निवृत्ति होती है। अर्थात् सकाम-कर्मकी अवस्थामें अव्यवसायात्मिका वुद्धि होनेसे जहाँ भाँति-भाँतिकी वासनाओंका प्रवाह हृदयमें उमड रहा था और उसके फल-स्वरूप जीवकी गति 'तवेसे उतरे तो चूल्हेमें गिरे' के समान बनी हुई थी, इसके स्थानपर इस निष्काम-कर्मके आचरणसे इस जीवको व्यवसाया-त्मिका बुद्धि प्राप्त हो जाती है, जिससे मानव-जीवनका लक्ष्य संसार न रहकर भगवत्प्राप्ति ही लक्ष्य बन जाता है। कर्मफल भगवद्दर्पण-बुद्धिसे रजोगुणी कर्मोंका वेग घटने लगता है और रजोगुणके घटनेसे जिस भगवान्‌को कर्मफल समर्पण किये जाते थे उसकी प्रेमा-भक्तिका बीज फूट निकलता है। इस प्रकार यह निष्काम-कर्म ज्ञानमें प्रतिवन्धक मलदोषका तो निवर्तक और ज्ञानमें उपयोगी उपासनाका उद्बोधक सिद्ध होता है।

(२) **'उपासना'**—मल-दोषके निवृत्त होनेसे यद्यपि दुर्वासनाओंसे तो पल्ला छूट गया; तथापि हृदयमें चंचलतारूपी विक्षेप घर किये हुए है, जिससे संसारी विषयोंका राग हृदयसे छूट नहीं पाया है, क्योंकि विषय-विरोधी किसी अन्य रागने अभीतक हृदयमें पकड़ नहीं की। और यह नियम है कि हृदय सर्वथा रागशून्य नहीं रह सकता, इसलिये संसारी राग निकालनेके लिये इसमें भगवत्-चरणारविन्दोंका राग भरना जरूरी है। इस प्रसंगमें रागका सामान्य अर्थ प्रेम है। इधर चंचलताके कारण हृदयमें

न गुरु-शास्त्रके वचन ही ठहर सकते हैं और न सारासार विवेक ही खड़ा हो सकता है। किन्तु जिस प्रकार नदीके प्रवाहमें डाला हुआ तृण एक क्षणके लिये भी खड़ा नहीं रह सकता और तत्काल बह जाता है, ठीक यही गति गुरु-शास्त्रके पारमार्थिक वचनोंकी होती है, जिससे पल्ले कुछ नहीं पड़ता। परन्तु इस प्रेमा-भक्तिके आचरणसे जब उस मुरली-मनोहरकी छवि हृदयमें बस जाती है और—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।।

(गीता अ. १० श्लोक ९)

अर्थात् जिनके चित्त और प्राणोंकी गति मुझमें ही है और जो परस्पर मेरा ही कथन व बोधन करते हुए नित्य मुझमें ही संतुष्ट और रमण करते हैं।

इन भगवद्वचनोंके अनुसार जब इस भागवतके चित्त, बुद्धि एवं प्राण भगवददर्पण हो जाते हैं, केवल कर्म ही नहीं, तब स्वाभाविक सांसारिक विक्षेप दब जाता है और निर्विषयक सुखकी प्राप्ति होती है। इस प्रकार उपासना ज्ञानमें प्रतिबन्धक जो विक्षेप उसका तो निवर्तक और विवेकका उद्बोधक सिद्ध होती है।

(३) 'विवेक'—जीवकी यावत् प्रवृत्ति स्वाभाविक एकमात्र सुखके लिये ही होती है। परन्तु जब मृगतृष्णाके जलसमान इन विषयोंके पीछे दौड़-दौड़कर जीवके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता, इसके विपरीत इस प्रेमा-भक्तिके प्रभावसे किसी क्लेशके बिना ही जब स्थिर शान्ति प्राप्त होने लगती है, तब सारासार- विवेकस्वाभाविक हृदयको चहुँ ओरसे घेर लेता है और तब संसारकी नश्वरता तथा भगवान्‌की अचलताका चित्र हृदयमें घर कर जाता है, इसीका नाम विवेक है। इस प्रकार जब हृदयमें विवेककी दुंदुभी बजी, तब संसारी राग स्वाभाविक वैराग्यके रूपमें बदल जाता है। यह अटल नियम है कि जिस विषयमेंसे सत्यता-बुद्धि निकल जाती है, उसमेंसे राग भी स्वाभाविक ही खिसक जाता है, जिससे ब्रह्मलोकके भोग भी यदि इस विवेकवान्‌के सम्मुख खड़े हों तो इसका उनमें भी राग नहीं

होता; क्योंकि भगवत्-चरणारविन्दोंकी प्रेमाभक्ति और विवेकके प्रभावसे उनमेंसे इसकी सत्यता-बुद्धि कूँच कर गई है। इस प्रकार विवेक प्रथम ज्ञानमें प्रतिबन्धक जो अविवेकमूलक संसारी राग, उसकी निवृत्तिद्वारा ज्ञानमें सहायक वैराग्यका उद्वोधक सिद्ध होता है और तदनन्तर शमादि षट्सम्पत्ति एवं मुमुक्षुताका पोषक बनता है।

(४) **'वैराग्य, मुमुक्षुता और शमादि षट्सम्पत्ति'**—जबतक कोई वांछित सुखस्वरूप वस्तु प्राप्त न हो, जीवके हृदयमें स्वाभाविक उसकी इच्छा भरपूर रहती है। विवेक-वैराग्यके प्रभावसे जब इस वैराग्यवान्के हृदयसे संसारी रागके साथ-साथ उसकी इच्छा भी निकल गई, तब उसके स्थानपर तत्त्वजिज्ञासा अर्थात् मुमुक्षुता हृदयमें स्वाभाविक भरपूर हो जाती है, क्योंकि परमानन्दकी प्राप्तिके विना किसी-न-किसी प्रकारकी इच्छा अन्दर रहनी ही चाहिये, इच्छाशून्य यह कदापि नहीं रह सकता। अर्थात् संसारी इच्छा निकल जानेपर हृदयमें स्वाभाविक परमानन्द-प्राप्तिकी इच्छा भरपूर होती है, इसीका नाम 'मुमुक्षुता' है। मुमुक्षुता भरपूर होनेपर जब यह मुमुक्षु जन्म-मरणरूपी संसाररोगका खरा रोगी बन जाता है, तब जिस प्रकार रोगी होनेपर रोगीकी वैद्य और औषधिमें श्रद्धा, पथ्यका पालन और कुपथ्यका त्याग स्वाभाविक होने लगता है, इसी प्रकार इस मुमुक्षुकी गुरु-शास्त्रमें श्रद्धा, शम-दमादिका पालन और समाधान-उपरामके रूपमें मनको चंचल करनेवाली बहिर्मुखी प्रवृत्तियोंका त्याग, इत्यादि षट्-सम्पत्तिका उपार्जन स्वाभाविक बनता चला जाता है।

(५) **'वेदान्त श्रवण'**—इस प्रकार हृदयके मल-विक्षेपादि दोषोंसे छूट कर और विवेक-वैराग्यादि साधनचतुष्टय सम्पन्न होकर जब इस मुमुक्षुका हृदयरूपी क्षेत्र सर्वथा कोमल हो जाता है और परमार्थरूपी वीज धारण करनेके योग्य बन जाता है, तब यह मुमुक्षु श्रद्धाभावसे सद्गुरु एवं सच्छास्त्रकी शरणको प्राप्त होता है और तब स्वाभाविक इसके हृदयमें यह संशयात्मक प्रश्न खड़ा होता है कि वेदान्तशास्त्र जीव और ब्रह्मके स्वरूपकी एकता प्रतिपादन करते हैं अथवा इनका परस्पर भेद? क्योंकि अपनी ही

स्वतंत्र बुद्धिसे कुछ विचार करनेसे पहले श्रद्धासे जिसका हृदय भरपूर है ऐसे इस जिज्ञासुको सत्पुरुषों और सच्छास्त्रोंका मंतव्य जानना जरूरी होता है, जिससे अपनी बुद्धिका सच्चा लक्ष्य स्थिर किया जा सके। यह तो संसारमें भी नियम है कि जबतक प्रथम कोई लक्ष्य स्थिर न किया जाय, तबतक कोई गति हो ही नहीं सकती। इस प्रकार वेदान्तश्रवण ज्ञानमें प्रतिबन्धक प्रमाणगत संशयकी निवृत्तिद्वारा अपने स्वतंत्र विचारके लिये लक्ष्य स्थिर करके ज्ञानमें सहायक मननमें उपयोगी सिद्ध होता है। 'वेदान्तशास्त्र जीव-ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन करते हैं अथवा अभेदका' इस संशयको 'प्रमाणगत संशय' कहते हैं।

(६) **'मनन'**—श्रद्धापूर्वक गुरु-शास्त्रसे जो यह सुना गया है और उसके अनुसार विचारपूर्वक जो यह लक्ष्य स्थिर किया गया है कि जीव और ब्रह्मके स्वरूपकी एकता है, भेद नहीं—इतनेपर ही निर्भर न रहकर अब इस लक्ष्यके अनुसार अपनी ही स्वतंत्र बुद्धिसे युक्तिपूर्वक विचारोंका प्रवाह चलाना और अपनी बुद्धिरूपी तराजूमें उसे ठीक-ठीक तोल लेना 'मनन' कहलाता है। क्योंकि यह केवल श्रद्धाका ही विषय नहीं और केवल श्रद्धासे ही ज्ञानकी प्राप्ति नहीं हो जाती, किन्तु श्रद्धा तो इस मार्गमें केवल प्रवृत्तिका ही हेतु होती है और श्रद्धाविना प्रवृत्ति भी असम्भव है। इस प्रकार वारम्बार मननद्वारा यह मुमुक्षु इस परिणामपर पहुँचता है कि वास्तवमें जैसा वेदान्तशास्त्रने निरूपण किया है, वैसा विचारपूर्वक भी जीव-ब्रह्मकी एकता ही सिद्ध होती है। इस प्रकार मनन ज्ञानमें प्रतिबन्धक प्रमेयगत संशयकी निवृत्तिद्वारा निदिध्यासनमें उपयोगी सिद्ध होता है। 'वास्तवमें जीव-ब्रह्मका भेद सत्य है अथवा अभेद सत्य है' इस संशयको 'प्रमेयगत संशय' कहते हैं और यह मननसे निवृत्त होता है। इस संशयकी निवृत्तिविना आगे मार्ग नहीं खुल सकता, क्योंकि 'संशयात्मा विनश्यति' यह तो प्रसिद्ध ही है।

७—**'निदिध्यासन'**—'वेदान्त-शास्त्र जीव-ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन करते हैं, अथवा अभेदका और विचारद्वारा जीव-ब्रह्मका भेद प्रमाणित

होता है, अथवा अभेद'—यद्यपि श्रवण-मननद्वारा इन दोनों संशयोंकी निवृत्ति तो हुई; तथापि जन्म-जन्मान्तरके संस्कारोंकी दृढ़ताके कारण जब आँखें खोलकर देखा जाता है, तब 'जीव-ब्रह्मका भेद ही सत्य है, कर्ता-भोक्ता जीव ब्रह्म कैसे हो सकता है?' यह विपरीत भावना हृदयको पकड़े ही रखती है। इस मिथ्या विपरीत भावनाकी निवृत्तिके लिये मननके प्रभावसे हृदयमें ब्रह्माकार वृत्तियोंका प्रवाह चलाना, 'निदिध्यासन' कहलाता है। क्योंकि सत्य तो सत्य ही है और मिथ्या मिथ्या ही, जब मिथ्याके अभ्याससे सत्य भी दब जाता है तब सत्यके अभ्याससे मिथ्या उड़ जाय, इसमें तो आश्चर्य ही क्या? इस प्रकार निदिध्यासन ज्ञानमें प्रतिबन्धक विपरीत-भावनाका निवर्तक सिद्ध होता है।

इस रीतिसे जिस उत्तम जिज्ञासुके हृदयमेंसे ज्ञानमें प्रतिबन्धक मल विक्षेपादि दोष निवृत्त हो गये हैं, विवेक-वैराग्यके प्रभावसे जिसके हृदयसे राग एवं अविवेकरूपी पंक धुल गया है और जो शम, दम एवं श्रद्धासम्पन्न होकर सद्गुरु व सच्छास्त्रकी शरणको प्राप्त हो गया है तथा श्रवण-मनन-निदिध्यासनद्वारा संशय-विपर्ययरूप सर्पके मुखसे निकल गया है, उसका अज्ञानरूपी आवरण घिसते-घिसते यहाँतक पतला पड़ जाता है कि 'तत्त्वमसि' इस महावाक्यके श्रवण-मात्रसे ही एकदम उसकी 'अहं ब्रह्मास्मि' के रूपमें ब्रह्माकार वृत्ति उत्पन्न होती है, जिससे 'मैं कर्ता-भोक्ता संसारी हूँ—यह आवरण तत्काल उड़ जाता है और परमानन्दकी नकद प्राप्ति होती है। परमानन्दकी प्राप्तिका यही एकमात्र मार्ग है, इससे भिन्न कोई मार्ग न भूतो न भविष्यति अर्थात् न कोई मार्ग हुआ है और न होगा। इसीलिये वेदका यह ढिंढोरा है कि 'नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' अर्थात् मोक्ष के लिये अन्य कोई मार्ग है ही नहीं।

यहाँतक यह विषय दर्पणके समान स्पष्ट हो जाता है कि परमानन्दकी प्राप्तिका मार्ग एकमात्र परमानन्दका ज्ञान ही है। अन्य जितने भी साधन हो सकते हैं, वे सब-के-सब किसी-न-किसी ज्ञानके प्रतिबन्धक दोषकी निवृत्तिद्वारा ज्ञानके ही साधन हो सकते हैं, वे कोई भी परमानन्दकी प्राप्तिके

स्वतन्त्र साधन नहीं हो सकते। सच पूछिये तो ज्ञान भी अज्ञानरूप आवरण-का ही निवर्तक होता है, वह भी परमानन्दकी प्राप्ति नहीं कराता। भला, नित्यप्राप्त वस्तुके लिये तो साधन ही क्या ? इस प्रकार सच पूछिये तो मानसिक रोगकी निवृत्तिके लिये क्रमशः यही खरी, सुदृढ़ और अटल प्राकृतिक चिकित्सा (Nature's Cure) हो सकती है, अन्य कुछ भी नहीं।

वेद-वेदान्तके इस उत्तम रहस्यको न समझ शास्त्र-संस्कारसे रहित कुछ अर्वाचीन भद्र पुरुषोंने अपने ही दिमागकी उपजसे परमानन्दकी प्राप्तिके लिये पृथक्-पृथक् दो मार्गोंकी कल्पना की है, जिनमें एक मार्गाव-लम्बीके लिये दूसरे मार्गकी कुछ भी अपेक्षा नहीं मानी गई और दोनों मार्ग स्वतंत्र ही परमानन्दके प्रापक माने गये हैं। ऐसा माननेवाले तीन मत हैं, यहाँ उन तीनों मतोंपर विचार किया जाता है—

'ज्ञान और कर्म परमानन्दकी प्राप्तिके स्वतंत्र और निरपेक्ष साधन हैं' इस मतका निरूपण और इसका खण्डन

इनमें एक मत तो मोक्षके लिये ज्ञान और कर्मका स्वातन्त्र्य एवं निरपेक्षता माननेवाला है। यह मत 'ज्ञान और कर्म दोनों साथ-साथ चल सकते हैं' ऐसा समसमुच्चय भी नहीं मानता, किन्तु इसकी मान्यता तो यह है कि परमानन्दका जिज्ञासु चाहे ज्ञानके एक मार्गसे चले अथवा कर्मके दूसरे मार्गसे, यह जिज्ञासुकी स्वतंत्र इच्छापर निर्भर है। इनमेंसे किसी एक मार्गावलम्बीके लिये दूसरे मार्गकी किसी भी अंशमें कुछ भी आवश्यकता नहीं रहती, मानो उसके लिये तो संसारमें दूसरेकी व्यर्थ ही रचना की गई है, ऐसी इसकी मान्यता है। विचारसे देखा जाय तो यह मत न तो किसी युक्ति एवं विचारको ही सहार सकता है और न किसी शास्त्र-प्रमाणके आधारपर ही इसकी रचना हुई है, केवल श्रीमद्भगवद्गीताके 'सांख्य' और 'योग' शब्दोंको पकड़कर, उनके वास्तविक रहस्यतक न पहुँचकर और श्याल-सारमेयन्यायसे उनका मनमाना अर्थ करके ही

अपने मतकी पुष्टि की गई है। थोड़े विचारसे यह बात तो स्पष्ट ही है कि इस मतमें जीव-ब्रह्मके अभेद-ज्ञानको भी परमानन्दकी प्राप्तिका स्वतंत्र मार्ग तो मान ही लिया गया है। अब जरा ध्यानसे देखिये कि स्वतंत्र ज्ञान परमानन्दकी प्राप्ति करानेमें सफल केवल तभी हो सकेगा जबकि परमानन्द जीवका निजात्मस्वरूप माना जाय, क्योंकि ज्ञान केवल अज्ञान और अन्यथा-ज्ञानरूप भ्रमको ही उड़ा सकता है, ज्ञानसे अन्य कुछ भी नहीं सर सकता। इसलिये जबकि परमानन्द जीवका निजात्मस्वरूप होता हुआ अज्ञानसे पृथक्-सा भान होता हुआ माना जाय और नित्यप्राप्त होता हुआ भ्रमसे अप्राप्त-सा भान होता हुआ जाना जाय, तभी और केवल तभी परमानन्द-की प्राप्तिमें ज्ञानकी सफलता हो सकती है। अन्य किसी भी रूपसे ज्ञान परमानन्दकी प्राप्तिमें सफल नहीं हो सकता। जैसे 'दशम'[1] दशम-पुरुषका

---

१ गाथा है कि दश मित्र परस्पर मिलकर देशाटनके लिये निकले। मार्गमें उनको एक भारी नदी आई, जिसे तैरकर उन्हें पार करना पड़ा। परले किनारे पहुँचकर उन्होंने परस्पर विचार किया कि हममेंसे कोई मित्र नदीमें डूब न गया हो, इसलिये हमें अपने दशों मित्रोंको गिनती कर लेनी चाहिये। इस विचारको लेकर उनमेंसे एक आगे आया और अपनेको गिनना भूलकर शेष नवकी गिनती करके चकित हुआ कि एक मित्र नहीं है और वह नदीमें डूब गया है। इस पर दूसरा मित्र आगे आया कि मैं गिनती करता हूँ। उसने भी इसी प्रकारकी भूल की, अर्थात् अपनेको गिनना छोड़ शेष नवको ही गिना। इसी प्रकार दशोंने ही गिनती की और यही भूल करते चले गये, साथ ही परेशानी बढ़ती चली गई। अन्ततः जब सब गिनती कर चुके तब एक मित्रके डूब जानेपर वे उच्च स्वरसे रुदन करने लगे। एक महापुरुष जो दूर बैठे हुए यह सब चरित्र देख रहे थे, इस घटनासे बहुत मुग्ध हुए और द्रवीभूत हो उनके पास आकर उनके रुदनका कारण पूछा। उनकी सब गाथा सुनकर महापुरुषने कहा—'रुदन मत करो, दशम मौजूद है, डूबा नहीं है।' इसपर उनमेंसे एक ने घबराकर पूछा—'दशम कहाँ है?' महापुरुषने पूछनेवालेसे ही फिर गिनती करनेके लिये कहा और उसने पूर्ववत् अपनेको न गिनकर शेष नवको गिना तथा चकित होकर महापुरुषके सामने खड़ा हो गया कि एक मित्र नहीं है। इसपर महापुरुषने उसका

निजात्मस्वरूप होनेसे और नित्यप्राप्त होनेसे जब अज्ञानके प्रभावसे दशमसे पृथक्-सा और अप्राप्त-सा भान होने लगा, तब दशमके ज्ञानद्वारा अज्ञानके उड़ जानेपर दशमने अपने-आपको तत्काल नक़द प्राप्त कर लिया। ऐसे दशमकी प्राप्तिके लिये उसके ज्ञानको छोड़ यदि कोई अन्य मार्ग पकड़ा जाता तो उससे दशमकी प्राप्ति दूभर-से-दूभर ही होती चली जानी चाहिये थी। इसी प्रकार इस मतमें जबकि ज्ञानको परमानन्दकी प्राप्तिका स्वतंत्र मार्ग मान लिया गया है और जबकि परमानन्दको जीवका निजात्मस्वरूप मानकर ही ज्ञानकी सफलता हो सकती है तथा नित्यप्राप्त होनेसे जबकि ज्ञान भी अज्ञानका निवर्तकमात्र ही सिद्ध होता है, तव यह वतलाना चाहिये कि ऐसी निजी और नित्यप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिमें स्वतंत्र कर्म किस रूपसे सफल बनाया जा सकेगा ? हाँ, यदि परमानन्द जीवका निजात्मस्वरूप न मानकर कोई लोकविशेषवासी माना गया होता तो अवश्य कर्मकी सफलता हो सकती थी। परन्तु ऐसा मानकर तो फिर भेद व परिच्छेदकी सत्यताके कारण परम पुरुषार्थसे ही हाथ धोने पड़ सकते हैं, क्योंकि—

१. द्वितीयाद्वै भयं भवति।	द्वैतभावमें भय-ही-भय है।
२. मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति—	यहाँ जो नानात्व देखता है वह मृत्यु-से-मृत्युको प्राप्त होता चला जाता है।
३. अन्योसावन्योहमस्मि न स वेद यथा पशुः।	'वह और है मैं और हूँ' ऐसा जाननेवाला पशुके समान कुछ नहीं जानता।

पृष्ठ २१ की टिप्पणी का शेष—

हाथ पकड़कर कहा कि 'दशम तू है'। इससे सवको प्रसन्नता हुई और सब रोग-शोक निवृत्त हो गये।

इसी प्रकार वेदान्तका यह मुख्य सिद्धान्त है कि जिस प्रकार 'दशम' जो उसका अपना-आप और उसका निजस्वरूप है, उसकी प्राप्तिका एकमात्र साक्षात् साधन उसका ज्ञान ही हो सकता था, इसी प्रकार परमानन्द जो जीवका निजात्मस्वरूप है, उसकी प्राप्तिके लिये भी एक-मात्र उसका ज्ञान ही साक्षात् साधन हो सकता है।

ऐसा वेदका ढिंढोरा है। यदि किसी प्रकार परमानन्दका स्वरूप अपनेसे पृथक् माना जाय, तो पृथक् वस्तुकी प्राप्तिके लिये ज्ञान स्वतन्त्र मार्ग नहीं बन सकता, क्योंकि ज्ञानद्वारा तो केवल अज्ञान ही उड़ाया जा सकता है, अन्य कुछ नहीं। इस प्रकार परमानन्दका स्वरूप पृथक् मानकर तो 'ज्ञान' निष्फल और अभिन्न मानकर 'कर्म' निष्फल ठहरता है। इन दोनों प्रकारों अर्थात् भिन्न और अभिन्नसे जुदा इसका कोई और तृतीय प्रकारका स्वरूप बनता नहीं है, जिससे इसकी प्राप्तिके लिये 'ज्ञान' और 'कर्म' भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र मार्ग बनाये जायँ।

दूसरे, कर्ताविना कर्मकी सिद्धि हो नहीं सकती और जब कर्ता एवं कर्म खड़े हुए, तब बीचमें कर्तव्यका भी किसी-न-किसी रूपमें खड़ा होना जरूरी है। इस प्रकार जब ये कर्ता, कर्तव्य और कर्मरूपी त्रिपुटी खड़ी हो गई, तब अज्ञानका परिणाम होनेसे क्या यह त्रिपुटी अपने मूल अज्ञानको काट सकती है? भला, कहीं फलने भी मूलको काटा है? कदापि नहीं। चाहे कितना भी उत्तम-से-उत्तम निष्काम-कर्म क्यों न हो, वह भी अपना फल अवश्य रखता है। क्योंकि कर्ताविना कर्म नहीं बन सकता, कर्ता भावशून्य नहीं रह सकता और भाव फलशून्य नहीं रह सकता। फल तो भावमें ही है जड़ कर्ममें नहीं, फिर मूल काटनेका क्या प्रसंग? यह विषय हमारे द्वारा गीता–[१]दर्पणकी प्रस्तावनामें बहुत विस्तारसे युक्तिपूर्वक स्पष्ट किया गया है, जिनको जिज्ञासा हो कृपया वहाँ देखें। 'मुमुक्षुको कर्मका त्याग कर्तव्य है' 'कर्म अपने मूल अज्ञानका बाधक नहीं है' 'ज्ञान और कर्मका समुच्चय नहीं है'—इत्यादि उपर्युक्त सिद्धान्तकी सत्यतामें गीता-प्रेससे प्रकाशित श्रीराम-गीतामें सौमित्रिके प्रति भगवान् श्रीरामके निम्न वचन प्रमाणभूत हैं—

आदौ स्ववर्णाश्रमवर्णिताः क्रियाः कृत्वा समासादितशुद्धमानसः।
समाप्य तत्पूर्वमुपात्तसाधनः समाश्रयेत्सद्गुरुमात्मलब्धये ॥७॥

---

१. गीता-दर्पण और आत्मविलास दोनों ग्रन्थ भ० गणपतराम गंगाराम शर्राफ, नया बाजार, अजमेरसे प्राप्त हो सकते हैं।

सबसे पहले अपने-अपने वर्णाश्रमके लिये शास्त्रोक्त कर्मका यथावत् पालन करके चित्त शुद्ध हो जानेपर उन कर्मोंको छोड़ दे और शम-दमादि साधनोंसे सम्पन्न हो आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये सद्गुरुकी शरणमें जाय।

क्रिया शरीरोद्भवहेतुरादृता प्रियाप्रियौ तौ भवतः सुरागिणः ।
धर्मेतरौ तत्र पुनः शरीरकं पुनः क्रिया चक्रवदीर्यते भवः ।।८।।

कर्म देहान्तरकी प्राप्तिके लिये ही स्वीकार किये गये हैं, क्योंकि उनमें प्रेम रखनेवाले पुरुषोंसे इष्ट-अनिष्ट दोनों ही प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। फिर उनसे धर्म-अधर्म दोनोंकी ही प्राप्ति होती है और उनके कारण फिर शरीर प्राप्त होता है, जिससे फिर कर्म होते हैं। इसी प्रकार यह संसार चक्रके समान चलता रहता है।

अज्ञानमेवास्य हि मूलकारणं तद्धानमेवात्र विधौ विधीयते ।
विद्यैव तन्नाशविधौ पटीयसी न कर्म तज्जं सविरोधमीरितम् ।।९।।

संसारका मूल कारण अज्ञान ही है और इन (शास्त्रीय) विधि-वाक्योंमें उस(अज्ञान)का नाश ही (संसारसे मुक्त होनेका) उपाय बतलाया गया है। अज्ञानका नाश करनेमें ज्ञान ही समर्थ है, कर्म नहीं, क्योंकि उस अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला कर्म उसका विरोधी नहीं हो सकता।

'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य'

अर्थात् जो कार्य जिस सम्बन्धसे उत्पन्न होता है वही अपने उस सम्बन्धके नाशका कारण नहीं हो सकता।

नाज्ञानहानिर्न च रागसंक्षयो भवेत्ततः कर्म सदोषमुद्भवेत् ।
ततः पुनः संसृतिरप्यवारिता तस्माद्बुधो ज्ञानविचारवान्भवेत् ।।१०।।

कर्मद्वारा अज्ञानका नाश अथवा रागका क्षय नहीं हो सकता, बल्कि उससे दूसरे सदोष कर्मकी उत्पत्ति होती है। उससे पुनः संसारकी प्राप्ति होना अनिवार्य है, इसलिये बुद्धिमान्को ज्ञान-विचारमें ही तत्पर होना चाहिये।

विशुद्ध विज्ञानविरोचनाञ्चिता विद्यात्मवृत्तिश्चरमेति भण्यते ।
उदेति कर्माखिलकारकादिभिर्निहन्ति विद्याखिलकारकादिकम् ।।१५।।

(वेदान्तवाक्योंका विचार करते-करते) विशुद्ध विज्ञानके प्रकाशसे उदभासित जो चरम आत्मवृत्ति होती है, उसीका नाम विद्या (आत्मज्ञान) है। इसके अतिरिक्त कर्म संपूर्ण कारकादिकी सहायतासे होता है, किन्तु विद्या (अनित्यत्वकी भावनाद्वारा) समस्त कारकादिका नाश कर देती है।

तस्मात्त्यजेत्कार्यमशेषतः सुधीर्विद्याविरोधान्न समुच्चयो भवेत।
आत्मानुसन्धानपरायणः सदा निवृत्तसर्वेन्द्रियवृत्तिगोचरः ॥१६॥

इसलिये समस्त इन्द्रियोंके विषयोंसे निवृत्त होकर निरन्तर आत्मानु संधानमें लगा हुआ वुद्धिमान् पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंका सर्वथा त्याग कर दे। क्योंकि विद्याका विरोधी होनेके कारण कर्मका विद्या (ज्ञान) के साथ समुच्चय नहीं हो सकता।

यावच्छरीरादिषु माययात्मधीस्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम्।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्य तज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ॥१७॥

जबतक मायासे मोहित रहनेके कारण मनुष्यका शरीरादिमें आत्मभाव है, तभीतक उसे वैदिक कर्मानुष्ठान कर्तव्य है। 'नेति-नेति' आदि वाक्योंसे सम्पूर्ण अनात्मवस्तुओंका निषेध करके अपने परमात्मस्वरूपको जान लेने-पर फिर उसे समस्त कर्मोंको छोड़ देना चाहिये ॥१७॥

इस स्थलपर कई महाशय यह आपत्ति कर वैठते हैं कि भगवान् श्रीरघुनन्दनने इन श्लोकोंमें 'कर्म' शब्दसे सकाम-कर्मका ही निषेध किया है, निष्काम-कर्मका नहीं। तथा ऊपर श्लोक १६ में ज्ञान-कर्मसमुच्चयके निषेधद्वारा भी सकाम-कर्म और ज्ञानके समुच्चयका ही निषेध किया गया है, निष्काम-कर्म और ज्ञानके समुच्चयका नहीं। उनकी यह आपत्ति भी भ्रममूलक ही है। क्योंकि प्रथम तो श्लोक ७में शास्त्रविधिसे अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्मानुष्ठानका फल चित्तशुद्धि ही बतलाया गया है और चित्तशुद्धिके पश्चात् आत्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये उन कर्मोंके त्याग, शम-दमादिके पालन तथा सद्‌गुरुशरणागतिकी विधि लगाई गई है। उनको सोचना चाहिये कि सकाम-कर्म कहीं भी चित्तशुद्धिका साधन नहीं

माना गया, इसलिये चित्त-शुद्धिके पश्चात् जिस कर्मत्यागकी विधि की गई है, वह निष्काम-कर्म ही हो सकता है, सकाम कदापि नहीं। दूसरे, श्लोक १६ में जिस कर्मका ज्ञानके समुच्चयके साथ निषेध किया गया है, वह भी सकाम-कर्म नहीं हो सकता, किन्तु निष्काम ही हो सकता है। क्योंकि सकाम-कर्म तो अपने स्वरूपसे सदैव बन्धनका ही हेतु होता है, किसी भी शास्त्रने उसको मोक्षका हेतु नहीं माना। इसलिये जब वह किसी भी अंशमें मोक्षका साधन ही नहीं बन सकता, तब मोक्षके लिये ज्ञानके साथ उसका समुच्चय कैसे बनाया जा सकता था? यदि किसी मतमें सकाम-कर्मके साथ ज्ञानका समुच्चय स्वीकर किया गया हो तो ऐसा भी माना जा सकता था, परन्तु ऐसा भी प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसलिये यहाँ ज्ञानके साथ जिस कर्मके समुच्चयका निषेध किया गया है, वह केवल निष्काम-कर्म ही हो सकता है, सकाम कदापि नहीं। इसी प्रकार श्रुति-भगवतीका भी यही आदेश है—

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

(मु. उ. मु. १, खं. २, मं. १२)

भावार्थ—कर्मरचित लोकोंकी परीक्षा करके (कि वे कर्मजन्य होनेसे और इसलिये वे नाशवान् होनेसे कदापि सुखस्वरूप नहीं हो सकते) ब्राह्मण इनसे वैराग्यको प्राप्त हो। क्योंकि अकृत्रिम वस्तु कर्मद्वारा प्राप्त नहीं की जा सकती (किन्तु जीवका निजात्मस्वरूप होनेसे उसका अपरोक्ष जानना ही उसका पाना है), इसलिये उसके साक्षात्कारके लिये तो समित्पाणि होकर उसको श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरुकी शरणमें ही प्राप्त होना चाहिये।

तीसरे, इस मतके अनुसार जिसने किसी एक मार्गको अपना लिया, उसके लिये दूसरा मार्ग अर्थात् साधन तो सर्वथा निष्फल ही सिद्ध हो जाता है, उसके लिये उसकी कुछ भी उपयोगिता नहीं रहती। परन्तु सिद्धान्तमें तो किसी भी साधनकी निरर्थकता नहीं मानी गई, किन्तु उचित स्थानपर सबका उपयोग किया जाता है। सिद्धान्तमें तो ज्ञान-मार्गको अपना लेनेपर

कर्म मल-दोषकी निवृत्तिद्वारा ज्ञानका उचित साधन ग्रहण किया गया है, निरर्थक कदापि नहीं। परन्तु इस मतमें कर्म-मार्गको अपना लेनेपर ज्ञान सर्वथा निष्फल और निरर्थक ही सिद्ध हो जाता है। फिर ज्ञान-जैसी निर्मल वस्तु जो कि वेदका शिरोमणि (वेदान्त), उपनिषदोंका प्राण और भगवान्‌का आत्मा ही है, ऐसे ज्ञानको निरर्थक बना बैठना साहसकी अवधि है। जिस ज्ञानके सम्बन्धमें गीतामें स्वयं भगवान् मुक्तकंठसे ऐसा ढिंढोरा पीटते हैं—

श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥१॥ (४. ३३)

द्रव्यमय यज्ञोंसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। ज्ञानमें अखिल कर्मोंकी परिसमाप्ति हो जाती है।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि ॥२॥ (४. ३६)

यदि तू सब पापोंसे भी अत्यन्त पापोंका कर्ता है, तो भी उन सब पापोंको इस ज्ञानरूपी नौकाद्वारा भली प्रकार तर जायगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३॥ (४. ३७)

जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि ईंधनके ढेरको जलाकर भस्मीभूत कर डालती है, उसी प्रकार ज्ञानाग्नि सब कर्मोंको भस्मसात् कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ॥४॥ (४. ३८)

इस संसारमें ज्ञानके समान कोई पवित्र वस्तु है ही नहीं।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधि गच्छति ॥४॥ (४. ३९)

ज्ञानको पाकर परमशान्तिको तत्काल पा जाता है।

ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् ॥६॥ (७. १८)

ज्ञानी तो मेरा आत्मा ही है।

अर्थात् जो ज्ञानयज्ञ सभी द्रव्यमय यज्ञोंसे श्रेष्ठ है, जिस ज्ञानमें अखिल कर्म समाप्त हो जाते हैं, जिस ज्ञाननौकाद्वारा महापापी भी तर जाते हैं, जो

ज्ञानाग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्मसात् कर डालती है, जिस ज्ञानके समान संसारमें कोई पवित्र वस्तु नहीं है, जिस ज्ञानको पाकर परम शान्ति तत्काल नक़द प्राप्त हो जाती है और जिस ज्ञानसे सम्पन्न हो कर्ता-भोक्ता जीव भगवान्का आत्मा हो जाता है;' उस प्रकाशस्वरूप ज्ञानसे जड़ कर्मकी तुलना देना, भला यह कौन न्याय होगा ? देखिये तो सही, जिस ज्ञान-यज्ञमें अखिल कर्मोंकी आहुति लग जाती है (४.३३) और जिस ज्ञानसे सम्पूर्ण कर्म भस्मसात् हो जाते हैं (४.३७), ऐसे ज्ञानके साथ भस्मीभूत कर्मोंकी बराबरी लगाना, बुद्धिकी पराकाष्ठा और आश्चर्यकी सीमा ही कहना होगा। क्या गीतामें भगवान्ने कहीं कर्मोंके लिये भी ऐसे निश्चयात्मक और आदरयुक्त वचन श्रीमुखसे कथन किये हैं ? फिर परमानन्दकी प्राप्ति-के लिये किस मुँहसे ज्ञान और कर्मकी स्वतंत्रता एवं बराबरी लगाई जाती है ?

स्मरण रहे कि अपरोक्ष-ज्ञानकी सिद्धि हो जानेपर ज्ञान किसी प्रकार कर्मका निरोधक नहीं होता, किन्तु ज्ञान तो एकमात्र कर्तृत्वाहंकारका ही बाधक होता है, जोकि कर्मफलका मूल है। ज्ञानद्वारा इस अहंकारके दग्ध हो जानेपर ज्ञानीके देहेन्द्रियादिद्वारा यद्यपि स्वाभाविक क्रियाएँ घटित होती हैं; तथापि उनकी कोई प्रतिक्रिया नहीं रहती। यही ज्ञानका आश्चर्यरूप महत्त्व है।

प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग दोनों स्वतंत्र मोक्षके प्रापक हैं, इस मतका खंडन

इसी प्रकार जो 'प्रवृत्ति' और 'निवृत्ति'के नामसे मोक्षके दो भिन्न-भिन्न, स्वतंत्र एवं निरपेक्ष मार्गोंकी कल्पना कर बैठे हैं, वे भी भ्रममें हैं। इस विषयमें नीचे विचार किया जाता है—

यद्यपि प्रकृतिरचित सम्पूर्ण संसार प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो मार्गोंमें ही विभक्त देखनेमें आता है, इन दो मार्गोंसे भिन्न तीसरा तो कोई मार्ग मिलता ही नहीं है; तथापि वे मोक्षके भिन्न-भिन्न स्वतंत्र निरपेक्ष मार्ग हैं,

ऐसा नहीं कहा जा सकता। संसारमें जितनी भी गति, चेष्टा अथवा साधनसामग्री हैं, वे सब इन दो मार्गोंमें ही समावेश पा जाती हैं। उनमें ग्रहणरूप गति व चेष्टाओंका नाम 'प्रवृत्ति' और त्यागरूप गति व चेष्टाओं-का नाम 'निवृत्ति' कहा जाता है। जबकि संसारमें ग्रहण-त्यागके सिवा अन्य कुछ व्यापार होता ही नहीं है, तब प्रवृत्ति-निवृत्तिको छोड़कर अन्य कोई तीसरा मार्ग बन भी कैसे सकता है? यद्यपि प्रकृति तम, रज एवं सत्त्वके भेदसे त्रिगुणात्मक है; तथापि तम अपने स्वरूप से जड़तारूप होनेसे उसमें व्यापारका असम्भव है। इसलिये रज-सत्त्वमें ही व्यापारका सम्भव होनेसे प्रवृत्ति तथा निवृत्तिरूप दो ही मार्ग हो सकते हैं। उनमें रजोगुणका परिणाम 'प्रवृत्ति' और सत्त्वगुणका परिणाम 'निवृत्ति' कहा जाता है। इसी विषयको हमें प्रत्यक्ष-प्रमाणकी कसौटीपर जाँचना चाहिये—

हम देखते हैं कि प्रकृतिकी गाढ़ तमोगुणी अवस्था पाषाणादि जड़ योनियोंमें तो तमोगुणकी गाढ़ताके कारण कोई भी गति व चेष्टा दृष्टिगोचर होती ही नहीं है, परन्तु इससे आगे चलकर तमोगुणकी क्षीणताके कारण उद्भिज्जादि जड़योनियोंमें अन्नमयकोशके विकासके साथ-साथ किञ्चित गति व चेष्टा भी दीख पड़ती है, जिससे वे पूर्वकी अपेक्षा बढ़े-चढ़े दृष्टिगोचर होते हैं। इससे आगे स्वेदजयोनिमें तमोगुणकी अधिक क्षीणता, रजो-गुणके विकास और उसके फलस्वरूप प्राणमयकोशके विकासके कारण उनमें किञ्जित स्थानान्तर गति भी पाई जाती है। इससे आगे बढ़कर अण्डजयोनिमें रजोगुण के पूर्ण विकास और उसके फलस्वरूप मनोमयकोशके विकासके कारण उनमें गति व चेष्टा अमर्यादितरूपसे निकल पड़ती है, जिससे उनमें दिनभर चञ्चलता बनी रहती है। इससे आगे जरायुज-योनिमें किञ्चित् सत्त्वगुणके विकास और उसके फलस्वरूप विज्ञानमय-कोशके विकासके कारण इन योनियोंमें जानकारी भी पाई जाती है, जिससे कुत्ता अपने-परायेकी पहचान करता है इत्यादि। इससे आगे मानवयोनिमें सत्त्वगुणके पूर्ण विकास और उसके फलस्वरूप आनन्दमयकोशके विकासके कारण यहाँ उनमें उद्भिज्जादिके समान जड़ताका लोप होकर और

अण्डजादिके समान चचञ्लताका तिरोभाव होकर सत्त्वगुणका विकास हो आता है, जिससे उनमें सुखकी इच्छा और बौद्धिक ज्ञान पूरा विकसित हो आता है। इससे स्पष्ट है कि तमोगुण जड़रूप, रजोगुण चञ्चलरूप और सत्त्वगुण प्रकाशरूप है। 'जीवविकासवाद' शीर्षकसे यह विषय 'आत्म-विलास' ग्रन्थमें हमारे द्वारा विस्तारसे निरूपण किया गया है। जैसा श्रीभगवान्ने गीता अ० १४ श्लोक ११से १३में इन तीनों गुणोंका लक्षण वर्णन करते हुए श्रीमुखसे ऐसा ही कथन किया है। अर्थात् जब शरीरके सब द्वारों इन्द्रिय-मन-बुद्धयादिमें ज्ञानरूप प्रकाश उत्पन्न हो आता है, तब 'सत्त्वगुण बढ़ा हुआ है' ऐसा जानना चाहिये। लोभ, प्रवृत्तिका आरम्भ और कर्मोंमें शमन न होनेवाली आसक्ति, रजोगुणके बढ़नेपर ये सब प्रकट हो आते हैं। अप्रकाश, प्रवृत्तिका अभाव, प्रमाद एवं मोह, तमोगुणके बढ़नेपर ये सब निकल पड़ते हैं। इससे यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि तमोगुण जड़तारूप है और उसमें प्रवृत्तिका लोप रहता है, रजोगुण चञ्चलतारूप है और उसमें प्रवृत्तिका विकास होता है तथा सत्त्वगुण प्रकाशरूप है जिसमें प्रवृत्तिका शमन, शांति, जानकारी और पहचान है।

इस प्रकार यद्यपि संसारमें रज-सत्त्वके भेदसे मार्ग दो ही हैं; तथापि इन मार्गोंद्वारा मानवकी माँग भी दो हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किन्तु मानवमात्रकी माँग तो एक ही हो सकती है और वह है परमानन्दकी प्राप्तिरूप पूर्ण सुख, किसी अधूरे सुखकी माँग नहीं कही जा सकती, जैसा इस लेखके आरम्भमें यह विषय स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ स्वाभाविक यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जबकि वाञ्छित वस्तु एक ही है, तब उसकी प्राप्तिके लिये रात-दिनके समान परस्पर विरोधी मार्ग दो कैसे ? इसका समाधान यही हो सकता है कि यद्यपि प्रवृत्ति और निवृत्तिरूप दो भिन्न-भिन्न मार्गोंका उपचार किया जाता है; तथापि वस्तुत: ये दोनों एकही अधिकारीके लिये, एक ही कालमें, स्वतंत्र, निरपेक्ष एवं वैकल्पिक मार्ग बनाये गये हों, ऐसा कदापि नहीं कहा जा सकता और न विचारसे ऐसा सिद्ध ही किया जा सकता है। वास्तवमें मोक्षप्राप्तिके एकमात्र मार्ग ज्ञानकी सिद्धिके

लिये देश-काल-पात्रके अनुसार प्रवृत्ति अपने समयपर निवृत्तिमें सहायक तो हो सकती है, परन्तु वह स्वतंत्र निरपेक्ष मार्ग नहीं बनाई जा सकती। मार्ग तो एक निवृत्ति ही हो सकता है और पूर्ण निवृत्ति (सर्वत्याग) का नाम ही ज्ञान है। प्रवृत्ति-निवृत्ति प्रकृतिके राज्यमें ही हैं और प्रकृतिराज्यके ही पदार्थ हैं। जैसा पीछे स्पष्ट किया जा चुका है कि त्रिगुणात्मक प्रकृतिकी आद्य अवस्था तमोगुणमें तो कोई भी प्रवृत्ति-निवृत्ति होती ही नहीं है, किन्तु तमोगुणके क्षीण होनेपर स्वाभाविक रजोगुणका विकास होता है और उस रजोगुणका परिणाम ही प्रवृत्ति है तथा अपनी इस प्रवृत्तिद्वारा रजोगुणके वेगको खलास कर देना, यही एकमात्र प्रवृत्तिका प्रयोजन है। क्योंकि प्रवृत्तिद्वारा रजोगुणके निवृत्त होनेपर ही सत्त्वगुणका उद्बोध सम्भव होता है। आशय यह कि तमोगुणके नीचे रजोगुण और रजोगुण के नीचे सत्त्वगुण दबा हुआ रहता है, इसीलिये तमोगुणके निकलनेपर रजोगुणका विकास और रजोगुणके निकलनेपर सत्त्वगुणका विकास होता है। रजोगुणके विकसित होकर निकलनेके विना केवल तमोगुणके विकासपर ही साक्षात् सत्त्वगुणका विकास होना असम्भव है। जिस प्रकार शरीरमें उत्पन्न हुआ फोड़ा प्रथम जब पक जाता है और उसमें पीप भर जाती है, तब उसके फूटकर पीप निकल जानेपर ही शान्ति मिलती है; इसी प्रकार हृदयमें तमोगुणके परिपक्व होनेपर रजोगुणी पीपका भरना और रजोगुणी पीपके निकल जानेपर सत्त्वगुणी शान्तिका उद्बोध होना निश्चित है। जिस प्रकार आम्रफल जब टहनीसे लगकर और पककर छूट पड़ता है, तभी उससे मिठासकी प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं; इसी प्रकार रजोगुणी प्रवृत्ति भी बढ़कर और पककर अपनी निवृत्तिद्वारा सत्त्वगुणी निवृत्तिमें निवृत हो जानेके लिये है और तदनन्तर ही वह मिठास देनेकी पात्र हो सकती है। इस प्रकार कहना चाहिये कि सर्व प्रकारकी प्रवृत्तिरूपी नदियाँ शास्त्रोक्त विधि-निषेधरूप दो तटोंकी मर्यादाओंमें अपनी गतिसे चलती हुईं निवृत्तिरूप समुद्रमें पर्यवसित होकर निवृत्त होनेके लिये ही हैं।

इस बातको स्वीकार करनेमें तो कभी किसीको अड़चन न होगी कि

प्रकृतिराज्यमें थकान है। प्राणी प्रत्येक प्रवृत्तिसे अपने-अपने समयपर स्वाभाविक थकता है, अर्थात् वह चलना, बैठना, जागना, सोना, कुछ करना, कुछ भी न करना, बोलना, चुप रहना, पढ़ना—इत्यादि सभी प्रवृत्तियोंसे अवश्य थकता है। इस प्रकार जब प्रवृतिमें थकान है तब वह स्वयं कदापि फलस्वरूप नहीं बन सकती, किन्तु वह किसी-न-किसी विक्षेपरूप विकारकी निवर्तक ही सिद्ध हो सकती है, वस्तुकी प्रापक कदापि नहीं। विस्तारके लिये गीता-दर्पणकी प्रस्तावना पृ० १२१–१३६ देखें।

यह बात भी निर्विवाद सिद्ध है कि प्रवृत्ति कदापि अपने स्वरूपसे न इस लोकमें सुख-शांतिका हेतु हो सकती है और न परलोकमें। जबकि वह लोक-परलोकमें सुख-शांतिरूप अर्थका हेतु ही न बनी, तब वह परमार्थका हेतु बनेगी, इसकी तो कल्पना भी क्या की जा सकती है? रजोगुणका परिणाम होनेसे वह तो अपने स्वरूपसे विक्षेपरूप ही है, बल्कि कहना चाहिये कि प्रवृत्तिमें भी जहाँ कहीं, जब कभी और जिस किसीको किसी मात्रामें सुख-शांतिकी उपलब्धि होती है, वह उतनी ही मात्रामें उसकी निवृत्तिका ही प्रसाद होता है, प्रवृत्तिका कदापि नहीं। जैसे हलवेमें मिठास आता है तो एकमात्र शक्करके संयोगसे ही आता है, केवल आटा-घृतसे ही नहीं। आशय यह कि इस लोकमें भी जिस किसीको किसी भोग्य पदार्थकी प्राप्ति होती है, वह उसकी वर्तमान प्रवृत्तिका ही फल नहीं कहा जा सकता; किन्तु कर्मविपाकके सिद्धान्तानुसार वर्तमान प्रवृत्ति तो केवल निमित्तरूप ही होती है, उस फलका उपादानरूप बीज तो फलके सम्मुख पूर्वार्जित कर्म-संस्कार ही हो सकते हैं और वे संस्कार भी त्यागरूप निवृत्तिमूलक ही हो सकते हैं। अर्थात् पूर्वकालमें अवश्य उसने कुछ त्याग किया था और उसके फलस्वरूप वे त्यागके संस्कार ही सत्यस्वरूप परमात्माकी साक्षीमें बीजरूप बनकर अपने समयपर इन पदार्थोंके रूपमें फूटकर निकलते हैं, ऐसा माननेके सिवा और कोई चारा ही नहीं है। क्योंकि पकड़से तो कभी किसीको कुछ मिलता ही नहीं है, यह तो अकाटच सिद्धान्त है। भोग्य पदार्थोंकी प्राप्तिके पश्चात् उनके संयोगसे भी जब कभी किसीको सुख-शांतिकी प्राप्ति

होती है, उसके मूलमें भी निवृत्तिका ही राज्य होता है। अर्थात् उनके संयोगसे उसी पुरुषको उसी कालमें सुखकी प्राप्ति होती है, जिसको पहले उनकी इच्छा रही हो और उन पदार्थोंके द्वारा वर्तमानमें उसकी इच्छानिवृत्ति हो रही हो। यदि उसको उनकी इच्छा नहीं और उनके द्वारा उसकी इच्छानिवृत्ति भी नहीं तो वे पदार्थ उसके लिये कदापि सुख-साधन नहीं हो सकते। जैसा यह विषय पीछे पृष्ठ १०—११ पर स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार इहलौकिक भोगोंकी प्राप्ति अथवा उनके संयोगसे सुखकी अनुभूतिके मूलमें तो एकमात्र निवृत्ति ही फलरूप सिद्ध होती है। फिर पारलौकिक सकाम स्वर्गादिकी प्राप्तिमें भी एकमात्र निवृत्तिरूप यज्ञ-दान-तपादिका ही राज्य हो सकता है, केवल प्रवृत्तिरूप क्रिया-चेष्टा ही सफल नहीं हो सकती। अर्थात् यज्ञ-दान-तपादिद्वारा जब हम अपना तन-मन-धन निवेदन करेंगे तभी फलकी प्राप्ति होगी, इसके विना ही नहीं। इसके अतिरिक्त परमार्थसम्बन्धी निष्काम-कर्म, उपासना, विवेक, वैराग्य और ज्ञानादिकी सिद्धिमें तो निखालिस स्वार्थमयी कामनाकी निवृत्ति, ममत्वका त्याग और अहंभावकी पूर्ण निवृत्तिका ही एकमात्र राज्य होता है, इसका तो कहना ही क्या ? इससे यह बात दर्पणके समान स्पष्ट हो जाती है कि प्रवृत्ति अपने स्वरूपसे कहीं भी और कभी भी किसी फलका हेतु नहीं होती, फल तो एकमात्र निवृत्तिमें ही होता है। निष्काम-कर्म-प्रवृत्तिमें भी एकमात्र फलत्यागरूप निवृत्तिका ही बोल-बाला रहता है, केवल कर्मप्रवृत्ति तो अपने स्वरूपसे किसी भी फलका हेतु नहीं होती।

इससे यह आशय नहीं समझ लेना चाहिये कि प्रवृत्ति सर्वथा निष्फल है। नहीं, नहीं, ऐसा कैसे हो सकता है ? संसारमें वस्तु तो कोई भी निष्फल होती ही नहीं है, किन्तु उसका उपयोग ही सफल-निष्फल होता है। प्रत्येक वस्तुको उसके सदुपयोगद्वारा सफल और उसके दुरुपयोगद्वारा निष्फल बनाया जा सकता है। जैसे महाविष संखिया भी सन्निपातके रोगीपर उचित मात्रामें वर्ता हुआ अमृतरूप बनाया जा सकता है और अमृत भी अनधिकारीके लिये तथा अधिक मात्रामें वर्ता हुआ विषरूप

बनाया जा सकता है। इसी प्रकार जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है; प्रवृत्ति भी वास्तवमें निवृत्तिके विकासके लिये ही है और वह निवृत्तिका साधनमात्र बनाई जा सकती है, न कि स्वतंत्र मार्ग, परन्तु उसकी सफलता एकमात्र इसीमें है कि उसका निवृत्तिके लिये उपयोग किया जाय। स्मरण रहे कि इस प्रकार प्रवृत्तिके उपयोगसे जिस फलकी प्राप्ति होती है, वह प्रसाद तो निवृत्तिका ही मानना होगा। जैसे निष्काम-कर्मप्रवृत्तिके सम्बन्धसे जिस फलकी प्राप्ति होती है वह प्रसाद तो फलत्यागरूप निवृत्तिका ही माना जायगा, कर्म-प्रवृत्तिका ही कदापि नहीं। इसके विपरीत यदि निवृत्तिसे मुँह मोड़कर केवल प्रवृत्तिके लिये ही प्रवृत्तिका उपयोग किया गया तो वह अवश्य वर्तमानमें तो दुःखोंका पात्र बनाएगी और परलोकमें नरकादिकी यमयातनाका साधन सिद्ध होगी। क्योंकि प्रकृतिकी सम्पूर्ण चेष्टा प्रवृत्तिसे निवृत्तिमें ले जानेके लिये ही है, इसीलिये प्रकृतिके राज्यमें पुण्य-पाप और सुख-दुःखकी मर्यादा केवल इसी नींवपर खड़ी की गई है कि जितना-जितना पकड़रूप प्रवृत्तिको पकड़ा जायगा, उतना-उतना ही पाप एवं दुःख और जितना-जितना त्यागरूप निवृत्तिका आश्रय लिया जायगा उतना-उतना ही पुण्य एवं सुखका अधिकार प्राप्त किया जा सकेगा। तथा जिस क्षण यह जीव सर्वत्यागरूप निवृत्तिकी छत्रच्छायामें आ जायगा, उसी क्षण यह जीवसे शिवरूपको प्राप्त करके तत्काल संसार-बंधनसे मुक्त हो जायगा। क्योंकि अपने अज्ञानसे एकमात्र पकड़के कारण ही यह आत्मा आप ही जीवभावमें बँधकर और ऊर्णनाभि जन्तुके समान अपने अन्दरसे पकड़रूपी जाला निकालकर आप ही संसार-बन्धनमें फँस मरा है। वेद-वेदान्तका यही अटल सिद्धान्त है, यथा—

परमात्माद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः॥
विष्ण्वाद्युत्तमदेहेषु प्रविष्टो देवताऽभवत्।
मर्त्याद्यधमदेहेषु स्थितो भजति देवताम्॥
अनेकजन्मभजनात्स्वविचारं चिकीर्षति।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम्॥

अर्थ—अद्वैत पूर्णानन्दरूप परमात्मा अपनी मायासे आप ही जगदाकारमें प्रकट होकर आप ही जीवरूपसे उसमें प्रवेश करता है। तदनन्तर उधर आप ही विष्णवादि उत्तम देहोंमें प्रविष्ट होकर देवताकारमें प्रकट होता है और इधर मर्त्यादि अधम देहोंमें स्थित होकर उन देवताओंको भजता है। इस प्रकार अनेक जन्मोंमें भजनके बाद और त्यागद्वारा अन्तःकरणकी निर्मलताके पश्चात् आप ही अपने तत्त्वविषयक विचारोंका विस्तार करता है और विचारद्वारा माया एवं उसके कार्यरूप जगत्के नष्ट हो जानेपर आप ही स्वस्वरूपसे शेष रहता है।

इससे यह विषय स्पष्ट हो जाता है कि परमानन्दकी प्राप्ति एकमात्र ज्ञान-विचाररूप पूर्ण निवृत्तिपर ही अवलम्बित है, किसी भी प्रकार कर्मादि प्रवृत्तिकी यहाँ गम नहीं है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह बात भली भाँति स्पष्ट हो जाती है कि प्रवृत्ति अपने स्वरूपसे न तो इस लोकमें किसी प्रकारके भोग्य-पदार्थोंकी प्राप्तिमें उपादानरूप बन सकती है, न उन भोग्य-पदार्थोंके संयोगसे वह सुखके उद्बोधमें ही सहायक होती है और न पारलौकिक पदार्थोंकी प्राप्तिमें ही इसका कोई भाग आता है, किन्तु इन सभी सकाम प्रवृत्तियोंमें भी फल-सिद्धि और सुखशांतिकी प्राप्ति तो एकमात्र इस निवृत्तिदेवीका ही प्रसाद होता है। कहना चाहिये कि जिस-जिस प्रवृत्तिके सिरपर इस निवृत्तिदेवीका हाथ रखा जाता है केवल वही सफल होती है, इसके आशीर्वादविना कहीं कुछ सफलता खःपुष्पके समान ही है। इसके विपरीत इस निवृत्तिदेवीके आशीर्वादविना स्वतंत्र यह प्रवृत्ति तो केवल विक्षेपका हेतु और दुःखमूलक ही बनती है। यद्यपि निवृत्तिके लिये और निवृत्तिसे मिलकर तो यह सफल बनाई जा सकती है, परन्तु स्वतंत्र नहीं। इस प्रकार जब कि यह स्वतंत्र किसी लोक-परलोकका साधन ही सिद्ध न हुई तो फिर इसके द्वारा किसी प्रकार परमार्थकी सिद्धि मान बैठना तो कोरी भूल और सफेद झूठ ही है। जबकि यह स्वतंत्र किसी भी व्यवहार अथवा परमार्थका साधन सिद्ध नहीं होती, तब इसको मोक्षका स्वतंत्र निरपेक्ष मार्ग मान बैठना तो आश्चर्यकी

सीमा और बुद्धिकी पराकाष्ठा है। जिस साधनद्वारा लक्ष्यको साक्षात् प्राप्त किया जा सके और जो लक्ष्यकी प्राप्तिपर्यन्त स्थिर रहे वही साधन स्वतंत्र मार्ग कहा जा सकता है। ऐसा यह निवृत्ति-मार्ग ही हो सकता है, न कि प्रवृत्ति।

यदि विचारको कुछ आगे बढ़ाया जाय तो यह बात सर्वथा स्पष्ट हो जायगी कि प्राकृतिक दैवीविधानका स्वाभाविक स्रोत प्रवृत्तिसे निवृत्तिकी ओर ही जा रहा है। अर्थात् यावत् प्रवृत्तियाँ निवृत्तिमें पर्यवसान पानेके लिये ही हैं, प्रवृत्तिके लिये तो कोई भी प्रवृत्ति नहीं, किन्तु निवृत्तिके लिये ही सभी प्रवृत्तियाँ हैं। क्योंकि बन्धनका मूल केवल प्रवृत्ति ही हुआ करती है, निवृत्ति नहीं। किन्तु निवृत्ति तो बन्धन काटनेमें सहायक होनेसे मोक्षमूलक ही हो सकती है। वह प्रवृत्ति यद्यपि असंख्यविध है; तथापि साररूपसे उसे तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। इन तीनोंके अन्तर्गत शेष सभी प्रवृत्तियाँ समा जाती हैं, अर्थात् प्रथम अहन्ता, द्वितीय ममता और तृतीय अहन्ता-ममतासम्बन्धी स्वार्थ। प्रथम जब यह आत्मा अपने अनन्तस्वरूपसे च्युत होकर जीवभावसे किसी सीमितरूपमें बन्धायमान होता है, तब देहादिकी अहन्तासे बँधकर उन देहादिका अभिमानी होता है, तदनन्तर देहसम्बन्धियोंमें ममत्वाभिमान धारकर उस देहाभिमानको अधिक दृढ़मूल किया जाता है। तत्पश्चात् अहन्ता-ममताके दृढ़मूल हो जानेपर शाखा-प्रशाखाके रूपमें असंख्य प्रकारकी अहन्ता-ममतासम्बन्धी स्वार्थमयी कामनाएँ निकल पड़ती हैं और फिर—

'अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः'

—के रूपमें यह संसार-वृक्ष ऐसा फूट निकलता है कि जिसकी जड़ें स्वर्ग-पातालसे लेकर तीन लोक चौदह भुवनमें फैल जाती हैं। यही प्रवृत्ति है, यही बन्धनका स्वरूप है और इसको काटनेका नाम ही निवृत्ति है, मोक्ष है। ध्यान रहे कि अहन्ताके जिस क्रमसे यह बन्धन हुआ है उसी क्रमसे यह काटा नहीं जा सकता, किन्तु काटनेके लिये तो विपरीत मार्ग ही पकड़ना होगा। अर्थात् जिस प्रकार चहुँ ओरसे विस्तृत वट-वृक्षको

काटनेके लिये प्रथम ही उसकी जड़पर कुल्हाड़ा नहीं चलाया जा सकता, किन्तु प्रथम उसके पत्ते, डाली, टहने एवं तने काटकर और उसे हलका करके ही उसका मूल काटा जा सकता है। ठीक, इसी प्रकार संसार-वृक्षको काटनेके लिये भी प्रथम स्वार्थमयी पत्तें-डाली काटने होंगे, उसके बाद ममतारूप टहने-तने और तदनन्तर ही अहन्तारूपी मूल निर्मूल किया जा सकेगा। आशय यह कि जिस प्रकार रोग एवं शत्रुको नष्ट करनेके लिये प्रथम उनको दुर्बल बनाना जरूरी होता है और उसके बाद ही वे नष्ट किये जा सकते हैं, बढ़ी-चढ़ी अवस्थामें ही नहीं। इसी प्रकार स्वार्थ काटनेसे ममता ढीली होती है और तब वह काटी जा सकती है, ममता काटनेपर अहन्ता ढीली होती है और तभी उसपर ज्ञानरूपी कुल्हाड़ा चलाया जा सकता है। आशय यह कि अज्ञानान्धकारमें मोहित हुए और उसके फलस्वरूप देहाभिमानसे बँधे हुए जीवके लिये प्रकृतिदेवीने प्रथम तो प्रवृत्तिरूप भोगोंकी रचना करके उनमें सुखबुद्धिका आरोप किया, जिससे गुड़-जिह्वा-न्यायसे वह इनमें प्रवृत्त होकर स्वानुभवसे इनसे उपराम हो। दूसरे, भोगोंद्वारा सुखी होनेके लिये जब यह जीव उनके संग्रहार्थ कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, तब दैवीविधानमें कर्मोंके साथ ही क्रियाकी प्रतिक्रिया रची गई। तीसरे, उस प्रवृत्तिमें थकान रखी गई। चौथे, इनके परिणाममें द्वन्द्वरूप संयोग-वियोग, हर्ष-शोक और हानि-लाभादि क्षय-अतिशयरूप विकार भरे गये, जिनके मूलमें स्वाभाविक दुःख छुपा हुआ रहता है। पाँचवे, यह वैताल सिरपर आरूढ़ किया गया कि हमको सुख मिले और ऐसा सुख मिले जिसका कभी क्षय न हो। इस प्रकार संसार-रोगसे रोगी होकर और अहन्ता-ममतासे बँधकर ज्यों-ज्यों यह जीव सुखी होनेके लिये स्वार्थमयी कामनाओंका विस्तार करता है, त्यों-त्यों उन द्वन्द्वरूप विकारोंके जालमें अधिकाधिक फँसता चला जाता है और त्यों-त्यों ही उनके नीचे छुपे हुए दुःखका अधिकाधिक अनुभव करता जाता है। एवं ज्यों-ज्यों दुःखका अनुभव करता है, त्यों-त्यों उनसे थकता जाता है; क्योंकि सुख न मिलनेसे यद्यपि थकान मिथ्या भोगोंसे होती है, परन्तु वाञ्छित सुख सत्य

होनेसे उससे जीव कदापि नहीं थकता, बल्कि उसकी तो माँग बढ़ती ही जाती है। इस प्रकार ज्यों-ज्यों इनके द्वारा वांछित सुखकी आशा नैराश्यतामें बदलती जाती है, त्यों-त्यों स्वाभाविक इनका त्याग होता जाता है। इस रीतिसे जब स्वार्थमयी कामनाओंसे थककर और उनके त्यागसे ममता ढीली पड़ जाती है, तब सकाम प्रवृत्तिका निष्काम-कर्म एवं उपासनाके रूपमें बदल जाना स्वाभाविक है। क्योंकि यद्यपि यह कामनाओंसे थका है; तथापि सुख इसका निजीस्वरूप होनेसे उससे कभी नहीं थकता। इस प्रकारकी निष्काम-प्रवृत्तिसे मल-विक्षेपकी निवृत्तिद्वारा ममता निर्मूल होकर जब निर्मलान्तःकरणमें विवेक-वैराग्यका उद्बोध होता है, तब अहन्ता शिथिल पड़ जाती है और तत्त्व-जिज्ञासा प्रज्वलित हो आती है। तत्त्वजिज्ञासाके उद्बोध होनेपर जब यह जिज्ञासु सद्गुरु और सच्छास्त्रकी शरणको प्राप्त होकर श्रवण-मनन-निदिध्यासनपरायण होता है, तब असम्भावना-विपरीत-भावना दोषकी निवृत्तिद्वारा देहाभिमानसे निकलकर अपने अखण्ड परमानन्द स्वरूपमें स्थिति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार प्रकृति-राज्यमें सम्पूर्ण प्रवृत्तियाँ साक्षात् अथवा परम्परासे इसी पूर्ण निवृत्तिमें निवृत्त होनेके लिये ही रची गई हैं, यही प्राकृतिक दैवीविधानमें प्रवृत्तिकी निवृत्तिमुखीनताका स्पष्ट प्रमाण है। इस स्थितिमें पहुँचकर यह जीवन्मुक्त विद्वान् देहकी स्थितिपर्यन्त देहादिद्वारा सब कुछ करता हुआ भी कुछ नहीं करता, क्योंकि इस स्थितिमें जो कुछ व्यवहार देहादिद्वारा प्रकट होता है, उसका वह अपने ज्ञानप्रभावसे कर्तृत्वाभिमानी नहीं किन्तु केवल द्रष्टा-साक्षी ही रहता है, उसके सभी कर्म अकर्म ही रहते हैं (गी० ४–१८) और तब उसकी सम्पूर्ण प्रवृत्ति ठोस निवृत्तिरूप ही होती है। यही ठोस निवृत्ति मनुष्यजीवनका लक्ष्य है और इसी निवृत्तिको प्राप्त करानेके लिये सम्पूर्ण वेद-शास्त्रोंकी प्रवृत्ति हुई है। इसी स्थितिका गीता अ० ४, ५ व ६ में श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे विस्तारसे वर्णन किया है और हमारे द्वारा गीता-दर्पण ग्रन्थमें उसका स्पष्ट विवेचन किया गया है।

सारांश, मोक्षप्राप्तिका एकमात्र मार्ग निवृत्ति ही हो सकती है,

प्रवृत्ति उसके विकासका साधन तो बनाई जा सकती है, परन्तु वह स्वतंत्र मार्ग कदापि नहीं हो सकती। वह भी यदि प्रवृत्तिका निवृत्तिके लिये उपयोग किया जाय तो, निवृत्तिके संयोगविना केवल प्रवृत्ति तो अपने सम्बन्धसे कर्ताको नरकादि यमयातना और पशु-पक्ष्यादि जड़ योनियोंमें डालनेका ही पात्र बनाती है। ऐसी अवस्थामें प्रवृत्ति मोक्षका स्वतंत्र मार्ग कैसे बनाई जा सकती है और कैसे मानी जा सकती है ? !

विचारमार्ग और विश्वासमार्ग दोनों स्वतंत्र व निरपेक्ष परमानन्दकी प्राप्तिके साधन हैं, इस मतका निरूपण और खण्डन

इसी प्रकार परमानन्दकी प्राप्तिके लिये स्वतंत्र और निरपेक्ष दो मार्ग माननेवाला एक तीसरा मत अभी थोड़े ही समयसे उभराता हुआ दीख पड़ता है। इस मतमें विचार-मार्ग और विश्वास-मार्गकी स्वतंत्रता और निरपेक्षता रखी गई है। अर्थात् परमानन्दका जिज्ञासु चाहे एक विचार-मार्गको अथवा दूसरे विश्वास-मार्गको पकड़कर परमानन्दको सीधा ही प्राप्त कर सकता है। इनमेंसे किसी एक मार्गावलम्बीको दूसरेकी रञ्चक-मात्र भी अपेक्षा नहीं है, मानो उसके लिये दूसरा तो संसारमें व्यर्थ ही रचा गया है।

इस मतमें यह भी कहा गया है कि जिसके विषयमें कुछ भी नहीं जानते उसमें विश्वास किया जाता है। उसके विषयमें गुरु या ग्रन्थके द्वारा सुनकर केवल मानते हैं, जानते नहीं। तथा जिसके सम्बन्धमें अधूरी जानकारी होती है उसके विषयमें पहले सन्देह होता है, फिर सन्देहकी वेदना जिज्ञासाको जन्म देती है, जिससे विचार-मार्गका आरम्भ होता है। अर्थात् जहाँ कुछ भी जानकारी न हो वहाँ विश्वासमार्ग और जहाँ कुछ जानकारी हो और कुछ न हो वहाँ विश्वासकी अपेक्षाविना प्रथम जिज्ञासा होकर फिर विचारमार्ग चलता है। यह मत भी युक्ति व विचारशून्य होनेसे सर्वथा भ्रममूलक ही है, शास्त्रप्रमाणका तो इससे सम्बन्ध ही क्या ?

बल्कि कहना चाहिये कि यह सभी शास्त्रविरुद्ध है। स्मरण रहे कि विश्वास और श्रद्धा एक ही वस्तु के नाम हैं और दोनों पर्याय शब्द हैं। अब नीचे इस मतपर विचार किया जाता है—

इस मतमें दोनों मार्गोंका भेद जिस रूपसे किया गया है, वह सर्वथा अयुक्त व असंगत है। प्रथम तो विश्वासमार्गीके लिये जो ऐसा कहा गया है कि 'वे गुरु-शास्त्रके द्वारा सुनकर मानते हैं, जानते नहीं' यही विचारमार्गीकी अधूरी जानकारी हो सकती है, इससे भिन्न अधूरी जानकारीका और कोई स्वरूप नहीं बन सकता। यदि सुना ही है, परन्तु विश्वास नहीं हुआ तो वह अधूरी नहीं बल्कि चौथाई जानकारी भी शायद ही हो। यदि सुना भी नहीं तब तो जानकारीका चौपट ही है, अर्थात् जिसके विषयमें न कुछ सुना ही है और न कुछ माना ही है, उसके विषयमें जानकारी कैसी ? यदि श्रवण और विश्वाससे आगे बढ़कर अधूरी जानकारीका और कोई रूप बनाया जाय तो उसका आधार श्रवण और विश्वास ही हो सकेगा और तब वह अधूरी जानकारी स्वतन्त्र मार्ग न रह सकेगी। दूसरे, विचारमार्गीके सम्बन्धमें जो ऐसा कहा गया है कि 'जिसके विषयमें अधूरी जानकारी होती है उसके विषयमें पहले सन्देह होता है, फिर सन्देहकी वेदना जिज्ञासाको जन्म देती है' यह भी अयुक्त है। क्योंकि एक तो अधूरी जानकारी का विषय यदि कोई आत्मीय वस्तु हो तभी उसकी जिज्ञासा हो सकती है और जितनी-जितनी आत्मीयता घनिष्ठ होगी उतनी-उतनी ही जिज्ञासा बलवान् होनी चाहिये, परके लिये कभी किसीकी जिज्ञासा या प्रेप्सा नहीं होती। तथा जो परोक्षरूप आत्मीयता मानी या जानी गई है उसका आधार विश्वासपात्रके वचनोंमें केवल विश्वास ही हो सकता है अन्य कोई आधार नहीं बन सकता। जैसे बच्चेको जब यह बतलाया जाता है कि 'यह तेरी माँ है' अथवा 'मैं तेरी माँ हूँ' तब वह विश्वासपात्रके वचनोंमें विश्वास करके ही आत्मीयताका नाता जोड़ सकता है। दूसरे वेदना सन्देहका फल नहीं हो सकती, किन्तु केवल जिज्ञासाका ही फल हो सकती है और ज्यों-ज्यों आत्मीयताद्वारा जिज्ञासाकी वृद्धि होगी

त्यों-त्यों वेदना बढ़नी चाहिये। इसके विपरीत ज्यों-ज्यों सन्देह बढ़ेगा त्यों-त्यों जिज्ञासा और वेदना दोनों घटनी चाहियें। इससे स्पष्ट है कि केवल सन्देह और संशय तो जिज्ञासा और वेदनाके पोषक न होकर शोषक ही रहते हैं। इसका आशय यह है कि यदि सन्देह इस विश्वासके आधारपर खड़ा हुआ है कि 'जो कुछ गुरु-शास्त्रने कथन किया है वह सब सत्य है, परन्तु वह मेरी बुद्धिमें आरूढ़ नहीं होता' तब तो ऐसा संदेह आत्मीयताके नाते जिज्ञासाको उत्पन्न करेगा और फिर जिज्ञासाके अनुसार वेदना भी बढ़ेगी। परन्तु यदि सन्देहका आधार यह विश्वास भी नहीं है तो फिर कोरा सन्देह जिज्ञासाका हेतु कदापि नहीं हो सकता, किन्तु तब वह तो 'संशयात्मा विनश्यति' अर्थात् नाशका ही हेतु होगा। इसीलिये श्रीभगवान्ने श्रीमुखसे तीन प्रकारके मनुष्योंका उद्धार नहीं कहा, उनमें भी ऐसे संशयात्माका तो कदापि उद्धार नहीं कहा—

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः॥

(गी. अ. ४-४०)

अर्थ—अज्ञानी, श्रद्धाशून्य और संशयात्मा तीनों नाशको प्राप्त होते हैं, उनमें संशयात्माके लिये तो न यह लोक है और न परलोक ही है, उसके लिये तो कहीं भी सुख नहीं।

यदि विश्वासशून्य कोरे सन्देहसे ही जिज्ञासाका उद्बोध माना जाय तो बहिर्मुखी सभी पुरुष परमार्थसम्बन्धमें स्वाभाविक सन्देहवान् होते हैं, इसलिये वे सभी जिज्ञासु होने चाहियें। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि जिज्ञासाका विषय केवल वही वस्तु हो सकती है जिसमें आत्मीयता और विश्वास स्थिर हुआ हो। भला, जिसमें आत्मीयता और विश्वास ही स्थिर नहीं हुआ ऐसी अनात्म एवं संशयित वस्तुके लिये भी कभी किसीने माथा-फोड़ी की है? ऐसी अवस्थामें ये दोनों भिन्न-भिन्न स्वतन्त्र मार्ग नहीं हो सकते, अर्थात् न तो विचारमार्गीकी विश्वासशून्य अधूरी जानकारी ही हो सकती है, न विश्वासशून्य सन्देह जिज्ञासाका ही हेतु

बनता है और न सन्देहका फल वेदना ही है, किन्तु वेदना तो जिज्ञासाका ही फल हो सकता है । यह तो सामान्य रूपसे वर्णन किया गया, अब इसीपर विशेष रूपसे विचार किया जाता है ।

थोड़े विचारसे ही यह बात समझमें आ जायगी कि जानकारीको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, उनमें एक परोक्षरूप अर्थात्-सामान्य और दूसरी अपरोक्षरूप अर्थात् विशेष कही जा सकती है । जहाँ सर्वथा जानकारी न हो वहाँ तो न विश्वासही चल सकता है और न विचार तथा जहाँ अपरोक्ष जानकारी हो जाय वहाँ भी न विश्वासका प्रयोजन रहता है और न विचारका । विश्वास और विचार दोनों केवल वहीं चलते हैं जहाँ परोक्षरूप सामान्य जानकारी हो, अर्थात् सुना तो हो परन्तु देखा न हो । जैसा इस मतमें कल्पना की गई है, जहाँ कुछ भी जानकारी न हो अर्थात् जिस वस्तुको सुना भी न हो वहाँ तो विश्वास भी कैसे चल सकता है ? विश्वास भी तीसरे सोपानपर आता है, अर्थात् पहले सुनना, दूसरे सुने हुए को समझना और तीसरे समझे हुएमें विश्वास करना । जिस चीजको सुना ही नहीं (अर्थात् जैसा इस मतमें कहा गया है, जहाँ कुछ भी जानकारी न हो) उसमें विश्वास कैसा ? जिस चीजको सुना ही है, समझा नहीं, उसमें भी विश्वास कैसा ? विश्वास तो समझका ही फल हो सकता है, श्रवणका नहीं । प्रत्यक्ष-प्रमाणके विषय संसारी भोग्य पदार्थोंको ही लीजिये कि जिस विषयी धनी पुरुषने अमरीका आदि विलायतोंके भोग्य विषयोंको सुना है और समझा है, उसका ही उन विषयोंमें प्रथम विश्वास होता है और फिर उनमें प्रवृत्ति होती है । प्रवृत्ति विश्वासका फल है, विश्वासविना कभी कोई प्रवृत्ति नहीं होती । परन्तु जिन ग्रामीण पुरुषोंने अमरीका आदि विलायतोंको सुना ही नहीं, उनका वहाँके विषयोंमें विश्वास कैसे होगा और फिर प्रवृत्तिका तो अवकाश ही कहाँ ? इसीलिये सभी शास्त्रकारोंने सगुण अथवा निर्गुणरूप परमात्माके स्वरूपमें प्रवृत्तिके लिये सर्वप्रथम साधन-सोपान श्रवणको ही ग्रहण किया है, जिससे उस रूपकी सामान्यरूप परोक्ष जानकारी हो और फिर समझके बाद उसमें

श्रद्धा-विश्वास हो तथा श्रद्धाके पश्चात् साधनमें प्रवृत्ति हो। इस प्रकार क्या व्यवहार और क्या परमार्थ दोनोंमें सुनना, समझना और विश्वास करना, इसी नियमका अखण्ड राज्य है। परन्तु इस मतमें तो कुछ भी आगा-पीछा देखे-भालेविना, जहाँ कुछ भी जानकारी न हो वहाँ विश्वासको पकड़ लिया गया है, जोकि आश्चर्यजनक है और किसी भी युक्ति, दृष्टान्त अथवा प्रमाणसे सिद्ध नहीं किया जा सकता।

अब रही दूसरी बात कि 'जहाँ कुछ जानकारी हो कुछ न हो वहाँ किसी श्रद्धा-विश्वासके विना ही जिज्ञासा होती है और श्रद्धा-विश्वासके विना ही विचार-मार्ग चलता है' यह तो और भी अत्यन्त आश्चर्यजनक है। अटल नियम तो यह है कि प्रथम श्रवणद्वारा सामान्य जानकारी होती है, वह श्रवण अथवा जानकारी चाहे वर्तमान हो चाहे पूर्व संस्कारसे, जानकारीसे विश्वास होता है, विश्वाससे जिज्ञासा होती है और जिज्ञासा होनेपर विचार चलता है। क्या कोई भी समझदार अपने अनुभवसे इस विषयकी साक्षी देगा कि जहाँ श्रद्धामाता न पहुँची हो वहाँ जिज्ञासापुत्री पहुँच गई हो? महाशयजी! जिज्ञासा तो श्रद्धाकी पुत्री है। ठीक, यदि माताविना पुत्री होती हो तो आपके वचन शिरोधार्य हो सकते हैं। देखनेमें आता है कि प्रत्येक व्यक्तिकी प्रत्येक वस्तुमें जिज्ञासा नहीं होती, किन्तु अमुक व्यक्तिकी अमुक वस्तुमें ही जिज्ञासा होती है, यदि श्रद्धाविना ही जिज्ञासा होती हो तो श्रद्धा को छोड़कर इसका और कोई कारण बतलाना चाहिये कि अमुककी अमुकमें ही क्यों जिज्ञासा होती है? व्यवहारमें भी क्या कभी किसीने ऐसा अनुभव किया है कि जहाँ पहले विश्वास न आया हो वहाँ उसके पानेकी इच्छा हो गई हो? पामर और विषयी पुरुषोंको भी जब अपने वांछित विषयमें पहले विश्वास हो जाता है तभी उस ओर उनका कदम उठता है। फिर परमार्थ-जैसे गहन विषयमें ऐसा आदेश दे देना कि विश्वासविना ही जिज्ञासा होती है और फिर विश्वासविना ही विचार-मार्ग चलता है, बुद्धिकी पराकाष्ठा है, विवेककी अवधि है!!! महात्मन्! श्रद्धा-विश्वास तो सत्त्वगुणके परिणाम हैं, श्रद्धाके रूपमें सत्त्वगुण ही फूटकर

निकलता है, फिर मूर्तिमान् सत्त्वगुणरूपी श्रद्धाको खोकर क्या आप तमोगुण-रजोगुणसे विचार चलायेंगे ? वास्तवमें श्रद्धाके द्वारा तो लक्ष्य स्थिर किया जाता है और विचारद्वारा लक्ष्य-भेदन । यदि लक्ष्य ही स्थिर न हुआ तो तीरअन्दाजी कैसी ? अथवा यों कहिये कि श्रद्धारूपी घोड़ेपर आरूढ़ होकर विचाररूपी सवार चल सकता है; दोनोंमेंसे किसी एकके विना किसी फलकी सिद्धि नहीं हो सकती । एक गणितके विद्यार्थीको ही लीजिये, जब वह गुरुके बतलाये हुए गुणाकार-भागाकारके नियमको सुनता-समझता है और समझकर विश्वास करता है, तब उसके उत्तर तो अभी ठीक-ठीक आने लग पड़ते हैं और तब श्रद्धाके प्रतापसे वह बीज-गणितमें पहुँच जाता है और उनके तत्त्वमें प्रवेश पा जाता है । यदि वह सुने, समझे और विश्वास ही न करे तो शुद्ध उत्तरकी आशा क्या और फिर उनके तत्त्वमें प्रवेश तो कैसा ? कल्पना करो कि एक मनुष्य निर्जन वनमें किसी ऐसे स्थानपर खड़ा हुआ है जहाँ से दो रास्ते फटते हैं । अब अपने उद्दिष्टस्थानपर पहुँचनेके लिये उसके लिये यह आवश्यक है कि वह किसी जानकारके वचनपर विश्वास करके किसी एक रास्तेको पकड़े । यदि वह विश्वास नहीं करता तो वह अपने उद्दिष्टस्थानपर पहुँच भी नहीं सकता । जब प्रत्यक्ष-प्रमाणके विषय-व्यवहारमें भी यह श्रद्धा इतनी आवश्यक और अकाट्य है, तब परमार्थ जैसे गहन विषयमें इसकी अनिवार्यताके लिये तो कहना ही क्या ? इसीलिये वेदान्तने ज्ञानके साधनचतुष्टयमें श्रद्धाको मुख्यता दी है । गीतामें तो भगवान्ने भुजा उठाकर स्पष्ट ही कह दिया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् ।। (गी. अ. ४–३९)

श्रद्धावान्को ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है । इतना ही नहीं, वे तो लकीर खैंचकर ऐसा कहते हैं—

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप ।
अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ।।

(गी. अ. ९–३)

अर्थ—मेरे इस स्वरूपमें जो श्रद्धाशून्य पुरुष हैं, वे तो मुझे न पाकर संसारमार्गमें ही लौट आते हैं।

श्रद्धाकी महिमामें वे तो मुक्तकंठसे यहाँतक कहते हैं—

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

(गी. अ. १७–३)

अर्थ—यह पुरुष श्रद्धामय ही है, जो जैसी श्रद्धावाला है, वैसा ही उसका स्वरूप है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि विश्वास सत्त्वगुणका परिणाम है और परमानन्दकी प्राप्तिके लिये वह अनिवार्य अवांतर साधन है। परन्तु जो महाशय अपने प्राकृतिक रजोगुणके प्रभावसे विश्वासशून्य हैं और उसके फलस्वरूप ईश्वरकी सत्तामें संशयात्मा हैं अथवा ईश्वरकी सत्तासे इंकारी हैं तथा केवल बुद्धिजीवी हैं, अर्थात् गुरुशास्त्रमें विश्वास न रख केवल अपने स्वतन्त्र विचारोंमें ही विश्वास रखनेवाले हैं (यद्यपि किसी-न-किसी रूपमें विश्वासविना तो यहाँ भी निर्वाह न हुआ)। ऐसे सज्जन भी यदि सद्विचारोंका आधार पकड़कर चलेंगे तो उन विचारोंका फल केवल विश्वास ही होगा, जिससे उनका ईश्वरकी सत्तामें अविश्वास निकलकर विश्वास स्थिर हो सकेगा। अर्थात् 'ब्रह्म नहीं है' इस असत्त्वापादक आवरणकी निवृत्तिद्वारा 'ब्रह्म है' ऐसा विश्वासात्मक परोक्षज्ञान ही होगा, क्योंकि वे इस अविश्वासको लेकर ही अपने विचारोंमें प्रवृत्त हुए थे। इसलिये जबतक इस असत्त्वापादक आवरणकी निवृत्ति न हो, तबतक उस अभानापादक आवरण की निवृत्तिरूप अपरोक्षज्ञान कि 'मैं ब्रह्म हूँ' कदापि नहीं हो सकता, यह वह अटल नियम है जो किसी प्रकार काटा नहीं जा सकता। तदनन्तर इस विश्वासके स्थिर हो जानेपर वे भगवद्भक्तिके पात्र ही हो सकेंगे और उसके फलस्वरूप विवेक-वैराग्यकी जागृतिद्वारा वे ज्ञानके साधनोंमें प्रवृत्तिके अधिकारी हो सकेंगे। विश्वासशून्य पुरुष केवल विचार-द्वारा ही मोक्षका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि प्रकृतिमें यह अटल नियम किया गया है कि जिस वस्तुमें विश्वास ही नहीं उसकी

प्रीति कदापि नहीं हो सकती और जिसमें प्रीति ही नहीं उसमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, फिर उसकी प्राप्तिका तो प्रश्न ही क्या ? जबकि स्थूल दृष्टि-गोचर संसारके सम्बन्धमें भी इसी नियमका राज्य है, तब मन-इन्द्रिय-अगोचर सूक्ष्म वस्तुकी प्राप्तिमें इस नियमका उल्लंघन किया ही कैसे जा सकता है ? सारांश, विश्वासविना केवल विचार परमानन्दका प्रापक कदापि नहीं हो सकता ।

युक्ति, दृष्टान्त और प्रमाणसे तो यह वात सिद्ध हो ही गई है कि सुने-समझेविना श्रद्धा नहीं होती और श्रद्धाविना न जिज्ञासा होती है और न विचार ही होता है । स्मरण रहे कि विचार कोई मार्ग नहीं हो सकता, मार्ग तो ज्ञान ही होगा, विचार तो उसका साधनमात्र ही है । अव ज़रा इस मतकी शर्तोंपर ही आइये । जैसा इस मतमें कहा गया है, यदि कोई इस मतको सुने-समझे ही नहीं तो क्या उसकी इस मतमें श्रद्धा हो सकती है ? भला, इस मतके प्रवर्तक महोदयमें जिस अविराम प्रवृत्तिका प्रवाह चालू हो रहा है, उसका इसके सिवा और प्रयोजन ही क्या हो सकता है कि जनता सुने, समझे और विश्वास करे । जिनका इस मतमें विश्वास ही न हुआ हो उनकी क्या इस मतमें जिज्ञासा हो सकती है और फिर क्या उनका इस मतके अनुसार विचार चल सकता है ? हाँ, जिन्होंने सही या गलतरूपसे इस मतके अनुसार ऐसा विश्वास कर लिया है कि विश्वासशून्य अधिकरणमें जिज्ञासा और विचारोंका उद्बोध हो सकता है, इस विश्वासके आधारपर वे अवश्य इस मतके अनुसार जिज्ञासु तो वन सकते हैं, फिर विचार चले या न चले, यह तो निश्चयसे कहा नहीं जा सकता । क्या कोई भी इस मतका अनुयायी अपने स्वानुभवसे इस बातको प्रमाणित करेगा कि इस मतको सुने-समझेविना ही उसकी इस मतमें श्रद्धा उत्पन्न हो गई है और श्रद्धाविना ही इस मतके अनुसार उसमें जिज्ञासा और विचार खड़े हो गये हैं ? कदापि नहीं । इस प्रकार जब इस मतका अन्वय इस मतमें ही नहीं मिल रहा, बल्कि अन्वयके स्थानपर इस मतमें ही इस मतका व्यतिरेक विद्यमान है, तब इस मतकी सत्यताके विषयमें तो क्या कहा जाय ? जब विश्वासविना

स्वयं यह मत भी खड़ा नहीं रह सकता, बल्कि श्रद्धाका यह स्वयं आभारी है, तब कपोलकल्पित श्रद्धाशून्य इस मतमें श्रद्धासे क्या लाभ ? जब श्रद्धाविना निर्वाह ही नहीं है, तब उपर्युक्त भगवद्वचनोंमें श्रद्धासे क्या हानि ? मानुषी वचनोंमें तो भ्रम-विप्रलिप्सादिका दोष स्वाभाविक खड़ा हो सकता है, परन्तु भगवद्वचनोंमें तो ऐसा नहीं। ऊपर भगवान्‌ने कोई संदिग्ध वचन तो कहे ही नहीं हैं, बल्कि उन्होंने तो भुजा उठाकर और लकीर खैंचकर यह बात कह दी है कि श्रद्धावान् ही ज्ञान पा सकता है और श्रद्धा-शून्य मुझे न पाकर संसार-मार्गमें लौट आता है। श्रद्धाके लिये इससे बढ़िया साक्षी तो हम लाएँ कहाँसे ?

सारांश, विचार-मार्गके सम्बन्धमें यहाँतक विचार किया गया और यह सिद्धांत किया गया कि जिज्ञासा और विचारके लिये सुनना, समझना और विश्वास करना अनिवार्य सोपान हैं। वह विश्वास चाहे वर्तमान पुरुषार्थसे हो, चाहे पूर्व जन्मके संस्कारोंसे। हाँ, यह हो सकता है कि एक उत्तम योगभ्रष्ट अपने पूर्व जन्मके पुरुषार्थसे इन तीनों सोपानों (सुनना, समझना और विश्वास करना)से उत्तीर्ण होकर वर्तमान जन्म धारण करे और वर्तमान जन्ममें इन तीनों सोपानोंकी साधना उसमें घटित होती हुई न दिखलाई पड़े, क्योंकि—

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

(गी. अ. ६–४३)

अर्थात् 'योगभ्रष्ट पुरुष इस वर्तमान शरीरमें पूर्व देहसम्बन्धी उसी बुद्धिसंयोगको प्राप्त हो जाता है और फिर उससे आगे संसिद्धिके लिये यत्न करता है'—ऐसा भगवान्‌ने श्रीमुखसे कह दिया है। इस नियमके अनुसार यद्यपि उसके वर्तमान जन्ममें इन तीनों सोपानोंकी क्रियाएँ घटित न भी हों और तीनों सोपानोंका फल उसमें स्वभावसिद्ध प्रकट हो, जिससे वह झटिति अगले सोपानोंमें आरूढ़ हो जाय; तथापि जैसा ऊपर इन सोपानोंकी अनिवार्यता स्पष्ट की गई है, क्या इसीसे इन आवश्यक सोपानोंको काटा

जा सकता है और जनसाधारणको इनके विरुद्ध ले जाकर क्या जनसाधारण-का श्रेयः सम्पादन किया जा सकता है ? कदापि नहीं । अब हमें इस मतके दूसरे विश्वास-मार्गपर विचार करना चाहिये । प्रथम तो विश्वास कोई मार्ग ही नहीं बन सकता । उसी मुख्य साधनको 'मार्ग' नामसे अभिहित किया जाता है, जिसके द्वारा लक्ष्य साक्षात् प्राप्त किया जा सकता हो । जो आप किसी साधनका साधन हो, वह मार्ग नहीं हो सकता । अब विचार करिये कि श्रद्धा-विश्वास हमें साक्षात् किस लक्ष्यकी प्राप्ति करा सकता है ? हाँ, श्रद्धा श्रद्धेय वस्तुकी जिज्ञासा अथवा तन्नैमित्तिक प्रवृत्तिका हेतु तो बन सकती है, परन्तु तन्नैमित्तिक प्रवृत्ति और पुरुषार्थविना केवल श्रद्धासे ही हमें कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता । इस प्रकार श्रद्धाविना कुछ नहीं परन्तु श्रद्धासे ही कुछ नहीं प्राप्त होता, ऐसा कहना चाहिये । इसलिये श्रद्धा-विश्वासको स्वतन्त्र मार्ग बनाना भ्रममूलक है । यदि ऐसा कहा जाय कि सगुणरूपकी प्राप्तिके लिये विश्वास-मार्ग और निर्गुण-रूपकी प्राप्तिके लिये विचार-मार्ग है, तो यह भी असंगत है । क्योंकि सगुणरूपकी प्राप्तिके लिये नवधा भक्ति मानी गई हैं, जिनमें सबसे पहले श्रवण-भक्ति है, जिसका फल श्रद्धा ही हो सकता है और वह श्रद्धा भी समझ-विचारपूर्ण ही सफल हो सकती है । यदि वह समझ-विचारके विना है तो उसका कोई फल नहीं, क्योंकि श्रद्धा तभी ठहर सकती है जबकि वह समझपूर्ण हो । इस प्रकार विचारपूर्ण विश्वास स्थिर होनेपर कीर्तन-स्मरणादि शेष भक्तियोंमें प्रवृत्ति हो सकती है, केवल विश्वाससे ही कुछ नहीं मिलता । परन्तु स्मरण रहे कि यदि इस नवधा भक्तिके आचरणसे सगुण-रूपकी प्राप्ति हो भी जाय तो यह स्वतंत्र फल नहीं हो सकता, स्वतंत्र फल तो परमानन्दकी प्राप्ति ही हो सकता है और जैसा पीछे ज्ञानके साधनोंमें स्पष्ट किया गया है, ज्ञानके प्रतिबन्धक दोषोंमेंसे विक्षेपदोषकी निवृत्ति-द्वारा यह सगुण भक्ति परमानन्दकी प्राप्तिमें अवश्य सहायक होगी, परन्तु यही स्वतंत्र फल नहीं हो सकता । इस सिद्धान्तकी सत्यतामें हम ध्रुव, अर्जुन और उद्धवको पाठकोंके सम्मुख खड़ा करते हैं, जिनको यद्यपि

सगुणरूपका ज्यों-का-त्यों साक्षात्कार तो हुआ; तथापि उनके संशय-विपर्यय निवृत्त न हुए और इस निमित्त उनको श्रवण-मननमें प्रवृत्त होना पड़ा। ध्रुवके लिये विष्णुपुराण, अर्जुनके लिये श्रीमद्भगवद्गीता और उद्धवके लिये श्रीमद्भागवत एकादश-स्कन्ध प्रमाणभूत हैं। इनमें अर्जुन और उद्धवके संशय-विपर्ययकी निवृत्तिके लिये तो साक्षात् सोलह कलावतारी भगवान्को ही खड़ा होना पड़ा।

सारांश, जो वस्तु ज्ञानद्वारा प्राप्त होती है वह स्वतंत्र कर्मद्वारा भी पाई जा सकती है तथा जो वस्तु विचारद्वारा प्राप्य है वह केवल विश्वासद्वारा भी मिल जाती है—ऐसा न किसी युक्तिसे सिद्ध किया जा सकता है और न किसी दृष्टांत प्रमाणसे प्रमाणित। अतः परमानन्दकी प्राप्तिके लिये स्वतंत्र निरपेक्ष दो-दो मार्ग माननेवाले उपर्युक्त तीनों मत किसी भी प्रकार विचार-की कसौटीपर खरे नहीं उतरते। कहना होगा कि तीनों मतोंके प्रवर्तक महोदयोंने वेदविरुद्ध अपने रजोगुणी दिमाग़की उपजसे विवेकनेत्र निमीलन करके ही अपने मतोंकी रचना की है। भला, देखिये तो सही कि जो परमा-नन्द अपनेमें द्वैतकी गन्धमात्र भी नहीं सहार सकता, जिसमें ज्ञानके भी पर जलते हैं और जिसमें ज्ञान भी अज्ञानको निकालकर फिर आप भी स्वयं चुपकेसे निकल जाता है, ऐसे परम अद्वैत तत्त्वकी प्राप्तिके लिये परस्पर विरोधी द्वैतरूप दो-दो मार्ग बना डालना, यह कौन न्याय होगा? स्मरण रहे 'मार्ग' नाम सीधे रास्तेका है, अर्थात् 'मानवको संसारमें मार्गसे चलना चाहिये' ऐसा व्यवहारमें भी प्रसिद्ध है। यहाँ सीधे रास्तेके अर्थमें 'मार्ग' शब्दका प्रयोग होता है और सीधा रास्ता एक ही हो सकता है, दो नहीं। एक सीधा रास्ता होकर दूसरेका भी सीधा होना असम्भव है। वास्तवमें बात तो यह है कि सभी रगड़े-झगड़े, सब प्रकारकी अशांति और सभी उपाधियोंके मूलमें एकमात्र कारणरूप दो मार्गोंका प्रभाव ही होता है। जिस कुटुम्बमें, जिस मित्रमंडलीमें, जिस मतमें, जिस सम्प्रदायमें, जिस जातिमें और जहाँ कहीं भी दो मार्ग खड़े हुए, वहाँ सभी प्रकारकी उपाधियाँ अपने-आप आन विराजती हैं। खैर, द्वैतरूप संसारमें तो

उपाधियाँ स्वाभाविक हैं, वह तो उपाधियोंपर ही खड़ा हुआ है, फिर वहाँ उसके मूलभूत दो मार्ग भी स्वाभाविक हैं; परन्तु आश्चर्य तो यह कि उन दो मार्गोंकी फटकारसे यह परमअद्वैततत्त्व भी बचा न रहा और उसमें भी दो मार्ग खड़े कर दिये गये। स्मरण रहे कि जिस प्रकार अचल दीवारपर फैंककर मारा हुआ गेंद दीवारको चला नहीं सकता, किन्तु वह तो दीवारसे टकराकर मारनेवालेकी ओर ही लौटता है, इसी प्रकार दो मार्गोंका उस अद्वैततत्त्वमें तो कदापि कोई स्पर्श असम्भव है, किन्तु गेंदकी भाँति लौटकर दो मार्गावलम्बी ही इसके शिकार होंगे। हाँ, मार्ग एक होते हुए यदि अधिकारानुसार पड़ावों या सोपानोंका भेद बनाया जाय तो उत्तम है, पड़ावोंके भेदसे मार्गका भेद नहीं हो सकता। परन्तु पड़ावों और सोपानोंके भेदसे स्वतंत्र और परस्पर निरपेक्ष मार्गोंका भेद बना डालना तो भयंकर है।

सारांश, परमानन्दकी प्राप्तिका मार्ग एकमात्र परमानन्दका ज्ञान है और अन्य सभी साधन क्रमशः उसके पड़ाव या सोपान हैं, यह निश्चय हुआ।

इस प्रकार परमानन्दकी प्राप्तिका मार्ग एकमात्र ज्ञान सिद्ध हो जानेपर जैसा ऊपर स्पष्ट किया गया है, संशय-विपर्यय ज्ञानके मोटे प्रतिबन्धक दोष हैं, जिनके भली भाँति निवृत्त हुएविना परमानन्दका ज्ञान असम्भव है। संशय-विपर्ययकी निवृत्ति विवेक-वैराग्यादि साधनचतुष्टयसम्पन्न होकर सद्गुरुके उपदेश और सच्छास्त्रके श्रवण तथा मनन-निदिध्यासनके द्वारा ही हो सकती है। इनकी निवृत्तिका अन्य कोई भी उपाय नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्ने अ० १३ श्लोक ७से ११में ज्ञानके निवृत्तिरूप १८ साधनोंका निरूपण किया है और ज्ञानके अन्तरंग साधन होनेसे इनकी 'ज्ञान' नामसे महिमा बखानी है तथा अर्जुन एवं उद्धवके व्यवहारसे इसे प्रमाणित भी कर दिया है। उस संशय-विपर्ययकी निवृत्तिके लिये यह 'वृत्ति-प्रभाकर' नामक, ग्रन्थ बहुत गम्भीर, परम उपयोगी और बुद्धिके मंदतादि दोषोंको भली भाँति काटनेवाला है। इस ग्रन्थरत्नके रचयिता

ब्रह्मनिष्ठ श्रीस्वामी निश्चलदासजी महाराज हुए हैं जोकि वेदान्त और न्याय-सांख्यादि सभी शास्त्रोंके पारंगत अद्वितीय विद्वान् कहे जाने चाहियें। हिंदी भाषामें आपके रचे हुए दो ग्रन्थ परमार्थ क्षेत्रमें अद्वितीय हैं, उनमें पहला ग्रन्थ 'विचार-सागर' और दूसरा यह 'वृत्ति प्रभाकर' है। जिनको संस्कृतके वड़े-वड़े विद्वान् भी वड़े आदरकी दृष्टिसे देखते हैं और पढ़ते-पढ़ाते भी हैं। विचार-सागरमें वेदान्तकी सम्पूर्ण प्रक्रियाओंका एक ही ठिकाने ऐसी सुन्दर रीतिसे संग्रह किया गया है जो किसी एक संस्कृत ग्रन्थमें भी नहीं पाया जाता और यह विद्वानोंके लिये भी आश्चर्यजनक होता है। इनका रचा हुआ 'युक्ति-प्रकाश' नामक एक छोटासा तीसरा ग्रन्थ भी प्राप्त होता है, जिसको 'श्रीसस्तुं-साहित्य-वर्धक कार्यालय' अहमदावादने गुजराती भाषामें अनुवाद करके प्रकाशित किया है और उसमें इनकी संक्षिप्त जीवनी भी दी गई है। 'वृत्ति-प्रभाकर' नामक यह ग्रन्थ पूरे पाण्डित्यका ग्रन्थ है, जिसके श्रवण-मननसे न्याय-सांख्यादि सभी शास्त्रोंका बोध होता है, न्याय-सांख्यके वोधसे इनकी वेदान्तसे विलक्षणता स्पष्ट ज्ञात हो जाती है और फिर वेदान्तकी सर्वोत्कृष्टता भली भाँति प्रमाणित हो जाती है, जिससे अद्वैत-विषयक संशयोंका निर्मूलन होता है। इस ग्रन्थके आरम्भमें विषयप्रकाशक अन्तःकरण और अज्ञानके परिणामका नाम 'वृत्ति' कहा गया है। तहाँ (१) वृत्तिका स्वरूप क्या है, (२) कारण क्या है और (३) वृत्तिका प्रयोजन क्या है ? इन तीन प्रश्नोंको लेकर इस ग्रन्थकी प्रवृत्ति हुई है। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि वृत्तिमें ही संसाररूप वंध है और वृत्तिमें ही मोक्ष है, अर्थात् अज्ञानाकार वृत्तिमें ही यह जन्म-मरणरूप संसार खड़ा हुआ है, वस्तुतः इसकी कुछ भी स्थिति नहीं है और ज्ञानाकार वृत्तिमें इसका बाध हो जाता है। वृत्तिके दो भेद किये गये हैं, उनमें एक यथार्थ अर्थात् प्रमावृत्ति और दूसरी अयथार्थ अर्थात् भ्रमवृत्ति है। उन उभय प्रकारकी वृत्तियोंको सूर्यवत् प्रकाश करनेवाला होनेसे इस ग्रन्थका नाम 'वृत्तिप्रभाकर' रखा गया है और आठ भागोंमें विभक्त करके इसके आठ प्रकाश बनाये गये हैं। प्रमावृत्ति (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) शाब्दी, (४) उपमिति,

(५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि—छः भागोंमें विभक्त होनेसे उनके करणरूप छहों प्रमाणोंका वर्णन क्रमशः छः प्रकाशोंमें किया गया है। वर्णनकी शैली यह रखी गई है कि प्रथम न्यायशास्त्रकी रीतिसे प्रत्येक प्रमाणका वर्णन विस्तारसहित किया गया, तदनन्तर उसी प्रमाणके सम्बन्धमें न्यायसे वेदान्तकी विलक्षणता निरूपण की गई और तत्पश्चात् ब्रह्मज्ञानमें उस प्रमाणकी क्या उपयोगिता है, यह स्पष्ट किया गया है। यों तो छहों प्रमाण अपने स्वरूपसे पूर्ण हैं; तथापि शब्द-प्रमाण और अनुपलब्धि-प्रमाण तो अपूर्व ही हैं। सातवें प्रकाशमें भ्रम-वृत्तिका निरूपण ऐसा अपूर्व किया गया है, जोकि किसी भी एक स्थलमें मिलना असम्भव कहना चाहिये। वेदान्तशास्त्रकी दृष्टिसे अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें यह संसार भ्रमसिद्ध है, किसी आरम्भ-परिणाम करके उत्पन्न नहीं हुआ। इस प्रकार भ्रमकी सिद्धि हो जानेपर सभी द्वैतरूप संशयविपर्ययोंकी निवृत्ति सम्भव होती है और द्वैतरूप संशयविपर्ययोंकी निवृत्ति हो जानेपर ही अद्वैतरूप ब्रह्मका प्रकाश होता है। अकाटच युक्तियोंद्वारा भ्रमका जैसा वर्णन इस ग्रन्थमें किया गया है वैसा अन्यत्र न मिलेगा, ऐसा कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नहीं है। विस्तारसहित अनिर्वचनीय ख्यातिका मण्डन तथा सत्ख्याति, असत्ख्याति, आत्मख्याति, अन्यथाख्याति और अख्यातिका खण्डन जैसा इस ग्रन्थमें किया गया है वैसा कहीं अन्यत्र संस्कृत ग्रन्थोंमें भी एक स्थलपर मिलना कठिन है, ऐसा कहा जा सकता है। आठवें प्रकाशमें जीव-ब्रह्मके स्वरूपकी एकताके प्रसंगमें आभासवाद, अवच्छेदवाद तथा प्रतिबिम्बवादका वर्णन, प्रतिबिम्बाध्यास, वृत्तिका प्रयोजन, प्रत्यक्षका स्वरूप, दृष्टि-सृष्टिवाद, मिथ्या प्रपंचके मिथ्यात्वमें शंका-समाधान, तत्त्वज्ञानसे स्वहेतु अज्ञानकी निवृत्तिमें शंका-समाधान, कल्पितकी निवृत्तिमें शंका-समाधान और पुरुषार्थका स्वरूप—इत्यादि सभी विषय अपने स्वरूपसे पूर्ण और सराहनीय हैं। प्रत्येक विषयके सम्बन्धमें जिन भिन्न-भिन्न मतों और नाना शास्त्रोंका प्रमाण इस ग्रन्थमें दिया गया है, वे सब आधुनिक कालके किन्हीं विद्वानोंद्वारा ही मनन किये गये हों तो असम्भव नहीं, अन्यथा कई तो

अन्यत्र श्रवणगोचर भी न हुए हों, ऐसा कहा जाय तो बाधा नहीं । इस प्रकार प्रत्येक विषयमें नाना मतों और शास्त्रोंका दिग्दर्शन कराके ग्रन्थकार अन्तमें जो अपना समन्वयकारक निष्कर्ष निकालकर रख देते हैं, वह तो अपूर्व ही है । परन्तु स्मरण रहे कि इस ग्रन्थके अधिकारी वे सज्जन ही हो सकते हैं जिन्होंने कम-से-कम विचार-सागरका श्रवण-मनन किया हो ।

यहाँ शंका होती है कि इतने उत्कृष्ट विद्वान् होते हुए भी इतना ऊँचा ग्रन्थ हिन्दी भाषामें और वह भी बहुत मोटी हिन्दीमें क्यों लिखा गया ? इसका समाधान लेखक महोदय विचार-सागरके अन्तमें अपने ही श्रीमुखसे यों करते हैं—

न्याय सांख्यमें श्रम कियो पढ़ी व्याकरण अशेष ।
पढ़े ग्रन्थ अद्वैतके रह्यो न एकहु शेष ।।
तिन यह भाषा ग्रन्थ रच्यो रंच न उपजी लाज ।
तामें यहि एक हेतु है दया धर्म सिरताज ।।

अर्थात् संस्कृत भाषासे अनभिज्ञ जो परमार्थके पिपासु अस्मदादि जीव हैं, उनपर अनुग्रह करके ही इन दोनों ग्रन्थोंकी भाषामें रचना की गई है ।

इस ग्रन्थकी प्रथमावृत्ति विक्रम सम्वत् १९५३ में श्रीवेंकटेश्वर प्रेस मुम्बईसे प्रकाशित हुई थी । उस प्रथमावृत्तिकी एक प्रति इस लेखकको ८ - १० वर्ष पूर्व हस्तगत हुई थी, परन्तु ग्रन्थका मनन करनेपर वह बुद्धिमें भली भाँति आरूढ़ न हुआ । प्रथम तो विषय गम्भीर, दूसरे ग्रन्थमें अशुद्धियोंका तो कोई पार ही नहीं, कहना चाहिये कि ऐसी कोई भी प्रकारकी अशुद्धियाँ नहीं जो इस ग्रन्थमें न मिलती हों । इसलिये इस ग्रन्थको दूसरी बार बहुत स्थिरचित्तसे पढ़नेकी चेष्टा की गई और आवश्यक अशुद्धियाँ जो नोट करनेयोग्य थीं, उनका शोधन और नोट किया गया । जब ग्रन्थ भली भाँति बुद्धिमें आरूढ़ हो गया, तब इस ग्रन्थको शुद्ध प्रचलित भाषामें

लिखनेकी आवश्यकताका अनुभव करके ग्रन्थ लिखनेका उत्साह उत्पन्न हुआ। निम्नलिखित कारणोंसे ग्रन्थ लिखना आवश्यक हुआ—

१. ग्रन्थकी भाषा बहुत मोटी अर्थात् ग्रामीण भाषा है। यद्यपि ग्रन्थकार महोदयने उस समयके भाषाविदोंपर परम अनुग्रह करके उस भाषामें लिखना आवश्यक समझा था, परन्तु वर्तमान कालमें यह भाषा रुचिकर न रहकर अरुचिका पात्र बन गई है। इसके अतिरिक्त 'में' के स्थानपर 'मैं', 'को' के स्थानमें 'कूँ', 'से' के स्थानपर 'तैं', 'तरह' के स्थानपर 'नाँई', 'और' के स्थानपर 'औ', 'क्योंकि' के स्थानपर 'काहेतें' इत्यादि शब्द तो वर्तमान युगमें बहुत अरुचिकर होते हैं।

२. बहुत स्थलोंमें वाक्योंमें पदोंकी बहुत कमी पाई गई। पदोंकी कमीसे वाक्यका भावार्थ पाठकके हृदयमें स्थिर नहीं हो पाता।

३. एक वाक्यका दूसरे वाक्यसे सम्बन्ध जोड़नेवाले पद उचित न जान पड़े और परस्पर वाक्योंका सम्बन्ध न जुड़नेसे यथार्थ अर्थ बुद्धिमें आरूढ़ होनेमें बाधा आती है।

४. पैरा बनानेकी कोई मर्यादा नहीं रखी गई। अनेक स्थलोंमें शंका और समाधान एक ही पैरेमें जोड़ दिया गया है, जिससे पाठककी बुद्धि विचलित हो जाती है कि कितना भाग शंकाका है और कितना समाधानका।

५. अनेक स्थलोंमें ऐसी भयंकर भूलें हैं कि वाक्य बिल्कुल अधूरा है और इसका कोई अर्थ ही नहीं बनता तथा पाठकके लिये विचलितबुद्धि होकर उसे छोड़नेके सिवा अन्य कोई चारा ही नहीं रहता। दृष्टान्तस्थलपर मूल कापीके प्रकाश ७ अंक २३ की पंक्ति ८–९ को लीजिये। इस स्थलपर 'याते अध्यासमात्रमैं अधिष्ठानका सामान्यज्ञान हेतु है' इससे आगे पंक्ति नहीं लगती और कोई अर्थ नहीं जुड़ता। परन्तु इतना वाक्य और ज़ोड़नेपर 'यह कहना सम्भवे नहीं, जो ऐसा कहें कि' अर्थ स्पष्ट हो जाता है। ऐसी भूलें अनेक स्थलोंमें मिलती हैं।

६. अनेक स्थलोंपर विपरीत शब्द मिलते हैं, अर्थात् 'आत्म'के स्थानपर 'अनात्म', 'स्थाणु'के स्थानपर 'पुरुष', 'अनावृत्तचेतन'के स्थानपर 'अनावृत्तविषय', 'पर्वत के स्थानपर 'धूम', 'धूम' के स्थानपर 'पर्वत' इत्यादि ।

७. कई स्थलोंपर वाक्य आगे-पीछे भी लिखे गये हैं । अर्थात् जो वाक्य ऊपर लिखा जाना चाहिये था, वह नीचे ३-४ पंक्तिके बाद लिखा हुआ मिलता है, जिसका कोई अर्थ नहीं बनता ।

इत्यादि भयंकर भूलोंके कारण इस गम्भीर ग्रन्थकी सफलता लुप्त हो जाती है । इस प्रथमावृत्तिके पश्चात् इस प्रेसने लगभग दो-तीन आवृत्तियाँ और भी प्रकाशित कीं और इस लेखकने उन्हें देखा भी, परन्तु ज्यों-की-त्यों पंक्तियाँ और शब्द पाये गये, कोई सुधार नहीं पाया गया । ऐसी भयंकर अशुद्धियोंका क्या कारण हुआ, यह कुछ समझमें नहीं आता । प्रथमावृत्तिकी प्रस्तावनासे इतना पता अवश्य चलता है कि इस प्रेससे पूर्व श्रीनारायणजी त्रिकमजीने इस ग्रन्थको शिला अक्षरोंमें छपवाया था और उसके वाद इस प्रेसने पंडित श्रीदेवचरण अवस्थीजीसे शुद्ध कराके छापा था । सम्भव है कि शोधक महाशयकी असावधानीसे ऐसा अवसर प्राप्त हुआ हो । जो भी कुछ हो, उपर्युक्त सभी त्रुटियोंकी पूर्तिका पूरा ध्यान रखते हुए सरल हिन्दी भाषामें इस ग्रन्थको अपनी बुद्धिके अनुसार लिखनेकी चेष्टा की गई है । इस प्रकार कहना चाहिये कि ग्रन्थकी कायापलट ही हो गई है; तथापि ग्रन्थके प्राणोंकी रक्षा ज्यों-की त्यों की गई है । अर्थात् ग्रन्थके आशयमें किसी प्रकार हस्तक्षेप नहीं किया गया, किन्तु अपनी बुद्धिके अनुसार उसे अधिक स्पष्ट करनेकी चेष्टा की गई है । अन्तर्यामीने जैसी कुछ प्रेरणा लेखककी बुद्धिमें प्रदान की उसके अनुसार यह ग्रन्थ लिख डाला गया है; तथापि मानव भूलोंका पुतला है, अतः इस ग्रन्थमें भूलें रह जाना कोई आश्चर्यकी वात नहीं है । इसलिये विद्वान् महानुभावोंसे विनम्र प्रार्थना है कि वे कृपाकर जो भी भूलें उनके दृष्टिगोचर हों उन्हें क्षमा करेंगे और युक्तिपूर्वक निम्न पतेपर उन्हें सूचित करनेका कष्ट भी

करेंगे, उनके अपने निजी उदार भावोंसे ऐसी आशा की जाती है। यह ग्रन्थ आध्यात्मिक है, साहित्यिक नहीं और वर्तमान हिन्दी साहित्यसे लेखक कुछ जानकारी भी नहीं रखता, इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि कृपया यदि वे भाषाग्राही नहोकर केवल अर्थग्राही दृष्टिसे ही इस ग्रन्थके अवलोकनका कष्ट करेंगे तो लेखक का परिश्रम सफल हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

इस ग्रन्थकी पुनरावृत्तियोंके प्रकाशनका अधिकार मैं श्रीआनन्द-कुटीर-ट्रस्ट, पुष्करको प्रदान करता हूँ।

ॐ ॐ ॐ

श्रीआनन्द-कुटीर-ट्रस्ट,
पुष्कर (अजमेर)

लेखक
आत्मानन्द मुनि

अनुक्रमणिका

पृष्ठ	विषय	पृष्ठांक
	प्रथम प्रकाश : प्रत्यक्ष-प्रमाण-निरूपण	
१	वृत्तिके सामान्य लक्षण और भेद	१
२	प्रमाण-भेदका कथन	५
३	करणका लक्षण	५
४	प्रत्यक्ष-प्रमाणके भेदका निरूपण	६
५	प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद श्रोत्रज-प्रमाका निरूपण ..	७
६	प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद त्वाच-प्रमाका निरूपण ..	११
७	प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद चाक्षुष-प्रमाका निरूपण ..	१५
८	प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद रासन-प्रमाका निरूपण ..	१७
९	प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद घ्राणज-प्रमाका निरूपण ..	१८
१०	प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद मानस-प्रत्यक्ष-प्रमाका निरूपण	१९
११	प्रत्यक्ष-प्रमाके करणका विचार	२२
१२	ज्ञानके आश्रयका कथन	२३
	भ्रम-ज्ञानका विचार (१३—१७)	
१३	न्याय-मतके अनुसार भ्रमकी रीति	२३
१४	वस्तुके ज्ञानमें विशेषणके ज्ञानकी हेतुता ..	२४
१५	विशेषण व विशेष्यका स्वरूप	२६
१६	विशेषण व विशेष्यके ज्ञानके भेदपूर्वक न्याय-मतके भ्रम-ज्ञानकी समाप्ति	२८
१७	वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार इन्द्रियअजन्य भ्रम-ज्ञानकी रीति	३०
१८	न्याय व वेदान्तकी अन्य विलक्षणता	३२

१९ श्रीवाचस्पति-मतमें मनकी इन्द्रियताका सारग्राही दृष्टि-
से अंगीकार ३२

२० न्याय और वेदान्तका प्रत्यक्ष-ज्ञानमें विचारोंका भेद .. ३६

२१ प्रत्यक्ष-प्रमाका उपसंहार ३७

द्वितीय प्रकाश : अनुमान-प्रमाण-निरूपण

१ अनुमितिकी सामग्रीका लक्षण व स्वरूप .. ३९

२ अनुमिति-ज्ञानमें व्याप्तिके ज्ञानकी अपेक्षाका प्रकार .. ४२

३ सकल नैय्यायिक-मतमें अनुमितिका क्रम .. ४३

४ अनुमितिके सम्बन्धमें मीमांसाका मत .. ४४

५ अद्वैतमतानुसार अनुमितिकी रीति ४५

६ व्याप्तिकी स्मृतिको व्यापारता और संस्कारको अव्यापारता ४६

७ स्वार्थ अनुमिति और अनुमानका स्वरूप .. ४८

८ परार्थ अनुमान, अनुमिति और तर्कका स्वरूप .. ४८

९ वेदान्त-मतमें तर्कसहित परार्थानुमानका स्वरूप .. ५०

१० वेदान्तमें अनुमानका प्रयोजन ५१

तृतीय प्रकाश : शब्द-प्रमाण-निरूपण

१ शाब्दी-प्रमाका भेद ५३

२ शाब्दी-प्रमाका प्रकार ५३

३ शब्दकी शक्तिवृत्तिका कथन ५५

४ शाब्दी-प्रमाकी रीतिपूर्वक शक्तिविषय विवाद .. ५६

५ वाक्यका भेद ६१

६ शब्दकी शक्ति व लक्षणा-वृत्तिका संक्षेपसे कथन .. ६२

७ वाक्यार्थ-ज्ञानका क्रम ६३

८ लक्षणाका प्रकार ६५

९ शब्दकी तृतीय गौणी-वृत्तिका कथन ७२

१० चतुर्थी व्यञ्जना-वृत्तिका कथन ७३

११	लक्षणाके भेदका कथन	७४
१२	शाब्द-बोधकी हेतुताका विचार	७८
१३	महावाक्यमें लक्षणाका उपयोग और उसमें शंका-समाधान	८१
१४	लक्षणाके विना शक्ति-वृत्तिसे ही महावाक्योंको अद्वैत ब्रह्मकी बोधकता	८३
१५	मीमांसा-मत	९०
१६	प्राचीन वृत्तिकारका मत	९१
१७	वैदिक वाक्यके तात्पर्य-बोधक षड्लिंग ..	९४
१८	शाब्द-बोधके सहकारी चार आकांक्षादिका वर्णन ..	९५
१९	उत्कट जिज्ञासुको बोधकी हेतुता	१०३
२०	वेदान्तका तात्पर्य तथा वेद व शब्दके विषयमें विचार ..	१०५

चतुर्थ प्रकाश : उपमान-प्रमाण-निरूपण

१	क्रमभंगके अभिप्रायपूर्वक न्याय-रीतिसे उपमान व उपमितिका द्विधा स्वरूप	१११
२	वेदान्त-रीतिसे उपमान व उपमितिका स्वरूप ..	११३
३	विचार-सागरमें न्याय-रीतिसे उपमितिके कथनका अभिप्राय	११४
४	पूर्वोक्त वेदान्त-रीति और न्याय-रीतिसे विलक्षण उपमान-उपमितिका लक्षण	११५
५	वेदान्तपरिभाषा और उसकी टीकाकी उक्तिका खण्डन	११६
६	करणके लक्षणका निर्णय	११८

पञ्चम प्रकाश : अर्थापत्ति-प्रमाण-निरूपण

१	न्याय-मतमें अर्थापत्तिका अनंगीकार एवं त्रिधा अनुमान-का वर्णन	१२३
२	वेदान्तकी रीतिसे एकान्वयी (अन्वय-व्यतिरेकी) अनुमान और अर्थापत्तिका अंगीकार.. ..	१२५

३ अर्थापत्ति-प्रमाण एवं प्रमाका स्वरूप-भेद और उनका उदाहरण १२७

४ अर्थापत्तिका जिज्ञासुके अनुकूल उदाहरण .. १३०

षष्ठ प्रकाश : अनुपलब्धि-प्रमाण-निरूपण

१ अभावका सामान्य लक्षण और उसका भेद .. १३२

२ प्राचीन न्याय-मतमें अभावोंके परस्पर विलक्षणताकी साधक प्रतीति १३४

३ नवीन न्यायमतमें अभावोंकी परस्पर विलक्षणताकी साधक प्रतीति १३५

४ अभावका द्वितीय लक्षण और विलक्षण प्रतीति .. १३६

५ अन्योऽन्याभावलक्षण और उसमें शंका-समाधान .. १३७

६ प्राचीन नैयायिक-रीतिसे संसर्गाभावके चार भेद और उनके लक्षण व परीक्षा १४०

७ चारों संसर्गाभावोंका प्रतियोगीसे विरोध और अन्योऽन्याभावका अविरोध १४५

८ चतुर्विध संसर्गाभावोंका परस्पर विरोध, परन्तु अन्योऽन्याभावका उनसे अविरोध १४८

९ प्राचीन मतके अनुसार अभावोंका परस्पर और अपने-अपने प्रतियोगीसे विरोधाविरोधका सविस्तर प्रतिपादन १४९

१० नवीन तार्किकद्वारा सामयिकाभावके स्थानमें नित्य अत्यंताभावका अंगीकार और उसमें शंका-समाधान .. १६४

११ नवीन तार्किकके उपर्युक्त मतका खण्डन .. १६६

१२ न्यायसम्प्रदायमें घटके प्रध्वंसके प्रागभावकी घट और घटप्रागभावरूपता १६९

१३ उक्त मतका खण्डन और घटध्वंसके अभावप्रतियोगिक प्रागभावकी सिद्धि १७०

१४ सामयिकाभावके प्रागभावकी अभावप्रतियोगिता .. १७१

१५ प्राचीन मतानुसार प्रागभावके प्रध्वंसकी प्रतियोगी-प्रतियोगी और प्रतियोगी-प्रतियोगीके ध्वंसमें अन्तर्भाव-का नवीनद्वारा खण्डन और उसकी अभावप्रतियोगिता ... १७१

१६ घटान्योऽन्याभावके अत्यन्ताभावकी घटत्वरूपता और उसमें दोष १७३

१७ प्राचीनोंद्वारा अत्यंताभावके अत्यंताभावको प्रथमात्यंता-भावकी प्रतियोगीरूपताप्रतिपादन और नवीनोंद्वारा उसका खण्डन १७४

१८ अभावप्रतियोगिक अन्योऽन्याभावके उदाहरण और उक्त अर्थका अनुवाद १७७

१९ उक्त न्याय-मतमें वेदान्तसे विरुद्ध आशंका-प्रदर्शन और अनादि प्रागभावका खण्डन १७८

२० अनन्त प्रध्वंसाभावका खण्डन १८३

२१ अन्योऽन्याभावकी सादि-सांतता और अनादिताका अंगी-कार १८४

२२ अभावकी प्रमाके हेतु प्रमाणका निरूपण और अभावज्ञान-के भेदपूर्वक न्यायमतमें भ्रमप्रत्यक्षमें विषय-अनपेक्षा .. १८७

२३ सिद्धांतमें परोक्ष-भ्रममें विषयकी अनपेक्षा और अपरोक्ष-भ्रममें अपेक्षा १८७

२४ सिद्धांतमें अभाव-भ्रमके स्थानमें अन्यथाख्यातिका अंगीकार १८८

२५ प्रत्यक्ष, परोक्ष, यथार्थ और भ्रमरूप अभाव-प्रमाकी इन्द्रिय व अनुपलम्भादि सामग्रीका वर्णन .. १९०

२६ स्तम्भमें पिशाचके दृष्टान्तसे शंका-समाधानपूर्वक अनु-पलम्भका निर्णय १९४

२७ उपलम्भके आरोप-अनारोपद्वारा अभावकी प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षतामें उदाहरण . .. २०३

२८ जिस इन्द्रियसे उपलम्भका आरोप, उसी इन्द्रियसे उपलम्भारोपद्वारा अभावका प्रत्यक्ष २०६
२९ न्याय-मतमें सामग्रीसहित अभावके प्रमाण का कथन.. २१०
३० भट्ट और वेदान्त-मतमें अभाव-प्रमाकी सामग्रीविषय न्यायमतसे विलक्षणता २१२
३१ वेदान्त-रीतिसे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके लक्षणका निर्णय.. २१४
३२ प्रत्यभिज्ञा एवं अभिज्ञा-प्रत्यक्ष-ज्ञानों तथा स्मृति आदि परोक्षज्ञानोंका सामग्रीसहित निर्णय.. .. २१५
३३ इन्द्रियजन्यताके नियमसे रहित प्रत्यक्ष-ज्ञानका अनुसंधान २१९
३४ अभाव-ज्ञानकी सर्वत्र परोक्षताका निर्णय .. २२१
३५ अनुपलब्धि-प्रमाणके अंगीकारमें नैयायिकोंकी शंका और उसका समाधान २२५
३६ अनुपलब्धि-प्रमाणके निरूपणका जिज्ञासुको उपयोग .. २३५

सप्तम प्रकाश : वृत्तिभेद, अनिर्वचनीयख्याति-मंडन, अन्य ख्याति-खण्डन और स्वतःप्रमात्व-प्रमाणनिरूपण

१ उपादान (समवायी), असमवायी और निमित्त-कारण तथा संयोगका लक्षण २३७
२ उभय कारणके अंगीकारपूर्वक तीसरे असमवायि-कारणका खण्डन २४२
३ वृत्ति-ज्ञानका उपादान व निमित्त-कारण और उसका सामान्य लक्षण २४८
४ प्रत्यक्षके लक्षणसहित प्रमा-अप्रमारूप वृत्ति-ज्ञानका भेद २५०
५ संशयरूप भ्रमका लक्षण और उसका भेद .. २६१
६ निश्चयरूप भ्रमज्ञानका लक्षण २६६
७ अध्यासका लक्षण और भेद २६७
८ अन्योऽन्याध्यासमें शंका-समाधान २६९
९ अनात्मामें अध्यस्त आत्माकी परमार्थसत्ताविषय तात्पर्य २७१

१०	अध्यासका अन्य लक्षण	२७३
११	एक अधिकरणमें भाव व अभावके विरोधकी शंका और उसका समाधान	२७३
१२	अध्यासके प्रसंगमें चार शंका	२७५
१३	उपर्युक्त चारों शंकाओंके समाधान	२७६
१४	पूर्वोक्त अध्यासके भेदका अनुवाद और उसमें उदाहरण	२७९
१५	सिद्धांतसम्मत अनिर्वचनीयख्यातिकी रीति ..	२८३
१६	उक्त अनिर्वचनीयख्यातिरूप अर्थमें शंका और संक्षेपशारीरकका समाधान	२८५
१७	श्रीकवितार्किकचक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्यायके मतका अनुवाद और उसका अनादर	२८६
१८	अध्यासकी कारणतामें पंचपादिका विवरणकारका मत	२८८
१९	पंचपादिका और संक्षेपशारीरकके मतकी विलक्षणता और उसमें रहस्य	२८९
२०	विषयोपहित और वृत्त्युपहित चेतनके अभेदमें शंका-समाधान	२९१
२१	रज्ज्वदिकी इदमाकार प्रमासे जहाँ सर्पादिका भ्रमज्ञान होता है, उसमें दो पक्ष	२९३
२२	श्रीकवितार्किक चक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्यायका मत..	२९६
२३	उपाध्याय-मतमें सामान्यज्ञानवादी (धर्मिज्ञानवादी) की शंका और उपाध्यायद्वारा उनका समाधान ..	२९७
२४	प्राचीन आचार्य धर्मिज्ञानवादीका मत ..	३०१
२५	धर्मिज्ञानवादी (सामान्य ज्ञानवादी) के मतमें श्रीउपाध्यायकी शंका और धर्मिज्ञानवादीद्वारा उसका समाधान	३०३
२६	श्रीउपाध्यायद्वारा अध्यासकी कारणतामें सादृश्य ज्ञानका खण्डन	३०५

२७ धर्मिज्ञानवादीद्वारा उपाध्यायमतमें दोष और उपाध्याय-द्वारा उसका परिहार ३०७
२८ उपाध्यायमतमें धर्मिज्ञानवादीकी शंका और श्रीउपाध्यायद्वारा उसका समाधान ३०९
२९ उपाध्यायमतमें शंका और उसका समाधान .. ३१२
३० धर्मिज्ञानवादीद्वारा नेत्रका अध्यासमें परम्परासे उपयोग और श्रीउपाध्याय द्वारा शंखपीतताध्यासमें साक्षात् उपयोग ३१४
३१ धर्मिज्ञानवादीद्वारा शंखपीतताका अनध्यास और श्रीउपाध्यायद्वारा उसका अनुवाद तथा उसमें दोष.. ३१५
३२ धर्मिज्ञानवादीद्वारा उक्त दोषका दो बार समाधान और श्रीउपाध्यायद्वारा उसमें दो बार दोष .. ३१७
३३ मधुरदुग्धमें तिक्तरसाध्यासकी रसनगोचरतापूर्वक उपाध्यायके मतका निष्कर्ष ३१९
३४ आचार्योक्ति और युक्तिसे उपाध्यायमतकी विरुद्धता और धर्मिज्ञानवादिके मतमें उक्त दोषका समाधान .. ३२०
३५ तिक्तरसाध्यासमें किसी अन्यकी उक्ति और उसका खण्डन ३२३
३६ मुख्य सिद्धांतका कथन ३२४
३७ धर्मिज्ञानवादमें आकाशमें नीलताध्यासका असम्भवदोष और उसका परिहार ३२५
३८ सर्पादि भ्रमस्थलमें चार मत और चतुर्थ मतमें दोष .. ३२६
३९ अनिर्वचनीयख्यातिमें उक्त चारों मतोंका अनुवाद और उसकी समाप्तिका दोहा ३३१
४० शास्त्रान्तरमें उक्त पाँच ख्यातिके नाम .. ३३२
४१ सत्ख्यातिकी रीति ३३२
४२ सत्ख्यातिवादका खण्डन .. ३३३

४३ शुक्तिमें सत्य रजतकी सामग्रीका अंगीकार और उसका खण्डन ३३३
४४ सत्ख्यातिवादीद्वारा उक्त दोषका परिहार और उसका खण्डन ३३५
४५ रजतज्ञानकी निवृत्तिसे प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक रजतकी निवृत्ति और उसका खण्डन ३३६
४६ सत्ख्यातिवादमें प्रबल दोष ३३७
४७ त्रिविध असत्ख्यातिकी रीति और शून्यवादीकी रीतिसे असत्ख्यातिवादका खण्डन ३३९
४८ किसी तांत्रिककी रीतिसे असत्ख्यातिवाद .. ३४०
४९ न्यायवाचस्पत्यकारकी रीतिसे असत्ख्यातिवाद .. ३४१
५० उपर्युक्त द्विविध असत्ख्यातिवादका खण्डन .. ३४२
५१ आत्मख्यातिकी रीति और उसका खण्डन तथा आंतर-पदार्थ माननेवाले आत्मख्यातिवादीका अभिप्राय .. ३४३
५२ आंतरपदार्थमानी आत्मख्यातिवादीके मतका खण्डन .. ३४४
५३ सौगतोंके दो भेदोंमें बाह्यपदार्थवादीकी आत्मख्यातिका अनुवाद और आन्तरवादीद्वारा उसका खण्डन .. ३४४
५४ अद्वैतवादीद्वारा बाह्यपदार्थमानी आत्मख्यातिवादीके मतका खण्डन ३४६
५५ आत्मख्यातिवादसे विलक्षण अद्वैतवादका सिद्धांत .. ३४७
५६ सिद्धान्तोक्त गौरवदोषके परिहारपूर्वक द्विविध विज्ञान-वादका असम्भव ३४९
५७ अन्यथाख्यातिकी रीति, उसका खण्डन और अन्यथाख्याति-वादीका तात्पर्य ३५०
५८ विचारसागरोक्त द्विविध अन्यथाख्यातिवादमें प्राचीन मतका प्रकार और उसका खण्डन ३५१
५९ पूर्वोक्त अन्यथाख्यातिवादका खण्डन.. .. ३५३

६०	प्रत्यक्षज्ञानके हेतु षड्विध लौकिक और त्रिविध अलौकिक दो प्रकारके सम्बन्ध	३५४
६१	न्यायमतमें अलौकिक सम्बन्धसे देशान्तरस्थ रजत्वका शुक्तिमें प्रत्यक्ष भान और उस भानमें सुगन्धि-चन्दनके भानसे विलक्षणता	३६०
६२	अनिर्वचनीयख्यातिमें न्यायोक्त दोष	३६२
६३	सामान्य-ज्ञानलक्षणादि अलौकिक सम्बन्धोंमें प्रत्यक्ष-ज्ञानहेतुताका असम्भव और भ्रम-ज्ञानकी इन्द्रिय-अजन्यता	३६४
६४	अनिर्वचनीयवादमें न्यायोक्त दोषका उद्धार ..	३७४
६५	अख्यातिवादकी रीति, उसका तात्पर्य और उसका खण्डन	३७९
६६	अख्यातिवादीद्वारा अन्यकृत शंकाका उद्धार ..	३८०
६७	अख्यातिवादका खण्डन	३८४
६८	भ्रमज्ञानवादियोंके मतमें अख्यातिवादोक्त दोषका असम्भव	३९०

प्रमात्व-अप्रमात्वका स्वरूप, उनकी उत्पत्ति और उनके ज्ञानका प्रकार

६९	प्रमात्व-अप्रमात्वका स्वरूप	३९१
७०	न्याय-वैशेषिकमतमें ज्ञानकी उत्पादक बाह्यसामग्रीसे प्रमात्व-अप्रमात्वकी उत्पत्ति (परतःप्रामाण्य और परतःअप्रमाण्यवाद)	३९३
७१	ज्ञान और ज्ञानत्वकी सामग्रीसे भिन्न कारणसे प्रमात्वके ज्ञानकी उत्पत्ति (परतःप्रामाण्यग्रहवाद) ..	३९४
७२	मीमांसक और सिद्धान्तसम्मत स्वतःप्रामाण्यवादमें न्यायोक्त दोष	४००
७३	प्रभाकरमतमें सभी ज्ञानोंसे त्रिपुटीका प्रकाश ..	४००
७४	श्रीमुरारिमिश्रका मत	४०१

७५ भट्टका सिद्धान्त ४०१
७६ न्याय-वैशेषिकमतका निष्कर्ष ४०२
७७ न्याय-वैशेषिकमतका खण्डन ४०४
७८ श्रीमुरारिमिश्रके मतका खण्डन ४०७
७९ श्रीभट्टमतका खण्डन ४०७
८० श्रीप्रभाकरमतका खण्डन ४०८
८१ स्वत:प्रामाण्यवादका अंग्रीकार सिद्धांतमतमें संशयानुपपत्ति-रूप दोषका उद्धार ४०९
८२ न्यायमत (परत:प्रामाण्यवाद)में दोष .. ४१०
८३ अख्यातिवादीके वचनका परिहार ४१२
८४ भ्रांतिज्ञानकी त्रिविधता और वृत्तिभेदका उद्धार .. ४१३

अष्टम प्रकाश : जीवेश्वरस्वरूप तथा वृत्तिप्रयोजनसहित .. कल्पितनिवृत्तिस्वरूप-निरूपण

१ अज्ञानविषयक विचार तथा वृत्तिका प्रयोजन कहनेकी प्रतिज्ञा ४१५
२ अज्ञानका आश्रय व विषय ४१५
३ अज्ञानका निरूपण ४१६
४ अज्ञानकी अनादि व भावरूपतामें शंका .. ४१६
५ उक्त शंकाका समाधान ४१८
६ जीव-ईश्वरविषय विचार और अविद्या-मायापूर्वक जीव-ईश्वरके स्वरूपमें चार पक्ष ४१९
७ उक्त चार पक्षोंमें मुक्त जीवोंका शुद्ध ब्रह्मसे अभेद .. ४२०
८ उक्त चार पक्षोंमें षट् अनादि पदार्थ निरूपण करके त्रिविध चेतनका अंगीकार ४२१
९ चित्रदीपमें श्रीविद्यारण्यस्वामीद्वारा उक्त चेतनके चार भेद ४२१
१० बिम्ब-प्रतिबिम्बवादसे आभासवादका भेद .. ४२२

११	आभासवादकी रीतिसे जीव-ब्रह्मके अभेदबोधक वाक्योंमें बाधसमानाधिकरण्य	४२२
१२	कूटस्थ और ब्रह्मके अभेदस्थलमें अभेद (मुख्य) समानाधिकरण्य	४२३
१३	उक्त बाधसमानाधिकरण्यमें विवरणकारके वचनसे अविरोध	४२३
१४	विवरणोक्त जीव-ब्रह्मका मुख्यसमानाधिकरण्य और श्रीविद्यारण्यके वाक्यकी प्रौढिवादिता ..	४२४
१५	श्रीविद्यारण्योक्त चेतनके चार भेदोंका अभिप्राय ..	४२५
१६	श्रीविद्यारण्यस्वामी उक्त बुद्धिवासनामें प्रतिबिम्बकी ईश्वरताका खण्डन	४२५
१७	श्रीविद्यारण्यस्वामी उक्त आनन्दमयकोशकी ईश्वरताका खण्डन	४२७
१८	माण्डूक्योपनिषदुक्त आनन्दमयकी सर्वज्ञतादिका अभिप्राय	४२७
१९	आनन्दमयकी ईश्वरतामें श्रीविद्यारण्यस्वामीके तात्पर्यका अभाव	४२९
२०	चेतनके तीन भेदोंका श्रीविद्यारण्यस्वामीसहित सर्वको स्वीकार	४३०
२१	उक्त पक्षोंके अनुसार मोक्षदशामें जीवका शुद्ध ब्रह्मसे और विवरणपक्षके अनुसार ईश्वरसे अभेद ..	४३१
२२	वेदान्तसिद्धांतमें प्रक्रियाके भेद और विवरणकारके मतमें अज्ञानमें प्रतिबिम्बरूप जीव तथा बिम्बरूप ईश्वरका निरूपण	४३१
२३	अवच्छेदवादद्वारा अभासवादका खण्डन और स्वमत निरूपण	४३३
२४	अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन जीव है और अनवच्छिन्न चेतन ईश्वर है, इस पक्षका खण्डन	४३५

२५	तृप्तिदीपमें श्रीविद्यारण्यस्वाम्युक्त अन्तःकरणके सम्बन्ध और उसके अभावके उपाधिपनका अभिप्राय ..	४३६
२६	अवच्छेदवादके भेदपूर्वक उसकी समाप्ति ..	४३६
२७	सिद्धान्तमुक्तावल्यादिमें उक्त एकजीववाद (दृष्टि-सृष्टिवाद)का निरूपण	४३७
२८	वेदान्तसिद्धान्तकी नाना प्रक्रियाओं और सकल अद्वैत ग्रन्थोंके तात्पर्यका विषय	४४०
२९	जीव-ईश्वरसम्बन्धमें सर्व ग्रन्थकारोंकी सम्मतिका एकत्रीकरण	४४१
३०	विवरणकारकी रीतिसे प्रतिबिम्वके स्वरूपका निरूपण	४४१
३१	श्रीविद्यारण्यस्वामी और विवरणमतकी विलक्षणता ..	४४२
३२	उक्त दोनों पक्षोंकी उपादेयता	४४४
३३	अभेदबोधनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बके अभेदपक्षकी रीतिकी सुगमता	४४४
३४	प्रतिबिम्बविषय विचार, आभासवाद और प्रतिबिम्ब-वादका किञ्चिद्भेद	४४५
३५	प्रतिबिम्वकी छायारूपताका निषेध	४४५
३६	प्रतिबिम्बकी बिम्वसे भिन्न व्यावहारिक द्रव्यरूपताका निषेध	४४५
३७	आभासवाद और प्रतिबिम्बवादको सयुक्तिक कहकर दोनों पक्षोंमें अज्ञानरूप उपादानता	४४७
३८	मूलाज्ञान अथवा तूलाज्ञानको प्रतिबिम्ब वा उसके धर्मोंकी उपादानताके असम्भवकी शंका	४४७
३९	किसी एक ग्रन्थकारकी रीतिसे उक्त शंकाका समाधान	४४८
४०	पूर्वोक्त शंकाका अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे समाधान ..	४४९
४१	मूलाज्ञान और तूलाज्ञानके भेदविषयक किञ्चित विचार	४४९

४२ आभासवाद और प्रतिबिम्बवादमें धर्मी अथवा धर्मके अध्यासकी उत्पत्तिका उपादान तूलाज्ञान मानकर अधिष्ठानका भेद ४५०

४३ दोनों पक्षोंमें मूलाज्ञानको उपादान मानकर अधिष्ठानका अभेद और मूलाज्ञानमें उक्त अध्यासोंके उपादानताकी योग्यता ४५०

४४ प्रतिबिम्बाध्यासके उपादान तूलाज्ञानवादीका मत .. ४५१

४५ उक्तमतके निषेधपूर्वक मूलाज्ञानको ही प्रतिबिम्बाध्यासोंकी उपादानता ४५२

४६ मूलाज्ञानकी उपादानतापक्षमें शंका ४५३

४७ उक्त शंकाका समाधान ४५४

४८ एकदेशीकी रीतिसे बाधका लक्षण ४५४

४९ अनेक ग्रन्थकारोंकी रीतिसे बाधका लक्षण और ब्रह्मज्ञान-विना प्रतिबिम्बाध्यासके बाधकी सिद्धि .. ४५५

५० मुख-दर्पणादि अधिष्ठानके ज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासोंकी निवृत्तिमें हेतुता ४५६

५१ मुख-दर्पणादिके ज्ञानको मूलाज्ञानकी निवृत्तिविना भी प्रतिबिम्बाध्यासकी नाशकता ४५७

५२ उक्त पक्षमें श्रीपद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिकाकी रीतिसे तूलाज्ञानको अध्यासहेतु माननेवाले वादीकी शंका .. ४५९

५३ उक्त शंकाकी अयुक्तता ४६०

५४ तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका हेतु माननेसे पञ्चपादिकाके वचनसे विरोध और मूलाज्ञानको हेतु माननेसे अविरोध ४६१

५५ प्रतिबिम्बाध्यासकी व्यावहारिकता और प्रातिभासिकताके विचारपूर्वक स्वप्नाध्यासके उपादानके विचारकी प्रतिज्ञा ४६४

५६	स्वप्नविषयक विचार और तूलाज्ञानमें स्वप्नकी उपादानताकी रीति	४६५
५७	उक्त पक्षमें शंका	४६६
५८	उक्त शंकाका समाधान	४६६
५९	स्वप्नके प्रातिभासिक जीव-जगत्का अधिष्ठान व्यावहारिक जीव-जगत्	४६७
६०	उक्त पक्षकी अयुक्ततापूर्वक चेतनमें स्वप्नकी अधिष्ठानता	४६७
६१	अहंकारावच्छिन्न चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान मानकर तूलाज्ञानमें उसकी उपादानता और जाग्रद्बोधसे उसकी निवृत्ति	४६८
६२	अहंकारानवच्छिन्न चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान मानकर मूलाज्ञानमें उसकी उपादानता और उपादानमें विलयरूप निवृत्ति	४६८
६३	अहंकारानवच्छिन्न चेतनको ही अधिष्ठान मानकर विरोधी ज्ञानसे अज्ञानकी एक विक्षेपहेतु शक्तिके नाशका अंगीकार	४६८
६४	उक्त चेतन (अहंकारानवच्छिन्नचेतन) को अधिष्ठान मानकर भी शरीरके अन्तर्देशस्थ चेतनमें ही अधिष्ठानताका सम्भव	४६९
६५	शरीरके अन्तर्देशस्थ अहंकारानवच्छिन्नमें स्वप्नके अधिष्ठानताकी योग्यता	४७०
६६	बाह्य-अन्त:साधारणदेशस्थचेतनमें स्वप्नकी अधिष्ठानताके कथनमें श्रीगौडपाद तथा श्रीभाष्यकारादिके वचनसे विरोध	४७०
६७	अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप और बिम्बरूप दोनों अहंकारानवच्छिन्न चेतन हैं, उनमें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतनमें अधिष्ठानताका सम्भव	४७१

६८ उक्त पक्षविषय संक्षेपशारीरकमें इस अध्यासकी अपरोक्षताके लिये अधिष्ठानकी त्रिविध अपरोक्षता .. ४७२
६९ उक्त पक्षमें शंका-समाधानपूर्वक जीवचेतनरूप अधिष्ठानके स्वरूपप्रकाशसे स्वप्नका प्रकाश ४७२
७० अद्वैतदीपिकामें श्रीनृसिंहाश्रमाचार्योक्त आकाशगोचर चाक्षुषवृत्तिके निरूपणपूर्वक संक्षेपशारीरकोक्त आकाशगोचर मानसवृत्तिका अभिप्राय ४७३
७१ उभय मतके अंगीकारपूर्वक अद्वैतदीपिकोक्त रीतिकी समीचीनता ४७४
७२ सर्वमतोंमें सर्प-रजतादिका तूलाज्ञान ही उपादान .. ४७५
७३ स्वप्नके अधिष्ठानरूप आत्माकी स्वयंप्रकाशतामें प्रमाणभूत वृहदारण्यक श्रुतिका अभिप्राय ४७५
७४ स्वप्नमें अन्त:करण-इन्द्रियको ज्ञानका असाधन कथन करके स्वत: अपरोक्ष आत्मासे स्वप्नकी अपरोक्षता .. ४७६

दृष्टि-सृष्टि और सृष्टि-दृष्टिवादका भेद

७५ दृष्टि-सृष्टिवादमें सकल अनात्माकी ज्ञातसत्ता (साक्षिभास्यता) कथन करके दृष्टि-सृष्टि पदके दो अर्थ .. ४७७
७६ सृष्टि-दृष्टिवाद (व्यावहारिक पक्ष) का निरूपण .. ४७८

मिथ्या प्रपञ्चके मिथ्यात्वमें शंका—समाधान

७७ उक्त दोनों पक्षोंमें मिथ्या पदार्थोंके मिथ्यात्व-धर्ममें द्वैतवादियोंका आक्षेप ४७९
७८ उक्त आक्षेपका अद्वैतदीपिकोक्त समाधान .. ४७९
७९ मिथ्या प्रपञ्चके मिथ्यात्व-धर्ममें द्वैतवादियोंका प्रकारांतरसे आक्षेप ४८१
८० उक्त आक्षेपके उक्त समाधानकी ही घटितता .. ४८१
८१ अद्वैतदीपिकोक्त समाधानका सत्ताभेद माननेपर सम्भव और एक सत्ता माननेपर असम्भव ४८२

८२ उक्त आक्षेपका श्रीनिश्चलदासोक्त समाधान .. ४८२
८३ उक्त आक्षेपका अन्य ग्रन्थकारोक्त समाधान .. ४८३

मतभेदसे प्रपञ्चके सत्यत्वका पञ्चविध प्रतिक्षेप (तिरस्कार)

८४ (१) तत्त्वशुद्धिकारकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप ४८४
८५ (२) अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप ४८६
८६ (३) न्यायसुधाकारकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप ४८७
८७ (४) अन्य आचार्योंकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप ४८७
८८ (५) संक्षेपशारीरककी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप ४८८

कर्मकी ज्ञानसाधनता विषय विचार

८९ मिथ्या प्रपञ्चकी निवृत्तिमें कर्मके अनुपयोगके अनुवाद-पूर्वक सिद्धान्तोक्त द्विविध समुच्चयका निर्द्धार .. ४८९
९० श्रीभाष्यकारसम्मत ज्ञानकी साधनता .. ४८९
९१ श्रीवाचस्पति उक्त कर्मको जिज्ञासाकी साधनता .. ४९०
९२ श्रीविवरणकारके मतानुसार कर्मको ज्ञानकी साधनता ४९०
९३ श्रीवाचस्पति और श्रीविवरणकारके मतकी विलक्षणतामें शंका ४९१
९४ उक्त शंकाका समाधान ४९२
९५ कल्पतरुकारकी रीतिसे यावत् नित्यकर्मोंका विद्यामें उपयोग ४९३
९६ संक्षेपशारीरककर्ताकी रीतिसे काम्य एवं नित्य यावत् शुभकर्मोंका विद्यामें उपयोग ४९४

संन्यासकी ज्ञानसाधनताविषय विचार

९७ पापनिवृत्तिद्वारा ज्ञानके हेतु होनेसे क्रमशः कर्म और संन्यास दोनोंकी कर्तव्यता ४९४
९८ किसी आचार्यके मतसे प्रतिबन्धक पापकी निवृत्ति और पुण्यकी उत्पत्तिद्वारा संन्यासमें श्रवणकी साधनता .. ४९५
९९ विवरणमतसे संन्यासमें ज्ञानप्रतिबन्धक विक्षेपकी निवृत्तिरूप दृष्टफलकी हेतुता ४९५

क्षत्रिय और वैश्यके संन्यास एवं श्रवणमें अधिकारका विचार

१०० उक्त विचारकी प्रतिज्ञा ४९६
१०१ किसी ग्रन्थकारकी रीतिसे इसमें केवल ब्राह्मणका ही अधिकार और क्षत्रिय-वैश्यका अनधिकार .. ४९६
१०२ अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे संन्यासमें तो केवल ब्राह्मणका ही अधिकार, परन्तु संन्यास त्यागकर क्षत्रिय-वैश्यका ब्रह्मश्रवणमें भी अधिकार ४९६
१०३ कुछ ग्रन्थकारोंकी रीतिसे क्षत्रिय-वैश्यका ब्रह्मश्रवणादि-की भाँति विद्वत्संन्यासमें भी अधिकार .. ४९७
१०४ श्रीवार्तिककारके मतसे क्षत्रिय-वैश्यका विविदिषा-संन्यासमें भी अधिकार ४९७
१०५ किसी ग्रन्थकारकी रीतिसे ब्राह्मणको ज्ञानार्थ संन्यासकी अपेक्षा, परन्तु क्षत्रिय-वैश्यका संन्यासमें तो अनधिकार और विद्याके उपयोगी कर्म एवं वेदान्तश्रवणमें उनका भी अधिकार ४९८
१०६ किसी ग्रन्थकारके मतसे शूद्रका श्रवणमें अनधिकार .. ४९९
१०७. अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे वेदभिन्न पुराण—इतिहासादि-रूप अध्यात्म ग्रन्थोंके श्रवणादिमें शूद्रका भी अधिकार ५००
१०८ मनुष्यमात्रको भक्ति और ज्ञानका अधिकार तथा अंत्यजादि मनुष्योंको भी तत्त्वज्ञानका अधिकार .. ५०१

१०९ तत्त्वज्ञानमें दैवीसम्पदाकी अपेक्षापूर्वक मनुष्यमात्रके लिये भगवद्भक्ति और तत्त्वज्ञानके अधिकारका निर्धार ५०१

तत्त्वज्ञानसे स्वहेतु अज्ञानकी निवृत्तिविषय शंका–समाधान

११० अज्ञानके कार्य अन्तःकरणकी वृत्तिरूप तत्त्वज्ञानसे उसके कारण अज्ञानकी निवृत्तिमें शंका ५०२
१११ उक्त शंकाका समाधान ५०२

अविद्यालेशसम्बन्धी विचार

११२ तत्त्वज्ञानसे अविद्यारूप उपादानके नाश हो जानेपर जीवन्मुक्त विद्वान्के शरीरस्थितिकी शंका .. ५०४
११३ उक्त शंकाका कोई एक आचार्यकी रीतिसे समाधान .. ५०४
११४ उक्त समाधानका असम्भव ५०४
११५ अविद्यालेशके तीन प्रकार ५०५
११६ प्रकृत अर्थमें श्रीसर्वज्ञात्ममुनिका मत ५०५
११७ उक्तमतका ज्ञानीके अनुभवसे विरोध .. ५०६
११८ अविद्याके निवृत्तिकालमें तत्त्वज्ञानकी निवृत्तिकी रीति ५०६
११९ प्रकृत अर्थमें पञ्चपादिकाकारका मत ५०७

तत्त्वज्ञानके कारण और सहकारीसाधन–सम्बन्धी विचार

१२० उत्तम और मध्यम अधिकारीके भेदसे तत्त्वज्ञानके दो साधनोंका कथन ५०७
१२१ उक्त दोनों पक्षोंमें प्रसंख्यानमें तत्त्वज्ञानकी करणतारूप प्रमाणता ५०७
१२२ भामतीकार श्रीवाचस्पतिके मतमें प्रसंख्यानमें मनकी सहकारिता और मनमें ब्रह्मज्ञानकी करणता .. ५०८
१२३ अद्वैत ग्रन्थोंका मुख्य मत (अर्थात् एकाग्रतासहित मन तो सहकारी और वेदान्तवाक्यरूप शब्द ब्रह्मज्ञानके करण) ५०९
१२४ शब्दसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिमें शंका-समाधान .. ५१०
१२५ अन्य ग्रन्थोंकी रीतिसे शब्दमें अपरोक्ष ज्ञानकी जनकता ५११

ज्ञान और विषयकी अपरोक्षताविषय विचार

१२६ कुछ ग्रन्थकारोंकी रीतिसे ज्ञान व विषय दोनोंमें अपरोक्षत्व व्यवहारका कथन ५११
१२७ उक्त अर्थमें शंका-समाधान ५१२
१२८ विषयमें परोक्षत्व-अपरोक्षत्वके सम्पादक प्रमातृचेतनके भेद और भेदसहित विषयगत परोक्षत्वके अधीन ही ज्ञानगत परोक्षत्वका निरूपण ५१२
१२९ उक्त मतमें अवान्तरवाक्यजन्य ब्रह्मज्ञानमें अपरोक्षताकी प्राप्तिरूप दोष ५१३
१३० उक्त दोषसे छूटनेके लिये अपरोक्षताका अन्य लक्षण .. ५१४
१३१ अपरोक्षज्ञानमें श्रीसर्वज्ञात्ममुनिके मतका अनुवाद .. ५१५
१३२ विषयगत अपरोक्षताके अधीन ज्ञानगत अपरोक्षता है, इस मतका अनुवाद ५१५
१३३ श्रीअद्वैतविद्याचार्यकी रीतिसे विषयगत और ज्ञानगत अपरोक्षत्वका प्रकारान्तरसे कथन और दूषित उक्तमतसे दूषणान्तरका कथन ५१५
१३४ उक्त दोषसे रहित अपरोक्षका लक्षण ५१७
१३५ वृत्तिरूप प्रत्यक्षज्ञानमें उक्त अपरोक्षलक्षणकी अव्याप्ति ५१८
१३६ उक्त अव्याप्तिका श्रीअद्वैतविद्याचार्यकी रीतिसे उद्धार ५१८
१३७ उक्त पक्षमें शंका ५१९
१३८ उक्त शंकाका समाधान ५१९
१३९ उक्त पक्षमें अन्य शंका ५१९
१४० उक्त शंकाका समाधान ५२०
१४१ शब्दसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिमें कथन किये गये तीन मतोंमें प्रथम मतकी समीचीनता ५२१

वृत्तिके प्रयोजनका कथन

१४२ ग्रन्थके आरम्भमें उक्त तीन प्रश्नोंका और उनमेंसे कथन किये गये दो प्रश्नोंके उत्तरका अनुवाद .. ५२२

१४३ वृत्तिके प्रयोजनसम्बन्धी तृतीय प्रश्नके उत्तरका आरम्भ ५२२

१४४ वृत्तिप्रयोजनके कथनके अवसरमें जाग्रत्का लक्षण .. ५२२

१४५ किसी ग्रन्थकारकी रीतिसे वृत्तिका प्रयोजन आवरणका अभिभव ५२३

१४६ समष्टि अज्ञानको जीवकी उपाधि माननेवाले पक्षमें ब्रह्म, ईश्वर अथवा जीवचेतनके सम्बन्धसे आवरणके अभिभवका असम्भव ५२३

१४७ इस पक्षमें अपरोक्षवृत्तिसे अथवा अपरोक्षवृत्तिविशिष्ट चेतनसे आवरणके अभिभवका सम्भव .. ५२४

१४८ उक्त पक्षकी रीतिसे वृत्तिका प्रयोजन आवरणनाशकता ५२५

१४९ द्वितीय पक्षकी रीतिसे जीवचेतनका विषयसे सम्बन्धरूप वृत्तिके प्रयोजनका कथन ५२५

१५० अन्तःकरणविशिष्ट चेतन जीव है, इस पक्षमें विषय-सम्बन्धार्थ वृत्तिकी अपेक्षा ५२६

१५१ उक्त दोनों पक्षोंकी विलक्षणता ५२७

१५२ मतभेदसे उक्त सम्बन्धमें विलक्षणताके कथनकी असंगतता ५२७

१५३ चार चेतनके कथनपूर्वक उक्त अर्थकी सिद्धि ... ५२८

१५४ जाग्रत्में होनेवाली वृत्तिके अनुवादपूर्वक स्वप्नावस्थाका लक्षण ५२९

१५५ सुषुप्ति-अवस्थाका लक्षण ५२९

१५६ सुषुप्तिसम्बन्धी अर्थका कथन ५२९

१५७ उक्त अवस्थाभेदमें वृत्तिकी अधीनता .. ५३०

१५८ वृत्तिके प्रयोजनका कथन ५३०

कल्पितकी निवृत्तिविषय विचार

१५९ कल्पितकी निवृत्तिको अधिष्ठानरूपतापूर्वक मोक्षमें द्वैतापत्तिके कथनकी अयुक्तता ५३०

१६०	न्यायमकरन्दकारोक्त अधिष्ठानरूप कल्पितनिवृत्तिके पक्षमें दूषण	५३१
१६१	श्रीन्यायमकरन्दकारकी रीतिसे अधिष्ठानसे भिन्न कल्पितनिवृत्तिका स्वरूप	५३३
१६२	श्रीन्यायमकरन्दकारकी रीतिसे कल्पितनिवृत्तिके स्वरूप-निर्णयार्थं अनेक विकल्पोंका लेख	५३३
१६३	श्रीन्यायमकरन्दकारकी रीतिसे उक्त चतुष्प्रकारसे विलक्षण ब्रह्मसे भिन्न पञ्चम प्रकाररूप कल्पितनिवृत्ति-का स्वरूप	५३५
१६४	श्रीन्यायमकरन्दकारके मतकी असमीचीनता ..	५३६
१६५	श्रीन्यायमकरन्दकारद्वारा ज्ञातअधिष्ठानरूप कल्पित-निवृत्तिपक्षमें दिये गये दोषका उद्धार और प्रसंगसे विशेषण, उपाधि एवं उपलक्षणका लक्षण	५३७
१६६	अधिष्ठानरूप कल्पितनिवृत्तिके पक्षमें पञ्चम-प्रकार-वादीकी शंका	५३९
१६७	उक्त शंकाका समाधान	५३९
१६८	श्रीन्यायमकरन्दकारसे पृथक् अन्य रीतिसे अधिष्ठानसे भिन्न कल्पितनिवृत्तिका स्वरूप	५४०
१६९	उक्त मतमें पुरुषार्थका स्वरूप (दु:खाभाव वा केवल सुख)	५४१

श्रीवृत्ति-प्रभाकर

प्रथम प्रकाश

प्रत्यक्ष-प्रमाण-निरूपण

१ : वृत्तिके सामान्य लक्षण और भेद

'अहं ब्रह्मास्मि' इस वृत्तिसे कार्यसहित अज्ञानकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति होती है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है। इस स्थलपर यह जिज्ञासा होती है कि वृत्ति किसको कहते हैं ? वृत्तिका कारण कौन है ? और वृत्तिका प्रयोजन क्या है ? इसी आशयसे 'वृत्तिप्रभाकर' अर्थात् 'सूर्यके समान ज्यों-का-त्यों वृत्तिको प्रकाश करनेवाला' वृत्ति-प्रभाकर-नामक ग्रन्थ लिखा जाता है।

अन्तःकरण और अज्ञानका जो परिणाम, उसका नाम 'वृत्ति' है। यद्यपि क्रोध-सुखादि भी अन्तःकरणके परिणाम हैं और आकाशादि अज्ञान-के परिणाम हैं, परन्तु उनको 'वृत्ति' नहीं कहा जाता; तथापि 'विषय-को प्रकाश करनेवाला जो अन्तःकरण और अज्ञानका परिणाम' वह 'वृत्ति' कहा जाता है। क्योंकि क्रोध-सुखादिरूप जो अन्तःकरणके परि-णाम हैं, उनसे किसी पदार्थका प्रकाश नहीं होता; वैसे ही आकाशादि-

से भी किसी विषयका प्रकाश नहीं होता, इसलिये वे 'वृत्ति' नहीं कहे जा सकते। किन्तु केवल ज्ञानरूप परिणामसे ही विषयका प्रकाश होता है, इसलिये उसीको 'वृत्ति' कहा जाता है। यद्यपि सुख, दुःख, काम, तृप्ति, क्रोध, क्षमा, धृति, अधृति, लज्जा और भयादि—जितने भी अन्तःकरणके परिणाम हैं, उन सबको अनेक स्थानोंमें 'वृत्ति' शब्दसे व्यवहार किया गया है; तथापि तत्त्वानुसंधान और अद्वैतकौस्तुभादि ग्रन्थोंमें प्रकाशक-परिणामका नाम ही 'वृत्ति' कहा गया है। इसीलिये अद्वैत-मतमें माया (अज्ञान) और अन्तःकरणका ज्ञानरूप परिणाम ही 'वृत्ति' शब्दका पारिभाषिक अर्थ है। वह वृत्ति-ज्ञान दो प्रकारका माना गया है, उनमें एक प्रमारूप और दूसरा अप्रमारूप है। इनमेंसे प्रमाण-जन्य ज्ञानको 'प्रमा' कहा जाता है और उससे भिन्नको 'अप्रमा'। प्रमा-ज्ञान यथार्थ ही होता है, परन्तु अप्रमा-ज्ञान दो प्रकारका है, उनमेंसे एक यथार्थ है और दूसरा भ्रम। दोषजन्य ज्ञानको 'भ्रम' कहते हैं। परन्तु जो दोषजन्य न हो और इन्द्रिय-अनुमानादि प्रमाणसे भी जन्य न हो, किन्तु और किसी कारणसे हो वह यथार्थ अप्रमा कहा जाता है। जैसे शुक्तिमें रजतका ज्ञान सादृश्य-दोषजन्य है, अतः वह भ्रम है। इसी प्रकार मिश्रीमें कटुताका ज्ञान पित्त-दोषजन्य है, चन्द्रमें लघुताका ज्ञान एवं अनेक वृक्षोंमें एकता-ज्ञान दूरतारूप दोषजन्य है, अतः वे सब भ्रम हैं। यद्यपि विचार-सागरमें 'दोषको अध्यासकी हेतुता' का खण्डन किया गया है, उसका यही अभिप्राय है कि प्रमाता, प्रमाण और प्रमेयके केवल तीन दोष ही अध्यासके हेतु नहीं हैं, बल्कि कोई भी दोष हो तो अध्यास होता है। तथापि वहाँ जो सभी दोषोंके अभावसे अध्यास कहा गया है, सो प्रौढिवादसे ही कहा गया है। क्योंकि जहाँ और कोई दोष नहीं होता, वहाँ स्वयं अविद्या ही दोष है, इसलिये दोषजन्यको ही 'भ्रम' कहा जाता है। तथा (१) स्मृतिज्ञान, (२) सुख-दुखका प्रत्यक्ष-ज्ञान और (३) ईश्वरवृत्ति-ज्ञान दोषजन्य नहीं, अतः वे भ्रम नहीं; साथ ही वे प्रमाणजन्य भी नहीं इसलिये वे प्रमा नहीं, किन्तु वे भ्रम व प्रमासे तो विलक्षण हैं, परन्तु हैं यथार्थ। क्योंकि

जिस ज्ञानके विषयका संसारदशामें बाध न हो वह ज्ञान यथार्थ कहा जाता है । इसी विषयको नीचे स्पष्ट किया जाता है––

(१) स्मृति-ज्ञानका हेतु संस्कारद्वारा पूर्व अनुभव है, अतः जहाँ यथार्थ अनुभवसे स्मृति हो, वहाँ स्मृति यथार्थ है और जहाँ भ्रमरूप अनुभवके संस्कारसे स्मृति हो वहाँ अयथार्थ है; तथापि दोनों स्थलोंमें किसी भी प्रमाणजन्य नहीं ।

(२) धर्मादिके निमित्तसे अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थका सम्बन्ध होनेसे अन्तःकरणके सत्त्वगुण एवं रजोगुणका परिणाम सुखाकार व दुःखाकार होता है, वही सुख-दुःखका निमित्त है । उसी धर्मादिके निमित्तसे सुख-दुःखको विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्ति होती है, उस वृत्तिमें आरूढ साक्षी सुख-दुःखको प्रकाश करता है । क्योंकि सुखाकार व दुःखाकार अन्तःकरणकी वृत्ति किसी प्रमाणजन्य नहीं, इसलिये वह भी यद्यपि प्रमा तो नहीं परन्तु है यथार्थ ।

(३) ईश्वरके ज्ञान, इच्छा व प्रयत्न न्यायमतमें तो नित्य हैं, परन्तु श्रुतिमें ईश्वरके ज्ञानादिकी उत्पत्ति कथन की गई है, इसलिये वे नित्य नहीं । किन्तु प्राणियोंके कर्मानुसार सृष्टिके आदिकालमें सभी पदार्थोंको विषय करनेवाला ईश्वरका ज्ञान उत्पन्न होता है, ऐसा माना गया है । वह ज्ञान भूत, भविष्य और वर्तमान सकल पदार्थोंके सामान्य-विशेष भावको विषय करनेवाला है और प्रलयपर्यन्त स्थायी है, इसीलिये उसे एक और नित्य कहा गया है । तैसे ही ईश्वरकी इच्छा एवं प्रयत्न भी उत्पत्तिवाले और स्थायी हैं, इसलिये वे दोनों भी प्रलयपर्यन्त एक-एक व्यक्ति ही हैं । इस विषयमें ऐसी शंका उत्पन्न होती है––

यदि ईश्वरकी इच्छा प्रलयपर्यन्त स्थायी हो तो वर्षा, आतप एवं शीत ईश्वरकी इच्छासे ही होते हैं, इसलिये प्रलयपर्यन्त वर्षा, आतप व शीत रहने चाहिये ।

वह शंका बनती नहीं है । क्योंकि यदि ईश्वरकी इच्छारूप व्यक्ति नाना हों और वे नित्य मानी गई हों, तब यह दोष हो सकता है । परन्तु

ईश्वरकी इच्छाव्यक्ति प्रलयपर्यन्त स्थायी नाना नहीं, किन्तु एक ही है। उस एक इच्छासे सारे पदार्थ जिस रीतिसे विषय किये गये हैं उसी रीतिसे वे व्यवहारमें आते हैं। अर्थात् इतने काल वर्षा हो, इतने काल शीत और इतने काल आतप—इसी रीतिसे ईश्वरकी इच्छा पदार्थोंको विषय करती है। इसलिये यद्यपि सारे पदार्थ जिस-तिस कालमें होते हैं, परन्तु प्रलय-पर्यन्त स्थायी इच्छा एक ही है, इस पक्षमें दोष नहीं। श्रुतिमें ईश्वरके ज्ञान, इच्छा व कृतिकी उत्पत्ति कही गई है, इसलिये वे ज्ञानादि उत्पत्ति-वाले हैं और आकाशादिके समान महाप्रयलपर्यन्त स्थायी हैं। इसके विपरीत प्रपञ्चके स्थितिकालमें जो ईश्वरके ज्ञानादिके अनन्त बार उत्पत्ति-नाश मानते हैं, उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि उन अनन्त ज्ञानोंमेंसे कोई एक ज्ञानरूप व्यक्ति ईश्वरमें प्रपञ्चके स्थितिकालमें सदा बनी रहती है, अथवा प्रपञ्चकी विद्यमानतामें किसी कालमें ईश्वर ज्ञानहीन भी रहता है? यदि ऐसा कहा जाय कि किसी कालमें ईश्वर ज्ञानहीन रहता है, तो उस कालमें वह अज्ञ कहा जायगा, जो किसीको भी इष्ट नहीं है। यदि ऐसा कहा जाय कि कोई एक ज्ञान-व्यक्ति ईश्वरमें सदा बनी रहती है; तो फिर उन अनन्त ज्ञानोंकी अनन्त उत्पत्ति और अनन्त नाश मानना निष्फल होगा। किन्तु एक ही ज्ञान सृष्टिके आदि कालमें उत्पन्न हुआ महाप्रलयपर्यन्त स्थायी रहता है, ऐसा मानना ही योग्य है। इसके साथ ही ईश्वरके वे ज्ञान, इच्छा व कृति विसंवादी नहीं किन्तु संवादी हैं। निष्फल प्रवृत्तिके जनक ज्ञानादिको 'विसंवादी' कहा जाता है, उससे भिन्नको 'संवादी'। जीवके ज्ञान, इच्छा व कृति संवादी और विसंवादीके भेदसे दो प्रकारके हैं। परन्तु ईश्वरके ज्ञान, इच्छा व कृति निष्फल प्रवृत्तिके जनक न होनेसे विसंवादी नहीं, किन्तु संवादी ही हैं। विसंवादी ज्ञानको भ्रम और संवादीको यथार्थ कहा जाता है। संवादीमेंसे प्रमाणजन्य यथार्थ ज्ञानको प्रमा कहते हैं। जैसे जीवका ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिरूप है, तैसे ही ईश्वरका ज्ञान मायाकी वृत्तिरूप है। परन्तु वह जीवोंके अदृष्टजन्य है किसी प्रमाणजन्य नहीं, इसलिये

वह प्रमा नहीं, दोषजन्य नहीं और निष्फल प्रवृत्तिका जनक भी नहीं; अतः भ्रमरूप नहीं किन्तु यथार्थ है। प्रमाणजन्य ज्ञानको प्रमा कहते हैं।

२ : प्रमाण-भेदका कथन

प्रमाणके षट् भेद हैं। वे इस प्रकार—

(१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमान, (३) शब्द, (४) उपमान, (५) अर्थापत्ति और (६) अनुपलब्धि। प्रत्यक्ष-प्रमाके करणको 'प्रत्यक्ष-प्रमाण' अनुमिति-प्रमाके करणको 'अनुमान-प्रमाण' शाब्दी-प्रमाके करणको 'शब्द-प्रमाण' उपमिति-प्रमाके करणको, 'उपमान-प्रमाण' अर्थापत्ति-प्रमाके करण को 'अर्थापत्ति-प्रमाण' और अभाव-प्रमाके करणको 'अनुपलब्धि-प्रमाण' कहते हैं। प्रत्यक्ष और अर्थापत्तिरूप प्रमा एवं प्रमाणके एक ही नाम हैं। भट्ट-मत और वेदान्त-मतमें षट् प्रमाण ही माने गये हैं। यद्यपि सूत्रकार और भाष्यकारने प्रमाणोंकी संख्या नहीं लिखी; तथापि अद्वैतवादमें भट्टमत सिद्धान्तका अविरोधी माना गया है, उसमें तथा वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थोंमें भी षट् प्रमाण ही लिखे हैं।

३ : करणका लक्षण

अर्थापत्ति और अनुपलब्धि दो प्रमाणोंको छोड़कर न्यायशास्त्रमें चार ही प्रमाण माने गये हैं। इस विषयमें न्यायशास्त्रका यह मत है—

जो प्रमाका करण हो उसको 'प्रमाण' कहा जाता है। प्रत्यक्ष-प्रमाके करण नेत्रादि इन्द्रियाँ हैं, इसलिये नेत्रादि इन्द्रियोंको प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा गया है। व्यापारवाला जो असाधारण कारण हो, उसे 'करण' कहते हैं। (१) ईश्वर, (२) उसका ज्ञान, (३) उसकी इच्छा, (४) उसकी कृति, (५) देश, (६) काल, (७) अदृष्ट, (८) प्रागभाव और (९) प्रतिबन्धकाभाव—ये नव साधारण कारण हैं। जो सभी कार्योंके प्रति कारण हो, उसे 'साधारण-कारण' कहा गया है। अतः इन नवसे भिन्न जो भी कारण हो, उसे 'असाधारण-कारण' कहते हैं। असाधारण-

कारण भी दो प्रकारका होता है, उनमें एक व्यापारवाला और दूसरा व्यापाररहित होता है। जो स्वयं कारणसे उपजकर कार्यको उपजावे सो 'व्यापार' कहा जाता है। जैसे कपाल घटका कारण है और दो कपालोंका संयोग भी घटका कारण है। यहाँ कपालकी कारणतामें कपाल-संयोग व्यापार है, क्योंकि कपाल-संयोग कपालसे उपजता है और कपालके कार्य घटको उपजाता है। अतः घटके प्रति संयोगरूप व्यापारवाला कारण कपाल है। परन्तु जो किसी के द्वारा कार्यको न उपजावे किन्तु आप ही उपजावे, वह व्यापारहीन कारण कहा जाता है। जैसे कपाल-संयोग घटके प्रति व्यापारहीन कारण है। ईश्वरादि जो नव साधारण कारण ऊपर कहे गये हैं, उनसे भिन्न व्यापारवाले कारणको 'करण' कहते हैं, जैसे कपाल है। इसलिये कपाल घटका करण है, परन्तु कपाल-संयोग असाधारण-कारण तो है, फिर भी व्यापारवाला नहीं, इसलिये यह करण नहीं कहा जाकर घटका कारण ही कहा जाता है।

४ : प्रत्यक्ष-प्रमाणके भेदका निरूपण

इसी प्रकार नेत्रादि इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष-प्रमाके कारण हैं। क्योंकि यदि नेत्रादि इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे संयोग न हो तो प्रत्यक्ष-प्रमाकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु इन्द्रिय और विषयका संयोग होनेपर ही प्रमाकी उत्पत्ति होती है। अतः इन्द्रिय-विषयका संयोग इन्द्रियसे उपजकर प्रत्यक्ष-प्रमाको उपजाता है, वह व्यापार है। इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाके संयोगरूप व्यापारवाले असाधारण कारण इन्द्रियाँ हैं, इसलिये न्याय-मतमें इन्द्रियोंको प्रत्यक्ष-प्रमाण कहा गया है और इन्द्रियजन्य यथार्थ ज्ञानको प्रत्यक्ष-प्रमा। उस मतमें प्रत्यक्ष-प्रमाके करण षट् इन्द्रियाँ हैं, इसलिये प्रत्यक्ष-प्रमा षड्विध है। (१) श्रोत्र, (२) त्वक्, (३) चक्षु, (४) रसन, (५) घ्राण और (६) मन—ये षट् इन्द्रियोंके नाम हैं। उनमें श्रोत्रजन्य यथार्थ ज्ञान 'श्रौत्र-प्रमा' त्वक्-इन्द्रियजन्य 'त्वाच-प्रमा' नेत्र-इन्द्रियजन्य 'चाक्षुष प्रमा' रसनइन्द्रियजन्य 'रासन-प्रमा'

घ्राण-इन्द्रियजन्य 'घ्राणज प्रमा' और मन-इन्द्रियजन्य 'मानस-प्रमा' कही जाती हैं। यद्यपि न्याय-मतमें सर्प-रजतादि भ्रम भी इन्द्रियजन्य ही हैं, परन्तु वे केवल इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु दोषसहित इन्द्रियजन्य हैं और विसंवादी हैं, यथार्थ नहीं। इसलिये शुक्तिमें रजतका ज्ञान चाक्षुष-ज्ञान तो है, परन्तु चाक्षुष-प्रमा नहीं। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियोंसे भी जो भ्रम हो वह प्रमा नहीं। न्याय-मतके अनुसार अब षट्-प्रमाका निरूपण किया जाता है—

५ : प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद श्रोत्रज-प्रमाका निरूपण

श्रोत्रसे शब्दका ज्ञान होता है और शब्दमें जो शब्दत्वजाति उसका भी ज्ञान होता है, तैसे ही शब्दत्वके व्याप्यकत्वादि और तारत्वादिका ज्ञान भी श्रोत्रसे ही होता है, इसी प्रकार शब्दाभाव और शब्दमें तार-त्वादिके अभावका ज्ञान भी होता है। अब श्रोत्रसे जिस-जिस विषयका ज्ञान होता है, श्रोत्रसे उसका सम्बन्ध कहना चाहिये। न्याय-मतमें त्वक्, चक्षु, रसन और घ्राण, ये चार इन्द्रियाँ तो क्रमशः वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वीसे उत्पन्न होती हैं और श्रोत्र व मन नित्य हैं। वे कर्ण-गोलकमें स्थित आकाशको श्रोत्र कहते हैं। जैसे वायु आदिसे त्वक् आदि इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं, तैसे ही आकाशसे श्रोत्रइन्द्रिय उत्पन्न होती है, ऐसा नैयायिक नहीं मानते हैं। किन्तु कर्णगोलकमें आया हुआ जो आकाश, उसीको वे 'श्रोत्र' कहते हैं। वे गुणका गुणीसे समवाय-सम्बन्ध मानते हैं, जैसे शब्द आकाशका गुण है इसलिये वे आकाशरूप श्रोत्रसे शब्दका समवाय-सम्बन्ध मानते हैं। यद्यपि भेरी आदि देशमें जो आकाश है उसमें शब्द उत्पन्न होता है और कर्ण-उपहित आकाशको श्रोत्र कहते हैं, अतः शब्दका सम्बन्ध भेरी आदि उपहित आकाशमें है, कर्ण-उपहित आकाशमें नहीं। तथा भेरीदण्डके संयोगसे शब्द भेरी-उपहित आकाशमें ही उत्पन्न होता है, उसका कर्ण-उपहित आकाशसे सम्बन्ध नहीं है, अतः उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये। परन्तु उस भेरी-उपहित शब्दसे गौंजके रूपमें और-और शब्द

दशों दिशा-उपहित आकाशमें उत्पन्न होते हैं । इसी प्रकार भेरी-उपहित आकाशसे निकला हुआ जो शब्द वह फैलता-फैलता कर्ण-उपहित आकाशमें उत्पन्न होता है, उसीका श्रोत्रसे प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, अन्यका नहीं । इस प्रकार श्रोत्र करण है और शब्दकी प्रत्यक्ष-प्रमा फल है । इसके सिवा त्वाच आदि प्रत्यक्ष-प्रमामें सभी इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे सम्बन्धरूप व्यापार होता है, परन्तु श्रौत्रप्रमामें इन्द्रियका विषयसे सम्बन्धरूप व्यापार बनता नहीं है । क्योंकि अन्य स्थानोंमें इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे संयोग-सम्बन्ध होता है, परन्तु शब्दका श्रोत्रसे समवाय-सम्बन्ध है । न्याय-मतमें संयोग जन्य है, परन्तु समवाय नित्य है । त्वक् आदि इन्द्रियोंका घटादिसे संयोग-सम्बन्ध त्वक् आदि इन्द्रियोंद्वारा उपजता है और प्रमाको उपजाता है, अतः यह व्यापार बनता है । परन्तु शब्दका श्रोत्रसे समवाय-सम्बन्ध श्रोत्रजन्य नहीं, इसलिये यह व्यापार बनता नहीं है । किन्तु श्रोत्र एवं मनका संयोगरूप व्यापार होता है, क्योंकि संयोग दोके आश्रय होता है और जिनके आश्रय संयोग होता है वे दोनों ही संयोगके उपादान-कारण होते हैं । इस प्रकार श्रोत्र-मनके संयोगके उपादान-कारण श्रोत्र एवं मन दोनों ही हैं । अतः श्रोत्र-मनका संयोग श्रोत्रजन्य है और श्रोत्रजन्य ज्ञानका जनक है, इसलिये व्यापार बन जाता है ।

इस विषयमें ऐसी शंका होती है—यद्यपि श्रोत्र-मनका संयोग श्रोत्रजन्य तो है, परन्तु श्रोत्रजन्य प्रमाका जनक वह किस प्रकार होता है ?

इसका समाधान इस प्रकार है—आत्म-मनका संयोग तो सभी ज्ञानोंका साधारण कारण है, इसलिये ज्ञानकी सामान्य सामग्री तो आत्म-मनका संयोग ही है और प्रत्यक्षादि ज्ञानोंकी विशेष सामग्री इन्द्रियादि हैं । इसलिये श्रोत्रजन्य प्रत्यक्षज्ञानके पूर्व आत्म-मनका संयोग होता है और फिर मन एवं श्रोत्रका संयोग होता है, मन एवं श्रोत्रका संयोग हुए विना श्रोत्रजन्य ज्ञान हो नहीं सकता । क्योंकि एक कालमें अनेक इन्द्रियोंका अपने-अपने विषयोंसे सम्बन्ध रहनेपर भी एक कालमें उन सब विषयोंका इन्द्रियोंसे ज्ञान होता नहीं है । इसमें हेतु यही है कि

मनके साथ संयोगवाली इन्द्रियका तो विषयसे सम्बन्ध हो तब ज्ञान हो जाता है, परन्तु मनसे असंयुक्त इन्द्रियका अपने विषयसे सम्बन्ध रहनेपर भी ज्ञान नहीं होता। न्यायमतमें मन परम अणु है, इसलिये एक कालमें अनेक इन्द्रियोंसे मनका संयोग असम्भव है। इसीलिये अनेक इन्द्रियोंसे अनेक विषयोंका एक कालमें ज्ञान हो नहीं सकता। यदि मन-इन्द्रियका संयोग ज्ञानका हेतु नहीं हो तो एक कालमें अनेक इन्द्रियोंका अपने विषयोंसे सम्बन्ध होते हुए एक कालमें अनेक ज्ञान होने चाहिये। परन्तु मन-इन्द्रियका संयोग ज्ञानमें हेतु होनेसे ऐसा हो नहीं सकता। इस प्रकार श्रोत्र-मनका संयोग होनेपर श्रोत्रमें समवाय-सम्बन्धसे रहनेवाले शब्दका प्रमा-ज्ञान होता है।

इस रीतिसे चक्षुरादि इन्द्रियोंका मनसे संयोग चाक्षुषादि ज्ञानोंका असाधारण कारण है। त्वाच-ज्ञानमें त्वक्-मनका संयोग, चाक्षुष-ज्ञानमें नेत्र-मनका संयोग, रासन-ज्ञानमें रसना मनका संयोग, घ्राणज-ज्ञानमें घ्राण-मनका संयोग और श्रौत्रज्ञानमें श्रोत्र-मनका संयोग कारण है। इस प्रकार श्रोत्र-मनका संयोग श्रोत्रसे उपजकर श्रौत्र-ज्ञानका जनक है, अतः इसमें भी व्यापार बनता है। आत्म-मनका संयोग तो सभी ज्ञानोंमें हेतु है, अतः पहले आत्म-मनका संयोग हो तब उसके बाद जो भी इन्द्रियजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है, उस इन्द्रियसे आत्म संयुक्त मनका संयोग होकर ही उस ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। फिर मनसंयुक्त इन्द्रियका बाह्य विषयसे सम्बन्ध हो, तब बाह्य प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, इसके विना नहीं।

इन्द्रियका विषयसे सम्बन्ध अनेक प्रकारका है। जहाँ श्रोत्रसे शब्दका प्रत्यक्ष-ज्ञान हो, वहाँ केवल शब्द ही श्रोत्रजन्य ज्ञानका विषय नहीं है, किंतु शब्दके धर्म शब्दत्वादि भी उस ज्ञानके विषय होते हैं। वहाँ शब्दका श्रोत्रसे समवाय-सम्बन्ध है और शब्दके धर्म जो शब्दत्वादि उनसे श्रोत्रका समवेत-समवाय-सम्बन्ध है। क्योंकि गुण-गुणीकी भाँति जातिका अपने आश्रयसे समवाय-सम्बन्ध ही होता है, इसलिये शब्दत्व-जातिका शब्दसे समवाय-सम्बन्ध है। समवाय-सम्बन्धसे जो रहे उसे 'समवेत' कहते हैं,

इसलिये श्रोत्रमें समवाय-सम्बन्धसे रहनेवाला जो शब्द वह 'श्रोत्रसमवेत' है। उस श्रोत्रसमवेत शब्दमें शब्दत्वका समवाय होनेसे श्रोत्रका शब्दत्वसे समवेत-समवाय-सम्बन्ध है । इसी प्रकार जब श्रोत्रमें शब्दकी प्रतीति न हो, तब शब्दाभावका प्रत्यक्ष होता है, उस स्थलमें श्रोत्रसे शब्दाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है । क्योंकि जिस अधिकरणमें पदार्थका अभाव होता है, उस अधिकरणमें पदार्थके अभावका विशेषणता-सम्बन्ध कहा जाता है । जैसे वायुमें रूप नहीं है, इसलिये वायुमें रूपाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है, तैसे ही शब्दशून्य श्रोत्रमें शब्दाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है । अतः श्रोत्रसे शब्दाभावका विशेषणता-सम्बन्ध शब्दाभावके प्रत्यक्ष-ज्ञानका हेतु है । जैसे श्रोत्रसे जहाँ ककारादि शब्दोंका प्रत्यक्ष होता है वहाँ ककारादिसे श्रोत्रका समवाय-सम्बन्ध है; तैसे ही ककारादिमें जो कत्वादिजाति, उनका समवेत-समवाय-सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है । तथा जैसे श्रोत्रमें शब्दाभावका विशेषणता-सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है, तैसे ही श्रोत्रसमवेत ककारमें खत्वाभावका भी प्रत्यक्ष होता है । वहाँ श्रोत्रका खत्वाभावसे समवेत-विशेषणता-सम्बन्ध है, क्योंकि श्रोत्रमें समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्धसे रहनेवाला जो ककार, उसमें खत्वाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है । इससे आदि लेकर श्रोत्रसे अभावके प्रत्यक्षमें अनेक सम्बन्ध हैं, परन्तु विशेषणतापन सभी अभावोंके सम्बन्धमें समान है । इसलिये अभावके प्रत्यक्षमें श्रोत्रका एक ही विशेषणता-सम्बन्ध है । इस प्रकार श्रोत्रजन्य प्रमाके हेतु तीन सम्बन्ध हैं । अर्थात् शब्दके ज्ञानका हेतु समवाय-सम्बन्ध, शब्दके धर्म शब्दत्व व कत्वादिके ज्ञानका हेतु समवेत-समवाय-सम्बन्ध और श्रोत्रजन्य अभावके ज्ञानका हेतु विशेषणता-सम्बन्ध हैं । वह विशेषणता नाना प्रकारकी है, परन्तु शब्दाभावके प्रत्यक्षमें शुद्ध विशेषणता-सम्बन्ध ही है । अर्थात् यद्यपि ककारविषय खत्वाभावके प्रत्यक्षमें समवेत-विशेषणता है और विशेषणता-सम्बन्धके अनेक भेद हैं; तथापि विशेषणतापन तो सर्वत्र समान ही है, अतः विशेषणता एक ही कही जाती है ।

शब्दके दो भेद हैं, एक तो भेरी आदि देशमें ध्वनिरूप और दूसरा कण्ठादि देशमें वायुके संयोगसे उत्पन्न हुआ वर्णरूप होता है। श्रोत्रसे दोनों प्रकारके शब्दोंका प्रत्यक्ष होता है। वर्णरूप शब्दमें जो कत्वादि-जाति हैं उनका जैसे समवेत-समवाय-सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है, तैसे ही ध्वनिरूप शब्दमें जो तारत्व-मन्दत्वादि धर्म हैं, उनका भी श्रोत्रसे इसी प्रकार प्रत्यक्ष होता है। परन्तु वर्णोंके धर्म कत्वादि तो जातिरूप हैं; इसलिये ककारादिरूप शब्दसे कत्वादिका समवाय-सम्बन्ध है और ध्वनिरूप शब्दके तारत्वादि धर्म जातिरूप नहीं, किन्तु उपाधिरूप हैं। इसलिये ध्वनिरूप शब्दमें तारत्वादिका समवाय-सम्बन्ध नहीं, किन्तु स्वरूप-सम्बन्ध है। क्योंकि न्याय-मतमें जातिरूप जो धर्म और गुण एवं क्रियाका अपने आश्रयमें समवाय-सम्बन्ध माना गया है, परन्तु जाति-गुण-क्रियासे भिन्न धर्मको उपाधि कहा गया है। अतः उपाधि तथा अभावका अपने आश्रयमें जो सम्बन्ध उसे वे स्वरूप-सम्बन्ध कहते हैं और स्वरूपको ही विशेषणता कहते हैं। इसलिये शब्दमें जातिसे भिन्न जो तारत्वादि धर्म, उनका ध्वनिरूप शब्दमें स्वरूप-सम्बन्ध है और उसीको विशेषणता-सम्बन्ध कहा गया है। इस प्रकार श्रोत्रमें समवेत जो ध्वनि, उसमें तारत्व-मंदत्वका विशेषणता-सम्बन्ध होनेसे श्रोत्रका तारत्व-मंदत्वसे श्रोत्रसमवेत-विशेषणता-सम्बन्ध है। इस प्रकार श्रोत्र-प्रत्यक्ष-प्रमाका श्रोत्र करण है, श्रोत्र-मनका संयोग व्यापार है और शब्दादिका प्रत्यक्षरूप ज्ञान फल है।

६ : प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद त्वाच-प्रमाका निरूपण

त्वक्-इन्द्रियसे स्पर्शका ज्ञान होता है और स्पर्शके आश्रय, स्पर्शके आश्रित स्पर्शत्व-जाति एवं स्पर्शाभावका भी इसी इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि यह नियम है कि जिस इन्द्रियसे जिस पदार्थका ज्ञान होता है, उसी इन्द्रियसे उस पदार्थकी जाति और उस पदार्थके अभावका भी ज्ञान होता है। पृथ्वी, जल एवं तेज इन तीन द्रव्योंका तो त्वक्-इन्द्रियसे

प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, परन्तु वायुका प्रत्यक्ष नहीं होता । क्योंकि जिस द्रव्यमें प्रत्यक्षयोग्य रूप और प्रत्यक्षयोग्य स्पर्श दोनों हों, उसी द्रव्यका त्वाच-प्रत्यक्ष होता है । वायुमें स्पर्श तो है परन्तु रूप नहीं, इसलिये वायुका त्वाच-प्रत्यक्ष नहीं होता । वायुके स्पर्श-गुणका त्वक्-इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है और स्पर्शके प्रत्यक्षसे वायुका अनुमिति-ज्ञान* होता है ।

मीमांसा-मतमें वायुका प्रत्यक्ष होता है । उनका अभिप्राय यह है कि जिस द्रव्यमें प्रत्यक्षयोग्य स्पर्श हो, उस द्रव्यका त्वाच-प्रत्यक्ष भी होता है, क्योंकि उनके मतमें त्वक्-इन्द्रियजन्य द्रव्यके प्रत्यक्षमें उद्‌भूत रूपकी अपेक्षा नहीं, किन्तु केवल उद्‌भूत स्पर्शकी ही अपेक्षा है । जैसे द्रव्यके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें उद्‌भूत रूपकी ही अपेक्षा है उद्‌भूत स्पर्शकी नहीं, क्योंकि यदि द्रव्यके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें उद्‌भूत स्पर्शकी भी अपेक्षा हो तो दीप व चन्द्र-प्रभामें उद्‌भूत स्पर्श नहीं है, अतः उनका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये, परन्तु होता है । तथा अणुकमें स्पर्श तो है परन्तु उद्‌भूत स्पर्श नहीं, अतः उसका त्वाच-प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु केवल चाक्षुष-प्रत्यक्ष ही होता है । इस प्रकार जैसे केवल उद्‌भूत रूपवाले द्रव्यका चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही केवल उद्‌भूत स्पर्शवाले द्रव्यका त्वाच-प्रत्यक्ष भी होता है । यद्यपि वायुमें रूप तो नहीं है परन्तु उद्‌भूत स्पर्श अवश्य है, इसलिये वायुका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता; किन्तु त्वाच-प्रत्यक्ष होता है । सभी लोगोंको ऐसा अनुभव भी होता है कि मुझको त्वचासे वायुका प्रत्यक्ष हो रहा है, इससे त्वक्-इन्द्रियसे वायुका भी प्रत्यक्ष होता है, ऐसा मानना चाहिये । यह मीमांसा-मत है ।

परन्तु न्याय-सिद्धांतमें तो वायुका प्रत्यक्ष नहीं माना गया, किन्तु उद्‌भूत रूप और उद्‌भूत स्पर्शवाले पृथ्वी, जल व तेजका ही त्वाच-प्रत्यक्ष

* वास्तवमें स्पर्शके प्रत्यक्षसे वायुकी अनुमिति भी नहीं बनती । क्योंकि 'जहाँ-जहाँ स्पर्श है वहाँ-वहाँ वायु है' ऐसा व्याप्ति-प्रत्यक्ष कभी किसीको नहीं हुआ । (लेखक)

माना गया है, अन्यका नहीं। प्रत्यक्षयोग्य रूप और स्पर्श वे उद्भूत कहे जाते हैं। जैसे घ्राण, रसन एवं नेत्रमें यद्यपि रूप व स्पर्श दोनों हैं परन्तु वे उद्भूत नहीं, इसलिये उद्भूत न होनेसे पृथ्वी, जल और तेजरूप भी उन इन्द्रियोंका त्वाच व चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता। तथा झरोखेमें जो परम सूक्ष्म रज प्रतीत होते हैं वे अणुकरूप पृथ्वी है, उनमें उद्भूत रूप है इसलिये अणुकका चाक्षुष-प्रत्यक्ष तो होता है, परन्तु उद्भूत स्पर्शके अभावसे त्वाच-प्रत्यक्ष नहीं होता। यद्यपि अणुकमें स्पर्श है भी, परन्तु वह उद्भूत नहीं। इसी प्रकार वायुमें उद्भूत स्पर्श तो है परन्तु रूप नहीं, इसलिये वायुका त्वाच-प्रत्यक्ष एवं चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता। अतः यह सिद्ध हुआ कि द्रव्यके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें तो उद्भूत रूप ही हेतु है, परन्तु त्वाच-प्रत्यक्षमें उद्भूत रूप व स्पर्श दोनों हेतु हैं। जिस द्रव्यमें उद्भूत रूप व स्पर्श दोनों हों उसका ही त्वाच-प्रत्यक्ष होता है। तथा जिस द्रव्यका त्वाच-प्रत्यक्ष होता है उस द्रव्यकी प्रत्यक्षयोग्य जातिका भी त्वाच-प्रत्यक्ष होता है। जैसे घटका त्वाच-प्रत्यक्ष हो वहाँ घटमें प्रत्यक्षयोग्य घटत्वजातिका भी त्वाच-प्रत्यक्ष होता है। तैसे ही द्रव्यमें जो स्पर्श, संख्या, परिमाण, संयोग एवं विभागादि प्रत्यक्षयोग्य गुण हैं, उनका और स्पर्शादिमें जो स्पर्शत्वादि जाति हैं उनका भी त्वाच-प्रत्यक्ष होता है। तथा कोमल द्रव्यमें कठिन स्पर्शका अभाव एवं शीतल जलमें जो उष्ण स्पर्शका अभाव उनका भी त्वाच-प्रत्यक्ष होता है। वहाँ घटादि द्रव्यसे त्वक्का संयोग-सम्बन्ध है, क्योंकि संयोग क्रियाजन्य होता है और दो द्रव्योंका ही संयोग होता है। यहाँ त्वक्-इन्द्रिय वायुके परमाणुजन्य है इसलिये वह वायुरूप द्रव्य है और घट भी पृथ्वीरूप द्रव्य है, इस हेतुसे संयोग बनता है। कहीं तो त्वक्-इन्द्रियका गोलक जो शरीर, उसकी क्रियासे त्वक्-घटका संयोग होता है, कहीं घटकी क्रियासे त्वक्-घटका संयोग होता है और कहीं दोनोंकी क्रियासे संयोग होता है। नेत्रमें तो अपने गोलकको छोड़कर केवल इन्द्रियमें क्रिया होती है, परन्तु त्वक्में अपना गोलक छोड़कर स्वतन्त्र कभी भी क्रिया नहीं होती। इसलिये त्वक्-इन्द्रियका गोलक जो शरीर उसकी क्रियासे

अथवा घटादि विषयकी क्रियासे व दोनोंकी क्रियासे त्वक्‌का घटादि द्रव्यसे संयोग हो, तब त्वाच-प्रत्यक्ष होता है । वहाँ त्वाच-प्रत्यक्षरूप प्रमा फल है, त्वक्-इन्द्रिय करण है और त्वक्-इन्द्रियका विषयसे संयोग व्यापार है । क्योंकि त्वक्-घट-संयोगके उपादान-कारण त्वक् व घट दोनों हैं, इसलिये वह संयोग त्वक्-इन्द्रियजन्य है और त्वक्-इन्द्रियका कार्य जो त्वाच-प्रमा, उसका जनक है । इस हेतुसे त्वक्‌का घटसे संयोगरूप व्यापार बनता है ।

जहाँ त्वक्‌से घटकी घटत्व-जाति और स्पर्शादि गुणोंका त्वाच-प्रत्यक्ष हो वहाँ त्वक्-इन्द्रिय करण है, प्रत्यक्ष-प्रमा फल है तथा संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध व्यापार है । क्योंकि त्वक्-इन्द्रियसे संयुक्त अर्थात् संयोगवाला जो घट, उसमें घटत्व-जाति और स्पर्शादि गुणोंका समवाय है । तैसे ही घटादिके स्पर्शादि गुणोंमें जो स्पर्शत्वादि-जाति, जहाँ उनका त्वाच-प्रत्यक्ष हो, वहाँ त्वक्-इन्द्रिय करण है, स्पर्शत्वादिकी प्रत्यक्ष-प्रमा फल है और संयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्धरूप व्यापार है । क्योंकि त्वक्-इन्द्रियसे संयुक्त जो घट, उसमें समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्धसे रहनेवाले जो स्पर्शादि, उनमें स्पर्शत्वादि-जातिका समवाय-सम्बन्ध है । संयुक्त-समवाय और संयुक्त-समवेत-समवाय, इन दोनों सम्बन्धोंमें समवाय-भाग तो यद्यपि नित्य है, वह इन्द्रियजन्य नहीं; तथापि संयोग-वालेको संयुक्त कहते हैं और वह संयोगजन्य है । इसलिये त्वक्-इन्द्रियका संयोग त्वक्‌जन्य होनेसे त्वक्‌संयुक्त-समवाय और त्वक्-संयुक्त-समवेत-समवाय दोनों ही त्वक्-इन्द्रियजन्य हैं और त्वक्-इन्द्रियजन्य जो त्वाच-प्रमा उसके जनक हैं, इसलिये वे व्यापार हैं । जहाँ पुष्पादि कोमल द्रव्यमें कठिन स्पर्शके अभावका और शीतल जलमें उष्ण स्पर्शके अभावका त्वाच-प्रत्यक्ष हो, वहाँ त्वक्-इन्द्रिय करण है, अभावकी त्वाच-प्रमा फल है और त्वक्‌से अभावका त्वक्‌संयुक्त-विशेषणता-सम्बन्ध है वह व्यापार है । क्योंकि त्वक्-इन्द्रियका घटादि द्रव्यसे तो संयोग है, इसलिये त्वक्‌संयुक्त कोमल द्रव्यमें कठिन स्पर्शाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है ।

जहाँ घट-स्पर्शमें रूपत्वके अभावका त्वाच-प्रत्यक्ष हो, वहाँ त्वक्संयुक्त घटमें समवेत जो स्पर्श, उसमें रूपत्वाभावका विशेषणता-सम्बन्ध होनेसे त्वक्संयुक्त-समवेत-विशेषणता-सम्बन्ध है । इस प्रकार त्वाच-प्रत्यक्षमें चार सम्बन्ध हेतु हैं । (१) त्वक्-संयोग, (२) त्वक्संयुक्त-समवाय, (३) त्वक्संयुक्त-समवेत-समवाय और (४) त्वक्संयुक्त-विशेषणता । इन चार सम्बन्धोंद्वारा ही त्वाच-प्रत्यक्ष होता है ।

७ : प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद चाक्षुष-प्रमाका निरूपण

इसी प्रकार चाक्षुष-प्रमाके हेतु भी (१) नेत्र-संयोग, (२) नेत्रसंयुक्त-समवाय, (३) नेत्रसंयुक्त-समवेत-समवाय और (४) नेत्रसंयुक्त-विशेषणता, ये चार सम्बन्ध ही हैं, वही व्यापार है । जहाँ नेत्रसे घटादि द्रव्यका चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो, वहाँ नेत्रकी क्रियासे द्रव्यके साथ जो संयोग-सम्बन्ध है, वह नेत्रजन्य है और चाक्षुष-प्रमाका जनक है, अतः व्यापार है । जहाँ नेत्रसे द्रव्यकी घटत्वादि जातिका और रूप-संख्यादि गुणोंका प्रत्यक्ष हो, वहाँ नेत्रसंयुक्त द्रव्यमें घटत्वादि-जाति और रूपादि-गुणोंका समवाय-सम्बन्ध है । इसलिये द्रव्यकी जाति व गुणोंके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें नेत्रसंयुक्त-समवाय-सम्बन्ध है । जहाँ गुणमें रहनेवाली जातिका चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो, वहाँ रूपत्वादि-जातिसे नेत्रका संयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्ध है । क्योंकि नेत्रसे संयुक्त घटादिमें समवेत जो रूपादि उनमें रूपत्वादिका समवाय है । यद्यपि नेत्रसे संयोग तो सभी द्रव्योंका सम्भव है; तथापि उद्भूत रूपवाले द्रव्यसे ही नेत्रका संयोग चाक्षुष-प्रत्यक्षका हेतु होता है, केवल द्रव्यसे नहीं । पृथ्वी, जल व तेज ये तीन द्रव्य ही रूपवाले हैं अन्य नहीं, अतः पृथ्वी, जल व तेजका ही चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है । इनमें भी जहाँ उद्भूत रूप हो उसका ही चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, परन्तु जिसमें अनुद्भूत रूप हो उसका नहीं । जैसे घ्राण, रसन व नेत्र ये तीनों इन्द्रियाँ क्रमशः पृथ्वी, जल व तेजरूप ही हैं और तीनोंमें ही रूप है, परन्तु इनमें रूप अनुद्भूत है उद्भूत नहीं, इसलिये इनका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता ।

अतः यह सिद्ध हुआ कि केवल उद्भूत रूपवाले पृथ्वी, जल व तेज ही चाक्षुष-प्रत्यक्षके विषय हैं। इन तीनोंमें कोई गुण तो चाक्षुष-प्रत्यक्षके योग्य है और कोई अयोग्य। जैसे पृथ्वीमें रूप,[१] रस,[२] गन्ध,[३] स्पर्श,[४] संख्या,[५] परिमाण,[६] पृथक्त्व,[७] संयोग,[८] विभाग,[९] परत्व,[१०] अपरत्व,[११] गुरुत्व,[१२] द्रवत्व[१३] और संस्कार[१४]—ये चतुर्दश गुण हैं। इनमें 'गन्ध' को छोड़कर 'स्नेह'को मिलावें तो चतुर्दश गुण ही जलके हैं। इनमें गंध, रस, गुरुत्व और स्नेहको छोड़कर एकादश तेजके हैं। इनमेंसे रूप,[१] संख्या,[२] परिमाण,[३] पृथक्त्व,[४] संयोग,[५] विभाग,[६] परत्व,[७] अपरत्व[८] एवं द्रवत्व[९]—ये नव गुण ही चाक्षुष-प्रत्यक्षके योग्य हैं, अन्य नहीं। इसलिये यद्यपि नेत्रसंयुक्त-समवाय-सम्बन्ध तो सभी गुणोंसे है, परन्तु चाक्षुष-प्रत्यक्षके योग्य सभी नहीं। अतः जितने चाक्षुष-प्रत्यक्षके योग्य हैं, उतने गुणोंका ही नेत्रसंयुत-समवाय-सम्बन्धसे प्रत्यक्ष होता है। स्पर्शमें त्वक्-इन्द्रियकी योग्यता है नेत्रकी नहीं, रूपमें नेत्रकी योग्यता है त्वक्की नहीं। संख्या,[१] परिमाण,[२] पृथक्त्व,[३] संयोग,[४] विभाग,[५] परत्व,[६] अपरत्व[७] व द्रवत्वमें[८] त्वक् व नेत्र दोनोंकी योग्यता है, अतः त्वक्संयुक्त-समवाय और नेत्रसंयुक्त-समवाय दोनों सम्बन्ध संख्यादि आठों गुणोंके त्वाच-प्रत्यक्ष एवं चाक्षुष-प्रत्यक्षके हेतु हैं। रसमें केवल रसनाकी और गंधमें केवल घ्राणकी ही योग्यता है, अन्यकी नहीं। जिस इन्द्रियकी जिस गुणमें योग्यता है, उस इन्द्रियसे उस गुणका ही प्रत्यक्ष होता है, अन्य गुणके साथ इन्द्रियका संयोग होते हुए भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे घटादिमें जो रूपादि चाक्षुष-ज्ञानके विषय हैं, उनकी रूपत्वादि जातिका तो नेत्रसंयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्धसे चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु रसादि जो चाक्षुष-ज्ञानके विषय नहीं हैं, उनमें रसत्वादि जातिसे नेत्रका संयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्ध होते हुए भी उन रसत्वादिका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। अतः यह सिद्ध हुआ कि नेत्रके संयोगसे उद्भूत रूपवाले द्रव्यका ही चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है तथा उद्भूत रूपवाले द्रव्यकी ही नेत्रयोग्य जाति व गुणका संयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है एवं नेत्रयोग्य

गुणोंकी रूपत्वादि जातिका नेत्रसंयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्धसे चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है। वैसे ही नेत्रसम्बन्धसे अभावका भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है। जहाँ भूतलमें घटाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो वहाँ भूतलसे नेत्रका संयोग-सम्बन्ध है, अतः नेत्रसम्बन्धित भूतलमें घटाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है। इसी प्रकार जहाँ नील-घटमें पीत-रूपके अभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो, वहाँ नेत्रके संयोगसे नील-घटमें पीत-रूपाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है। वैसे ही घटके नील-रूपमें पीतत्व-जातिके अभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो, वहाँ नेत्रसे संयुक्त-समवाय-सम्बन्धवाला नीलरूप है, अतः नेत्र सम्बन्धी जो नीलरूप उसमें पीतत्वाभावका विशेषणता-सम्बन्ध होनेसे नेत्रसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध है। इस प्रकार (१) नेत्रसंयोग, (२) नेत्रसंयुक्त-समवाय, (३) नेत्रसंयुक्त-समवेत-समवाय और (४) नेत्र-सम्बद्ध-विशेषणता, ये चार सम्बन्ध चाक्षुष-प्रमाके हेतु हैं, वह व्यापार है, नेत्र करण है और चाक्षुष-प्रमा फल है।

८ : प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद रासन-प्रमाका निरूपण

रसन-इन्द्रियसे द्रव्यका तो प्रत्यक्ष होता नहीं है, किन्तु रसका और रसत्व व मधुरत्वादि रसकी जातिका तथा रसाभावका एवं मधुरादि रसमें अम्लत्वादि जातिके अभावका रासन-प्रत्यक्ष होता है। इसलिये रासन-प्रत्यक्षके हेतु विषयोंके रसन-इन्द्रियसे तीन ही सम्बन्ध हैं। (१) रसनसंयुक्त-समवाय, (२) रसनसंयुक्त-समवेत-समवाय एवं (३) रसन-सम्बद्ध-विशेषणता। जहाँ द्रव्यके मधुर-रसका रसन-इन्द्रियसे रासन-प्रत्यक्ष हो, वहाँ द्रव्य और रसनका संयोग-सम्बन्ध है, अतः रसनसंयुक्त द्रव्यमें रस-गुणका समवाय होनेसे रसके रासन-प्रत्यक्षमें जो संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध है, वह व्यापार है। क्योंकि रसनसंयुक्त-समवाय-सम्बन्धमें जो समवाय-अंश है वह नित्य है रसनजन्य नहीं, परन्तु संयोग-अंश रसनजन्य है और रसन-इन्द्रियजन्य जो रसका रासन-साक्षात्कार उसका जनक है, इसलिये व्यापार है। उस व्यापारवाले रासन-प्रत्यक्षका

असाधारण कारण रसन-इन्द्रिय है, इसलिये करण होनेसे वह प्रमाण है और रासन-प्रमा फल है । इस प्रकार रसमें रसत्व-जाति और मधुरत्व,[१] अम्लत्व,[२] लवणत्व,[३] कटुत्व,[४] कषायत्व[५] एवं तिक्तत्वरूप[६] षट् धर्मोंका रसन-इन्द्रियसे रासन-प्रत्यक्ष होता है । वहाँ फलादि द्रव्यका रसनासे संयोग होता है, उस द्रव्यमें रस समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्धसे रहता है । इसलिये रसनसंयुक्त जो द्रव्य, उसमें समवेत जो रस, उसमें रसत्व और रसत्वके व्याप्य जो मधुरत्वादि उनका समवाय-सम्बन्ध होनेसे, रसनका रसत्वादि से संयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्ध होता है । तैसे फलके मधुर-रसमें अम्लत्वाभावका जहाँ रासन-प्रत्यक्ष होता है, वहाँ रसन-इन्द्रियका अम्लत्वाभावसे स्वसंबद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध है । क्योंकि संयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे रासनसम्बद्ध मधुर-रस है, उसमें अम्लत्वाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है, इसलिये रसन-इन्द्रियका अम्लत्वाभावसे संयुक्त-समवेत-विशेषणता-सम्बन्ध है । इस प्रकार रसना-इन्द्रियजन्य रासन-प्रत्यक्ष-के हेतु तीन सम्बन्ध ही हैं ।

९ : प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद घ्राणज-प्रमाका निरूपण

जहाँ घ्राणज प्रत्यक्ष-प्रमा हो, वहाँ भी घ्राणके विषयोंसे तीन सम्बन्ध ही हेतु हैं । अर्थात् (१) घ्राणसंयुक्त-समवाय, (२) घ्राणसंयुक्त-समवेत-समवाय और (३) घ्राणसम्बद्ध-विशेषणता । घ्राण-इन्द्रियसे भी द्रव्यका प्रत्यक्ष तो होता नहीं है, किन्तु केवल गंध-गुणका ही प्रत्यक्ष होता है । यदि द्रव्यका प्रत्यक्ष होता तो घ्राणका द्रव्यसे संयोग-सम्बन्ध प्रत्यक्षमें कारण होता, परन्तु घ्राणसे द्रव्यका प्रत्यक्ष होता नहीं है, इसलिये द्रव्यसे घ्राण-संयोग प्रत्यक्षका हेतु भी नहीं है । और गन्धका घ्राणसे साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, किन्तु पुष्पादिमें गन्धका समवाय-सम्बन्ध है तथा घ्राणके साथ पुष्पादिका संयोग-सम्बन्ध है । इसलिये घ्राणसंयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे गन्धका घ्राणज प्रत्यक्ष होता है अन्य किसी भी गुणका घ्राणसे प्रत्यक्ष नहीं होता । परन्तु गन्धमें जो गन्धत्व-जाति और गन्धत्वके व्याप्य जो

सुगन्धत्व-दुर्गन्धत्व, वैसे ही गन्धाभावका भी घ्राणज प्रत्यक्ष होता है। जहाँ गन्धत्व और सुगन्धत्व-दुर्गन्धत्वका प्रत्यक्ष हो, वहाँ घ्राणज प्रत्यक्षका हेतु घ्राणसंयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्ध होता है। क्योंकि घ्राणसंयुक्त जो पुष्पादि उनमें गन्ध समवेत है और गन्धमें गन्धत्वादिका समवाय है। तैसे जहाँ पुष्पके सुगन्धमें दुर्गन्धत्वके अभावका घ्राणज प्रत्यक्ष हो, वहाँ घ्राणका दुर्गन्धत्वाभावसे स्वसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध है। क्योंकि संयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे घ्राणसम्बद्ध जो सुगन्ध, उसमें दुर्गन्धत्वाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है। जहाँ पुष्पादि दूर हों और गन्धका प्रत्यक्ष हो, वहाँ यद्यपि पुष्पादिमें क्रिया दृष्टिगोचर नहीं होती, इसलिये पुष्पादिका घ्राणसे संयोगके अभावके कारण घ्राणसंयुक्त-समवाय-सम्बन्ध सम्भव नहीं; तथापि गन्ध गुण है अतः केवल गन्धमें क्रिया नहीं होती, किन्तु गन्धके आधारभूत जो पुष्पादिके सूक्ष्म अवयव, उनमें क्रिया होकर ही घ्राणसे संयोग होता है। इसलिये घ्राणसंयुक्त जो पुष्पादिके सूक्ष्म अवयव, उनमें गन्धका समवाय होनेसे घ्राणसंयुक्त-समवाय-सम्बन्ध ही गन्धके घ्राणज प्रत्यक्षका हेतु बनता है। इस प्रकार घ्राणज प्रत्यक्षके हेतु जो तीन सम्बन्ध हैं वे व्यापार हैं, घ्राण-इन्द्रिय करण है और घ्राणज प्रत्यक्ष-प्रमा फल है।

इस रीतिसे श्रोत्रादि पञ्च इन्द्रियोंसे बाह्य पदार्थोंका प्रत्यक्ष होता है।

१० : प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद मानस-प्रत्यक्ष-प्रमाका निरूपण

आत्मा, आत्माके सुखादि धर्म, आत्मत्व-जाति तथा सुखत्वादि-जाति—इन सबका प्रत्यक्ष श्रोत्रादि इन्द्रियोंसे असम्भव ही है, किन्तु उपर्युक्त आत्मादि जो आन्तर पदार्थ हैं, उनके प्रत्यक्षका हेतु केवल मन-इन्द्रिय ही है। आत्मा और उसके सुखादि धर्मोंसे जो भिन्न है वह तो बाह्य कहा जाता है तथा आत्मा और उसके धर्मोंको आंन्तर कहते हैं।

जैसे बाह्य प्रत्यक्ष-प्रमाके करण श्रोत्रादि इन्द्रियाँ हैं, तैसे आन्तर जो आत्मादि उनके प्रत्यक्ष-प्रमाका करण मन है, इसलिये मन भी प्रत्यक्ष-प्रमाका हेतु होनेसे इन्द्रिय ही है। मनमें क्रिया होकर जब उसका आत्मासे संयोग हो, तब आत्माका मानस-प्रत्यक्ष होता है। वहाँ आत्माका मानस-प्रत्यक्षरूप फल तो प्रमा है और आत्म-मनका संयोग व्यापार है, क्योंकि आत्म-मनका संयोग मनोजन्य है और आत्माकी प्रत्यक्ष-प्रमाका जनक है, इसलिये यह व्यापार बनता है। उस संयोगरूप व्यापारवाले आत्माके प्रत्यक्ष-प्रमाका असाधारण कारण जो मन है वह प्रमाण है और ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न, सुख, दुःख व द्वेष—ये आत्माके गुण हैं। उन गुणोंके साक्षात्कारका हेतु भी मनरूप प्रमाण ही हैं। वहाँ मनके साथ ज्ञानादिका साक्षात् सम्बन्ध तो है नहीं, किन्तु परम्परा सम्बन्ध है। जैसे ज्ञानादिका आत्मासे समवाय-सम्बन्ध है, इसलिये ज्ञानादिका सम्बन्धी तो आत्मा है, उस आत्मासे मनका संयोग होनेसे ज्ञानादिके साथ मनका परम्परा सम्बन्ध हैं, अर्थात् उन ज्ञानादिका मनसे स्वसमवायी-संयोग-सम्बन्ध है। स्व अर्थात् ज्ञानादि, उनका समवायी याने समवायवाला जो आत्मा, उस आत्मासे तो मनका संयोग-सम्बन्ध है और मनका ज्ञानादिसे जो परम्परा सम्बन्ध है वह मनः-संयुक्त-समवाय है, अर्थात् मन-संयुक्त जो आत्मा उसमें ज्ञानादिका समवाय-सम्बन्ध है। इसी प्रकार ज्ञानत्व, इच्छात्वादि आत्मानन्द गुणोंकी जातियोंका भी मनसे प्रत्यक्ष होता है। वहाँ ज्ञानत्वादिका तो मनसे स्वाश्रयसमवायी-संयोग-सम्बन्ध इस प्रकार है कि स्व अर्थात् ज्ञानत्वादि, उनके आश्रय जो ज्ञानादि-गुण, उनका समवायी जो आत्मा, उस आत्माका मनसे संयोग-सम्बन्ध है। तथा मनका ज्ञानत्वादिसे मनः संयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्ध है; क्योंकि मनसंयुक्त आत्मामें समवेत जो ज्ञानादि, उनमें ज्ञानत्वादिका समवाय-सम्बन्ध है। इसी प्रकार जहाँ आत्मामें सुखाभाव-दुःखाभावका प्रत्यक्ष हो, वहाँ मनसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध है; क्योंकि मनसे सम्बद्ध जो आत्मा, उसमें सुखाभाव-दुःखाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है। जहाँ सुखमें

दुःखाभावका प्रत्यक्ष हो, वहाँ मनसंयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे मनसम्बद्ध जो सुख, उस सुखमें दुःखाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है । क्योंकि मनसे संयुक्त जो आत्मा, उसमें सुखादि गुणोंका समवाय-सम्बन्ध है और अभावका विशेषणता-सम्बन्ध है ही । इस प्रकार अभावके मानस-प्रत्यक्षका हेतु मनसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध एक ही है । जहाँ आत्मामें सुखाभावादिका प्रत्यक्ष हो, वहाँ संयोग-सम्बन्धसे मनसम्बद्ध जो आत्मा,उसमें सुखाभावादिका विशेषणता-सम्बन्ध है । जहाँ सुखादिमें दुःखाभावादिका प्रत्यक्ष हो, वहाँ संयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे मन-सम्बद्ध अर्थात् मनके सम्बन्धवाले जो सुखादि हैं उनमें दुःखाभावादिका प्रत्यक्ष होता है । इस प्रकार कहीं साक्षात्सम्बन्ध से और कहीं परम्परा सम्बन्धसे अभावका मनसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध होता है ।

इस प्रकार मानस-प्रत्यक्षके हेतु चार सम्बन्ध हैं । (१) मन-संयोग, (२) मन-संयुक्त-समवाय, (३) मनसंयुक्त-समवेत-समवाय और (४) मनसम्बद्ध-विशेषणता । मानस-प्रत्यक्षके हेतु ये चार सम्बन्ध तो व्यापार हैं, सम्बन्धरूप व्यापारवाला असाधारण कारण जो मन वह करण है, अतः वह प्रमाण है और आत्म-सुखादिकी मानस-प्रत्यक्षरूप प्रमा फल है । जैसे आत्माके सुखादि गुणोंके प्रत्यक्षका हेतु संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध है, तैसे ही धर्म-अधर्मरूप संस्कारादि भी आत्माके गुण हैं । इसलिये यद्यपि उनसे मनका संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध तो है, परन्तु वे धर्मादि-गुण प्रत्यक्षयोग्य नहीं, अतः उनका मानस-प्रत्यक्ष नहीं होता । और जहाँ संयोग के आश्रयका प्रत्यक्ष होता है, वहीं संयोगका भी प्रत्यक्ष होता है । जैसे दो अंगुलियोंके संयोगका आश्रय दोनों अंगुली हैं, अतः जब दोनों अंगुलियोंका चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो, तब उनके संयोगका भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है और जब उनका त्वाच-प्रत्यक्ष हो, तब उनके संयोगका भी त्वाच-प्रत्यक्ष होता है । तैसे ही जहाँ आत्म-मनके संयोगसे आत्माका मानस-प्रत्यक्ष होता है, वहाँ दोनोंके संयोगका आश्रय अर्थात् अनुयोगी आत्मा है इसलिये उनके संयोगका भी मानस-प्रत्यक्ष होना चाहिये,

परन्तु होता नहीं है। इसका कारण यह है कि संयोगके आश्रय सदैव दो द्रव्य होते हैं, जहाँ दोनों द्रव्योंका प्रत्यक्ष हो वहीं संयोगका भी प्रत्यक्ष होता है। परन्तु जहाँ एक द्रव्यका ही प्रत्यक्ष हो दूसरेका नहीं, वहाँ उनके संयोगका भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे जहाँ दो घटोंका प्रत्यक्ष होता है वहाँ तो उनके संयोगका भी प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु जहाँ घटकी क्रियासे घट व आकाशका संयोग हो, वहाँ संयोगके आश्रय घट व आकाश दोनों हैं, उनमें घट तो प्रत्यक्षयोग्य है परन्तु आकाश प्रत्यक्षयोग्य नहीं, इसलिये उनका संयोग भी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार आत्म-मनके संयोगके आश्रय आत्मा व मन दोनों हैं, उनमें आत्माका तो मानस-प्रत्यक्ष होता है परन्तु मनका नहीं होता, इसीलिये उनके संयोगका भी मानस-प्रत्यक्ष नहीं होता। जहाँ आत्मा व ज्ञान-सुखादिका मानस-प्रत्यक्ष होता है, वहाँ ज्ञान-सुखादिको छोड़कर केवल आत्माका प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु उन ज्ञानादि गुणोंमेंसे किसी एक गुणको लेकर ही गुणी-आत्माका मानस-प्रत्यक्ष होता है। 'मैं जानता हूँ' 'मैं सुखी हूँ' 'मैं दुखी हूँ' इत्यादि किसी गुणको विषय करता हुआ ही आत्माका मानस-प्रत्यक्ष होता है।

इस प्रकार इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष-प्रमाके हेतु जो इन्द्रियोंके सम्बन्ध हैं वे तो व्यापार हैं, इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष-प्रमाण हैं और इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष-प्रमा फल हैं। यह न्याय-शास्त्रका सिद्धांत है।

११ : प्रत्यक्ष-प्रमाके करणका विचार

करणके विषयमें श्रीगौरीकांत भट्टाचार्यका यह मत है—

इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष-प्रमाके करण नहीं हैं, किन्तु इन्द्रियोंके सम्बन्धरूप जो व्यापार पीछे कहे गये हैं वे ही करण हैं और इन्द्रियाँ करण नहीं किन्तु कारण हैं। उनका अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय अर्थात् व्यापारवाला कारण, जैसा न्याय-मतमें माना गया है, करण नहीं कहा जा सकता। किन्तु जिससे कार्योत्पत्तिमें विलम्ब न हो और अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही कार्योत्पत्ति हो जाय, ऐसा कारण ही करण हो सकता है। इस प्रकार

चूँकि इन्द्रियका विषयसे सम्बन्ध हो जानेपर प्रत्यक्ष-प्रमारूप कार्यमें कोई विलम्ब नहीं होता, किन्तु अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही प्रत्यक्ष-प्रमारूप कार्यकी उत्पत्ति होती है; इसलिये इन्द्रियोंके सम्बन्ध ही करण होनेसे वे सम्बन्ध ही प्रत्यक्ष-प्रमाण हैं, इन्द्रियाँ नहीं। इसी प्रकार इस मतमें कपाल घटका करण नहीं, किन्तु कपालसंयोग ही करण है अर्थात् कपाल घटका कारण तो है, परन्तु करण नहीं। तैसे ही तन्तु पटके करण नहीं, किन्तु तन्तु-संयोग ही करण है और तन्तु पटके कारण तो हैं परन्तु करण नहीं। इस प्रकार इस मतमें प्रथम जो व्यापाररूप कारण माने गये हैं वे सब तो करण हैं और प्रथम जो करण माने गये हैं वे सब कारण हैं।

१२ : ज्ञानके आश्रय का कथन

प्रत्यक्ष-ज्ञानका आश्रय आत्मा है वही ज्ञानका कर्ता है, वही प्रमाता और वही ज्ञाता कहा जाता है। इनमें प्रमा-ज्ञानके कर्ताको प्रमाता और ज्ञानमात्रके कर्ताको ज्ञाता कहते हैं, वह ज्ञान चाहे भ्रमरूप हो अथवा प्रमा। न्याय-मतमें जैसे प्रमाज्ञान इन्द्रियजन्य है, वैसे ही भ्रम-ज्ञान भी इन्द्रियजन्य ही है, परन्तु भ्रम-ज्ञानका कारण जो इन्द्रिय है वह भ्रम-ज्ञानका कारण तो कही जाती है परन्तु प्रमाण नहीं कही जाती, क्योंकि प्रमा-ज्ञानके असाधारण कारणको ही प्रमाण कहा जाता है।

भ्रम-ज्ञानका विचार (१३-१७)

१३ : न्याय-मतके अनुसार भ्रमकी रीति

भ्रम-ज्ञानके विषयमें न्यायमतके अनुसार यह रीति है—

जब दोषसहित नेत्रका रज्जुसे संयोग होता है, तब यद्यपि रज्जुत्व-धर्मसे नेत्रका संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध तो है, परन्तु दोषबलसे रज्जुत्वका भान नहीं होता, किन्तु रज्जुत्वमें सर्पत्वका भान होने लग पड़ता है। यद्यपि सर्पत्वसे नेत्रका संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध नहीं भी है; तथापि

दोषबलसे सम्बन्धबिना ही नेत्रसे रज्जुमें सर्पत्वका सम्बन्ध भासने लगता है। इसके साथ ही जिसको पूर्व दण्डत्वकी स्मृति हो, उसको रज्जुमें सर्पत्व न भासकर दण्डत्व ही भासने लग पड़ता है, क्योंकि किसी भी वस्तुके ज्ञानमें प्रथम उसके विशेषणका ज्ञान हेतु होता है।

१४ : वस्तुके ज्ञानमें विशेषणके ज्ञानकी हेतुता

जहाँ दोषरहित इन्द्रियसे यथार्थ ज्ञान हो वहाँ भी विशेषणका ज्ञान ही हेतु होता है, इसीलिये रज्जु-ज्ञानसे पहले रज्जुत्वका ज्ञान होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि जहाँ श्वेत उष्णीष (पगडीवाला), श्वेत कंचुकवान् (कुड़तेवाला) एवं यष्टीधर (लकड़ीवाला) ब्राह्मणसे नेत्रका संयोग हो, वहाँ कदाचित् 'यह मनुष्य है' ऐसा ज्ञान होता है। कभी 'यह ब्राह्मण है' ऐसा ज्ञान होता है, कभी 'यह यष्टीधर ब्राह्मण है', कदाचित् 'यह कंचुकवान् ब्राह्मण है', कदाचित् 'श्वेत कंचुकवान् ब्राह्मण है,' कभी 'उष्णीषवान् ब्राह्मण है,' कदाचित् 'श्वेत उष्णीषवान् ब्राह्मण है,' कभी 'उष्णीषवान्, कंचुकवान्, यष्टीधर ब्राह्मण है' और कदाचित् 'श्वेत उष्णीषवान्, श्वेत कंचुकवान्, यष्टीधर ब्राह्मण है'—ऐसे-ऐसे विलक्षण ज्ञान होते हैं। वहाँ नेत्रसंयोग तो इन सभी ज्ञानोंका साधारण कारण है, परन्तु ज्ञानोंकी विलक्षणतामें यही हेतु है कि जहाँ मनुष्यत्वरूप विशेषणका ज्ञान और नेत्रसंयोग हो, वहाँ 'यह मनुष्य है' ऐसा चाक्षुष-ज्ञान होता है। जहाँ ब्राह्मणत्वका ज्ञान एवं नेत्रसंयोग हो, वहाँ 'यह ब्राह्मण है' ऐसा चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है। जहाँ यष्टित्व व ब्रह्मणत्वका ज्ञान तथा नेत्रसंयोग हो वहाँ 'यह यष्टीधर ब्राह्मण है' ऐसा ज्ञान, जहाँ कंचुकत्व व ब्राह्मणत्वरूप दो विशेषणोंका ज्ञान और नेत्रसंयोग हो वहाँ 'यह कंचुकवान् ब्राह्मण है', जहाँ श्वेतताविशिष्ट कंचुक और ब्राह्मणत्वरूप विशेषणोंका ज्ञान और नेत्रसंयोग हो वहाँ 'यह श्वेत कंचुकवान् ब्राह्मण है,' जहाँ उष्णीषत्व और ब्राह्मणत्वरूप विशेषणोंका ज्ञान और नेत्रसंयोग हो वहाँ 'यह उष्णीष-वाला ब्राह्मण है,' जहाँ श्वेतताविशिष्ट उष्णीष व ब्राह्मणत्वरूप विशेषणोंके

ज्ञानके साथ नेत्रसंयोग हो वहाँ 'यह श्वेत उष्णीषवाला ब्राह्मण है,' जहाँ उष्णीषत्व, कंचुकत्व, यष्टित्व व ब्राह्मणत्वरूप विशेषणोंका ज्ञान और नेत्रसंयोग हो वहाँ 'यह उष्णीष कंचुकवान् यष्टिधर ब्राह्मण है' और जहाँ श्वेतताविशिष्ट उष्णीष, श्वेतताविशिष्ट कंचुक, यष्टित्व व ब्राह्मणत्वरूप विशेषणोंका ज्ञान तथा नेत्रसंयोग हो वहाँ 'यह श्वेत उष्णीष, श्वेत कंचुकवान् व यष्टिधर ब्राह्मण है'—इस-इस प्रकारसे विलक्षण चाक्षुष-प्रत्यक्ष होते हैं। इस रीतिसे जिस-जिस विशेषणका पहले ज्ञान होता है, उस-उस विशेषणविशिष्टका ही इन्द्रियसे ज्ञान होता है। वहाँ इन्द्रियसम्बन्ध तो सर्वत्र समान है, परन्तु विशिष्टप्रत्यक्षकी विलक्षणताका हेतु विशेषणके ज्ञानकी विलक्षणता ही है। यदि न्यारे-न्यारे विलक्षण विशेषणोंके ज्ञानोंको इन विलक्षण प्रत्यक्षोंमें कारण नहीं मानें तो नेत्रसंयोगसे तो ब्राह्मणके सभी ज्ञान तुल्य होने चाहिये।

इसी प्रकार जहाँ घटसे नेत्र एवं त्वक्‌का संयोग हो वहाँ कदाचित् 'यह घट है,' कदाचित् 'यह पृथ्वी है' और कभी 'यह घट व पृथ्वी है'—ऐसे-ऐसे ज्ञान होते हैं। वहाँ घटत्वरूप विशेषणके ज्ञानके साथ घटसे नेत्र-संयोग होनेपर 'यह घट है', पृथ्वीत्वरूप विशेषणके ज्ञानके साथ नेत्रसंयोग होनेपर 'यह पृथ्वी है' तथा घटत्व व पृथ्वीत्व इन दोनों विशेषणोंके ज्ञानोंके साथ नेत्रसंयोग होनेपर 'यह घट व पृथ्वी है' ऐसे विलक्षण प्रत्यक्ष होते हैं। इस प्रकार यद्यपि घटसे नेत्रसंयोगरूप कारण तो एक ही है और विषयरूप घट भी एक ही है तथा घटत्व व पृथ्वीत्वरूप जाति भी घटमें सदैव ही रहती है; तथापि 'यह घट है' कदाचित् ऐसा ज्ञान घटत्वसहित घटमात्रको ही विषय करता है, परन्तु द्रव्यत्व व पृथ्वीत्वरूप जाति व रूपादि गुणोंको विषय नहीं करता। कदाचित् 'यह पृथ्वी है' ऐसा घटज्ञान घटमें घटत्वको भी विषय नहीं करता, किन्तु पृथ्वीत्व व घट और इनके सम्बन्धको ही विषय करता है। तथा कदाचित् 'यह घट व पृथ्वी है' ऐसा घटज्ञान पृथ्वीत्व व घटत्वरूप जाति और उनका घटमें सम्बन्ध तथा घट, इन सबको विषय करता है। इस प्रकार ज्ञानोंका भेद सामग्रीके भेदबिना तो

असम्भव ही है, वहाँ विशेषणज्ञानरूप सामग्रीका भेद ही इस प्रकार ज्ञानोंकी विलक्षणताका हेतु हो सकता है। वह इस प्रकार कि जहाँ 'यह घट है' ऐसा ज्ञान हो वहाँ तो घट, घटत्व तथा घटमें घटत्वका समवाय-सम्बन्ध भासता है। परन्तु जहाँ 'यह पृथ्वी है' ऐसा घटज्ञान हो वहाँ घट, पृथ्वीत्व एवं घटमें पृथ्वीत्वका समवाय-सम्बन्ध भासता है। तथा जहाँ 'यह घट व पृथ्वी है' ऐसा घटज्ञान हो वहाँ घट एवं घटत्व व पृथ्वीत्व और घटमें घटत्व व पृथ्वीत्व-का समवाय-सम्बन्ध भासता है।

१५: विशेषण व विशेष्यका स्वरूप

इस प्रकार घटत्व व पृथ्वीत्व तो विशेषण हैं और घट विशेष्य है, क्योंकि सम्बन्धके प्रतियोगीको 'विशेषण' कहते हैं और उसके अनुयोगीको 'विशेष्य'। जिसका सम्बन्ध हो वह सम्बन्धका 'प्रतियोगी' और जिसमें सम्बन्ध हो वह सम्बन्धका 'अनुयोगी' कहलाता है। घटत्व व पृथ्वीत्वका समवाय-सम्बन्ध घटमें भासता है, इसलिये घटत्व व पृथ्वीत्व तो समवाय-सम्बन्धके प्रतियोगी होनेसे विशेषण हैं और उस सम्बन्धका अनुयोगी घट है, अतः वह विशेष्य है। जहाँ 'यह दण्डी पुरुष है' ऐसा ज्ञान हो, वहाँ दण्डत्वविशिष्ट दण्ड संयोग-सम्बन्धसे पुरुषत्वविशिष्ट पुरुषमें भासता है, उसका ही 'यह काष्ठवाला मनुष्य है' ऐसा ज्ञान भी होता है। इस स्थलमें काष्ठत्वविशिष्ट दण्ड मनुष्यत्वविशिष्ट पुरुषमें संयोग-सम्बन्धसे भासता है। प्रथम ज्ञानमें तो दण्डत्वविशिष्ट दण्ड संयोगका प्रतियोगी होनेसे विशेषण है और पुरुषत्वविशिष्ट पुरुष संयोगका अनुयोगी होनेसे विशेष्य है। दूसरे ज्ञानमें काष्ठत्वविशिष्ट दण्ड प्रतियोगी है और मनुष्यत्वविशिष्ट पुरुष अनुयोगी है। यद्यपि दोनों ज्ञानोंमें दण्ड विशेषण है और पुरुष विशेष्य है; तथापि प्रथम ज्ञानमें तो दण्डमें दण्डत्व ही भासता है काष्ठत्व नहीं भासता और पुरुषमें पुरुषत्व ही भासता है मनुष्यत्व नहीं। तथा द्वितीय ज्ञानमें दण्डमें काष्ठत्व भासता है दण्डत्व नहीं और पुरुषमें मनुष्यत्व ही भासता है पुरुषत्व नहीं। दण्डत्व व काष्ठत्व दोनों दण्डके

विशेषण हैं, क्योंकि इन दोनोंका दण्डमें जो समवाय-सम्बन्ध है उसके ये दोनों प्रतियोगी हैं और इस सम्बन्धका अनुयोगी होनेसे दण्ड विशेष्य है। इस रीतिसे यद्यपि दण्डत्वादिका तो दण्ड विशेष्य है, परन्तु वही दण्ड पुरुषका विशेषण है। क्योंकि दण्डका पुरुषमें जो संयोग-सम्बन्ध है उसका दण्ड प्रतियोगी है, इसलिये वह पुरुषका विशेषण है और उसी संयोगका अनुयोगी होनेसे पुरुष विशेष्य है। इस प्रकार जैसे दण्ड पुरुषका विशेषण है वैसे ही पुरुषत्व व मनुष्यत्व भी पुरुषके विशेषण हैं, क्योंकि जैसे पुरुषमें दण्डका संयोग-सम्बन्ध भासता है वैसे ही पुरुषमें पुरुषत्व-मनुष्यत्वका समवाय-सम्बन्ध भी भासता है। उस सम्बन्धके प्रतियोगी होनेसे पुरुषत्व-मनुष्यत्व तो विशेषण हैं और अनुयोगी होनेसे पुरुष विशेष्य है। परन्तु इतना भेद है—

पुरुषके धर्म जो पुरुषत्व-मनुष्यत्वादि वे तो केवल पुरुष व्यक्तिके विशेषण हैं, परन्तु दण्डादि तो पुरुषत्व-मनुष्यत्व-धर्मविशिष्ट पुरुषव्यक्तिके विशेषण हैं। यद्यपि दण्ड भी दण्डत्व-काष्ठत्व-धर्मोंका विशेष्य है और पुरुषव्यक्तिका विशेषण है, परन्तु दण्डत्वादि विशेषणके सम्बन्धको धारकर ही दण्ड उत्तर कालमें पुरुषरूप विशेष्यका सम्बन्धी होता है। इस प्रकार केवल पुरुषव्यक्तिके तो पुरुषत्व-मनुष्यत्व विशेषण हैं और पुरुषत्व-मनुष्यत्वविशिष्ट पुरुषव्यक्तिका दण्डत्व-काष्ठत्वविशिष्ट दण्ड विशेषण है तथा केवल दण्डव्यक्तिके दण्डत्व व काष्ठत्व विशेषण हैं।

इस प्रकार ज्ञानकी विषयताका विचार करें तो बहुत सूक्ष्म है। श्रीचक्रवर्ती गदाधर भट्टाचार्यने अपने 'संगति' नामक ग्रन्थमें तथा श्रीजयराम पञ्चानन भट्टाचार्य व श्रीरघुनाथ भट्टाचार्यने अपने 'विषयता-विचार' नामक ग्रन्थोंमें इस विषयपर सूक्ष्म विचार प्रदर्शित किये हैं। सूक्ष्म पदार्थ दुर्बोध होनेसे संस्कृतवाणीबिना लिखे नहीं जा सकते। इसलिये अति स्थूल रीतिमात्र दिखलाई गई है।

१६ : विशेषण व विशेष्यके ज्ञानके भेदपूर्वक न्याय-मतके भ्रम-ज्ञानकी समाप्ति

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि विशिष्ट-ज्ञानकी विलक्षणताका हेतु विशेषण-ज्ञान ही है। वह विशेषण-ज्ञान कहीं तो स्मृतिरूप है और कहीं निर्विकल्प। तथा कहीं तो जहाँ विशेषणमात्रसे ही इन्द्रियका सम्बन्ध हो, वहाँ विशेषणमात्रसे इन्द्रियसम्बन्ध होकर विशिष्ट-ज्ञान हो जाता है और वह भी विशिष्ट-प्रत्यक्ष ही होता है। जैसे जहाँ पुरुषके बिना केवल दण्डसे इन्द्रियका सम्बन्ध होकर उत्तर क्षणमें पुरुषसे सम्बन्ध हो, वहाँ यद्यपि दण्डरूप विशेषणका ज्ञान विशेषणमात्रके सम्बन्धसे उपजता है, परन्तु उत्तर क्षणमें ही 'यह दण्डी पुरुष है' ऐसा विशिष्ट-ज्ञान उद्‌बुद्ध हो जाता है। तथा कहीं 'यह घट है' ऐसा जो प्रथम ही विशिष्ट-ज्ञान होता है, उससे पूर्व इन्द्रिय-सम्बन्धसे घटत्वरूप विशेषणका निर्विकल्प ज्ञान होता है और उत्तर क्षणमें 'यह घट है' ऐसा घटत्वविशिष्ट घट-ज्ञान होता है। इस स्थलमें जिस इन्द्रियसम्बन्धसे घटत्वका निर्विकल्प ज्ञान होता है, उसी इन्द्रियसम्बन्धसे घटत्वविशिष्ट घटका सविकल्प ज्ञान होता है। घटत्वके निर्विकल्प ज्ञानमें तो इन्द्रिय करण है और इन्द्रियका संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध व्यापार है। परन्तु घटत्वविशिष्ट घटके सविकल्प ज्ञानमें इन्द्रियका संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध करण है और निर्विकल्प ज्ञान व्यापार है। धर्मसहित धर्मीके सम्बन्धको विषय करनेवाले ज्ञानको 'सविकल्प ज्ञान' कहते हैं। जैसे 'यह घट है' इस ज्ञानसे घटमें घटत्वका समवाय भासता है अतः इस सविकल्प ज्ञानके विषय धर्म, धर्मी व समवाय ये तीनों हैं। इस प्रकार 'यह घट है' ऐसा विशिष्ट ज्ञान धर्म-धर्मीके सम्बन्धको विषय करनेवाला होनेसे सविकल्प कहलाता है। इससे भिन्न अर्थात् केवल विशेषणको विषय करनेवाला ज्ञान 'निर्विकल्प' कहा जाता है। इस प्रकार किसी आधुनिक नैयायिकने निर्विकल्प-सविकल्प ज्ञानमें करणका भेद बतलाया है। सविकल्प-निर्विकल्प ज्ञानके लक्षण विस्तारसे

शितिकण्ठीमें लिखे हैं, अर्थ सूक्ष्म है इसलिये यहाँ विस्तार नहीं लिखा गया ।

परन्तु यह न्यायसम्प्रदायसे विरुद्ध है । क्योंकि इस मतमें प्रत्यक्ष-ज्ञानका करण व्यापारवाले असाधारण कारणको ही कहा गया है और वह इन्द्रिय ही हो सकता है, अतः वे इन्द्रियको ही प्रत्यक्ष-प्रमाण कहते हैं। परन्तु आधुनिक रीतिसे तो सविकल्प-ज्ञानका करण होनेसे इन्द्रियसम्बन्धको भी करण अर्थात् प्रमाण कहना चाहिये और सम्प्रदायवाले तो केवल इन्द्रियको ही प्रमाण मानकर इन्द्रियसम्बन्धको प्रमाण मानते नहीं हैं । वास्तवमें तो निर्विकल्प व सविकल्प दोनों ही प्रत्यक्ष-ज्ञानोंके इन्द्रियाँ ही करण हैं, इसलिये इन्द्रियाँ ही प्रत्यक्ष-प्रमाण हो सकती हैं । यद्यपि निर्विकल्प-ज्ञानमें तो इन्द्रियका सम्बन्धमात्र ही व्यापार है और सविकल्प-ज्ञानमें इन्द्रियसम्बन्ध एवं निर्विकल्प-ज्ञान ये दोनों व्यापार हैं; तथापि दोनों प्रकारके प्रत्यक्ष-ज्ञानोंके करण होनेसे प्रत्यक्ष-प्रमाण तो इन्द्रियाँ ही हो सकती हैं ।

इस प्रकार विशिष्ट-ज्ञानका जनक जो विशेषण-ज्ञान वह निर्विकल्पज्ञान है । परन्तु एक बार 'यह घट है' ऐसा विशिष्टज्ञान होकर जब दूसरी बार ऐसा विशिष्टज्ञान होता है, तब घटसे इन्द्रियसम्बन्ध होते ही पूर्वानुभूत घटत्वकी स्मृति होती है, उससे उत्तर क्षणमें 'घट है' ऐसा विशिष्ट-ज्ञान होता है । इस प्रकार द्वितीयादि विशिष्ट-ज्ञानोंका हेतु विशेषण-ज्ञान स्मृतिरूप ही है । परन्तु भ्रम-ज्ञानके सम्बन्धमें तो जहाँ दोषसहित नेत्रका रज्जु अथवा शुक्तिसे संयोग-सम्बन्ध होता है, वहाँ दोषबलसे सर्पत्व व रजतत्वकी ही स्मृति हो जाती है, रज्जुत्व व शुक्तित्वकी नहीं होती और यह नियम है कि विशिष्ट-ज्ञानका हेतु जो विशेषण-ज्ञान, वह जिस धर्मको विषय करता है, उसी धर्मविशिष्ट ज्ञानसे वैसा ही विषय भासता है । यहाँ दोषबलसे सर्पत्व व रजतत्वका स्मृति-ज्ञान व रज्जु व शुक्तिको विषय नहीं कर सकता, किन्तु सर्प व रजतको ही विषय करता है । इसलिये रज्जुके 'यह सर्प है' इस विशिष्ट-ज्ञानसे रज्जुमें सर्प ही भासता है और

शुक्तिके 'यह रजत है' इस विशिष्ट-ज्ञानसे शुक्तिमें रजत ही भासती है। 'यह सर्प है' इस विशिष्ट-भ्रममें विशेष्य तो रज्जु है और सर्पत्व विशेषण, क्योंकि सर्पत्वका समवाय-सम्बन्ध रज्जुमें भासता है, उस समवायका सर्पत्व तो प्रतियोगी है और रज्जु अनुयोगी। तैसे ही 'यह रजत है' इस भ्रममें विशेष्य तो शुक्ति है और विशेषण रजतत्व, क्योंकि शुक्तिमें रजतत्वका समवाय भासता है, उस सम्बन्धका रजतत्व प्रतियोगी है और शुक्ति अनुयोगी।

इस प्रकार सभी भ्रम-ज्ञानोंसे विशेषणके अभाववालेमें विशेषण भासता है। इसलिये न्याय-मतमें विशेषणके अभाववालेमें विशेषणप्रतीति ही भ्रम कहा जाता है, उसीको वे अयथार्थ ज्ञान तथा अन्यथाख्याति भी कहते हैं। भ्रम-ज्ञानके विषयमें सूक्ष्म विचार 'अन्यथाख्यातिवाद' नामक ग्रन्थमें श्रीचक्रवर्तीगदाधर भट्टाचार्यने प्रदर्शित किये हैं, सो दुर्बोध हैं इसलिये यहाँ नहीं लिखे गये। इस प्रकार न्याय-मतमें सर्पादि-भ्रमके विषय रज्जु आदि हैं, सर्पादि नहीं। इस रीतिसे उनके मतमें जिस प्रकार प्रत्यक्षरूप प्रमा-ज्ञान इन्द्रियजन्य हैं उसी प्रकार भ्रमज्ञान भी इन्द्रियजन्य ही हैं।

१७ : वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार इन्द्रियअजन्य भ्रम-ज्ञानकी रीति

इसके विपरीत वेदान्त-सिद्धान्तमें तो सर्पभ्रमका विषय रज्जु नहीं है, किन्तु अनिर्वचनीय सर्प ही है एवं भ्रमज्ञान इन्द्रियजन्य भी नहीं है। इसके साथ ही न्याय-मतमें तो सभी ज्ञानोंका आश्रय आत्मा है, परन्तु वेदान्त-मतमें ज्ञानोंका उपादान-कारण अन्तःकरण है और वही ज्ञानोंका आश्रय है। न्याय-मतमें जो सुख-दुःखादि आत्माके गुण माने गये हैं, वेदान्त-मतमें वे सभी अन्तःकरणके परिणाम होनेसे अन्तःकरणके ही धर्म हैं, आत्माके नहीं। वेदान्त-मतमें भ्रम-ज्ञान अन्तःकरणका परिणाम नहीं, किन्तु अविद्याका ही परिणाम माना गया है। यह विषय विस्तारसे

'विचारसागर' में स्पष्ट किया गया है, इसलिये उसे यहाँ लिखनेका उपयोग नहीं। वेदान्तमतके अनुसार भ्रम-ज्ञानका संक्षेपसे यह प्रकार है—

सर्पके संस्कारसहित पुरुषके दोषसहित नेत्रोंका जब रज्जुसे सम्बन्ध होता है, तब उसे रज्जुका विशेष धर्म जो रज्जुत्व है वह नहीं भासता और रज्जुमें जो मुंजरूप रज्जुके अवयव हैं वे भी नहीं भासते, किन्तु रज्जुका सामान्य धर्म जो 'इदंता' वही भासती है। तैसे ही शुक्तिमें शुक्तित्व एवं नीलपृष्ठता व त्रिकोणता नहीं भासते, किन्तु सामान्य धर्म 'इदंता' ही भासती है। इस प्रकार अन्तःकरण नेत्रद्वारा रज्जुदेशमें जाकर इदमाकार परिणामको प्राप्त होता है। उस इदमाकार वृत्ति-उपहित-चेतनस्थ-अविद्याके सर्पाकार व ज्ञानाकार दो परिणाम होते हैं। तैसे दण्ड-संस्कारसहित पुरुषके दोषसहित नेत्रोंका जहाँ रज्जुसे सम्बन्ध हो, वहाँ अविद्याके परिणाम दण्ड व दण्डज्ञान होते हैं। एवं जहाँ माला-संस्कार-सहित पुरुषके दोषसहित नेत्रोंका रज्जुसे सम्बन्ध होकर इदमाकार वृत्ति हो, वहाँ भी उसकी वृत्ति-उपहित-चेतनस्थ-अविद्याका परिणाम माला व मालाज्ञानरूप होता है। इस प्रकार जहाँ एक रज्जुसे तीन पुरुषोंके सदोष नेत्रोंका सम्बन्ध होकर सर्प, दण्ड व माला एक-एकके उन तीनोंको न्यारे-न्यारे भ्रम हों, वहाँ जिस-जिसकी वृत्ति-उपहित-चेतनस्थ-अविद्यामें जो-जो विषय उपजा है वह-वह उस-उसको ही प्रतीत होता है, दूसरेको नहीं।

इस प्रकार वेदान्त-मतमें भ्रमज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं, किन्तु अविद्याकी वृत्तिरूप ही है। परन्तु जिस वृत्ति-उपहित-चेतनस्थ-अविद्याका परिणाम भ्रमरूप होता है, वह इदमाकार वृत्ति अवश्य नेत्र व रज्जु आदिके संयोगसम्बन्धसे ही होती है, इसलिये भ्रमज्ञानमें इन्द्रियजन्यताका भ्रम होता है। इस प्रकार वेदान्त-सिद्धान्तमें भ्रम-ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं है। अनिर्वचनीयख्यातिका निरूपण और अन्यथाख्याति आदिका खण्डन श्रीगौडब्रह्मानन्दकृत 'ख्यातिविचार' नामक ग्रन्थमें सविस्तार स्पष्ट किया गया है, वह अति कठिन है इसलिये यहाँ नहीं लिखा गया।

१८ : न्याय व वेदान्तकी अन्य विलक्षणता

इसी प्रकार वेदान्त-सिद्धान्तमें अभावका ज्ञान भी इन्द्रियजन्य नहीं है, किन्तु अनुपलब्धिनामक पृथक् प्रमाणजन्य ही है। इसलिये अभावके प्रत्यक्षका हेतु जैसा न्याय-मतमें विशेषणता-सम्बन्ध अंगीकार किया गया है वह निष्फल ही है। तथा न्याय-मतमें जाति-व्यक्ति, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान् तथा उपादान-कार्यका जो समवाय-सम्बन्ध माना गया है, उसके स्थानपर वेदान्त-मतमें इन सभी ठिकाने तादात्म्य-सम्बन्ध अंगीकार किया गया है। एवं वेदान्त-मतमें जैसे त्वक् आदि इन्द्रियाँ वाय्वादि भूतजन्य हैं, वैसे ही श्रोत्र भी आकाशजन्य है आकाशरूप नहीं। मीमांसा-मतमें तो शब्दको द्रव्य माना गया है, परन्तु वेदान्त व न्याय-मतमें शब्द आकाशका ही गुण माना गया है। वेदान्त-मतमें श्रीविद्यारण्यस्वामीने मनको पाँचों भूतोंका गुण कहा है, परन्तु वेदान्तानुयायी श्रीवाचस्पतिमिश्रने मनको इन्द्रिय माना है, यद्यपि अन्य वेदान्तानुयायी ग्रन्थकारोंने मनको इन्द्रिय माननेसे इन्कार किया है। जिन वेदान्तानुयायी ग्रन्थकारोंके मतमें मन इन्द्रिय नहीं है, उनके मतमें सुखदुःखका ज्ञान प्रमाणजन्य नहीं अतः वह प्रमा भी नहीं, किन्तु उनके मतमें सुखदुःख साक्षीभास्य हैं। परन्तु श्रीवाचस्पतिमिश्रके मतमें तो सुखादिका ज्ञान मनरूप है, इसलिये वह प्रमाणजन्य है व प्रमा है। ब्रह्मका अपरोक्ष-ज्ञान तो दोनों ही मतोंमें प्रमा है, परन्तु श्रीवाचस्पति-मतमें तो वह मनरूप प्रमाणजन्य है तथा दूसरोंके मतमें वह ब्रह्म-ज्ञान शब्दरूप प्रमाणजन्य है।

१९ : श्रीवाचस्पति-मतमें मनकी इन्द्रियताका सारग्राही दृष्टिसे अंगीकार

जिन वेदान्तानुयायियोंके मतमें मन इन्द्रिय नहीं है उनके मतमें प्रत्यक्ष-ज्ञानका लक्षण इन्द्रियजन्यता नहीं है, किन्तु वृत्ति-चेतन व विषय-चेतनका अभेद ही प्रत्यक्ष-ज्ञानका लक्षण है। जिस प्रकार वृत्ति-चेतन व

विषय-चेतनका अभेद होता है, वह प्रकार विचारसागरमें स्पष्ट किया गया है । इस विषयमें श्रीवाचस्पतिका मत समीचीन नहीं है, क्योंकि उनके मतमें निम्नलिखित दोष लागू होते हैं—

(१) जैसे अन्य इन्द्रियोंके अपने-अपने असाधारण विषय हैं, वैसे मनका अपना कोई असाधारण विषय नहीं है ।

(२) ऐसा माननेमें गीतावचनसे विरोध होता है, अर्थात् इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः । (अ. ३, ४२)

इस श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने मनको इन्द्रियोंसे पर कहा है, मनको इन्द्रिय नहीं माना । यदि मन भी इन्द्रिय हो तो 'इन्द्रियोंसे मन पर है,' यह कहना संभव नहीं होता ।

(३) 'ब्रह्म मानस-ज्ञानका विषय नहीं है' यह सभी श्रुति-स्मृतियोंका सम्मत है । परन्तु श्रीवाचस्पतिने मनको इन्द्रिय मानकर 'ब्रह्म-साक्षात्कार भी मनरूप इन्द्रियजन्य है अतः वह मानस है' ऐसा कहा है वह श्रुति-स्मृतिविरुद्ध है ।

(४) अन्तःकरणकी विशेष अवस्थाका नाम मन है, वह अन्तःकरण प्रत्यक्ष-ज्ञानका आश्रय होनेसे ज्ञानका कर्ता है और जो कर्ता होता है वह करण नहीं हो सकता । इसलिये मन इन्द्रिय नहीं हो सकता ।

यद्यपि मनको इन्द्रिय माननेमें उपर्युक्त दोष लागू होते हैं; तथापि विचारसे देखा जाय तो ये कोई भी दोष नहीं रहते । वह इस प्रकार—

(१) मनका असाधारण विषय सुख, दुःख व इच्छादि बनते हैं और अन्तःकरणविशिष्ट जीव कहा जाता है ।

(२) गीतामें जो 'मन इन्द्रियोंसे पर हैं' ऐसा कहा है, वहाँ 'इन्द्रिय' शब्दसे बाह्य इन्द्रियोंका ग्रहण होता है । इसलिये 'बाह्य इन्द्रियों चक्षु आदिसे मन-इन्द्रिय पर हैं' यह गीता-वचनका अर्थ है । इसलिये गीतासे विरोध नहीं ।

(३) 'मानस-ज्ञानका विषय ब्रह्म नहीं है' इस कथनका यह अभिप्राय है कि शमदमादि संस्काररहित विक्षिप्त मनसे उत्पन्न हुए ज्ञानका विषय

ब्रह्म नहीं है और मानस ज्ञानकी फल-व्याप्यता भी ब्रह्मविषय नहीं है, अर्थात् वृत्तिमें जो चिदाभास उसका विषय ब्रह्म नहीं है। जिस प्रकार जहाँ घटादि अनात्म पदार्थोंको वृत्ति प्राप्त होती है, वहाँ तो वृत्ति व चिदाभास दोनोंके व्याप्य अर्थात् विषय बाह्य पदार्थ होते हैं, परन्तु ब्रह्माकार वृत्तिमें जो चिदाभास अंश है उसका विषय ब्रह्म नहीं है, किन्तु केवल आवरणभंग ही वृत्तिका प्रयोजन है और इस प्रकार ही वृत्तिमात्रका विषय ब्रह्म होता है, यह विचार-सागरके चतुर्थ तरंगमें स्पष्ट किया गया है। इसके सिवा श्रुति-स्मृतिमें जैसे ब्रह्ममें मनकी विषयता निषेध की गई है, वैसे ही शब्दकी विषयता भी निषेध की गई है। अर्थात्

'यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'

आशय यह है कि 'मनसहित वाणी जिस ब्रह्मतक न पहुँचकर वापस लौट आती हैं' ऐसा श्रुतिका निषेधरूप वचन है। वहाँ 'ब्रह्म शब्दजन्य ज्ञानका विषय ही नहीं है' यदि ऐसा श्रुतिवचनका अर्थ अंगीकार करें तो महावाक्य भी शब्दरूप ही हैं, तब तो उनसे उपजे ज्ञानका विषय भी ब्रह्म नहीं रहेगा और फिर तो सिद्धांतका ही भंग हो जायगा। इसलिये श्रुतिके निषेधरूप वचनका यह अर्थ है—

शब्दकी शक्ति-वृत्तिजन्य ज्ञानका विषय ब्रह्म नहीं है, किन्तु वह शब्दकी लक्षणा-वृत्तिजन्य ज्ञानका ही विषय है। तैसे लक्षणा-वृत्तिजन्य ज्ञानमें भी चिदाभासरूप फलका विषय ब्रह्म नहीं है, किन्तु ब्रह्मविषय वृत्तिमात्रकी विषयता केवल आवरणभंगरूप ही है। इस प्रकार जैसे ब्रह्ममें शब्दजन्य ज्ञानकी विषयताका सर्वथा निषेध नहीं, वैसे मानस-ज्ञानकी विषयताका भी सर्वथा निषेध नहीं हो सकता। किन्तु ब्रह्म-ज्ञानमें संस्काररहित मनकी हेतुता नहीं है तथा मानस-ज्ञानमें जो चिदाभास अंश है, ब्रह्मविषय उसकी भी विषयता नहीं है, यही अभिप्राय है।

यदि ऐसा कहा जाय कि 'ब्रह्म-ज्ञानमें मनको कारण मानते हो तो ब्रह्म-ज्ञान दो प्रमाणजन्य कहना होगा। क्योंकि ब्रह्म-ज्ञानमें महावाक्योंको कारण तो भाष्यकारादिने सर्वत्र ही प्रतिपादन किया है इसलिये उसका

निषेध बन नहीं सकता; फिर यदि मनको भी करण कहें तो प्रमाके करणको ही प्रमाण कहते हैं, इसलिये ब्रह्म-प्रमाके शब्द और मन दो प्रमाण सिद्ध होंगे । ऐसा मानना दृष्टविरुद्ध अर्थात् प्रत्यक्ष ही विरुद्ध है, क्योंकि चाक्षुषादि प्रमाके नेत्रादि एक-एक ही प्रमाण होते हैं, किसी भी प्रमाके हेतुरूप दो प्रमाण देखे-सुने नहीं गये । नैयायिक भी यद्यपि चाक्षुषादि प्रमामें मनकी सहकारिता मानते हैं, परन्तु प्रमाणता तो नेत्रादिको ही देते हैं, मनको नहीं और वे सुखादिके ज्ञानमें केवल मनको ही प्रमाणता देते हैं, अन्यको नहीं । इसलिये एक प्रमाके दो प्रमाण कहना दृष्टविरुद्ध है । जहाँ एक पदार्थमें दो इन्द्रियोंकी योग्यता हो, जैसे घटमें नेत्र व त्वक्की योग्यता होती है, वहाँ भी दो प्रमाणोंसे एक प्रमा नहीं होती, किन्तु नेत्र-प्रमाणसे घटकी चाक्षुष-प्रमा होती है और त्वक्-प्रमाणसे त्वाच-प्रमा । इस प्रकार दो प्रमाणोंसे एक प्रमाकी उत्पत्ति दृष्ट नहीं है ।'

ऐसी शंका बनती नहीं है, क्योंकि जहाँ प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्ष होता है, वहाँ पूर्व अनुभव और इन्द्रियरूप दो प्रमाणोंसे एक प्रमा होती है, इसलिये दृष्टविरुद्ध नहीं होता । जहाँ प्रत्यभिज्ञा होती है वहाँ पूर्व अनुभव तो संस्कारद्वारा हेतु होता है और इन्द्रिय-संयोगादि अपने सम्बन्धद्वारा हेतु बनते हैं । इसलिये संस्काररूप व्यापारवाला कारण पूर्व अनुभव है और सम्बन्धरूप व्यापारवाला कारण इन्द्रिय है, इसलिये प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षरूप प्रमाके करण होने से दोनों प्रमाण हैं । इसी प्रकार ब्रह्म-साक्षात्काररूप प्रमाके शब्द व मन दोनों प्रमाण हो सकते हैं, इस कथनमें दृष्टविरोध नहीं आता । बल्कि यदि ब्रह्म-साक्षात्कारको मनरूप इन्द्रियजन्य माना जाय तो प्रत्यक्षता निर्विवादरूपसे सिद्ध होती है और केवल शब्दजन्य माना जाय तो प्रत्यक्षता विवादसे ही सिद्ध होती है । जैसे दशमके दृष्टांतमें इन्द्रियजन्यता व शब्दजन्यताका विवाद रहता है, परन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञानोंकी प्रत्यक्षतामें किसीका कोई विवाद नहीं होता । यदि ऐसा कहा जाय कि प्रत्यभिज्ञा-प्रत्यक्षमें पूर्व अनुभवजन्य संस्कार केवल सहकारी हैं प्रमाण तो केवल इन्द्रिय ही है । इसका समाधान यह है कि ब्रह्म-

साक्षात्काररूप प्रमामें भी शब्द सहकारी है, प्रमाण तो केवल मन ही है। वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थोंमें इन्द्रियजन्य ज्ञानोंकी प्रत्यक्षतामें जो दोष कथन किये गये हैं, उनके यथार्थ समाधान न्यायकौस्तुभादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट किये गये हैं, जिनको जिज्ञासा हो वहाँ देखें।

(४) मनकी इन्द्रियतामें जो यह दोष कहा गया है कि 'ज्ञानका आश्रय होनेसे अन्तःकरण कर्ता है और अन्तःकरणकी अवस्थाविशेष ही मन है तथा जो कर्ता होता है वह करण नहीं हो सकता' यह दोष भी लागू नहीं होता। क्योंकि अन्तःकरणरूप धर्मी तो ज्ञानका आश्रय होनेसे कर्ता बन सकता है और अन्तःकरणका परिणामरूप मन ज्ञानका करण हो सकता है।

इस प्रकार मन भी प्रमा-ज्ञानका करण हो सकता है, इसलिये वह भी प्रमाण है।

२० : न्याय और वेदान्तका प्रत्यक्ष-ज्ञानमें विचारोंका भेद

जहाँ इन्द्रियसे द्रव्यका प्रत्यक्ष होता है वहाँ तो न्याय व वेदान्तमें कोई विलक्षणता नहीं है, किन्तु द्रव्य व इन्द्रियका संयोग-सम्बन्ध ही है। परन्तु जहाँ द्रव्यकी जाति अथवा गुणका प्रत्यक्ष होता है, वहाँ न्याय-मतमें तो संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध है और वेदान्त-मतमें संयुक्त-तादात्म्य-सम्बन्ध माना गया है। क्योंकि न्याय-मतमें जहाँ-जहाँ समवाय-सम्बन्ध ग्रहण किये गये हैं वेदान्त-मतमें वहाँ तादात्म्य-सम्बन्धका ही अंगीकार किया गया है। तथा गुणकी जातिके प्रत्यक्षमें न्याय-रीतिसे तो संयुक्त-समवेत-समवाय-सम्बन्ध है, परन्तु वेदान्त-मतमें संयुक्त-तादात्म्यवत् तादात्म्य अथवा संयुक्ताभिन्नतादात्म्य-सम्बन्ध माना गया है। अर्थात् इन्द्रियसे संयुक्त जो घटादि, उनसे तादात्म्यवत् अर्थात् तादात्म्य-सम्बन्धवाले रूपादि हैं, उन रूपादिमें रूपत्वादि जातिका तादात्म्य-सम्बन्ध है। जैसे घटादिमें रूपादि तादात्म्यवत् हैं, तैसे ही वे रूपादि घटादिसे अभिन्न भी कहे जा सकते हैं, क्योंकि अभिन्नका ही तादात्म्य-सम्बन्ध हुआ करता

है। जहाँ श्रोत्रसे शब्दका साक्षात्कार हो, वहाँ न्याय-मतमें श्रोत्रका शब्दसे समवाय-सम्बन्ध है, परन्तु वेदान्त-मतमें श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशका कार्य है, इसलिये जैसे चक्षुरादिमें क्रिया होती है वैसे ही श्रोत्रमें भी क्रिया होकर शब्दवाले द्रव्यसे श्रोत्रका संयोग होता है। इसलिये उस श्रोत्रसंयुक्त द्रव्यमें शब्दका तादात्म्य-सम्बन्ध है, क्योंकि वेदान्त-मतमें शब्द पाँचों भूतोंका गुण होनेसे भेरी आदिमें भी शब्द है इसलिये श्रोत्रसंयुक्त-तादात्म्य-सम्बन्धसे शब्दका प्रत्यक्ष होता है। जहाँ शब्दत्वका प्रत्यक्ष होता है, वहाँ श्रोत्र-संयुक्त-तादात्म्यवत्-तादात्म्य-सम्बन्ध माना गया है। वेदान्तमें जैसे शब्दत्व जाति है वैसे ही तारत्व-मंदत्व भी जाति ही हैं, न्याय-मतकी तरह जातिकी कोई भिन्न उपाधि नहीं, इसलिये शब्दत्व-जातिका श्रोत्रसे जो सम्बन्ध है वही तारत्व-मंदत्वका है, न्यायके अनुसार कोई विशेषणताका सम्बन्ध नहीं माना गया है। एवं वेदान्त-मतमें अभावका ज्ञान अनुपलब्धि प्रमाणसे होता है, किसी इन्द्रियसे अभावका ज्ञान नहीं होता, इसलिये इन्द्रियसे अभावका सम्बन्ध अपेक्षित नहीं।

इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाके विषयमें न्याय व वेदान्तमतमें विचारोंका भेद है।

२१ : प्रत्यक्ष-प्रमाका उपसंहार

इस प्रकार प्रत्यक्ष-प्रमाके षट् भेद हैं और उनके षट् ही करण हैं, इसलिये नेत्रादि षट् इन्द्रियाँ प्रत्यक्ष-प्रमाण कहे जाते हैं। न्याय एवं वाचस्पति-मतमें छठा प्रत्यक्ष-प्रमाण मन है, परन्तु पञ्चपादिके कर्ता श्री पद्मपादाचार्यके मतके अनुयायी मनको प्रमाण नहीं मानते हैं। उनके मतमें सुख-दुःख तो साक्षीभास्य हैं, इसलिये सुख-दुःखका ज्ञान प्रमा नहीं है। उनके मतसे अन्तःकरणविशिष्ट चेतनरूप जो जीव है, उसमें जो अन्तःकरण-भाग है वह तो साक्षिभास्य है और चेतनभाग स्वयंप्रकाश है, इसलिये जीवका (आत्माका) ज्ञान भी मानस नहीं है। एवं ब्रह्मविद्यारूप जो अपरोक्षज्ञान है, उनके मतमें यद्यपि वह प्रमा है तथापि उसका करण

शब्द है, इसलिये उसका प्रमाण भी मन नहीं है। इस प्रकार पंचपादिकानुसार जो सिद्धान्त है वहाँ भी प्रत्यक्ष-प्रमाके षट् ही भेद हैं, उनके मतमें शब्दजन्य ब्रह्मकी प्रत्यक्ष-प्रमा छठी है। अभावका ज्ञान यद्यपि अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य है तथापि वह प्रत्यक्ष है, यह वार्ता अनुपलब्धि-प्रमाणके निरूपणमें वर्णन की जायगी। इस प्रकार यद्यपि प्रत्यक्ष-प्रमाके सप्त भेद हो सकते हैं तथापि इस ग्रन्थकी रीतिसे अभावज्ञानमें प्रत्यक्षता नहीं है, इसलिये प्रत्यक्ष-प्रमाके षट् भेद ही हैं, सप्त नहीं। यह संक्षेपसे प्रत्यक्ष-प्रमाणका निरूपण किया गया।

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें प्रत्यक्ष-प्रमाण-निरूपणं नामक
प्रथम प्रकाश समाप्त हुआ ।।

द्वितीय प्रकाश

अनुमान-प्रमाण-निरूपण

१ : अनुमितिकी सामग्रीका लक्षण व स्वरूप

अनुमिति-प्रमाके करणको 'अनुमान-प्रमाण' कहा जाता है तथा लिङ्ग-ज्ञानजन्य ज्ञानको 'अनुमिति' कहते हैं। जैसे पर्वतमें धूमका प्रत्यक्ष-ज्ञान होकर वहाँ वह्निका ज्ञान होता है, अतः वहाँ धूमका प्रत्यक्ष-ज्ञान 'लिङ्ग-ज्ञान' कहलाता है। उस लिङ्ग-ज्ञानसे वह्नि-ज्ञानकी उत्पत्ति होती है, इस प्रकार वह्निका ज्ञान अनुमितिरूप है। जिसके ज्ञानसे साध्यका ज्ञान हो उसे 'लिङ्ग' कहते हैं और अनुमिति-ज्ञानका जो विषय होता है वह 'साध्य' कहलाता है। यहाँ अनुमिति-ज्ञानका विषय वह्नि है, इसलिये धूम लिङ्ग और वह्नि साध्य है। अर्थात् व्याप्यके ज्ञानसे व्यापकका ज्ञान होता है, इसलिये व्याप्यको लिङ्ग और व्यापकको साध्य कहते हैं। अथवा यों कहिये कि व्याप्तिवालेको व्याप्य और व्याप्तिनिरूपकको व्यापक कहा जाता है तथा अविनाभावरूप सम्बन्धको 'व्याप्ति' कहते हैं। जैसे धूममें वह्निका अविनाभावरूप सम्बन्ध है, अर्थात् वह्निके विना धूम रह नहीं सकता, वही धूममें वह्निकी व्याप्ति है। इसलिये धूम वह्नि का व्याप्य है और उस व्याप्तिरूप सम्बन्धका निरूपक वह्नि है, इसीलिये धूमका व्यापक वह्नि है। जिसके विना जो न हो उसमें अविनाभावरूप सम्बन्ध उसका कहा जाता है। यहाँ वह्निविना धूम हो नहीं सकता, इसलिये वह्निका अविनाभावरूप सम्बन्ध धूममें है, वह्निमें धूमका अविनाभाव नहीं। क्योंकि तप्तलोहपिंडमें धूमविना भी वह्नि रहता है, इसलिये धूमका व्याप्य वह्नि नहीं, किन्तु वह्निका व्याप्य धूम है। तैसे ही रूपका

व्याप्य रस है, क्योंकि पृथ्वी, जल व तेजमें रूप रहता है तथा पृथ्वी व जलमें रस भी रहता है, इसलिये रूपका अविनाभावरूप सम्बन्ध रसमें होनेसे रूपका व्याप्य रस है और रूपमें रसका अविनाभाव नहीं। आशय यह कि तेजमें रसविना भी रूपका भाव अर्थात् रूपकी सत्ता है, इसलिये रसका व्याप्य रूप नहीं किन्तु रूपका व्याप्य रस है। क्योंकि जो जिससे व्यभिचारी हो वह उसका व्याप्य नहीं हो सकता, रूप रससे व्यभिचारी है अर्थात् रूप रसविना भी रह सकता है, इसलिये रूप व्याप्य नहीं हो सकता। जो अधिक देशमें रहे वह 'व्यभिचारी' कहा जाता है। धूमसे अधिक देशमें रहनेवाला जो वह्नि वह धूमका व्यभिचारी है। इसी प्रकार रससे अधिक देशमें रहनेवाला जो रूप वह रसका व्यभिचारी है। जो न्यून देशमें रहता है उसमें ही अविनाभाव-सम्बन्ध वर्तता है और वही व्याप्य होता है। धूम वह्निसे न्यून देशमें रहता है, इसलिये धूममें वह्निकी अविनाभावरूप व्याप्ति है और वह धूम व्याप्य है। तैसे ही रस रूपसे न्यून देशमें रहता है इसलिये रसमें रूपकी व्याप्ति है और वह रस व्याप्य है।

जैसे न्यून देशमें रहनेवालेमें अधिक देशमें रहनेवालेकी व्याप्ति अर्थात् अविनाभाव है, तैसे समान देशमें रहनेवाले जहाँ दो पदार्थ हों उनकी भी परस्पर व्याप्ति होती है। जिस प्रकार गंध-गुण और पृथ्वीत्व-जाति दोनों केवल पृथ्वीमें रहनेवाले हैं, वहाँ गन्धकी व्याप्ति पृथ्वीत्वमें और पृथ्वीत्वकी व्याप्ति गन्धमें है। तैसे ही स्नेह-गुण और जलत्व-जाति दोनों जलमें हैं, जलविना स्नेह व जलत्व रह नहीं सकते, इसलिये समदेशवर्ति होते हुए भी दोनों परस्पर व्याप्तिवाले और परस्पर एक-दूसरेके व्याप्य हैं। इस प्रकार जैसे न्यून देशवर्तिमें अविनाभावरूप सम्बन्ध वर्तता है, तैसे समान देशवर्ति पदार्थोंमें भी परस्पर अविनाभाव वर्तता है। यद्यपि पृथ्वीत्वसे न्यून देशवर्ति गंध और जलत्वसे न्यून देशवर्ति स्नेह है, क्योंकि यह नियम है कि प्रथम क्षणमें द्रव्य निर्गुण उपजता है और उसमें गुणकी उत्पत्ति दूसरे क्षणमें होती है। परन्तु जाति तो द्रव्यमें प्रथम क्षणमें भी रहती है, इसलिये पृथ्वीके प्रथम क्षणमें गन्धका अभाव है और इस प्रकार

गन्धका व्यभिचारी पृथ्वीत्व होनेसे पृथ्वीत्वमें गन्धका अविनाभावरूप व्याप्तिका अभाव है, परन्तु गन्धमें पृथ्वीत्वका अविनाभाव बन सकता है। तैसे ही उत्पत्ति-क्षण-वर्त्ति जलमें स्नेहका व्यभिचारी जलत्व होनेसे जलत्वमें स्नेहका अविनाभावरूप सम्बन्ध नहीं बनता। इसलिये स्नेहकी व्याप्तिका जलत्वमें अभाव होनेसे स्नेहका व्याप्य जलत्व नहीं बनता, किन्तु जलत्वका व्याप्य स्नेह ही बनता है। इस प्रकार यद्यपि पृथ्वीत्वका व्याप्य गन्ध है, गन्धका व्याप्य पृथ्वीत्व नहीं तथा जलत्वका व्याप्य स्नेह है, स्नेहका व्याप्य जलत्व नहीं; तथापि गन्धवत्त्व व पृथ्वीत्व और स्नेहवत्त्व व जलत्व तो परस्पर व्याप्य ही हैं। क्योंकि गन्धकी अधिकरणताको गन्धवत्त्व और स्नेहकी अधिकरणताको स्नेहवत्त्व कहते हैं, अर्थात् 'जिसमें जो पदार्थ कदाचित् हो तो भी उसमें उस पदार्थकी अधिकरणता तो सदा ही रहती हैं' ऐसा श्रीजगदीश भट्टाचार्य आदिने व्याप्तिनिरूपणमें लिखा है। वहाँ प्रसंग यह है—

'अव्याप्यवर्ति (अर्थात् जो व्याप कर नहीं रहता) पदार्थका अधिकरण व्याप्यवर्ति (अर्थात् व्याप कर रहनेवाला) पदार्थ ही होता है। इस प्रकार अधिकरणता अव्याप्यवर्ति नहीं होती, किन्तु व्याप्यवर्ति ही होती है। जैसे अव्याप्यवर्ति धूमका अधिकरण व्याप्यवर्ति वह्नि ही होता है, वह अव्याप्यवर्तिता दो प्रकारकी होती है, एक देशकृत और दूसरी कालकृत। जो पदार्थ एक देशमें हो और अन्य देशमें न हो वह 'देशकृत अव्याप्यवर्ति' कहा जाता है तथा जो किसी कालमें हो और किसी कालमें न हो वह 'कालकृत अव्याप्यवर्ति' कहलाता है। जैसे संयोग सदैव पदार्थके एक देशमें ही होता है, पदार्थके सर्व देशमें संयोगका रहना सर्वथा अलीक है, वह देशकृत अव्याप्यवर्ति कहलाता है। इस प्रकार संयोग पदार्थके एक देशवर्ति होते हुए भी उस संयोगकी अधिकरणता तो उस एक देशवर्ति ही नहीं हो सकती, किन्तु अधिकरणता तो उस पदार्थके सर्वदेशवर्ति ही कही जा सकती है। इस प्रकार अव्याप्यवर्ति संयोगकी अधिकरणता व्याप्यवर्ति ही बन सकती है, अव्याप्यवर्ति नहीं हो सकती, यह सिद्धान्त है।'

पूर्व कथित रीतिसे गन्धादि गुण यद्यपि कालिक अव्याप्यवर्ति हैं, तथापि उनकी अधिकरणता तो द्रव्यके उत्पत्ति-क्षणमें भी रहती ही है। इस प्रकार गन्धवत्त्व व स्नेहवत्त्व पृथ्वीत्व व जलत्वके समकालवर्ति बन जाते हैं और परस्पर व्याप्तिवाले होते हैं। 'द्रव्योत्पत्तिके प्रथम क्षणमें द्रव्य निर्गुण उपजता है और उसमें गुण दूसरे क्षणमें उपजता है'— नैयायिककी उस उक्तिको लेकर यह न्याय-मतसे समाधान किया गया। इसके विपरीत वेदान्त-मतमें तो द्रव्य कदापि निर्गुण उपजता ही नहीं है, किन्तु वह प्रथम क्षणमें ही सगुण उपजता है, इसलिये पृथ्वीत्व व जलत्व गन्ध व रसके भी व्याप्य हैं।

२ : अनुमिति-ज्ञानमें व्याप्तिके ज्ञानकी अपेक्षाका प्रकार

इस प्रकार अविनाभावरूप सम्बन्धका नाम 'व्याप्ति' है और व्याप्तिवालेको 'व्याप्य' कहते हैं। इसलिये व्याप्य जो धूम, उसका पर्वतादिमें जिसको प्रत्यक्ष-ज्ञान अथवा शाब्दज्ञान हो, उसको ही पर्वतादिमें अग्निका अनुमिति-ज्ञान होता है। इसी प्रकार रसके प्रत्यक्ष-ज्ञानसे रूपका अनुमिति-ज्ञान होता है। परन्तु जिसको 'धूम वह्नि का व्याप्य हैं' तथा 'रस रूपका व्याप्य हैं' ऐसा पूर्व अनुभव हुआ हो, उसीको धूम व रसके प्रत्यक्षसे इनके व्याप्यत्वका स्मरण होकर वह्नि व रूपकी अनुमिति होती है। व्याप्तिको ही 'व्याप्यत्व' कहते हैं। तथा जिसको पूर्व व्याप्यत्वका ज्ञान न हुआ हो, उसको धूमादिके ज्ञानसे वह्नि आदिकी अनुमिति भी नहीं होती। इस प्रकार व्याप्ति-ज्ञान अनुमितिका करण है। वह सन्देहरूप व्याप्ति-ज्ञान भी अनुमितिका कारण नहीं बनता, क्योंकि 'धूम वह्निकी व्याप्तिवाला है या नहीं' ऐसा पूर्व जिसको सन्देहरूप ज्ञान हुआ है, उसको इस प्रकारके सन्देहरूप धूम-ज्ञानसे वह्निका अनुमिति-ज्ञान नहीं होता। किन्तु 'धूम वह्निकी व्याप्तिवाला है' ऐसा निश्चयरूप जिसको ज्ञान हुआ है, उसको ही धूमज्ञानसे वह्निकी अनुमति होती है, इसलिये व्याप्तिका निश्चय अनुमितिका हेतु है। वह व्याप्तिका निश्चय सहचारज्ञानसे

होता है। महानसादिमें बारम्बार धूम-वह्निका सहचार देखकर 'वह्निका व्याप्य धूम है' ऐसा ही ज्ञान होता है, परन्तु 'धूमका व्याप्य वह्नि है' ऐसा कदापि ज्ञान नहीं होता। क्योंकि यद्यपि महानसादिमें जैसे वह्निका सहचार धूममें देखा जाता है वैसे ही धूमका सहचार भी वह्निमें दिखलाई पड़ता है; तथापि वह्निमें धूमका व्यभिचार भी पाया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस पदार्थका जिसमें केवल सहचार ही प्रतीत हो, परन्तु व्यभिचार प्रतीत न हो, उसमें उस पदार्थकी व्याप्तिका निश्चय होता है। जैसे धूममें वह्निका व्यभिचार प्रतीत नहीं होता किन्तु सहचार ही प्रतीत होता है, इसलिये धूममें वह्निकी व्याप्तिका निश्चय होता है। परन्तु वह्निमें धूमका सहचार और व्यभिचार दोनों प्रतीत होते हैं, इसलिये 'धूमका व्याप्य वह्नि है' ऐसा निश्चय नहीं होता। 'सहचार' नाम साथ रहनेका है और 'व्यभिचार' नाम जुदा रहनेका है। यद्यपि जलके धूममें भी वह्निका व्यभिचार है और अग्नि शांत हुए महानसमें भी धूम रहते हुए वह्निका व्यभिचार है; तथापि जिसके मूलका उच्छेद नहीं हुआ ऐसी ऊँची धूमरेखामें वह्निका व्यभिचार नहीं। इसलिये ऐसी धूमरेखामें वह्निकी व्याप्तिका प्रत्यक्षरूप निश्चय होता है। इस प्रकारकी विलक्षण धूमरेखा पर्वतादिमें प्रत्यक्ष होकर 'धूम वह्निका व्याप्य है' इस अनुभवके संस्कार उद्भूव होते हैं, उसके अनन्तर 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति होती है।

३ : सकल नैयायिक-मतमें अनुमितिका क्रम

यद्यपि न्याय-मतमें अनुमान-प्रसंगमें अनेक पक्ष हैं वह उनके ग्रन्थोंमें स्पष्ट हैं; तथापि नैयायिकोंके सकल मतोंमें अनुमितिका यह क्रम है—

प्रथम तो महानसादिमें हेतु-साध्यका सहचारदर्शन होता है, इससे हेतुमें साध्यकी व्याप्तिका निश्चय होता है। तदनन्तर पर्वतादिमें हेतुका प्रत्यक्ष होता है। इसके बाद संस्कारोंका उद्भूव होकर व्याप्तिकी स्मृति होती है। इसके पीछे साध्यके व्याप्तिविशिष्ट हेतुका पक्षमें प्रत्यक्ष होता

है, इसीको 'परामर्श' कहते हैं। 'वह्निव्याप्य धूमवान् पर्वतः' यह प्रसिद्धानुमानमें परामर्शका आकार है, अर्थात् वह्निका व्याप्य जो धूम उसवाला पर्वत है। 'साध्यव्याप्य हेतुमान् पक्षः' यह परामर्शका सामान्य रूप है। इसके अनन्तर 'वह्निमान् पर्वतः' ऐसा अनुमिति-ज्ञान होता है। इसी क्रमसे अनुमिति होती है।

परन्तु प्राचीन न्यायमतमें अनुमितिका करण परामर्श है, अन्य सकल ज्ञान अन्यथासिद्ध हैं। इस मतमें परामर्श ही अनुमान होता है। यद्यपि परामर्शको करण मान लेनेपर कोई बीचमें व्यापार नहीं मिलता; तथापि इस प्राचीन मतमें व्यापारहीन कारणको भी करण कहते हैं। इसलिये परामर्श ही अनुमितिका करण होनेसे अनुमान-प्रमाण है। कोई नैयायिक ज्ञानके हेतुको अनुमान-प्रमाण कहते हैं तो कोई पक्षमें हेतुके ज्ञानको अनुमान-प्रमाण मानते हैं और व्याप्तिकी स्मृति व परामर्शको व्यापार कहते हैं। तथा कोई व्याप्तिके स्मृति-ज्ञानको अनुमान-प्रमाण कहते हैं और परामर्शको व्यापार मानते हैं। इस प्रकार अनुमिति, करण तथा व्यापारके सम्बन्धमें नैयायिकोंके अनेक मत हैं, परन्तु परामर्शका अंगीकार सभी मतोंमें है। कोई परामर्शको करण मानते हैं तो कोई व्यापार, परन्तु परामर्शविना अनुमिति नहीं होती, यह सभी नैयायिकोंका मत है।

४ : अनुमितिके सम्बन्धमें मीमांसाका मत

मीमांसाका मत यह है—

जहाँ पर्वतमें धूमके प्रत्यक्षसे व्याप्तिकी स्मृति होकर वह्निकी अनुमिति हो जाय, वहाँ परामर्शके विना भी अनुमिति अनुभवसिद्ध है। इसलिये जहाँ परामर्श होकर अनुमिति होती है, वहाँ भी परामर्श अनुमितिका करण नहीं, किन्तु वह इसी प्रकार अन्यथासिद्ध है, जैसे दैव-योगसे आया हुआ रासभ वा कुलाल-पत्नी घटमें अन्यथासिद्ध ही होते हैं। कारण-सामग्रीसे जो बाहर हो उसको 'अन्यथासिद्ध' कहा जाता है।

इस प्रकार मीमांसा-मतमें परामर्शको करण नहीं माना गया। मीमांसानुयायी भी नैयायिकोंकी भाँति एक परामर्शको छोड़कर अनेक पदार्थोंको अनुमान-प्रमाण कहते हैं। कोई व्याप्तिकी स्मृतिको, कोई महानसादिमें व्याप्तिके अनुभवको और कोई पक्षमें हेतुके ज्ञानको अनुमान-प्रमाण कहते हैं।

५ : अद्वैतमतानुसार अनुमितिकी रीति

अद्वैतग्रन्थ भी जहाँ विरोध न हो, वहाँ मीमांसाकी प्रक्रियाके अनुसार ही हैं। इसलिये अद्वैत-मतमें भी परामर्श करण नहीं, किन्तु महानसादिमें व्याप्तिका प्रत्यक्षरूप जो अनुभव होता है, वही इस मतमें अनुमितिका करण है और व्याप्तिके अनुभवके जो उद्‌बुद्ध संस्कार हैं वे तो व्यापार तथा पर्वतमें जो धूमका प्रत्यक्ष वह संस्कारोंका उद्‌बोधक है। जहाँ व्याप्तिकी स्मृति हो जाय, वहाँ भी स्मृतिकी उत्पत्तिसे संस्कारोंका नाश तो होता नहीं है, इसलिये यद्यपि स्मृति व संस्कार दोनों ही व्यापार बनते हैं; तथापि अनुमितिके व्यापाररूप कारण तो संस्कार ही हैं, व्याप्तिकी स्मृति कारण नहीं। क्योंकि अनुमितिमें यदि व्याप्ति-स्मृतिको भी व्यापाररूप कारण माना जाय तो भी स्मृतिके कारण संस्कार मानने होंगे और फिर स्मृतिमें भी अनुमितिकी व्यापाररूप कारणता माननी होगी, इसलिये दोनोंमें कारणताकी कल्पनारूप गौरव होगा। परन्तु स्मृतिके कारणरूप जो संस्कार, यदि उनको ही अनुमितिका व्यापाररूप कारण मान लिया जाय तो स्मृतिमें कारणताका बचावरूप लाघव हो जाता है।

इस प्रकार अनुमितिमें व्याप्तिका अनुभव करण है, संस्कार व्यापार हैं और अनुमिति फल है। यह वेदान्त-परिभाषादि ग्रन्थोंकी रीति है, नैयायिकोंकी भाँति इस मतमें भी परामर्श अनुमितिका करण नहीं है।

६ : व्याप्तिकी स्मृतिको व्यापारता और संस्कारको अव्यापारता

यदि संस्कारको अनुमितिका व्यापार न माना जाय और स्मृतिको ही व्यापार माना जाय तो भी सिद्धांतकी हानि नहीं होती । यद्यपि ऐसा मान लेनेपर वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थोंसे विरोध होता है; तथापि युक्ति-पूर्वक अर्थनिर्णय हो जानेपर फिर यदि आधुनिक ग्रन्थोंसे विरोध भी हो तो कोई हानि नहीं होती, किन्तु श्रुति-स्मृतिके विरोधसे अथवा सिद्धांत-विरोधसे ही हानि होती है । 'अनुमितिका व्यापाररूप कारण स्मृति है अथवा संस्कार हैं' इस अर्थमें श्रुति-स्मृति तो उदासीन हैं और सिद्धांत भी उदासीन ही है । अतः हमारे विचारसे तो संस्कार न मानकर यदि व्याप्ति-स्मृतिको ही व्यापाररूप कारण माना जाय तो कोई बाधा नहीं होती, बल्कि इसमें साधकयुक्ति है । क्योंकि यदि व्याप्ति-संस्कारको ही अनुमितिका व्यापाररूप कारण कहा जाय और अनुद्बुद्ध संस्कारसे भी अनुमिति मानी जाय तो पर्वतमें धूमके प्रत्यक्षविना भी सदा ही अनुमिति होनी चाहिये । इसलिये वलात्कारसे उद्बुद्ध संस्कारको ही अनुमितिका व्यापाररूप कारण मानना होगा । फिर यदि उद्बुद्ध संस्कारोंको अनुमितिका कारण कहा जाय तो उद्बुद्ध संस्कारोंसे नियमसे स्मृति होती है, इसलिये उद्बुद्ध संस्कार जहाँ अनुमितिकी सामग्री हैं वहाँ स्मृतिकी भी सामग्री हैं । इसलिये उद्बुद्ध संस्कार जब अनुमिति व स्मृति दोनोंकी सामग्री हैं, तब कौन-सा ज्ञान पूर्व होता है ? यह श्रीधर्मराजको* पूछना चाहिये । यदि अनुमिति व स्मृति इन दोनों ज्ञानोंमें परस्पर प्रतिबध्यता व प्रतिबंधकता मानी जाय तो गौरव दोष होगा और विनिगमनाविरह†-

---

* वेदान्तपरिभाषा ग्रन्थके लेखकका नाम है और इस ग्रन्थके टीकाकार इनके पुत्र ही हुए हैं ।

† जिसके माननेमें कोई युक्ति न हो, वहाँ 'विनिगमनाविरह-दोष' कहा जाता है ।

दोष भी होगा तथा अनुभवविरोध भी होगा। क्योंकि पर्वतमें धूम-दर्शनसे धूममें वह्निकी व्याप्तिके स्मरणके उत्तरकालमें ही अनुमिति होती है, ऐसा तो बुद्धिमानोंके अनुभवसिद्ध ही है और अनुमिति हो जानेसे व्याप्ति-स्मृतिका प्रतिबन्ध हो जाता है, यह अनुभव-विरुद्ध है। इसके साथ ही जहाँ दो ज्ञानोंकी दो भिन्न-भिन्न सामग्री हों वहाँ तो एक सामग्री दूसरीका प्रतिबन्धक बन भी सकती है, परन्तु यहाँ तो अनुमिति व स्मृति दोनोंकी सामग्री एक संस्कार ही माना गया है, इसलिये दो सामग्री न होनेसे उनका प्रतिबध्य-प्रतिबंधकभाव भी नहीं बन सकता। यदि ऐसा कहा जाय कि अनुमितिसे स्मृतिका प्रतिबंध हो जाता है तो अनुमिति भविष्यत् है जो अभी स्मृतिसे पूर्व उपजी ही नहीं, फिर उसमें स्मृतिकी प्रतिबंधकता कैसे सम्भव हो ? तथा वेदान्तपरिभाषा और उसकी टीकामें अनुमितिसे स्मृतिका प्रतिबंध लिखा भी नहीं है। टीकासहित वेदान्त-परिभाषामें यह लिखा है—

'धूम-दर्शनसे संस्कार उद्‌बुद्ध होते हैं, उन संस्कारोंसे कहीं स्मृति होती है और कहीं नहीं भी होती है। जहाँ स्मृति होती है वहाँ भी संस्कारोंका नाश नहीं होता, बल्कि संस्कार व स्मृति दोनों ही रहते हैं। परन्तु स्मृति-शून्य स्थलमें जैसे संस्कार अनुमितिके व्यापार हैं वैसे ही स्मृतिसद्भाव-स्थलमें भी संस्कार ही व्यापार होते हैं, स्मृति नहीं।'

यह श्रीधर्मराजका ग्रन्थ है। इसमें बुद्धिमानोंको यह आश्चर्य होता है कि उद्‌बुद्ध संस्कारोंके होते हुए स्मृतिशून्य स्थल कैसे होता है ! ? इसके साथ ही अनुभवसे यह भी सिद्ध होगा कि उद्‌बुद्ध संस्कारोंसे स्मृतिकी उत्पत्ति होकर वे संस्कार तब नष्ट हो जाते हैं तथा स्मृतिसे फिर अन्य संस्कार बनते हैं। यही पक्ष सयुक्तिक है और इसका उपपादन ग्रन्थान्तरमें भी प्रसिद्ध है।

इस प्रकार इस पक्षमें संस्कारोंको अनुमितिका व्यापाररूप कारण मानना सर्वथा विरुद्ध है।

७ : स्वार्थ अनुमिति और अनुमानका स्वरूप

इस रीतिसे व्याप्तिका अनुभव अनुमितिका करण है और व्याप्तिकी स्मृति व्यापार है, यही पक्ष निर्दोष है। इस प्रकार जहाँ अनुमिति हो वह स्वार्थानुमिति कही जाती है। परन्तु न्याय-मतमें धूमका प्रत्यक्ष और व्याप्तिकी स्मृति हो जानेपर भी वह्निकी अनुमिति नहीं होती, किन्तु इन दोनों ज्ञानोंके बाद परामर्शनामक तीसरा ज्ञान होता है, उसीसे अनुमिति होती है। 'वह्निव्याप्य जो धूम उसवाला पर्वत है' ऐसे ज्ञानको वे परामर्श कहते हैं। परन्तु वेदान्तमें उसे अनुमितिका करण नहीं माना गया, किन्तु इस प्रकारके वाक्यप्रयोग विना ही व्याप्ति-ज्ञानसे जो अनुमिति हो वेदान्तमें वह 'स्वार्थानुमिति' कहाती है और उसके करण व्याप्ति-ज्ञानको 'स्वार्थानुमान' कहते हैं।

८ : परार्थ अनुमान, अनुमिति और तर्कका स्वरूप

जहाँ दो पुरुषोंका विवाद हो, उनमेंसे एक तो कहे कि पर्वतमें वह्नि अनुमान-प्रमाणसे निर्णीत है परन्तु दूसरा इससे इंकारी हो, वहाँ वह्नि-निश्चयवाला पुरुष अपने प्रतिवादीकी निवृत्तिके लिये जो वाक्य-प्रयोग करता है उसको 'परार्थानुमान' कहते हैं। वेदान्त-मतमें ऐसे वाक्यके तीन अवयव होते हैं, (१) प्रतिज्ञा, (२) हेतु और (३) उदाहरण। जैसे (१) पर्वतो वह्निमान् (२) धूमात् (३) यो यो धूमवान् सोऽग्निमान् यथा महानसः, इतना महावाक्य है। इसमें तीन अवान्तर वाक्य हैं, उनके प्रतिज्ञादि नाम क्रमसे ऊपर कहे गये हैं। वह इस प्रकार—

(१) साध्यविशिष्ट पक्षका बोधक वाक्य 'प्रतिज्ञा-वाक्य' कहा जाता है। वह 'पर्वतो वह्निमान्' इतना वाक्य है, अर्थात् 'वह्निविशिष्ट पर्वत है' इस वाक्यसे ऐसा बोध होता है। यहाँ 'वह्नि' तो साध्य है और 'पर्वत' पक्ष है, क्योंकि अनुमितिका जो विषय होता है वह 'साध्य' कहा जाता है, यहाँ अनुमिति का विषय वह्नि है इसलिये वह साध्य है।

यद्यपि 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसी अनुमिति होती है और उसका विषय पर्वत भी होता है, इसलिये वह भी साध्य कहा जाना चाहिये। तथापि वेदान्त-मतमें 'पर्वतो वह्निमान्' चाहे यह ज्ञान एक ही है, परन्तु 'पर्वत' अंशमें तो यह इन्द्रियजन्य है और 'वह्नि' अंशमें धूम-ज्ञानरूप अनुमानजन्य है, इसलिये एक ज्ञानमें भी चाक्षुषता और अनुमितिता दो धर्म रहते हैं। वहाँ चाक्षुषताअंशकी विषयता तो पर्वतमें है और अनुमितिता-अंशकी विषयता वह्निमें है, इसलिये अनुमितिका विषय पर्वत नहीं किन्तु केवल वह्नि ही है। जिस अधिकरणमें साध्यकी जिज्ञासा होकर साध्यका अनुमितिरूप निश्चय हो जाय वह 'पक्ष' कहाता है, यहाँ ऐसा पर्वत है।

(२) प्रतिज्ञा-वाक्यके पश्चात् जो लिङ्ग का बोधक वचन, वह 'हेतु-वाक्य' कहलाता है। ऐसा वाक्य 'धूमात्' है। यद्यपि 'धूमात्' व 'धूमेन' इन दोनोंका एक ही अर्थ है; तथापि 'धूमेन' ऐसा वाक्य सम्प्रदायसिद्ध नहीं, ऐसा अवयवग्रन्थमें श्री भट्टाचार्यने लिखा है, इसलिये 'धूमात्' वाक्य ही हेतु वाक्य कहा जाता है।

(३) हेतु व साध्यका सहचार-बोधक जो दृष्टान्तप्रतिपादक वचन, वह 'उदाहरण-वाक्य' कहलाता है। जहाँ वादी-प्रतिवादीका विवाद न रहे, किन्तु दोनोंका निर्णीत अर्थ रहे उसको 'दृष्टांत' कहते हैं, ऐसा महानस है।

इस प्रकार प्रतिज्ञादि तीनों वाक्योंके समुदायरूप महावाक्यसे विवादकी निवृत्ति हो जाती है। यदि इस प्रकार महावाक्य सुनकर भी प्रतिवादी ऐसा आग्रह करे कि 'यद्यपि महानसादिमें वह्निका सहचारी धूम है, परन्तु पर्वतमें तो वह्निका व्यभिचारी ही धूम है इसलिये पर्वतमें धूम ही है वह्नि नहीं। इस प्रकार प्रतिवादी का आग्रह तथा व्यभिचारकी शंका हो तो तर्कसे उसके आग्रह व शंकाकी निवृत्ति की जाती है। अनिष्ट आपादनको तर्क कहते हैं। वह इस प्रकार कि 'यदि पर्वतमें वह्निविना ही धूम रहता हो तो धूम वह्निका कार्य नहीं रहेगा, क्योंकि

कारणविना कार्य नहीं रहता ।' इसको तर्क कहते हैं और इससे धूममें वह्निका व्यभिचार-सन्देह निवृत्त हो जाता है । क्योंकि वह्नि-धूमका कारण-कार्यभाव तो इष्ट है परन्तु उसका अभाव अनिष्ट है, इसलिये कारण-कार्यभावका भंग 'आपादन' कहा जाता है और वह कारण-कार्यभावका भंग अनिष्ट रूप ही है, इष्ट नहीं । इसलिये अनिष्टका आपादनरूप 'तर्क' कहाता है । इस तर्कसे प्रतिवादीकी शंका व आग्रहकी निवृत्ति होती है, क्योंकि वह्नि-धूमका कारण-कार्यभाव दोनोंको ही इष्ट है और उसका भंग दोनोंको ही अनिष्ट है । यदि धूममें वह्निका व्यभिचार कहा जाय तो अनिष्टकी सिद्धि होगी, इसलिये इस अनिष्टके भयसे प्रतिवादी धूममें वह्निका व्यभिचार कथन करनेका साहस नहीं कर सकता ।

इस प्रकार इन तीनों अवयवोंके समुदायरूप महावाक्यको 'परार्थानुमान' कहते हैं, उसके अनन्तर जो अनुमिति हो वह 'परार्थानुमिति' कही जाती है । अनुमान-प्रमाणसे निर्णय करने पर भी यदि व्यभिचार-शंका हो तो वह तर्कसे निवृत्त होती है, इसलिये तर्क अनुमान-प्रमाणका सहकारी है ।

९ : वेदान्त-मतमें तर्कसहित परार्थानुमानका स्वरूप

वेदान्त-वाक्योंसे जीवमें ब्रह्मका अभेद निर्णीत है । वह अभेद अनुमान-प्रमाणसे भी इस प्रकार सिद्ध होता है—

(१) जीवो ब्रह्माभिन्नः, (२) चेतनत्वात्, (३) यत्र यत्र चेतनत्वं तत्र तत्र ब्रह्माभेदः, यथा ब्रह्मणि (चेतनरूप होनेसे जीव ब्रह्मसे अभिन्न है, ब्रह्मकी भाँति जहाँ-जहाँ चेतनत्व है वहाँ-वहाँ ब्रह्मका अभेद है) ।

इन तीन अवयवोंका समुदायरूप यह महावाक्य है, इसलिये यह परार्थानुमान कहलाता है । यहाँ 'जीव' पक्ष है, 'ब्रह्माभेद' साध्य है, 'चेतनत्व' हेतु है और 'ब्रह्म' दृष्टांत है । अर्थात् 'जीवो ब्रह्माभिन्नः' यह प्रतिज्ञा-वाक्य है, 'चेतनत्वात्' यह हेतु-वाक्य है और 'यत्र यत्र चेतनत्वं

तत्र तत्र ब्रह्माभेदः, यथा ब्रह्मणि' यह उदाहरण-वाक्य है। यदि प्रतिवादी यहाँ ऐसा कहे कि जीवमें चेतनत्वरूप हेतु तो है, परन्तु ब्रह्माभेदरूप साध्य नहीं है। इस रीतिसे यदि वह जीवरूप पक्षमें ब्रह्माभेदरूप साध्यसे चेतनत्व-रूप हेतुके व्यभिचारकी शंका करे तो तर्कसे उस शंकाकी निवृत्ति करनी चाहिये। उस तर्कका स्वरूप यह है—

यदि जीवमें चेतनत्वरूप हेतु मानकर भी ब्रह्माभेदरूप साध्य न माना जाय तो चेतनको अद्वितीय प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिसे विरोध होगा, क्योंकि अनिष्टका आपादनरूप तर्क, अर्थात् श्रुतिका विरोध सभी आस्तिकोंके लिये अनिष्टरूप ही है। दूसरा दृष्टांत यह है—

'व्यावहारिकप्रपञ्चो मिथ्या, ज्ञाननिवर्त्यत्वात्, यत्र यत्र ज्ञाननि-वर्त्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वं, यथा शुक्तिरजतादौ।' (ज्ञानसे निवर्त्य होनेसे व्यावहारिक प्रपञ्च मिथ्या है, क्योंकि जहाँ-जहाँ ज्ञानसे निवर्त्यत्व होता है वहाँ-वहाँ शुक्तिमें रजतादिकी भाँति मिथ्यात्व ही होता है।)

यहाँ 'व्यावहारिक प्रपञ्च' पक्ष है, 'मिथ्यात्व' साध्य है, 'ज्ञाननिवर्त्यता' हेतु है और 'शुक्ति-रजतादि' दृष्टान्त है। इस स्थलमें 'व्यावहारिकप्रपञ्चो मिथ्या' यह प्रतिज्ञा-वाक्य है, 'ज्ञाननिवर्त्यत्वात्' यह हेतु-वाक्य है और 'यत्र यत्र ज्ञाननिवर्त्यत्वं तत्र तत्र मिथ्यात्वं यथा शुक्तिरजतादौ' यह उदाहरणवाक्य है। यहाँ भी यदि प्रतिवादी प्रपञ्चमें ज्ञाननिवर्त्यता मानकर उसमें मिथ्यात्व नहीं माने तो 'सत्की ज्ञानसे निवृत्ति नहीं होती केवल मिथ्याकी ही ज्ञानसे निवृत्ति सम्भव है, इसलिये ज्ञानसे सकल प्रपञ्चकी निवृत्ति प्रतिपादन करनेवाली श्रुति-स्मृतिसे विरोध होगा।' इस तर्कसे व्यभिचार-शंकाकी निवृत्ति होती है।

१० : वेदान्तमें अनुमानका प्रयोजन

इस प्रकार यद्यपि वेदान्त-अर्थके अनुसार अनेक अनुमान हैं; तथापि वेदान्त-वाक्योंसे जो अद्वितीय ब्रह्मका निश्चय हुआ है, उससे जीव-ब्रह्मके

अभेदकी असम्भावनाकी निवृत्ति और सम्भावनामात्रकी सिद्धिका ही हेतु अनुमान-प्रमाण है। स्वतन्त्र अनुमान-प्रमाण ब्रह्म-साक्षात्कारका हेतु नहीं होता, क्योंकि वेदान्त-वाक्यके सिवा अन्य किसी भी प्रमाणकी ब्रह्म में प्रवृत्ति नहीं है, यह सिद्धांत है।

संक्षेपसे यह अनुमान-प्रमाणका वर्णन किया गया।

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें अनुमान-प्रमाण-निरूपणं नामक
द्वितीय प्रकाश समाप्त हुआ ॥

तृतीय प्रकाश

शब्द-प्रमाण-निरूपण

१ : शाब्दी-प्रमाका भेद

शाब्दी-प्रमाके करणको 'शब्द-प्रमाण' कहते हैं । शाब्दी-प्रमा दो प्रकारकी होती है, एक व्यावहारिक और दूसरी पारमार्थिक । व्यावहारिक शाब्दी-प्रमा भी दो प्रकारकी होती है, उनमें एक लौकिक-वाक्यजन्य होती है और दूसरी वैदिक-वाक्यजन्य । जैसे 'नीलो घटः' यह तो लौकिक वाक्य है और 'वज्रहस्तः पुरंदरः' (वज्र जिसके हाथमें है वह इन्द्र है) यह वैदिक वाक्य है । पदोंके समुदायका नाम 'वाक्य' है और अर्थवाला जो वर्ण अथवा वर्णोंका समुदाय वह 'पद' कहा जाता है । जैसे अकारादि वर्ण भी 'विष्णु' आदि अर्थवाले हैं, और 'नारायण' आदि पदोंमें जो वर्णोंका समुदाय वह भी अर्थवाला ही है । व्याकरणकी रीतिसे 'नीलो घटः' इस वाक्यमें दो पद हैं, परन्तु न्यायकी रीतिसे इसमें चार पद हैं । यद्यपि व्याकरणके मतसे भी अर्थबोधकता तो चारोंके समुदायमें ही है, परन्तु पद चार नहीं दो ही हैं ।

२ : शाब्दी-प्रमाका प्रकार

शाब्दी-प्रमाका प्रकार यह है—

'नीलो घटः' जब इस वाक्यका श्रवण हो तब श्रोताको वाक्यके सभी पदोंका श्रवण-साक्षात्कार होता है और पदोंके साक्षात्कारसे पदार्थोंकी स्मृति होती है । यहाँ ऐसी शंका होती है—

पदोंका अनुभव पदोंकी स्मृतिका हेतु है और पदार्थोंका अनुभव पदार्थोंकी स्मृतिका हेतु है । पदोंका साक्षात्कार पदार्थोंकी स्मृतिका

हेतु बन नहीं सकता। क्योंकि जिस वस्तुका पूर्व अनुभव हुआ हो उसीकी स्मृति होती है, अन्यके अनुभवसे अन्यकी स्मृति हो नहीं सकती। इसलिये पदोंके ज्ञानसे पदार्थकी स्मृति बन नहीं सकती।

इसका समाधान यह है—

यद्यपि संस्कारद्वारा पदार्थका अनुभव ही पदार्थकी स्मृतिका हेतु होता है; तथापि स्मृति सदैव उद्भूत संस्कारोंसे ही होती है अनुद्भूत संस्कारोंसे कदापि नहीं। यदि अनुद्भूत संस्कारोंसे भी स्मृति होती हो तो अनुभूत पदार्थकी सदा ही स्मृति होती रहनी चाहिये। वहाँ पदार्थोंके संस्कारोंके उद्भवका हेतु पद-ज्ञान ही है, क्योंकि संस्कारोंका उद्बोध सम्बन्धीके ज्ञानसे, अथवा सादृश्य पदार्थके ज्ञानसे, अथवा चिंतनसे ही होता है। जैसे जहाँ पुत्रको देखकर पिताकी और पिताको देखकर पुत्रकी स्मृति होती है, वहाँ तो सम्बन्धीका ज्ञान ही संस्कारोंके उद्बोधका हेतु होता है। तैसे ही जहाँ एक तपस्वीको देखकर पूर्व देखे हुए अन्य तपस्वीकी स्मृति होती है, वहाँ सादृश्य-ज्ञान ही संस्कारोंका उद्बोधक होता है और जहाँ एकान्त बैठकर अनुभूत पदार्थका चिंतन किया जाय, वहाँ चिंतन ही संस्कारोंका उद्बोधक होता है। इस प्रकार स्मृतिके हेतु उद्बुद्ध संस्कार तथा पूर्व अनुभव, ये दो ही होते हैं। उनमेंसे उपर्युक्त सम्बन्धी-ज्ञान, सादृश्य-ज्ञान एवं चिन्तन तो संस्कारोंके उद्बोधद्वारा स्मृतिके हेतु होते हैं और पूर्व अनुभव संस्कारोंकी उत्पत्तिद्वारा स्मृतिका हेतु बनता है। इस प्रकार पदार्थोंका पूर्व अनुभव तो पदार्थविषयक संस्कारोंकी उत्पत्ति करके पदार्थोंकी स्मृतिका हेतु होता है और पदार्थोंके सम्बन्धी जो पद हैं उनका ज्ञान संस्कारोंको उद्बोध करके पदार्थकी स्मृतिका हेतु बनता है। इस प्रकार पदोंके ज्ञानसे पदार्थकी स्मृति सम्भव होती है। जहाँ एक सम्बन्धी के ज्ञानसे अन्य सम्बन्धीकी स्मृति होती है, वहाँ जिसको दोनों पदार्थोंके सम्बन्धका ज्ञान हो उसको ही एकके ज्ञानसे दूसरेकी स्मृति हो सकती है। परन्तु जिसको दोनोंके सम्बन्धका ज्ञान ही न हो उसको एकके ज्ञानसे दूसरेकी स्मृति भी नहीं होती। जैसे पिता-पुत्रका जनक-जन्यभाव

सम्बन्ध है, जिसको इन दोनोंके ऐसे सम्बन्धका ज्ञान हो उसको ही एकके ज्ञानसे दूसरेकी स्मृति होती है। परन्तु जिसको इन दोनोंके जनक-जन्यभाव सम्बन्धका ज्ञान ही न हो उसको एकके ज्ञानसे दूसरेकी स्मृति भी नहीं होती। तैसे ही पद व अर्थका परस्पर जो सम्बन्ध है उसको 'वृत्ति' कहते हैं, इस प्रकार वृत्तिरूप जो पद व अर्थका सम्बन्ध है उसका जिसको ज्ञान हो उसको ही पदके ज्ञानसे अर्थकी स्मृति होती है। परन्तु जिसको इस प्रकार पद व अर्थके सम्बन्धका ज्ञान न हो उसको पदके ज्ञानसे भी अर्थकी स्मृति नहीं होती। अतः सिद्ध हुआ कि वृत्तिसहित पदका ज्ञान पदार्थकी स्मृतिका हेतु है।

३ : शब्दकी शक्तिवृत्तिका कथन

वह वृत्ति दो प्रकारकी होती है, उनमें एक शक्तिरूप वृत्ति और दूसरी लक्षणारूप वृत्ति कहलाती है। न्याय-मतमें ईश्वरकी इच्छाको 'शक्ति' कहा गया है। मीमांसाके मतमें 'शक्ति' नामका कोई भिन्न पदार्थ है। व्याकरण व पातञ्जल-मतमें वाच्य-वाचकभावका मूल जो पद-अर्थका तादात्म्य-सम्बन्ध, उसीको 'शक्ति' माना गया है। विचार-सागरमें व्याकरणके मतसे जो योग्यतारूप शक्ति लिखी गई है वह भूषण-कारका मत है, क्योंकि व्याकरणके मंजूषा ग्रन्थमें योग-भाष्यकी रीतिसे वाच्य-वाचकभावके मूल तादात्म्य-सम्बन्धको ही 'शक्ति' कहा गया है। परन्तु वेदांत-सिद्धांतमें तो सर्वत्र अपना कार्य करनेकी सामर्थ्यका नाम ही 'शक्ति' है। जैसे तन्तुमें पट और वह्निमें दाह करनेकी जो सामर्थ्य है उसे शक्ति कहते हैं, तैसे ही पदोंमें अपने अर्थके ज्ञानकी जो सामर्थ्य है वह शक्ति कहाती है। हाँ, इतना भेद है कि वह्नि आदि पदार्थोंमें जो दाह करनेकी सामर्थ्यरूप शक्ति है उसमें तो ज्ञानकी अपेक्षा नहीं, वह शक्ति चाहे ज्ञात हो अथवा अज्ञात, दोनों ही स्थलोंमें वह्नि आदिसे दाहादि कार्य सिद्ध होता है। परन्तु शक्तिवृत्तिके सम्बन्धमें तो यदि पदकी शक्तिका ज्ञान हो तब तो अर्थकी स्मृतिरूप कार्यकी सिद्धि होती है और इसके विना

अर्थकी स्मृति असम्भव ही रहती है। इससे यह सिद्ध हुआ कि पदकी सामर्थ्यरूप शक्ति ज्ञात होनेपर ही पदार्थकी स्मृतिरूप कार्य सिद्ध होता है।

(शङ्का)—जहाँ अतीत पदकी स्मृति होती है वहाँ पदके स्मरणरूप ज्ञानसे ही अर्थकी स्मृति हुआ करती है, वह न होनी चाहिये। क्योंकि सामर्थ्यरूप शक्तिवाले पदका वर्तमानमें ध्वंस हो चुका, इसलिये अर्थकी स्मृतिका हेतु जो पद था उसका वर्तमानमें अभाव है।

(समाधान)—(१) मीमांसा-मतमें सभी पद नित्य हैं, उनका उत्पत्ति-नाश नहीं होता, इसलिये पदका ध्वंस नहीं बनता। इसके विपरीत यदि पदोंको अनित्य माना जाय तो यह समाधान है—

(२) पदार्थस्मृतिकी सामर्थ्य पदमें नहीं है, किन्तु पदज्ञानमें ही पदार्थ-स्मृतिकी शक्ति है। इसलिये जहाँ पदका ध्वंस हुआ है वहाँ भी वर्तमानमें पदका स्मरणरूप ज्ञान तो है ही और जहाँ वर्तमान पद है वहाँ तो पदका श्रवण-साक्षात्काररूप ज्ञान ही है, उन ज्ञानोंमें पदार्थकी स्मृतिकी सामर्थ्य है और वही शक्ति है। इस पक्षमें शक्तिमत् पद नहीं किन्तु पद-ज्ञान है, यह पक्ष श्रीगदाधर भट्टाचार्यने शक्तिवाद ग्रन्थमें ज्ञानशक्तिवाद नामसे लिखा है।

इस प्रकार पदकी सामर्थ्य वा पद-ज्ञानकी सामर्थ्य 'शक्ति' कही जाती है। प्रथम पक्षके अनुसार 'पद शक्तिवाला है' इस व्यवहारकी सिद्धिके लिये यदि पदका धर्म शक्तिअपेक्षित ही माना जाय तो द्वितीय पक्षके अनुसार जिस पदका ज्ञान जिस अर्थकी स्मृतिमें समर्थ माना गया है, प्रथम पक्षके अनुसार उस पदकी उस अर्थमें शक्ति मान लेनी चाहिये।

४ : शाब्दी-प्रमाकी रीतिपूर्वक शक्तिविषय विवाद

इस प्रकार शक्तिसहित पद-ज्ञानसे पदार्थकी स्मृति होती है। जितने पदार्थोंकी स्मृति होती है, पदोंके साथ उतने पदार्थोंके सम्बन्धका ज्ञान अथवा सम्बन्धसहित उतने पदार्थोंका ज्ञान 'वाक्यार्थ-ज्ञान' कहलाता है और उसीको 'शाब्दी-प्रमा' कहते हैं। जैसे 'नीलो घटः' यह वाक्य है,

इसमें चार पद इस प्रकार हैं—(१) 'नील' पद, (२) 'ओकार' पद, (३) 'घट' पद और (४) 'विसर्ग (:)' पद। वहाँ (१) 'नील' पदकी नीलरूपविशिष्टमें शक्ति है। (२) 'ओकार' पद निरर्थक है, यह वार्ता व्युत्पत्तिवादादि ग्रन्थोंमें स्पष्ट है अथवा 'ओकार' पदका अभेद अर्थ है। (३) 'घट' पदकी घटत्वविशिष्टमें शक्ति है। (४) 'विसर्ग (:)' पदकी एकत्वसंख्यामें शक्ति है। शक्तिका ज्ञान कोश व व्याकरणादिसे होता है। नील-पीतादि पदोंकी वर्णमें अथवा वर्णवालेमें शक्ति होती है, ऐसा कोशमें कहा गया है। विसर्गकी एकत्व-संख्यामें शक्ति है, ऐसा व्याकरणसे जाना जाता है। 'घट' पदकी घटत्वविशिष्टमें शक्ति है, ऐसा व्याकरण और शक्तिवादादि तर्कग्रन्थोंमें कहा गया है। न्यायसूत्रमें तो श्रीगौतमने यह कहा है—

"सभी पदोंकी शक्ति आकृति, जाति एवं व्यक्तिमें ही होती है। वहाँ अवयवोंके संयोगको 'आकृति' कहते हैं। अनेक पदार्थोंमें नित्य रहने-वाले एक धर्मको 'जाति' कहा जाता है, जैसे अनेक घटोंमें नित्य व एक धर्म घटत्व है वह जाति है। जातिके आश्रयको 'व्यक्ति' कहते हैं। इस मतमें 'घट' पदकी शक्ति कपालसंयोगसहित घटत्वविशिष्ट घटमें है।"

श्रीदीधितिकार शिरोमणि भट्टाचार्यके मतमें सभी पदोंकी शक्ति व्यक्तिमात्रमें ही है, जाति व आकृतिमें नहीं। इस मतमें 'घट' पदका वाच्य केवल घट-व्यक्ति है, घटत्व अथवा कपालसंयोग नहीं, क्योंकि जिस पदकी जिस अर्थमें शक्ति होती है उस पदका वही अर्थ वाच्य व शक्य कहलाता है। यहाँ 'घट' पदकी केवल व्यक्तिमें शक्ति होनेसे केवल घट-व्यक्ति ही वाच्य व शक्य है। इस मतमें ऐसी शंका होती है—

(शंका)—'घट' पदके उच्चारणसे घटत्वकी, 'गो' पदके उच्चारणसे गोत्वकी और 'ब्राह्मण' पदके उच्चारणसे ब्रह्मणत्वकी जो प्रतीति होती है, वह आपके मतसे न होनी चाहिये, क्योंकि लक्षणाविना पदसे अवाच्य-अर्थकी प्रतीति नहीं होती, यह नियम है। यदि लक्षणाविना पदसे अवाच्य-अर्थकी भी प्रतीति मानी जाय तो जिस प्रकार 'घट' पदके अवाच्य

घटत्वकी घट-पदसे प्रतीति मानी गई, उसी प्रकार 'घट' पदसे घट-पदके अवाच्य पटादिकी भी प्रतीति होनी चाहिये ।

उक्त श्रीदीधितिकार शिरोमणि भट्टाचार्यके मतमें इस शंकाका समाधान इस प्रकार है—

(समाधान)—पदसे वाच्य और वाच्यवर्ति जो जाति उन दोनोंकी प्रतीति होती है । इसलिये यह नियम है कि पदसे जातिभिन्न अवाच्यकी प्रतीति नहीं होती, परन्तु वाच्यवर्ति जो जाति वह तो अवाच्य भी प्रतीत होती है । इसीलिये घटादि पदोंसे घटत्वादि तो अवाच्य भी प्रतीत होते हैं, परन्तु अवाच्य पटादि प्रतीत नहीं होते । इस मतमें पुनः इस प्रकार शंका होती है—

(शंका)—यदि आप पदोंसे वाच्यवर्ति अवाच्य जातिकी प्रतीति मान लेते हैं तो 'घट' पदसे पृथ्वीत्व जातिकी भी प्रतीति माननी चाहिये। क्योंकि 'घट' पदके वाच्यमें जैसे घटत्व-जाति रहती है तैसे ही पृथ्वीत्व-जाति भी रहती है, इसलिये दोनों वाच्यवर्ति हैं और अवाच्य हैं । अतः 'घट' पदसे घटत्वके समान पृथ्वीत्वकी भी प्रतीति माननी चाहिये । इसी प्रकार 'गो' पदकेवाच्य गौमें गोत्वकी तरह पशुत्व भी रहता है तथा 'ब्राह्मण' पदमें ब्राह्मणत्वकी तरह मनुष्यत्व भी रहता है । इसलिये 'गो' पदका अवाच्य पशुत्व तथा 'ब्राह्मण' पदका अवाच्य मनुष्यत्व भी प्रतीत होना चाहिये, क्योंकि वे भी अपने-अपने वाच्यवर्ति ही हैं । उक्त मतकी ओरसे इस शंकाका समाधान इस प्रकार है—

(समाधान)—पदसे वाच्यकी और वाच्यतावच्छेदक जो अवाच्य जाति, उसकी ही प्रतीति होती है अन्य की नहीं । जैसे 'घट' पदका वाच्य जो घट-व्यक्ति और वाच्यतावच्छेदक जो घटत्व-जाति उन दोनोंकी ही 'घट' पदसे प्रतीति होती है । 'घट' पदका पृथ्वीत्व न वाच्य है और न वाच्यतावच्छेदक ही है, इसलिये 'घट' पदसे पृथ्वीत्वकी प्रतीति नहीं हो सकती । जो वाच्यतासे न्यूनवर्ति और अधिकवर्ति न हो, किन्तु जितने देशमें वाच्यता हो उतने ही देशमें रहे वह 'वाच्यतावच्छेदक' कहा जाता

है । इस प्रकार 'घट' पदकी वाच्यता सकल घट-व्यक्तिमें है और घटत्व भी सकल घट-व्यक्तिमें रहता है, इसलिये 'घट' पदकी वाच्यतासे घटत्व न्यून व अधिकवर्ति नहीं है, किंतु समानदेशवर्ति होनेसे घटत्व 'घट' पदका वाच्यतावच्छेदक है । इस प्रकार 'घट' पदका वाच्यतावच्छेदक पृथ्वीत्व नहीं, क्योंकि पृथ्वीसे उत्पन्न होनेके कारण पृथ्वीत्व तो पटमें भी है, इसलिये अधिकवर्ति होने से 'घट' पदका वाच्यतावच्छेदक पृथ्वीत्व नहीं किन्तु घटत्व ही है । इसी प्रकार 'गो' पदकी वाच्यता सकल गो-व्यक्तिमें है और गोत्व भी सकल गो-व्यक्तिमें रहता है, इसलिये 'गो' पदका वाच्यतावच्छेदक गोत्व ही है, पशुत्व नहीं । क्योंकि पशुत्व तो अश्वमें भी रहता है इसलिये 'गो' पदकी वाच्यतासे अधिकवर्ति होनेके कारण 'गो' पदका वाच्यतावच्छेदक पशुत्व नहीं हो सकता । इसी प्रकार 'ब्राह्मण' पदका वाच्यतावच्छेदक ब्राह्मणत्व ही जान लेना चाहिये, मनुष्यत्व नहीं । इस रीतिसे घटादि पदोंसे घटत्वादिकी ही प्रतीति होती है और यद्यपि शक्ति न होनेसे घटादि पदोंके घटत्वादि वाच्य नहीं भी हैं तथापि वाच्यतावच्छेदक तो हैं ही । ऐसा श्रीदीधितिकार शिरोमणि भट्टाचार्यका मत है ।

इसके विपरीत मीमांसाका मत यह है कि घटादि पदोंकी जातिमात्रमें ही शक्ति है व्यक्तिमें नहीं । इस मतमें ऐसी शंका उपस्थित होती है—

(शंका)—जिस पदकी शक्तिका जिस अर्थमें ज्ञान होता है, उस पदसे उसी अर्थकी स्मृति होकर शाब्दी-प्रमाकी उत्पत्ति होती है । यदि पदकी शक्ति व्यक्तिमें न हो तो पदकी शक्तिविना पदसे व्यक्तिकी स्मृति और शाब्दी-प्रमा न होनी चाहिये ।

इस शंकाका मीमांसा-मतमें यह समाधान है—

(समाधान)—यद्यपि शब्द-प्रमाणसे जातिका ही ज्ञान होता है; तथापि अर्थापत्ति-प्रमाणसे व्यक्तिका भी ज्ञान होता है । जैसे दिनमें अभोजी पुरुषमें स्थूलता रात्रिभोजनविना सम्भव नहीं होती, तैसे ही व्यक्ति-विना केवल जातिमें क्रिया असम्भव ही है, इसलिये अर्थापत्ति-प्रमाणसे

व्यक्तिका बोध होता है। 'गामानय' अर्थात् 'गौको लाओ'। इस वाक्यसे यद्यपि गोत्वके आनयनका ही बोध होता है, परन्तु गो-व्यक्तिके आनयनविना वह बनता नहीं है, क्योंकि क्रिया व्यक्तिमें ही होती है जातिमें नहीं। इसलिये अर्थापत्ति-प्रमाणसे गो-व्यक्तिका आनयन सम्पादक है और गोत्वका आनयन सम्पाद्य। क्योंकि संपादक-ज्ञानके हेतु सम्पाद्य-ज्ञानको 'अर्थापत्ति-प्रमाण' कहते हैं। यहाँ सम्पादक व्यक्तिका ज्ञान प्रमा है और सम्पाद्य जातिका ज्ञान प्रमाण। यह मीमांसक श्रीभट्टका मत है।

कोई जाति-शक्तिवादी व्यक्तिका बोध अनुमान-प्रमाणसे मानते हैं, वह ग्रन्थान्तरमें स्पष्ट है, परन्तु प्रसंग कठिन होनेसे यहाँ लिखा नहीं गया। सारांश यह कि केवल जातिमें ही शक्ति माननेवालोंके मतमें व्यक्तिका बोध शब्द-प्रमाणसे नहीं होता, किन्तु अर्थापत्ति अथवा अनुमान-प्रमाणसे ही होता है। इसके विपरीत कोई ग्रन्थकार जातिमें पदकी कुब्ज-शक्ति मानते हैं, उनके मतमें व्यक्तिका ज्ञान भी शब्द-प्रमाणसे ही होता है। उनका अभिप्राय यह है—

सभी पदोंकी शक्ति तो यद्यपि जातिविशिष्ट व्यक्तिमें ही है परन्तु जिसको जातिमें पदकी शक्तिका ज्ञान हो उसको ही अर्थकी स्मृति और शाब्द-बोध होता है, अन्यको नहीं। जैसे 'घट' पदकी शक्ति तो घटत्वमें ही है, इस प्रकार जातिमें शक्तिका ज्ञान पदार्थकी स्मृति और शाब्द-बोधका हेतु होता है। परन्तु व्यक्तिमें शक्तिका ज्ञान उपयुक्त नहीं और व्यक्ति अनन्त हैं इसलिये सकल व्यक्तियोंका ज्ञान सम्भव भी नहीं होता। इस कारणसे व्यक्तिमें शक्ति तो स्वरूपसे पदार्थकी स्मृति और शाब्द-बोधका हेतु होती है, परन्तु उसका ज्ञान हेतु नहीं होता। इस प्रकार 'घट' पदकी घटत्वविशिष्टमें शक्ति होनेसे 'घट' पदके वाच्य तो घटत्व व घट दोनों ही हैं, परन्तु 'घट' पदके वाच्य जो घटत्व व घट, उनके शाब्द-बोधका हेतु तो घटत्वमें शक्तिका ज्ञान ही है। इस पक्षको कुब्जशक्तिवाद कहते हैं। श्री गदाधर भट्टाचार्यने शक्तिवादके अंतमें कुब्जशक्तिवादका अन्य प्रकारसे वर्णन किया है वह कठिन है, इसलिये यहाँ नहीं लिखा गया। उनके मतमें

घटादि पदोंसे जैसे जातिविशिष्ट व्यक्तिका बोध होता है, तैसे व्यक्तिमें जातिका जो समवाय-सम्बन्ध उसका भी बोध होता है। इसलिये घटादि पदोंकी शक्ति जाति, व्यक्ति और सम्वन्ध, इन तीनों में ही है।

सारांश, सभी मतोंमें घटादि पदोंकी शक्ति जातिविशिष्ट व्यक्तिमें है, इस मतको बहुतसे ग्रन्थकारोंने स्वीकार किया है। इसलिये 'घट' पदकी घटत्वविशिष्टमें ही शक्ति कही गई है।

५ : वाक्यका भेद

'नीलके अभेदवाला एक घट है' यह 'नीलो घटः' वाक्यका अर्थ है। इसी प्रकार 'वज्रहस्तः पुरंदरः' यह वैदिक वाक्य है। जैसे 'नीलो घटः' वाक्यमें 'नील' पद विशेषणबोधक और 'घट' पद विशेष्य-बोधक है, तैसे ही 'वज्रहस्तः' विशेषण-बोधक और 'पुरंदरः' विशेष्य-बोधक है। यहाँ विशेषण पदके आगे विसर्ग (:) निरर्थक अथवा अभेदार्थक है और विशेष्य-पदके आगे विसर्ग (:) का एकत्व अर्थ है। अर्थात् 'वज्रहस्तके अभेदवाला एक पुरंदर है' यह पूरे वाक्यका अर्थ है। इस प्रकार लौकिक व वैदिक वाक्योंकी रीति समान है। परन्तु वैदिक वाक्य दो प्रकार के होते हैं, एक व्यावहारिक अर्थके बोधक हैं और दूसरे परमार्थ तत्त्वके बोधक। ब्रह्मसे भिन्न सभी व्यावहारिक अर्थ कहा जाता है, परन्तु ब्रह्मको परमार्थ-तत्त्व कहते हैं। ब्रह्मबोधक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं, उनमेंसे एक जो तत्पदार्थ × अथवा त्वंपदार्थ × के स्वरूपके बोधक हैं, वे 'अवांतर-वाक्य' कहे जाते हैं। जैसे 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त-स्वरूप है) यह वाक्य तत्पदार्थके स्वरूपका बोधक है और 'य एष हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' (जो यह हृदयके अन्तर ज्योतिःस्वरूप पुरुष है) यह वाक्य त्वंपदार्थके स्वरूपका बोधक है। दूसरे ब्रह्मबोधक वाक्य वे हैं जो तत्पदार्थ और त्वंपदार्थके अभेदको बोधन करते हैं, वे 'तत्त्वमसि' आदि 'महावाक्य' कहे जाते हैं।

× 'तत्' पदका वाच्य ईश्वर और 'त्वं' पदका वाच्य जीव है।

६ : शब्दकी शक्ति व लक्षणा-वृत्तिका संक्षेपसे कथन

जिस पदकी जिस अर्थमें वृत्ति हो, उस पदसे उसी अर्थकी प्रतीति होती है, यह पूर्व कथन किया गया। वहाँ वृत्ति 'शक्ति' एवं 'लक्षणा' के भेदसे दो प्रकारकी होती है।

(१) ईश्वरकी इच्छा, अथवा वाच्य-वाचकभावका मूल तादात्म्य-सम्बन्ध, अथवा पदार्थ-बोधका हेतु सामर्थ्यका नाम 'शक्ति' है। जिस अर्थमें पदकी शक्ति हो, वह अर्थ उस पदका 'शक्य' कहलाता है।

(२) शक्य-सम्बन्धको 'लक्षणा' कहते हैं। जैसे 'गंगायां ग्रामः' (गंगामें ग्राम है), यहाँ 'गंगा' पदकी शक्ति प्रवाहमें है, इसलिये प्रवाह 'गंगा' पदका शक्य है और उस प्रवाहसे तीरका संयोग-सम्बन्ध है। इस प्रकार पदका अर्थसे जो परम्परासम्बन्ध, वह 'लक्षणा' कही जाती है। जैसे 'गंगा' पदका तीरसे जो परम्परा सम्बन्ध है, वही 'गंगा' पदकी तीरमें लक्षणा है, क्योंकि साक्षात् सम्बन्धवालेसे जो सम्बन्ध, वह 'परम्परा सम्बन्ध' कहलाता है। यहाँ 'गंगा' पदका शक्तिरूप सम्बन्ध तो प्रवाहसे है और प्रवाहसे तीरका संयोग है, इसलिये 'गंगा' पदका तीरसे अपने शक्यके संयोग द्वारा परम्परा सम्बन्ध है, वही लक्षणा कही जाती है। इसलिये यह सिद्ध हुआ—

जिस पदका जिस अर्थसे शक्तिरूप साक्षात् सम्बन्ध हो, वह अर्थ उस पदका 'शक्य' कहाता है और जिस पदके शक्यका जिस अर्थसे सम्बन्ध हो वह अर्थ उस पदका 'लक्ष्य' कहा जाता है। जैसे 'गंगा' पदका शक्य जो प्रवाह उसका तीररूप अर्थसे संयोग-सम्बन्ध है, इसलिये 'गंगा' पदका शक्य तो प्रवाह है और तीर लक्ष्य है।

इस प्रकार पदका अर्थसे साक्षात् सम्बन्ध और परम्परा सम्बन्धके भेदसे वृत्ति दो प्रकारकी है। जिस पुरुषको जिस पदकी वृत्ति अज्ञात हो, उस पुरुषको उस पदका श्रवण-साक्षात्कार होनेपर भी पदार्थकी स्मृति और

शाब्द-बोध नहीं होता। इसलिये शक्ति व लक्षणारूप वृत्तिका ज्ञान पदार्थकी स्मृति व शाब्द-बोधका हेतु होता है।

७ : वाक्यार्थ-ज्ञानका क्रम

शाब्द-बोधका क्रम इस प्रकार है—

जिस पुरुषको पदकी वृत्ति ज्ञात हो, उस पुरुषको प्रथम तो वाक्यके सकल पदोंका श्रवणसाक्षात्कार होता है, फिर जिस पदकी जिस अर्थमें पूर्व वृत्ति जानी हो उस पदसे उस अर्थकी स्मृति होती है। तदनन्तर परस्पर सम्बन्धवाले सकल पदार्थोंका ज्ञान, अथवा सकल पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धका ज्ञान, वाक्यार्थ-ज्ञान होता है। जैसे 'गामानय त्वं' इस वाक्यमें गो आदि पद हैं, वहाँ पुरुषको प्रथम उनकी अपने-अपने अर्थमें वृत्तिका ऐसा ज्ञान होना चाहिये—

(१) 'गो' पदकी गोत्वविशिष्ट पशुविशेषमें शक्ति है। (२) द्वितीया विभक्तिकी कर्मतामें शक्ति है। (३) 'आ' पूर्व 'नी' पदकी आनयनमें शक्ति है। (४) यकारोत्तर अकारकी कृति एवं प्रेरणामें शक्ति है। (५) 'त्वं' पदकी सम्बोधनयोग्य चेतनमें शक्ति है।

इस प्रकार शक्ति-ज्ञानवाले पुरुषको 'गामानय त्वं' इस वाक्यका श्रोत्रसे सम्वन्ध होते ही 'गो' आदि सकल पदोंका श्रवण-साक्षात्कार होकर उन पदोंके शक्यरूप अर्थकी स्मृति होती है। जैसे हस्ति-पालकके ज्ञानसे उसके सम्बन्धी हस्तिकी स्मृति होती है, तैसे ही पदोंके ज्ञानसे उनके सम्बन्धी शक्यार्थकी स्मृति होती है। 'यह हस्ति-पालक है' ऐसा हस्ति और महावतके सम्बन्धका जिसको ज्ञान न हो, किन्तु 'यह मनुष्य है' इतना ही ज्ञान हो, उसको हस्ति-पालकको देखकर भी हस्तिकी स्मृति नहीं होती। इसी प्रकार इस पदका यह शक्य है अथवा यह लक्ष्य है, ऐसा शक्ति व लक्षणारूप सम्बन्धका जिसको पूर्व ज्ञान न हो, किन्तु अज्ञात अर्थवाले पदोंका श्रवण-साक्षात्कार ही हो, उसको पदोंके श्रवणसे भी अर्थोंकी स्मृति नहीं होती। इसलिये वृत्तिसहित पदका ज्ञान ही पदार्थ-स्मृतिका हेतु होता है, केवल

पद-ज्ञान हेतु नहीं । पदोंके ज्ञानसे सकल पदार्थोंकी स्मृति होकर फिर सकल पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धका ज्ञान होता है । अथवा प्रथम पदोंके ज्ञानसे परस्पर सम्बन्धरहित जिन पदार्थोंकी स्मृति हुई है, तदनन्तर सम्बन्ध-सहित उन पदार्थोंका ज्ञान होता है, वह पदार्थोंके सम्बन्धका ज्ञान अथवा सम्बन्धसहित पदार्थोंका ज्ञान 'वाक्यार्थ-ज्ञान' कहलाता है और उसीको 'शाब्दी-प्रमा' कहते हैं ।

'गामानय त्वं' इस वाक्यमें गो-पदार्थका द्वितीयार्थ कर्मतामें आधेयता-सम्बन्ध है, आधेयताको वृत्तित्व भी कहते हैं । 'आ' पूर्व 'नी' के अर्थ आनयनमें कर्मताका निरूपकता-सम्बन्ध है । यकारोत्तर अकारके 'कृति' व 'प्रेरणा' दो अर्थ हैं । वहाँ कृतिमें आनयनका अनुकूलता-सम्बन्ध है और कृतिका त्वं-पदार्थमें आश्रयता-सम्बन्ध है तथा प्रेरणाका त्वं-पदार्थमें विषयता-सम्बन्ध है । इस प्रकार 'गोवृत्तिकर्मतानिरूपक आनयनानुकूल-कृत्याश्रयः प्रेरणाविषयः त्वंपदार्थः' ऐसा वाक्य-ज्ञान श्रोताको होता है । इस स्थल में वृत्तिविशिष्ट सकल पदोंका ज्ञान तो 'शब्द-प्रमाण' है, पदोंके ज्ञानसे उनके अर्थकी स्मृति 'व्यापार' है और वाक्यार्थ-ज्ञान 'शाब्दी-प्रमा' व फल है ।

इस प्रकार यद्यपि लौकिक व वैदिक वाक्योंसे सभी स्थानोंमें पदार्थोंके सम्बन्धका अथवा सम्बन्धसहित पदार्थोंका बोधरूप ही फल होता है । तथापि यदि महावाक्योंसे भी त्वं-पदार्थके सम्बन्धी तत्-पदार्थका और तत्-पदार्थके सम्बन्धी त्वं-पदार्थका ही बोध माना जाय तो 'असंगो ह्ययं पुरुषः' (यह पुरुष निश्चित रूपसे असंग है) ऐसा जो श्रुतिवचनोंने वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्मको असंगरूप कथन किया है, उसका बाध होगा । इसलिये महावाक्य तो पदार्थोंके सम्बन्धका अथवा सम्बन्धसहित पदार्थोंका बोधन नहीं करते, किन्तु केवल अखण्ड ब्रह्मका ही प्रतिपादन करते हैं । महावाक्य किस प्रकार अखण्ड अर्थके बोधक हैं, वे दृष्टांत 'संक्षेप शारीरक' में स्पष्ट हैं, उनको यहाँ विस्तारभयसे नहीं लिखा गया ।

८ : लक्षणाका प्रकार

महावाक्योंमें जो लक्षणाका प्रकार है वह विचार-सागरमें स्पष्ट किया गया है, उसे वहाँ जान लेना चाहिये। पदके शक्यसे सम्बन्धको लक्षणा कहते हैं, इसलिये पदका परम्परा सम्बन्धरूप लक्षणा होती है। क्योंकि पदका साक्षात् सम्बन्ध तो शक्यसे होता है और उस शक्यका लक्ष्यसे सम्वन्ध होता है, इसलिये पदके शक्यद्वारा सम्बन्ध होनेसे परम्परा सम्बन्धरूप 'लक्षणा-वृत्ति' कहाती है। इसीलिये ग्रन्थकारोंने लक्षणावृत्तिको जघन्य कहा है। जहाँ पदका साक्षात् सम्बन्धरूप शक्ति-वृत्तिका संभव न हो, वहाँ परम्परा सम्बन्धरूप लक्षणावृत्तिका अंगीकार किया जाता है। इसीलिये ग्रन्थकारोंने यह लिखा है कि जहाँ वक्ताका शक्यार्थमें तात्पर्य सम्भव न हो वहाँ लक्षणा-वृत्ति मानकर पदका लक्ष्यार्थ मानना योग्य है। परन्तु जहाँ वक्ताका तात्पर्य शक्यार्थमें संभव हो वहाँ लक्ष्यार्थ मानना योग्य नहीं। केवल-लक्षणा और लक्षित-लक्षणाके भेदसे लक्षणा दो प्रकारकी होती है, वह इस प्रकार—

(१) जहाँ पदके शक्यसे साक्षात् सम्बन्ध हो वहाँ तो 'केवल-लक्षणा' कही जाती है। जैसे 'गंगा' पदकी तीरमें लक्षणा होती है, यहाँ 'गंगा' पदका शक्य जो प्रवाह है उसका तीरसे साक्षात् संयोग-सम्बन्ध है, इसलिये 'गंगा' पदकी तीरमें केवल-लक्षणा है।

(२) लक्षित-लक्षणाका उदाहरण यह है—'द्विरेफो रौति' उपर्युक्त वाक्यका पदोंकी शक्तिसे तो 'दो रेफ ध्वनि करते हैं' यही अर्थ बनता है। वहाँ वर्णरूप रेफमें तो ध्वनि करना असम्भव ही है, इसलिये यह जाना जाता है कि वक्ताका तापर्त्य शक्यार्थमें नहीं है। किन्तु दो रेफवाला जो भ्रमर-पद, उस भ्रमर-पदके शक्यमें 'द्विरेफ' पदकी लक्षणा है। यह केवल-लक्षणा तो है नहीं, क्योंकि पदके शक्यार्थसे जिसका साक्षात् सम्बन्ध हो उसमें ही केवल-लक्षणा होती है। परन्तु यहाँ 'द्विरेफ' पदका शक्य तो 'दो रेफ' अर्थात्

'दो रकार' हैं, उन दो रेफोंका लक्षणाद्वारा अवयविता-सम्बन्ध भ्रमर-पदमें है और उस 'भ्रमर' पदकी शक्ति-वृत्ति अपने वाच्य 'मधुप' में है। इस प्रकार 'द्विरेफ' पदका शक्य जो दो रेफ, उस दो रेफका लक्ष्य जो 'भ्रमर' पद, उसका शक्य जो 'मधुप' उस मधुपमें द्विरेफका लक्षणाद्वारा परम्परासम्बन्ध होनेसे यह लक्षित-लक्षणा कही जाती है।

यद्यपि 'द्विरेफ' दो रेफोंको नहीं कहा जाता है, किन्तु 'द्विरेफ' दो रेफ-वालेको कहते हैं और दो रेफवाला भ्रमर-पद है ही। इसलिये 'द्विरेफ' पदका शक्य जो 'भ्रमर' पद उसका मधुपसे साक्षात् सम्बन्ध होनेसे शक्यसम्बन्धी केवल-लक्षणा ही सम्भव हो सकती है। तथापि व्याकरण-मतमें तो यद्यपि समासकी शक्ति मानी गई है, इसलिये 'द्विरेफ' पदका शक्य दो रेफ-वाला भ्रमर-पद बनता है, परन्तु न्याय-वैशेषिकादिके मतमें समासकी शक्ति नहीं मानते हैं। किन्तु वे समास-समुदायके पदरूप जो अवयव हैं, उन अवयवोंकी लक्षणा-वृत्तिसे समाससे अधिक अर्थमें प्रतीति मानते हैं। जैसे 'द्विरेफ' इतना समास-समुदाय है, उसकी किसी भी अर्थमें शक्ति नहीं है। अर्थात् द्वित्व-संख्याविशिष्ट 'द्वि' पदका अर्थ है, रेफत्व-जाति-विशिष्ट अक्षर 'रेफ' पदका अर्थ है और 'द्वि' पदके शक्यका एवं 'रेफ' पदके शक्यका अभेद-सम्बन्ध है—यदि इतना ही वाक्यार्थ हो तो 'द्वित्व संख्यावाले रेफ हैं' यही 'द्विरेफ' पदका शक्यार्थ है। परन्तु 'दो रेफवाले पदको द्विरेफ कहते हैं' वह तो उनके मतसे लक्षणा-वृत्ति मानकर ही कहा जा सकता है। परन्तु इतना भेद है कि न्यायवैशेषिकमतमें लक्षणा पदकी ही मानी जाती है, वाक्यकी नहीं। क्योंकि शक्यके सम्बन्धको ही लक्षणा कहा गया है, परन्तु पदोंके समुदायरूप वाक्यकी तो पदोंको छोड़कर किसी अर्थमें शक्ति ही नहीं होती, इसलिये वाक्यके शक्यका अभाव होनेसे वाक्यकी शक्य-सम्बन्धरूप लक्षणा नहीं बनती, किन्तु पदकी ही लक्षणा होती है। इस मतमें 'रेफ' पदकी 'रेफवाले' में लक्षणा है, परन्तु मीमांसा तथा वेदान्त-मतमें वाक्यकी भी लक्षणा मानते हैं और न्याय-वैशेषिकने वाक्यकी लक्षणामें जो दोष कथन किया है उसका वे इस प्रकार समाधान करते हैं—

पदसमुदायको ही वाक्य कहते हैं, वह समुदाय प्रत्येक पदसे भिन्न नहीं है, इसलिये पदोंका शक्य ही वाक्यका शक्य है । अथवा शक्य-सम्बन्धको ही लक्षणा नहीं कहा जाता, किन्तु बोध्य-सम्बन्धको भी लक्षणा कहना चाहिये । जैसे पदका शक्य शक्ति-वृत्तिसे बोध्य है, तैसे ही पदोंका परस्पर सम्बन्धसहित पदार्थरूप अथवा पदार्थोंका परस्पर सम्बन्धरूप जो वाक्यार्थ वह भी वाक्य-बोध्य ही है । इसलिये जिस प्रकार पदोंकी पद-बोध्य-सम्बन्धरूप लक्षणा होती है, उसी प्रकार वाक्यकी वाक्यबोध्य-सम्बन्धरूप लक्षणा भी होती है । इस मतमें भी 'द्विरेफ' पदके समुदायरूप वाक्यकी दो रेफवाले पदमें लक्षणा ही है ।

इस रीतिसे 'द्विरेफ' पदसे अथवा वाक्यसे लक्षित 'भ्रमर' पदकी मधुपमें लक्षित-लक्षणा तो कहाती है, परन्तु वास्तवमें वह भी लक्षणाके अन्तर्भूत ही है। क्योंकि 'द्विरेफ' पदका शक्य जो दो रेफ उसका 'भ्रमर' पदसे साक्षात् सम्बन्ध है और 'भ्रमर' पदद्वारा मधुपसे परम्परा सम्बन्ध है, इसलिये शक्यसम्बन्धरूप लक्षणासे लक्षित-लक्षणा पृथक् नहीं । व्याकरणमतमें तो 'द्विरेफ' पदका शक्य दो रेफवाला भ्रमर-पद ही है और उसका तो मधुपसे साक्षात् सम्बन्ध है ही । इसलिये इस मतमें तो यह उदाहरण लक्षित-लक्षणाका नहीं, किन्तु केवल लक्षणाका ही है। इस मतमें लक्षित-लक्षणाका उदाहरण 'सिंहो देवदत्तः' इत्यादि हैं। इस स्थानमें 'देवदत्त सिंहसे अभिन्न हैं' ऐसा पदोंकी शक्ति-वृत्तिसे वाक्यका अर्थ प्रतीत होता है, सो असम्भव है । क्योंकि पशुत्व-जाति और मनुष्यत्व-जाति परस्पर विरुद्ध हैं, वे दोनों एकमें सम्भव नहीं होतीं । इसलिये 'सिंह' पदकी शूरता-क्रूरता-धर्मविशिष्ट पुरुषमें लक्षणा है । उस पुरुषसे 'सिंह' पदके शक्यका साक्षात् सम्बन्ध न होनेसे यहाँ केवल-लक्षणा तो हो नहीं सकती । किन्तु 'सिंह' पदके शक्यसे तो शूरता-क्रूरतादिका आधेयता-सम्बन्ध है और शक्यवर्ति शूरतादिका पुरुषमें आश्रयता-सम्बन्ध है । यदि सिंह और पुरुषकी शूरताका अभेद माना जाय, तब तो सिंहकी शूरताका देवदत्तमें अधिकरणता-

सम्बन्ध मानना होगा। यदि दोनों शूरताओंका परस्पर भेद माना जाय तो सिंहकी शूरताका पुरुषमें स्वसजातीय-शूरताधिकरणता-सम्बन्ध मानना होगा। यहाँ सिंहकी शूरता स्व-शब्दका अर्थ है। इस प्रकार शक्यका परम्परासम्बन्ध होनेसे 'सिंह' पदकी शूरतादि-गुणविशिष्ट पुरुषमें लक्षित-लक्षणा है, क्योंकि शक्यके परम्परा-सम्बन्धको ही लक्षित-लक्षणा कहा गया है।

यद्यपि 'लक्षित-लक्षणा' पदसे उक्त अर्थकी सिद्धि भी क्लिष्ट है। क्योंकि न तो कोशादिमें ही 'लक्षित-लक्षणा' पदकी शक्यके परम्परा सम्बन्धमें ऐसी रूढिका कथन किया है और न योग-वृत्तिसे ही 'लक्षित-लक्षणा' पदका उक्त अर्थ प्रतीत होता है। क्योंकि 'योग' अथवा 'रूढि' से ही पदार्थका बोध होता है। यहाँ योग-वृत्तिसे 'लक्षितस्य लक्षणा'= लक्षित-लक्षणा, इस रीतिसे यदि षष्ठी-तत्पुरुष-समास करें तब तो 'लक्षित अर्थात् लक्षणा-वृत्तिसे जो प्रतीत हुआ है उसकी 'लक्षणा' ऐसा 'लक्षित-लक्षणा' पदका अर्थ सिद्ध होता है। परन्तु 'द्विरेफो रौति' 'सिंहो देवदत्तः' इत्यादि जो लक्षित-लक्षणाके उदाहरण ऊपर कहे गये हैं, वहाँ तो लक्षित-लक्षणाका उक्त स्वरूप सम्भव नहीं होता। क्योंकि 'द्विरेफो रौति' इस वाक्यमें यदि 'द्विरेफ' पदसे 'भ्रमर' पद लक्षित हो और फिर उसकी मधुपमें लक्षणा हो तब उक्त अर्थ सम्भव हो सकता है। परन्तु यहाँ तो दोनों बातें ही नहीं हैं, क्योंकि यहाँ यद्यपि 'द्विरेफ' पदके शक्यका 'भ्रमर' पदसे सम्बन्ध तो है, परन्तु 'द्विरेफ' पदसे 'भ्रमर' पद लक्षित नहीं। क्योंकि जो शक्यसम्बन्धी हो और वक्ताके तात्पर्यका विषय भी हो, वही लक्षित कहलाता है, केवल शक्य-सम्बन्धी ही लक्षित नहीं होता, यदि केवल शक्य-सम्बन्धी-को ही लक्षित माना जाय तो 'गंगा' पदके शक्यके सम्बन्धी अनेक मीनादि भी हैं, वे सभी 'गंगा' पदसे लक्षित होने चाहिये। इसीलिये वक्ताके तात्पर्यका विषय हो और शक्यसम्बन्धी हो वही लक्षित कहा जाता है। 'गंगा' पदके शक्यके सम्बन्धी तो अनेक हैं, फिर भी 'गंगायां ग्रामः' इस वाक्यमें श्रोताको 'गंगा' पदसे तीरका बोध हो जाय, ऐसा वक्ताका तात्पर्य-

विषयक और शक्यसम्बन्धी केवल तीर ही है, इसलिये 'गंगा' पदसे तीर ही लक्षित है। यद्यपि मीनादि भी शक्यसम्बन्धी तो हैं, परन्तु वे वक्ताके उक्त तात्पर्यके विषय नहीं, इसलिये मीनादि 'गंगा' पदसे लक्षित भी नहीं। इसी प्रकार यद्यपि 'द्विरेफ' पदके शक्यका भ्रमर-पद सम्बन्धी तो है, परन्तु 'द्विरेफ' पदसे श्रोताको भ्रमर-पदका बोध हो, ऐसा भ्रमर-पद वक्ताके तात्पर्यका विषय नहीं। किन्तु 'द्विरेफ' पदसे श्रोताको 'भ्रमर' पदके शक्य मधुपका बोध हो, ऐसा ही वक्ताके तात्पर्यका विषय होता है। इसलिये यद्यपि 'द्विरेफ' पदके शक्यका सम्बन्धी तो 'भ्रमर' पद है, परन्तु वह वक्ताके उक्त तात्पर्यका विषय न होनेसे 'द्विरेफ' पदसे लक्षित नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार 'भ्रमर-पद द्विरेफ-पदसे लक्षित है' ऐसा मान भी लिया जाय तो 'भ्रमर' पदकी मधुपमें शक्ति ही है, उसकी मधुपमें लक्षणा-कथन तो सर्वथा असंगत ही है। इस प्रकार षष्ठीसमासका अर्थ तो उक्त उदाहरणमें सम्भव नहीं होता।

इसी प्रकार 'सिंहो देवदत्तः' इस उदाहरणमें भी उक्त अर्थका सम्भव नहीं है। यद्यपि सिंहवर्ति शूरतादि 'सिंह' पदके शक्यके सम्बन्धी तो हैं, परन्तु 'सिंह' पदसे श्रोताको शूरतादिका बोध हो, ऐसा वे वक्ताके तात्पर्यके विषय नहीं हैं। किंतु 'सिंह' पदसे श्रोताको सिंहसदृश पुरुषका बोध हो, ऐसा ही वक्ताके तात्पर्यका विषय होता है। इसलिये शूरतादि-गुण शक्य-सम्बन्धी होते हुए भी उक्त तात्पर्यका विषय न होनेसे 'सिंह' पदसे लक्षित नहीं बनते। यदि किसी प्रकार शूरतादि-गुणोंको 'सिंह' पदसे लक्षित मान भी लिया जाय, फिर भी इन शूरतादि-गुणोंकी लक्षणा कहना तो सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि 'शक्ति' अथवा 'लक्षणा' वर्णात्मक पदोंकी ही होती है, परन्तु यहाँ शूरतादि-गुण पदरूप नहीं हैं, किन्तु वे गुण हैं, इसलिये गुणोंकी शक्ति अथवा लक्षणा असम्भव है। 'लक्षितस्य भ्रमरपदस्य लक्षणा लक्षितलक्षणा' अथवा 'लक्षितस्य शूरतादिगुणसमुदायस्य लक्षणा लक्षित-लक्षणा' इस प्रकार 'लक्षितलक्षणा' पदका अर्थ षष्ठीसमास मानकर ही होता है। परन्तु 'लक्षितलक्षणा' पदसे उक्त प्रकार शक्यके परम्परा-

सम्बन्धका इस अर्थमें बोध नहीं होता, क्योंकि यद्यपि पूर्वोक्त दोनों उदाहरणोंमें शक्यका परम्परासम्बन्ध तो मधुप और पुरुषमें है, परन्तु जैसा ऊपर विवेचन किया गया है वैसा 'लक्षितलक्षणा' पदका यौगिक अर्थ सम्भव नहीं होता ।

यद्यपि ऐसा है; तथापि जैसा नीचे स्पष्ट किया जाता है इस वक्ष्यमाण रीतिसे षष्ठीसमास मानकर भी 'लक्षितलक्षणा' पदका यौगिक अर्थ शक्यका परम्परासम्बन्ध ही सम्भव हो जाता है । उसका विचार इस प्रकार है—

यद्यपि 'लक्षित' पदका अर्थ 'वक्ताके तात्पर्यका विषय और शक्य-सम्बन्धी' ही है; तथापि भाग-त्यागलक्षणाद्वारा 'वक्तृतात्पर्यविषय' इतना भाग त्यागकर यहाँ 'लक्षित' पदका अर्थ केवल 'शक्यसम्बन्धी' ही ग्रहण किया जा सकता है । तैसे 'लक्षणा' पदका अर्थ जो 'शक्यसम्बन्ध' है, उसमेंसे 'शक्य' भाग त्यागकर सम्बन्धमात्र ग्रहण हो सकता है । इस प्रकार भागत्याग-लक्षणाद्वारा ऐसा मान लेनेपर यौगिक वृत्तिसे ही 'लक्षित' पदका अर्थ 'शक्य-सम्बन्धी' और 'लक्षणा' पदका अर्थ 'सम्बन्ध' अर्थात् 'शक्य-सम्बन्धीका सम्बन्ध' 'लक्षितलक्षणा' पदका इतना ही अर्थ सिद्ध हो जाता है । अथवा 'लक्षित' पदकी तो शक्य-सम्बन्धीमें भाग-त्यागलक्षणा है और 'लक्षणा' पदका 'शक्य-सम्बन्ध' ही अर्थ है उसकी सम्बन्ध-मात्रमें भाग-त्यागलक्षणा नहीं ।

इस प्रकार भाग-त्याग-लक्षणाद्वारा 'लक्षितलक्षणा' पदका षष्ठी-तत्पुरुष-समास मानकर भी यौगिक अर्थकी सिद्धि हो जाती है । इसके साथ ही यदि 'लक्षितलक्षणा' पदका तृतीय-तत्पुरुष-समास मानकर 'लक्षितेन लक्षणा = लक्षित-लक्षणा' ऐसा अर्थ किया जाय तब तो इष्ट अर्थकी ही सिद्धि हो जाती है । आशय यह कि 'लक्षितेन' अर्थात् शक्यसम्बन्धी-द्वारा, 'लक्षणा' अर्थात् शक्य-सम्बन्ध, तब 'शक्य-सम्बन्धीद्वारा शक्यका सम्बन्ध' ऐसा अर्थ है । वहाँ शक्यका सम्बन्ध कहीं तो साक्षात् होता है और कहीं शक्य-सम्बन्धीद्वारा शक्यका सम्बन्ध है । 'द्विरेफो रौति' इस स्थानमें 'द्विरेफ' पदका शक्य जो दो रेफ, उनका मधुपसे साक्षात् सम्बन्ध

नहीं, किन्तु शक्य-सम्बन्धी जो भ्रमर-पद उसके द्वारा मधुपसे सम्बन्ध है। इसी प्रकार 'सिंह' पदके शक्यके सम्बन्धी जो शूरतादिगुण, उनके द्वारा 'सिंह' पदके शक्यके सम्बन्धी शूरतादिगुणविशिष्ट पुरुषमें सम्बन्ध है। इस प्रकार 'सिंह' पदका 'लक्षित' अर्थात् शक्य-सम्बन्धी जो शूरतादि-गुण, उनके द्वारा 'लक्षणा' अर्थात् 'सिंह' पदके शक्यका सम्बन्ध पुरुषमें है। अतः षष्ठीसमास माननेमें तो 'लक्षितलक्षणा' पदोंमें भाग-त्याग-लक्षणा माननी होती है, परन्तु तृतीयासमास मान लेनेपर तो 'लक्षितलक्षणा' पदका मुख्य अर्थ ही रहता है। इसके साथ यदि 'लक्षितलक्षणा' पदमें कर्मधारय-समास मान लिया जाय तब तो इन दोनों अर्थात् 'लक्षित' और 'लक्षणा' पदोंका मुख्य यौगिक अर्थ ही सिद्ध हो जाता है और भाग-त्याग-लक्षणाका कोई प्रयोजन नहीं रहता। अपने अवयवोंकी शक्तिसे जो पद अपने अर्थको जनावे उसको 'यौगिक पद' कहते हैं। जैसे 'पाचक' पद है, वहाँ 'पाच्' अवयवका 'पाक' अर्थ है और 'अक' अवयवका 'कर्ता' अर्थ है। इस प्रकार अपने अवयवशक्तिसे 'पाचक' पदका अर्थ पाक-कर्ता होनेसे 'पाचक' पद यौगिक है। शास्त्रका असाधारण संकेत 'परिभाषा' कहलाता है और परिभाषासे अर्थका बोधक पद 'पारिभाषिक पद' कहा जाता है। तैसे यहाँ 'लक्षित' पदके 'लक्ष्' और 'इत्' दो अवयव हैं, उनमें 'लक्ष्' का 'अर्थ' 'लक्षण' और 'इत्' का अर्थ 'सम्बन्धी' है। इसलिये 'लक्षणसम्बन्धी अर्थका बोधक' ऐसा 'लक्षित' पद यौगिक है और 'लक्षणवाला' लक्षित-पदका अर्थ है। तैसे ही जो शक्य-सम्बन्धका नाम 'लक्षणा' है वह तो शास्त्रका संकेत है, इसलिये परिभाषारूप 'लक्षणा' पद शक्य-सम्बन्धरूप अर्थका बोधक होनेसे पारिभाषिक है। इस प्रकार 'लक्षिता चासौ लक्षणा = लक्षितलक्षणा' ऐसा कर्मधारय-समासका रूप बनता है और 'लक्षणवाली लक्षणा' ऐसा कर्मधारय-समाससे अर्थकी सिद्धि होती है। वहाँ असाधारण धर्मको 'लक्षण' कहते हैं और शक्य-सम्बन्धको 'लक्षणा' कहते हैं। इस रीतिसे लक्षणाका असाधारण धर्म शक्य-सम्बन्धत्व है और वही उसका लक्षण है। यद्यपि शक्यका सम्बन्ध साक्षात् एवं परम्पराभेदसे दो प्रकारका होता है;

तथापि बहुत स्थानोंमें 'शक्यका साक्षात् सम्बन्ध' रूप ही लक्षणा कही गई है। यद्यपि 'द्विरेफो रौति' 'सिंहो देवदत्तः' इन दोनों स्थानोंमें शक्यका साक्षात् सम्बन्ध नहीं भी है; तथापि लक्षणाका असाधारण धर्म 'शक्य-सम्बन्धत्व' ही है। अर्थात् लक्षणाके लक्षणमें साक्षात्पन प्रविष्ट नहीं है और जहाँ शक्यका परम्परासम्बन्ध होता है वहाँ भी शक्य-सम्बन्धत्वरूप स्वलक्षणवाली ही लक्षणा होती है। यद्यपि 'गंगायां ग्रामः' इस उदाहरणमें शक्यका साक्षात् सम्बन्धरूप ही लक्षणा है; तथापि सम्बन्धका साक्षात्पन लक्षणाके लक्षणमें प्रविष्ट नहीं है, किन्तु 'साक्षात्परम्परासाधारण-सम्बन्ध-त्वरूप' सम्बन्धमात्र ही लक्षणाके लक्षणमें प्रविष्ट है। इसीलिये 'शक्य-सम्बन्धो लक्षणा' ऐसा ही कहा गया है, 'शक्य-साक्षात्सम्बन्धो लक्षणा' ऐसा नहीं कहा गया। इस प्रकार 'लक्षिता' अर्थात् 'शक्यसम्बन्धत्वरूप स्वलक्षणवाली लक्षणा' 'लक्षितलक्षणा' पदका यही अर्थ होता है और वह परम्परा-सम्बन्ध-स्थलमें भी घटता है। यद्यपि 'लक्षितलक्षणा' पदका उक्त अर्थ साक्षात् सम्बन्ध-स्थलमें भी सम्भव होता है, इसलिये वहाँ भी लक्षितलक्षणा कहनी चाहिये, तथापि 'लक्षिता चासौ लक्षणा=लक्षितलक्षणा' इस कथनका अभिप्राय यह है कि 'शक्यसाक्षात्त्वविशिष्टसम्बन्धत्वरहिता केवल शक्यसम्बन्धत्वरूप लक्षणवती लक्षणा लक्षितलक्षणा' अर्थात् शक्यके साक्षात्त्वविशिष्ट सम्बन्धसे रहित केवल शक्यसम्बन्धत्वरूप लक्षणवाली लक्षणाको लक्षितलक्षणा कहा जाता है। इसमें केवल लक्षणाका संग्रह नहीं होता। यह कर्मधारय-समासकी रीति प्रदर्शित की गई।

९ : शब्दकी तृतीय गौणी-वृत्तिका कथन

कई ग्रन्थोंमें ऐसा लिखा है कि 'सिंहो देवदत्तः' इत्यादि वाक्योंमें 'सिंहादि' पद गौणी-वृत्तिसे पुरुषादिके बोधक हैं। उनके मतमें जैसे पदकी वृत्ति शक्ति व लक्षणा होती है तैसे ही तीसरी गौणी-वृत्ति भी होती है। अर्थात् पदके शक्यार्थमें जो गुण हो उस गुणवाले अशक्यार्थमें पदकी गौणी-वृत्ति कहाती है। जैसे 'सिंह' पदके शक्यमें शूरतादि गुण हैं,

उन गुणोंवाला जो 'सिंह' पदका अशक्य पुरुष, उसमें 'सिंह' पदकी गौणी-वृत्ति है।

वास्तवमें वह पूर्व प्रकारसे लक्षणाके अंतर्भूत ही है।

१० : चतुर्थी व्यञ्जना-वृत्तिका कथन

अलंकार-ग्रन्थोंमें चतुर्थी व्यञ्जना-वृत्ति लिखी गई है, उसका उदाहरण यह है—शत्रुके गृहमें भोजनके निमित्तसे प्रवृत्त होनेवाले पुरुषको यदि दूसरा पुरुष ऐसा वचन कहे कि 'विषंभुंक्ष्व' वहाँ शक्ति-वृत्तिसे 'विष खा' ऐसा वाक्यार्थ होता है। इससे वक्ताका तात्पर्य भोजनसे निवृत्त करनेमें है। वह इस वाक्यमें भोजनमें शक्तिवाले जो पद हैं उनका भोजनके अभावमें सम्बन्धका अभाव होनेसे इन पदोंकी लक्षणा भी नहीं बनती। इसलिये शत्रु-गृहसे भोजननिवृत्ति वाक्यका व्यंग्य-अर्थ है। व्यञ्जना-वृत्तिसे जो अर्थ प्रतीति हो उसे 'व्यंग्य-अर्थ' कहते हैं।

इसका दूसरा उदाहरण यह है कि संध्या कालमें किसीने अनेक पुरुषोंको अपने-अपने भिन्न-भिन्न कार्योंमें प्रवृत्त करानेके लिये 'सूर्योस्तं गतः' (सूरज छुप गया) ऐसा वाक्य उच्चारण किया। उसको सुनकर वे नाना पुरुष उस कालमें अपने-अपने कर्तव्यको जानकर प्रवृत्त हो जाते हैं। वहाँ अनेक पुरुषोंको अपने नाना कर्तव्योंका बोध व्यञ्जना-वृत्तिसे होता है। इस प्रकार व्यञ्जना-वृत्तिके अनेक उदाहरण श्रीमम्मट गोविन्द भट्ट आदिने काव्यप्रकाश व काव्यप्रदीप आदि ग्रन्थोंमें लिखे हैं। वे बहुत उदाहरण श्रृंगार-रसके हैं, इसलिये यहाँ नहीं लिखे गये। न्याय-ग्रन्थोंमें व्यंजना-वृत्तिका भी लक्षणा-वृत्तिमें अन्तर्भाव ही कहा गया है और जो आलंकारिक पद हैं उनके विषयमें न्यायका यह कथन है—

"शक्य-सम्बन्धी अर्थका तो लक्षणा-वृत्तिसे बोध संभव है ही। यदि ऐसा कहा जाय कि 'शक्यार्थके असम्बन्धी अर्थमें लक्षणा असम्भव है, इसलिये पदसे उसकी प्रतीतिके लिये व्यञ्जना-वृत्ति माननी चाहिये'— उसका हमारे मतमें यह समाधान है कि साक्षात् एवं परम्परा भेदसे सम्बन्ध

दो प्रकारके होते हैं। उनमें परस्पर साक्षात्-सम्बन्ध तो किसी-किसीका ही होता है, सबका नहीं और परस्पर परम्परा-सम्बन्ध तो सभी पदार्थोंका सम्भव होता है। बहुत क्या कहा जाय, गोत्वअश्वत्वका भी परस्पर 'व्यधिकरणता-सम्बन्ध' है। घटाभाव व घटका यद्यपि परस्पर विरोध है तो भी घटमें घटाभावका 'प्रतियोगिता-सम्बन्ध' है और घटका अपने अभावमें 'स्ववृत्ति-प्रतियोगितानिरूपकता-सम्बन्ध' है। इस प्रकार सभी पदार्थोंका परस्पर परम्परा-सम्बन्ध सम्भव होता है। इसलिये व्यंग्य-अर्थ भी शक्य-सम्बन्धी होनेसे लक्ष्यके अन्तर्भूत ही हैं।"

इस प्रकार व्यञ्जना न मानकर लक्षणा-वृत्ति माननेमें न्यायका मत है। यद्यपि व्यञ्जना-वृत्तिका प्रतिपादन श्रीजयराम भट्टाचार्यादिने काव्यप्रकाश और उसकी टीकामें तथा श्रीनागोजी भट्टने काव्यप्रदीप और उसकी टीका उद्योतनमें लिखे हैं; तथापि न्याय-ग्रन्थोंमें उनका खण्डन किया गया है। व्याकरण ग्रन्थोंमें इसका कहीं खण्डन और कहीं प्रतिपादन किया गया है। परन्तु अद्वैत-सिद्धान्तमें तो इसके खण्डन अथवा प्रतिपादनका कोई आग्रह नहीं है, इसलिये इसके प्रतिपादनकी रीतिमात्र जनाई गई है।

११ : लक्षणाके भेदका कथन

इस प्रकार शक्ति व लक्षणा दो वृत्ति सभी मतोंमें हैं और महावाक्यके अर्थ-निरूपणमें भी दोका ही उपयोग है। उन दोमेंसे शक्ति-वृत्तिका निरूपण किया गया और शक्यके साक्षात् व परम्परा-सम्बन्धके भेदसे केवल-लक्षणा व लक्षित-लक्षणारूप दो भेद लक्षणाके कहे गये। अब जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और भाग-त्यागलक्षणा, इन भेदोंसे पुनः तीन प्रकारकी लक्षणा इस प्रकार है—

(१) जहाँ शक्यकी प्रतीति न हो, किन्तु केवल शक्य-सम्बन्धीकी ही प्रतीति हो वहाँ जहल्लक्षणा होती है। जैसे 'विषं भुंक्ष्व' इस स्थानमें शक्य जो विषभोजन, उसको त्यागकर शक्य-सम्बन्धी जो भोजन-निवृत्ति,

उसकी प्रतीति होनेसे यहाँ जहल्लक्षणा है। यद्यपि जहाँ पदके शक्यार्थका सम्बन्ध सम्भव न हो वहीं जहल्लक्षणाका अंगीकार होता है। जैसे 'गंगायां ग्रामः' इस स्थानमें पदोंके शक्यार्थोंका परस्पर अन्वयरूप सम्बन्ध सम्भव नहीं होता और 'विषं भुंक्ष्व' इस स्थानमें तो शक्यार्थोंका अन्वय सम्भव होता है। क्योंकि यद्यपि विष मारणका हेतु भी है तो भी विषका भोजनमें अन्वय तो हो ही सकता है, परन्तु 'गंगायां ग्रामः' इस वाक्यका तो अन्वय ही नहीं होता। तथापि लक्षणामें अन्वयानुपपत्ति बीजरूप नहीं है, किन्तु तात्पर्यानुपपत्ति ही बीज है, ऐसा ग्रन्थकारोंने कहा है। इसका भाव यह है कि 'अन्वय' अर्थात् शक्यार्थका सम्बन्ध, उसकी 'अनुपपत्ति' अर्थात् असम्भवता जहाँ हो वहीं लक्षणा होती है, ऐसा नियम नहीं है। जो ऐसा ही नियम हो तो 'यष्टीः प्रवेशय' (लकडीको प्रवेश करो) इस वाक्यमें 'यष्टी' पदकी जो यष्टीधरमें लक्षणा होती है, वह न होनी चाहिये; क्योंकि 'यष्टी' पदके शक्यका प्रवेशमें अन्वय सम्भव है। इसलिये तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणामें बीज मानना चाहिये, अन्वयानुपपत्ति नहीं। तात्पर्यानुपपत्तिकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है—

'तात्पर्य' अर्थात् वाक्य-कर्ताकी इच्छा, उसकी अनुपपत्ति अर्थात् शक्यार्थमें असम्भवता, लक्षणा माननेका यही बीज अर्थात् हेतु है। यहाँ 'यष्टीः प्रवेशय' इस वाक्यमें तात्पर्यानुपपत्ति है, क्योंकि यष्टी प्रवेशरूप जो शक्यार्थ, उसमें भोजनके समय वक्ताका तात्पर्य नहीं हो सकता। इसलिये 'यष्टी' पदकी यष्टीधर पुरुषमें लक्षणा होती है। तैसे ही पिताका तापर्त्य मरणहेतु विष-भोजनमें सम्भव नहीं होता, किन्तु भोजन-निवृत्तिमें ही होता है, इसलिये भोजन-निवृत्तिमें जहल्लक्षणा है। 'गंगायां ग्रामः' इस स्थानमें भी तात्पर्यानुपपत्ति ही सम्भव होती है, इसलिये जहाँ तात्पर्यानुपपत्ति हो वहाँ जहल्लक्षणा मानी जाती है, यह नियम है। 'गंगायां ग्रामः' इस स्थानमें भी 'गंगा' पदका शक्य जो देवनदीका प्रवाह, उसको त्यागकर शक्यसम्बन्धी तीरकी प्रतीति होती है, इसलिये यहाँ जहल्लक्षणा ही है। इस प्रकार जहाँ सामान्य तीरमें वक्ताका तात्पर्य नहीं, किन्तु

गंगा-तीरके बोधनमें ही हो, वहाँ 'गंगा' पदकी गंगा-तीरमें जहल्लक्षणा होती है।

(२) अजहल्लक्षणाके असाधारण उदाहरण तो 'काकेभ्योदधि रक्ष्यताम्' (काकोंसे दहीकी रक्षा करो) इत्यादि हैं। जहाँ शक्यके सहित शक्य-सम्बन्धीकी प्रतीति हो वहाँ 'अजहल्लक्षणा' होती है। यहाँ उपर्युक्त वाक्यमें भोजनके निमित्त दधि-रक्षामें वक्ताका तात्पर्य है, वह काकोंके साथ-साथ बिडालादिसे भी दधि-रक्षणविना सम्भव नहीं होता। इसलिये 'काक' पदकी सभी दधि-उपघातकोंमें अजहल्लक्षणा होती है। इसी प्रकार 'छत्रिणो यान्ति' इस स्थानमें 'छत्रि' पदकी छत्रि-संयुक्त पुरुषोंमें अजहल्लक्षणा है। न्याय-मतमें नीलादि पदोंकी तो गुणमात्रमें शक्ति है, परन्तु 'नीलो घटः' इत्यादि वाक्योंमें नीलादि पद नीलरूपवालेके बोधक होते हैं, वह शक्यसहित शक्य-सम्बन्धीकी प्रतीति कराते हैं, इसलिये यहाँ अजहल्लक्षणा है। परन्तु कोशकारके मतमें नीलादि पदोंकी गुण व गुणीमें शक्ति ही है, इसलिये वे यहाँ लक्षणा नहीं मानते। वेदान्त-परिभाषा ग्रन्थमें नीलादि पदोंकी अपने गुणीमें अजहल्लक्षणा कही गई है वह न्यायका ही मत है।

(३) जहाँ शक्यार्थके एक देशको त्यागकर अन्य देशके ग्रहणमें वक्ताका तात्पर्य हो, वहाँ भाग-त्यागलक्षणा होती है। जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' इस स्थानमें भाग-त्यागलक्षणा है। यहाँ तत्पदका अर्थ परोक्ष वस्तु और 'इदम्' पदका अर्थ अपरोक्ष वस्तु है तथा दकारादिवर्णविशिष्ट नामवाला पुरुष-शरीर 'देवदत्त' पदका अर्थ है। वहाँ तत्पदार्थका इदंपदार्थसे अभेद तो तत्पदोत्तर विभक्तिका अर्थ है और इदंपदोत्तर विभक्तिका अर्थ देवदत्त-पदार्थसे इदंपदार्थके अभेदमें है। अथवा यों समझो कि तत्पद और इदंपदसे उत्तर विभक्तियाँ निरर्थक हैं, बल्कि समान विभक्तिवाले पदोंके सन्निधानसे ही पदार्थोंका अभेद प्रतीत होता है। इस प्रकार 'परोक्ष वस्तुसे अभिन्न अपरोक्ष वस्तुस्वरूप देवदत्त नामवाला शरीर हैं' यह वाक्यके पदोंका शक्यार्थ होता है। वह 'उष्ण शीतल है' इस वाक्यके समान बाधित

है और बाधित अर्थमें वक्ताका तापर्त्य सम्भव नहीं होता। इसलिये तत्पद और इदंपदके शक्यमेंसे परोक्षता व अपरोक्षता-भागको त्यागकर केवल वस्तु-भागमें लक्षणा होनेसे यह भाग-त्यागलक्षणा कही जाती है। अर्थात् तत्पदमेंसे तो अतीत देश-कालरूप परोक्षता और इदंपदमेंसे वर्तमान देशकालरूप अपरोक्षता-भागका त्यागकर देवदत्त व्यक्तिमात्रमें भाग-त्यागलक्षणा होती है।

इस प्रकार ये तीन प्रकारकी लक्षणा प्रयोजनवती-लक्षणा और निरूढ-लक्षणाके भेदसे दो भागोंमें विभक्त की जा सकती हैं। उनमें एक तो जहाँ शक्तिवाले पदको त्यागकर लाक्षणिकपदके प्रयोगमें प्रयोजन अर्थात् फल हो, उसको तो 'प्रयोजनवती-लक्षणा' कहते हैं। जैसे 'गंगा' पदकी तीरमें प्रयोजनवती-लक्षणा है। यदि 'तीरे ग्रामः' इतना ही कहें तो तीरमें शीत-पावनतादिकी प्रतीति नहीं होती, परन्तु 'गंगा' पदसे तीरका बोधन किया जाय तो गंगाके धर्म शीत-पावनतादि भी तीरमें प्रतीत होते हैं। इसीलिये लक्षणापक्षमें व्यञ्जना-वृत्तिको आलंकारिक मानते हैं। परन्तु न्याय-मतमें शीत-पावनतादि शाब्द-बोधके विषय नहीं, किन्तु अनुमितिके ही विषय होते हैं। वह इस प्रकार—'गंगातीरं शीत-पावन-त्वादिमत् गंगापदबोध्यत्वात् गंगावत्' ऐसा अनुमानका स्वरूप है। इस प्रकार प्रयोजनवती लक्षणाका कथन किया गया।

जिस अर्थमें पदकी शक्ति-वृत्ति तो न हो, परन्तु उस पदसे सभीको शक्यके समान उस अर्थकी प्रतीति होती हो, उस पदकी उस अर्थमें प्रयोजनशून्य 'निरूढ-लक्षणा' कही जाती है। जैसे कोशकी रीतिसे यदि गुण-गुणीमें शक्ति मानी जाय तो गौरव दोष होता है और शक्यतावच्छेदक एक-एक धर्मका लाभ भी नहीं होता, इसलिये कोशकी रीतिसे गुणमात्रमें ही शक्ति है। परन्तु 'नीलो घटः' इत्यादि वाक्योंको सुनते ही सभी पुरुषोंको गुणीकी प्रतीति हो जाना अति प्रसिद्ध है, इसलिये नीलादि पदोंकी गुणीमें प्रयोजनशून्य लक्षणा होनेसे यह 'निरूढ-लक्षणा' कहाती है।

निरूढ-लक्षणा शक्तिके सदृश ही होती है और जहाँ कोई विलक्षण अनादि तात्पर्य हो वहीं यह लक्षणा होती है ।

जहाँ प्रयोजन और अनादि दोनों तात्पर्य न हों, किन्तु ग्रन्थकार अपनी इच्छासे प्रयोजनविना ही लाक्षणिक शब्दका प्रयोग करें, वहाँ तीसरी 'ऐच्छिक-लक्षणा' कहाती है । परन्तु विद्वान् अनादि तात्पर्य और प्रयोजनके विना लाक्षणिक शब्दके प्रयोगको समीचीन नहीं कहते हैं । इसलिये काव्य-प्रकाशादि साहित्य-ग्रन्थोंमें निरूढ-लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणाके ही भेद उदाहरणसहित लिखे गये हैं, परन्तु तीसरी ऐच्छिक लक्षणा नहीं लिखी गई । यद्यपि श्रीगदाधर भट्टाचार्यादिने ऐच्छिक लक्षणाका भी वर्णन किया है, परन्तु उनका तात्पर्य ऐच्छिक-लक्षणाकी सम्भावनामात्रमें है, 'ऐच्छिक-लक्षणावाले पदका प्रयोग साधु है' इस अर्थमें उनका तात्पर्य नहीं है । इसी प्रकार यद्यपि श्रीमम्मट आदिने लक्षणाके और बहुत अवान्तर भेद लिखे हैं; तथापि वेदान्त-ग्रन्थोंमें उनकी कोई चर्चा नहीं की गई, इसलिये जिज्ञासुके लिये उनके लिखनेका कोई उपयोग नहीं समझा गया ।

१२ : शाब्द-बोधकी हेतुताका विचार

'जिस प्रकार पदकी शक्यतावच्छेदकमें शक्ति होती है, उसी प्रकार गंगादि पदोंकी तीरत्वादिमें लक्ष्यतावच्छेदकरूप लक्षणा नहीं होती है, किन्तु लक्षणावृत्ति तो व्यक्तिमात्रमें ही होती है, परन्तु पदकी वृत्तिके विना ही लक्ष्यतावच्छेदककी स्मृति और शाब्द-बोध होता है'—यह वार्ता शब्दार्थनिर्णयके ग्रन्थोंमें प्रतिपादन की गई है । इसके विपरीत मीमांसा-मतमें लाक्षणिक पदसे लक्ष्यार्थकी स्मृति तो होती हैं, परन्तु लाक्षणिक-पद लक्ष्यार्थके शाब्द-बोधका हेतु नहीं होता, किन्तु लाक्षणिक पदके समीप जो पदोत्तर वही अपने शक्यार्थ और उस लक्ष्यार्थ दोनोंके शाब्द-बोधका हेतु होता है । जैसे 'गंगायां ग्रामः' इस वाक्यमें 'गंगा' पद तीरमें लाक्षणिक है, वह तीरकी स्मृतिका हेतु तो है परन्तु तीरमें शाब्द-बोधका हेतु नहीं,

किन्तु तीरमें और अपने शक्यमें शाब्द-बोधका हेतु तो 'ग्राम' पद ही है। इस मतकी साधक युक्ति इस प्रकार है—

यदि लाक्षणिक-पदमें भी शाब्द-बोधकी जनकता मान ली जाय तो 'शक्तिवाले सकल पदोंमें ही बोधकी जनकता हैं' इस अवच्छेदक धर्मका लाभ न होगा। क्योंकि मीमांसा-मतके अनुसार शाब्द-बोधकी जनकता तो शाक्त-पदोंमें ही है लाक्षणिक-पदोंमें नहीं, इसलिये शाब्द-बोधकी जनकताके अवच्छेदक तो शक्तिवाले पद ही हैं। परन्तु यदि लाक्षणिक पदोंमें भी शाब्द-बोधकी जनकता मान ली जाय तो उस जनकतासे शाक्तपदकी शक्ति न्यूनवर्ति हो जानेसे वह पद-शक्ति उस जनकताकी अवच्छेदक न रहेगी। जो न्यूनदेशवर्ति और अधिकदेशवर्ति न हो, किन्तु जो उसके समानदेशवर्ति ही हो वह उसका अवच्छेदक होता है। इस नियमके अनुसार शाब्द-बोधकी जनकता सकल शाक्तपदोंमें ही रहती है और उनके समान देशमें ही शक्ति रहती है। इसलिये शाब्द-बोधजनकता-का अवच्छेदक शक्ति ही सम्भव है। अब यदि लाक्षणिक-पदोंमें भी शाब्द-बोध-जनकता मान ली जाय तो लाक्षणिक-पदोंमें शक्ति तो है नहीं, इसलिये शक्ति न्यूनदेशवर्ति हो जानेसे शाब्द-बोध-जनकताका अवच्छेदक न रहेगी। एवं शाब्द-बोध-जनकता शाक्त व लाक्षणिक सभी पदोंमें रहनेवाला एक धर्म है नहीं, इसलिये शाब्द-बोध-जनकता निरवच्छेदक ही रह जायगी, सो निरवच्छेदक जनकता अलीक है। जैसे दण्ड-कुलालादिमें भी घटादिकी जनकताके अवच्छेदक दण्डत्व-कुलालत्वादि ही हैं, इसलिये निरवच्छेदक जनकता अप्रसिद्ध है। इस प्रकार लाक्षणिक-पदमें शाब्द-बोधकी जनकता नहीं है, ऐसा मीमांसाका मत है।

यह मत अद्वैत-वादका अति विरोधी है, क्योंकि महावाक्योंमें तो सभी पद लाक्षणिक ही होते हैं इसलिये उनमें शाब्द-बोधकी अनुपपत्ति होगी। अतः इस मतका खण्डन अवश्य कर्तव्य है। इस मतमें इस प्रकार दोष है—

'गंगायां ग्रामः' यदि इस वाक्यमें 'ग्राम' पदसे तीरमें शाब्द-बोध माना जाय तो 'ग्राम' पदकी तीरमें भी शक्ति होनी चाहिये। क्योंकि

लक्षणाके विना जो पद जिस अर्थमें शाब्द-बोधका जनक होता है, उस पदकी उस अर्थमें शक्ति भी होती है, यह नियम है। इसलिये मीमांसा-मतानुसार यदि लक्षणाविना 'ग्राम' पद तीरविषय शाब्द-बोधका जनक हो तो उसकी तीरमें शक्ति भी होनी चाहिये। क्योंकि यह नियम है कि जिस पदमें जिस अर्थकी शक्ति-वृत्ति हो, उस पदसे उसी अर्थकी स्मृति और उसी अर्थमें शाब्द-बोध होता है। परन्तु मीमांसा-मतमें इस नियमका भंग होगा, क्योंकि उनके मतानुसार 'गंगा' पदकी लक्षणा-वृत्ति तीरमें और 'गंगा' पदसे स्मृति भी तीरकी ही; परन्तु 'गंगा' पदसे शाब्द-बोध तीरका नहीं, किन्तु तीरका शाब्द-बोध तो 'ग्राम' पदसे ही माना गया है। फिर भला बतलाइये कि 'ग्राम' पदकी न तीरमें शक्ति है, न लक्षणा है और न 'ग्राम' पदसे तीरकी स्मृति ही है, फिर 'ग्राम' पदसे तीरका शाब्द-बोध ही कहाँसे आ जायगा? इसलिये यह मत बुद्धिमानोंके लिये हँसनेयोग्य है। यदि किसी प्रकार 'ग्राम' पदसे तीरका शाब्द-बोध मान भी लिया जाय तो फिर 'ग्राम' पदसे ग्रामविषय शाब्द-बोध न होगा। क्योंकि जहाँ 'हरि' आदि एक पदकी अनेक अर्थोंमें शक्ति है, वहाँ भी 'हरि' पदसे एक पुरुषको एक कालमें एक ही अर्थका बोध होता है। यदि एक पदसे एक कालमें अनेक पदार्थोंका बोध होता हो तो 'हरि' इस कथनसे 'वानरके ऊपर सूर्य है' इस प्रकार भी शाब्द-बोध होना चाहिये। जैसे एक 'ग्राम' पदसे परस्पर सम्बन्धी ग्राम तथा तीरका शाब्द-बोध माना गया है, तैसे एक 'हरि' पदसे उस पदके शक्य वानर तथा सूर्यका भी शाब्द-बोध होना चाहिये। परन्तु जबकि एक पदसे एक कालमें उस पदके दो शक्योंका ही शाब्द-बोध नहीं होता, तब एक पदसे अपने शक्यका सम्बन्धीमात्र जो अपना अशक्य व अलक्ष्य उसका शाब्द-बोध तो अत्यन्त दूर है। इसलिये 'लाक्षणिकं नानुभावकं' यह मीमांसा-वचन असंगत है। लाक्षणिक-पदकी शाब्द-बोध-जनकतामें जो यह दोष दिया गया कि 'शाब्द-बोध-जनकताका अवच्छेदक धर्म न रहकर वह निरवच्छेदक ही हो जायगी' उसका समाधान इस प्रकार है—

पदमें शक्ति व लक्षणाके भेदसे दो प्रकारकी वृत्ति होती है। उनमेंसे कहीं पदकी शक्ति-वृत्तिसे अर्थका बोध होता है और कहीं लक्षणा-वृत्तिसे। परन्तु शाब्द-बोधकी जनकता तो शक्ति-लक्षणासामान्य पदमात्रमें ही है और वृत्ति भी पदमात्रमें ही है, इसलिये शाब्द-बोध-जनकताके समान देशमें रहनेसे उसका अवच्छेदक वृत्ति वन सकती है। अथवा शाब्द-बोध-जनकताका अवच्छेदक योग्य शब्दत्व है।

इस प्रकार मीमांसा-मत असमीचीन है और लाक्षणिकपदसे भी शाब्द-बोध होता है, यह सिद्ध हुआ।

१३ : महावाक्यमें लक्षणाका उपयोग और उसमें शंका-समाधान

महावाक्योंमें न जहल्लक्षणा है और न अजहल्लक्षणा, किन्तु भाग-त्यागलक्षणाका ही अंगीकार किया गया है। उसकी रीति विचार-सागरमें प्रदर्शित की गई है। महावाक्योंमें वह भाग-त्यागलक्षणा भी लक्षितलक्षणा नहीं, किन्तु केवल-लक्षणा है, क्योंकि वाच्यका लक्ष्य-चेतनसे साक्षात्-सम्बन्ध है, परम्परा नहीं। यह नियम है कि जहाँ भाग-त्याग-लक्षणा होती है, वहाँ वाच्यका एक देश लक्ष्य होता है, इसलिये वाच्य (शक्य)के एक देशसे लक्ष्यका साक्षात्-सम्बन्ध ही होता है, अतः यहाँ केवल-लक्षणा ही होती है। 'महावाक्यसे जिज्ञासुको अखण्ड ब्रह्मका बोध हो' ऐसा ईश्वरका अनादि तात्पर्य है, इसलिये यह प्रयोजनवती-लक्षणा नहीं, किन्तु निरूढ-लक्षणा ही है। यहाँ ऐसी शंका होती है—

'यदि वाच्यार्थं (शक्यार्थ)का लक्ष्य-चेतनसे सम्बन्ध माना जाय तो लक्ष्यार्थमें असंगताकी हानि होगी और यदि सम्बन्ध न माना जाय तो लक्षणा नहीं बनती। क्योंकि शक्य-सम्बन्ध अथवा बोध्य-सम्बन्धको ही लक्षणा कहते हैं, वह सम्बन्ध असंगमें सम्भव नहीं होता।' इसका समाधान इस प्रकार है—

वाच्यार्थमें जड़ और चेतन दो भाग होते हैं। वाच्यके चेतनभागका तो लक्ष्यार्थसे तादात्म्य-सम्बन्ध है, क्योंकि सभी पदार्थोंका अपने स्वरूपमें तादात्म्य-सम्बन्ध ही होता है। इसलिये वाच्यमें चेतन-भागका तो लक्ष्य-चेतन स्वरूप ही है और स्वरूप होनेसे चेतन-भागका तो लक्ष्य-चेतनसे तादात्म्य-सम्बन्ध है ही। अब रहा वाच्यमें जड-भाग, उसका लक्ष्य-चेतनसे अधिष्ठानता-सम्बन्ध है और यह नियम है कि कल्पितके सम्बन्धसे अधिष्ठानके स्वरूपमें कोई दोष नहीं लगता, जैसे कल्पित सर्पके सम्बन्धसे रज्जु विषैली नहीं हो जाती। इस प्रकार न कल्पितरूप जड़के सम्बन्धसे और न अपने चेतनरूप तादात्म्य-सम्बन्धसे ही लक्ष्यार्थकी असंगतामें कभी कोई विकार स्पर्श करता है।

(अन्य शंका) :—यदि तत्पदकी अखण्ड चेतनमें लक्षणा मानी जाय और त्वं पदकी भी अखण्ड चेतनमें ही लक्षणा मानी जाय तो पुनरुक्ति दोष होनेसे 'घटो घटः' इस वाक्यके समान अप्रामाण्य वाक्य होगा और यदि दोनों पदोंका लक्ष्यार्थ पृथक्-पृथक् माना जाय तो अभेदबोधकता न रहेगी।

(समाधान) :—तत्पदका शक्य मायाविशिष्ट और त्वंपदका शक्य अन्तःकरणविशिष्ट चेतन है और तत्तद् उपहित चेतन दोनोंका लक्ष्य है। यदि दोनों पदोंका लक्ष्य ब्रह्म-चेतन ही हो तो पुनरुक्ति दोष हो, परन्तु दोनोंका लक्ष्य ब्रह्म-चेतन नहीं किन्तु तत्पदका मायोपहित और त्वंपदका अन्तःकरणोपहित चेतन लक्ष्य हैं। वह उपाधिके भेदसे भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये पुनरुक्ति नहीं। तथा परमार्थसे तो दोनों पदोंका उपहित-चेतन अभिन्न ही है, इसलिये दोनों वाक्योंमें अभेद-बोधकताका भी सम्भव है। इस प्रकार तत्पद और त्वंपदका अभेद-बोधकतामें उद्देश्य और विधेय दोनों भाव मानकर अभेद-बोधकता निर्दोष है। वह इस प्रकार कि तत्पदार्थमें परोक्षता-भ्रमकी निवृत्तिके लिये तत्पदार्थको उद्देश्य करके त्वंपदार्थरूपता विधेय है और त्वंपदार्थमें परिच्छिन्नतादि-भ्रमकी निवृत्तिके लिये त्वंपदार्थको उद्देश्य करके तत्पदार्थरूपता विधेय है। पुनरुक्ति-दोषके परिहारार्थ किसी ग्रन्थकारका यह तात्पर्य है कि यदि दोनों पद भिन्न-भिन्न

अर्थके लक्षक माने गये हों तो लक्ष्यभेदसे पुनरुक्तिकी शंका हो, परन्तु यहाँ तो दोनों पद भिन्न-भिन्न अर्थके लक्षक नहीं, किन्तु दोनों मिलकर एक अखण्ड ब्रह्मके ही लक्षक हैं, फिर पुनरुक्तिकी शंका कैसी ? इसीलिये प्राचीन आचार्योंने महावाक्योंमें प्रातिपदिकार्थमात्रकी[1] बोधकता कथन की है । यद्यपि लोकमें उद्देश्य व विधेयभावशून्य अर्थका बोधक वाक्य अप्रसिद्ध है; तथापि महावाक्योंका तो अर्थ ही अलौकिक है, इसलिये उनमें अप्रसिद्धि दूषण नहीं किन्तु भूषण है । यदि अप्रसिद्धि दूषण ही मानी जाय तो लोकमें ऐसा वाक्य जो असंग अर्थका बोधक हो, वह भी अप्रसिद्ध ही है, फिर महावाक्य असंग ब्रह्मके बोधक भी न रहने चाहिये । इसलिये जिस प्रकार लोकमें अप्रसिद्ध होते हुए भी महावाक्योंमें असंग ब्रह्मकी बोधकता मानी जाती है, उसी प्रकार उद्देश्य व विधेयभावसे शून्य जो अखण्ड अर्थ उसकी बोधकता भी सम्भव हो सकती है ।

इस प्रकार लक्षणाके प्रसंगमें प्राचीन आचार्योंने बहुत विचार लिखे हैं ।

१४ : लक्षणाके विना शक्ति-वृत्तिसे ही महावाक्योंको अद्वैत ब्रह्मकी बोधकता

कई आधुनिक ग्रन्थकार लक्षणाके विना केवल शक्तिवृत्तिसे ही महावाक्योंको अद्वितीय ब्रह्मके बोधक मानते हैं । उनका प्रकार इस भाँति है——

जहाँ एक विशेषणवाले वाचक-पदके अर्थका दूसरे पदके विशेषणवाले अर्थसे सम्बन्ध सम्भव न हो, वहाँ पदकी शक्तिवृत्तिसे ही विशेषणको त्यागकर विशेष्यकी प्रतीति होती है । जैसे 'अनित्यो घटः' इस वाक्यमें 'घट' पद घटत्वविशिष्ट घटव्यक्तिका वाचक है, उसका यहाँ अनित्यत्व-विशिष्ट अनित्य पदार्थसे अभेद-सम्बन्ध बोधन किया जा रहा है । परन्तु

१——अखण्डार्थमात्र

घटत्वजाति तो नित्य है, इसलिये घटत्वविशिष्टका अनित्य पदार्थ घटसे अभेद बाधित होनेसे उसका अनित्य पदार्थसे अभेद-सम्बन्ध असम्भव है। इसलिये यहाँ घटत्वरूप विशेषणको त्यागकर 'घट' पदसे घट-व्यक्तिमात्रकी स्मृति और अनित्य पदार्थसे सम्बन्ध-बोधरूप शाब्द-बोध होता है। तैसे ही 'गेहे घटः' इस वाक्यमें भी 'घट' पदसे घटत्वरूप विशेषणको त्यागकर विशेष्य घट-व्यक्तिमात्रकी स्मृति और शाब्द-बोध ही होता है। इसी प्रकार 'घटे रूपं' इस वाक्यमें भी घटत्वको त्यागकर व्यक्तिमात्रकी ही प्रतीति होती है। क्योंकि 'गेहे घटः' इस वाक्यमें तो घटपदार्थमें गेहकी आधेयता प्रतीत होती है, अर्थात् घट आधेय है और गेह आधार। परन्तु घटत्व-जातिमें तो अपना आश्रय जो घट-व्यक्ति उसकी ही आधेयता होती है, गेहकी आधेयता बाधित है। अर्थात् घटत्व-जाति तो घट-व्यक्तिके आश्रय ही रह सकती है गेहके आश्रय नहीं, इसलिये यहाँ घटत्वको त्यागकर घट-व्यक्तिमात्रमें गेहकी आधेयता-सम्बन्धका बोधन किया जा रहा है और इसी प्रकार गेहपदार्थमें गेहत्वका त्याग होता है। 'घटे रूपम्' इस वाक्यमें भी घटत्वको त्यागकर द्रव्यस्वरूप व्यक्तिमात्रमें रूपकी अधिकरणता और रूपत्व-जातिको त्यागकर रूप-गुणमात्रमें घटकी आधेयता प्रतीत होती है, क्योंकि घटपदार्थकी आधेयतावाला रूप-पदार्थ है, ऐसा वाक्यका अर्थ है। यहाँ घटत्वकी आधेयता किसीमें नहीं, अर्थात् घटत्व किसीका आधार है नहीं इसलिये घटत्वको त्यागकर 'घट' पदका घट-व्यक्तिमात्र अर्थ है और उसीकी आधेयता रूप-व्यक्तिमें है रूपत्व-जातिमें नहीं। किन्तु रूप-व्यक्तिकी आधेयता रूपत्व-जातिमें है, इसलिये रूप-पदार्थ में रूपत्वका भी त्याग है। इसी प्रकार 'उत्पन्नो घटः' 'नष्टो घटः' इन वाक्योंमें भी जातिरूप विशेषणको त्यागकर व्यक्तिमात्र घटादि पदोंका अर्थ होता है, क्योंकि जाति नित्य है इसलिये उसका उत्पत्ति-नाश नहीं बनता। इस प्रकार जैसे उपर्युक्त वाक्योंमें विशिष्ट-वाचक पदोंसे उनके शक्ति-बलसे ही विशेष्यमात्रका बोध हो जाता है, तैसे महावाक्योंमें भी विशिष्ट-वाचक पदोंकी शक्ति-बलसे ही माया-अंतःकरणरूप विशेषणको त्यागकर

चेतनरूप विशेष्यमात्रकी प्रतीति सम्भव है और लक्षणाका अंगीकार निष्फल ही है। परन्तु इतना भेद है कि विशिष्टवाचक पदके वाच्यका एक देश तो विशेष्य होता है और दूसरा विशेषण, अर्थात् जाति विशेषण होती है और व्यक्ति विशेष्य। उन दोनोंमेंसे शक्ति-वृत्तिसे विशेष्य-भाग का तो बोध होता है, परन्तु केवल जातिरूप विशेषणका बोध नहीं होता। यदि विशिष्टवाचक पदकी शक्ति-वृत्तिसे वाच्यके विशेषणमात्रका भी बोध होता हो तो 'अनित्यो घटः' इस वाक्यके समान 'नित्यो घटः' यह वाक्य भी 'घट' पदसे जातिमात्रका बोधक होनेसे साधु होना चाहिये, परन्तु होता नहीं। इसलिये विशिष्टवाचक पदकी शक्तिसे विशेष्यमात्रकी ही प्रतीति होती है, ऐसा माना जाता है। इसी प्रकार 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यमें भी परोक्षत्व और अपरोक्षत्व विशेषणोंको त्यागकर शक्ति-वृत्तिसे ही विशेष्यमात्रकी प्रतीति होती है और भागत्याग-लक्षणाका कोई उदाहरण ही नहीं है। इसलिये जहति-लक्षणा और अजहति-लक्षणाके भेदसे दो प्रकारकी लक्षणा ही माननी चाहिये, भागत्याग-लक्षणा अलीक ही है।

इधर श्रीधर्मराजने भी वेदान्त-परिभाषामें उपर्युक्त प्रकारसे महा-वाक्योंमें लक्षणाका खण्डन करके भागत्याग-लक्षणाका स्वरूप अन्य प्रकारसे कहा है। साम्प्रदायिक रीतिसे तो वाच्यके एक देशमें जो वृत्ति, वही भागत्याग-लक्षणाका स्वरूप है। परन्तु इनके (श्रीधर्मराजके) मतमें वाच्यके एक देशमें जो वृत्ति, वह शक्तिका ही स्वरूप है और वह भागत्याग-लक्षणाका स्वरूप नहीं। किन्तु इनके मतमें जो शक्य व अशक्यमें वृत्ति वही भागत्याग-लक्षणा है। इनके मतानुसार यद्यपि शक्य व अशक्यमें वृत्ति तो अजहल्लक्षणामें भी होती है, तथापि जहाँ शक्यार्थका विशेषणतासे बोध हो और अशक्यका विशेष्यतासे बोध हो, वहाँ तो अजहल्लक्षणा कही जाती है। जैसे 'नीलो घटः' इस वाक्यमें 'नील' पदका शक्य जो रूप है उसका विशेषणतासे बोध होता है और नील-रूपका आश्रय जो द्रव्य वह अशक्य है उसका विशेष्यतासे बोध होता है। इसलिये 'नील' पदकी नील-रूपके आश्रय नीलवालेमें अजहल्लक्षणा है। इसी प्रकार 'मंचाः

क्रोशन्ति' (मंच पुकारते हैं) इस वाक्यमें भी 'मंच' पदका शक्य तो विशेषण है और अशक्य जो पुरुष वह विशेष्य है, इसलिये यहाँ भी अजहल्लक्षणा है। परन्तु जहाँ शक्य व अशक्य दोनों विशेष्य हों और जहाँ शक्यतावच्छेदकसे व्यापक लक्ष्यतावच्छेदक धर्म विशेषण हो, वहाँ भागत्याग-लक्षणा कही जाती है। जैसे 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' (कौवोंसे दहीकी रक्षा करो) इस वाक्यमें 'काक' पदका शक्य वायस और अशक्य बिडालादि दोनों विशेष्य हैं और शक्यतावच्छेदक काकत्वका व्यापक बिडालत्वादि दध्युपघातकत्व लक्ष्यतावच्छेदक धर्म विशेषण है। क्योंकि 'दधिके उपघातक काक-बिडालादिसे दधिकी रक्षा करो' यह इस वाक्यका अर्थ है। यहाँ काकत्वविशिष्ट-व्यक्ति 'काक' पदका शक्य है उसमेंसे काकत्वका त्याग करके दध्युपघातकत्वविशिष्ट काक-बिडालादिका लक्षणाद्वारा बोध होनेसे 'काक' पदके वाच्यके एक भाग काकत्वका त्याग होता है और व्यक्ति-भागका ग्रहण होता है। तैसे ही बिडालत्वादिका त्याग करके बिडालादि-व्यक्तियोंका ग्रहण होता है, इसलिये यहाँ भागत्याग-लक्षणा होती है। इसी प्रकार इनके मतमें 'छत्रिणो यान्ति' इस वाक्यमें भी भागत्याग-लक्षणा ही मानी गई है। क्योंकि 'छत्रसहित और छत्ररहित एकसाथवाले पुरुष जाते हैं' यह इस वाक्यका अर्थ है। यहाँ 'छत्री' पदका शक्य छत्रसहित और अशक्य छत्ररहित दोनों तो विशेष्य हैं और शक्यतावच्छेदक जो छत्रिता उसका व्यापक जो एकसार्थवाहिता लक्ष्यतावच्छेदक धर्म, वह विशेषण है। इस स्थानमें भी 'छत्री' पदका शक्य जो छत्रसम्बन्धविशिष्ट, उसमेंसे छत्रसम्बन्धरूप शक्यतावच्छेदकको त्यागकर एकसार्थवाहित्व-विशिष्ट छत्री और तदन्यका लक्षणासे बोध होनेसे वाच्यके एक भाग छत्रसम्बन्धको त्यागकर अन्य भाग पुरुषमात्रका बोध होता है। इसलिये यहाँ भागत्याग-लक्षणा है।

इस प्रकार वेदान्त-परिभाषामें जो भागत्याग-लक्षणाके उदाहरण कथन किये गये हैं, साम्प्रदायिक मतसे वे सभी अजहल्लक्षणाके ही उदाहरण हैं। साम्प्रदायिक रीतिसे तो अजहल्लक्षणाके उदाहरणमें शक्यार्थ कहीं

विशेषण होता है और कहीं विशेष्य तथा शक्यसहित अशक्यकी प्रतीति तो दोनों मतोंमें समान ही है। इस प्रकार किञ्चित् भेदको देखकर लक्षणाका ही भेद मान बैठना निष्फल है और सभी आचार्योंके वचनसे विरोध ही उसका फल है। यदि शक्यार्थोंकी विशेषणता व विशेष्यताके भेदसे ही अजहल्लक्षणा और भागत्याग-लक्षणाका भेद मान लिया जाय, तब तो जहाँ शक्यार्थकी विशेषणता वहाँ भागत्याग-लक्षणा और जहाँ शक्य-अशक्यकी विशेष्यता वहाँ अजहल्लक्षणा, इस प्रकार और भी विपरीत मान लिया जाय तब भी कोई बाधक नहीं होता। इस प्रकार श्रीधर्मराजका महावाक्योंमें और 'सोऽयं देवदत्तः' इस वाक्यमें भागत्याग-लक्षणाका निषेध करके भागत्याग-लक्षणाका अन्य ही स्वरूप व उदाहरण कथन करना निष्फल है और लक्षणाके विना महावाक्योंमें जिस प्रकार निर्वाह किया गया है वह भी असंगत है। क्योंकि घटादि पदोंकी जाति-विशिष्टमें शक्ति मानकर पदसे लक्षणाके विना ही जो केवल व्यक्तिका बोध मान लिया गया है, वह तो निर्युक्तिक ही है। यदि जाति विशिष्टमें शक्ति न मानकर केवल व्यक्तिमें शक्ति मानी गई होती, तब तो घटादि पदोंसे केवल व्यक्तिका बोध सम्भव होता, वह तो माना नहीं गया। किन्तु 'विशिष्टवाचक पदकी शक्तिसे विशेष्यमात्रका बोध होता हैं' ऐसा श्रीधर्मराजकी मान्यता हैं, वह शक्तिवादादि ग्रन्थोंमें निपुणमति पण्डितोंके लिये आश्चर्यजनक ही है। शक्तिवादमें यह प्रसंग स्पष्ट है—

कोई पद तो एक धर्मविशिष्ट धर्मीका वाचक होता है, कोई पद अनेक धर्मविशिष्ट धर्मीका वाचक होता है और कोई अनेक धर्मविशिष्ट अनेक धर्मीका वाचक होता है, परन्तु जिस पदकी जिस अर्थमें शक्ति होती है वह पद उसी अर्थका वाचक कहा जाता है, अन्यका नहीं। जैसे 'घट' पदकी घटत्वरूप एक धर्मविशिष्ट धर्मीमें और 'गो' पदकी गोत्वरूप एक धर्म-विशिष्ट धर्मीमें शक्ति होती है और वे उन्हीं अर्थोंके वाचक होते हैं। परन्तु 'धेनु' पदकी प्रसूता व गोत्वरूप अनेक धर्मविशिष्ट एक धर्मीमें शक्ति होती है और वह उन्हींका वाचक होता है तथा 'पुष्पवंत' पद चन्द्रत्व-सूर्यत्वरूप

अनेक धर्मविशिष्ट अनेक धर्मी चन्द्र व सूर्यमें शक्तिवान् है और वह उन्हीं धर्मविशिष्ट उन्हीं धर्मियोंका वाचक होता है। परन्तु जिस धर्मविशिष्टमें पदकी शक्ति होती है, उस धर्मको त्यागकर केवल आश्रयका बोध तो लक्षणासे ही होता है, लक्षणाके विना नहीं। इसलिये घटादि पदोंसे केवल व्यक्तिका बोध लक्षणासे ही हो सकता है। अनेक धर्मविशिष्ट एक धर्मीका वाचक जो 'धेनु' पद, उसमेंसे एक धर्मको त्यागकर अन्य धर्मविशिष्ट धर्मीका बोध लक्षणासे ही हो सकता है। इसलिये 'धेनु' पदसे शक्तिद्वारा अप्रसूता गौका अथवा प्रसूता महिषीका बोध नहीं हो सकता, परन्तु यदि 'धेनु' पदसे कहीं गोमात्रका बोध होता भी है तो वह भागत्याग-लक्षणासे ही, शक्तिसे नहीं। इसी प्रकार 'पुष्पवंत' पदसे शक्तिद्वारा चन्द्रको त्यागकर सूर्यका अथवा सूर्यको त्यागकर चन्द्रका बोध अशक्य है, किन्तु ऐसा लक्षणाद्वारा ही हो सकता है।

इस प्रकार शक्ति-वाद ग्रन्थों में लिखा गया है और वही सम्भव हो सकता है। इसके विपरीत शक्ति तो विशिष्टमें और शक्तिसे बोध विशेष्यका, यह कथन सर्वथा निर्युक्तिक है। सदैव पदकी शक्ति जिस धर्मवाले अर्थमें होती है, उससे न्यूनाधिक अर्थकी प्रतीति लक्षणासे ही हो सकती है, परन्तु शक्तिसे तो उसी धर्मवाले अर्थकी प्रतीति हो सकती है, यह नियम है। यदि ऐसा कहा जाय कि शक्ति व्यक्तिमात्रमें ही है विशिष्टमें नहीं, वह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि प्रथम तो स्वयं श्रीधर्मराजने ही ऊपर ऐसा श्रीमुखसे कथन किया है कि विशिष्टवाचक पदकी शक्तिसे विशेष्यका बोध होता है। यदि व्यक्तिमात्रमें शक्ति वाञ्छित होती तो उन्हें ऐसा कहना चाहिये था कि 'व्यक्तिमात्रमें पदकी शक्तिसे व्यक्तिमात्रका बोध होता है' न कि विशिष्टवाचक पदकी शक्तिसे बोध कहा जाता। दूसरे व्यक्तिमात्रमें शक्ति किसी मतमें स्वीकार नहीं की गई, इसलिये यह तो सभी मतोंसे विरुद्ध है। यद्यपि श्रीशिरोमणि भट्टाचार्यने व्यक्तिमात्रमें शक्ति मानी है, तथापि उनके मतमें भी पदसे अर्थकी स्मृति और शाब्द-बोध तो जातिविशिष्टका ही माना गया है, शक्तिसे व्यक्तिमात्रका

शाब्द-बोध किसी मतमें भी स्वीकार नहीं किया गया । यदि ऐसा कहा जाय कि 'घटादि पदोंकी शक्ति जातिविशिष्टमें भी है और केवल व्यक्तिमें भी है, इसलिये कहीं तो जातिविशिष्टका बोध होता है और कहीं केवल व्यक्तिका, जैसे 'हरि' पद नानार्थ है तैसे सकल पद नानार्थ हैं ।' वह उनका यह कथन तो अत्यंत अशुद्ध है और उनके ग्रन्थोंमें यह अर्थ है भी नहीं । इसकी अशुद्धतामें यह हेतु है—

जहाँ लक्षणासे निर्वाह होता हो वहाँ नाना अर्थोंमें शक्तिका त्याग करके एक अर्थमें शक्ति और दूसरेमें लक्षणा मानी जाती है । स्वयं श्रीधर्मराजने ही कहा है कि नीलादि पदोंकी गुणमें शक्ति है और गुणीमें लक्षणा, दोनोंमें शक्ति नहीं कही गई । इसलिये लक्षणाके भयसे नानार्थताका अंगीकार नहीं किया जाता, किन्तु नानार्थताके भयसे लक्षणाका अंगीकार किया जाता है । इसलिये 'विशिष्टमें भी शक्ति है और व्यक्तिमात्रमें भी शक्ति है' इस अशुद्ध अर्थमें श्रीधर्मराजका तात्पर्य नहीं, किन्तु उनका तात्पर्य यह है कि 'सकल पदोंकी शक्ति तो विशिष्टमें ही है, उस विशिष्टमें शक्तिके माहात्म्यसे कहीं तो अन्य पदार्थोंसे विशिष्टका अन्वय होता है और कहीं विशेष्यका । जहाँ विशिष्टमें अन्य पदार्थोंसे अन्वयकी योग्यता हो वहाँ तो विशिष्टका और जहाँ विशिष्टमें अन्य पदार्थोंसे अन्वयकी योग्यता न हो वहाँ विशेष्यमात्रका ही शक्तिसे अन्वय-बोध होता है' ऐसा श्रीधर्मराजका मत है वह भी असंगत है । क्योंकि शक्ति तो विशिष्टमें मानी गई, फिर लक्षणाके विना यदि व्यक्तिमात्रका अन्वय-बोध माना जाय तो 'धेनु' पदसे भी लक्षणाविना अप्रसूता गौ अथवा प्रसूता महिषीकी प्रतीति होनी चाहिये । तथा 'पुष्पवंत' पदसे भी लक्षणाविना एक सूर्य अथवा एक चन्द्रका बोध होना चाहिये, परन्तु होता नहीं । इसलिये 'अनित्यो घटः' इत्यादि वाक्योंमें वस्तुतः घटादि पदोंकी व्यक्तिमात्रमें भागत्याग-लक्षणा ही है, न कि शक्ति । यदि ऐसा कहा जाय कि 'बहुत प्रयोगोंमें व्यक्तिमात्रका ही बोध होनेसे शक्तिसे ही बोध हो जाता है' तब उसके समाधानमें यह कहा जा सकता है कि यदि प्रयोगबाहुल्यसे ही अर्थमें शक्यता मानी जाय तो नीलादि

पदोंका प्रयोगबाहुल्य तो गुणीमें ही है, इसलिये नीलादि पदोंका गुणी ही शक्य होना चाहिये। परन्तु 'गुणी नीलादि पदोंका शक्य नहीं किन्तु लक्ष्य है' ऐसा श्रीधर्मराजने और उनके पुत्रने ही वेदान्त-चूडामणि-टीकामें लिखा है। इसलिये यह मानना चाहिये कि जहाँ विशिष्टवाचक पदसे विशेष्यमात्रका बोध होता है वहाँ सर्वत्र भागत्याग-लक्षणा होती है। परन्तु वह निरूढ-लक्षणा ही होती है, क्योंकि निरूढ-लक्षणाका शक्तिसे ईषत् भेद होता है और उसका प्रयोगबाहुल्य भी होता है। इसके विपरीत जिस अर्थमें शब्द-प्रयोगका बाहुल्य हो यदि उस अर्थमें सर्वत्र शक्ति मानी जाय तो जाति-शक्ति-वादमें जो सर्वत्र व्यक्तिका बोध लक्षणासे माना गया है, वह असंगत होगा। तथा न्याय-मतमें जो 'राजपुरुष' आदि वाक्योंमें 'राज' पदकी राजसम्बन्धीमें सर्वत्र लक्षणा मानी गई है वह भी असंगत होगी।

अतः सिद्ध हुआ कि 'विशिष्टवाचक पदसे विशेष्यमात्रका बोध लक्षणा-विना नहीं होता और महावाक्योंमें लक्षणा ही है' यही साम्प्रदायिक मत जिज्ञासुके लिये उपादेय है। 'वेदान्त-वाक्योंसे असंगरूप ब्रह्मका आत्मरूपसे साक्षात्कार होता है और उससे प्रवृत्ति-निवृत्तिशून्य ब्रह्मस्वरूपमें स्थितिरूप फलकी प्राप्ति होती है' यही अद्वैत-वादका सिद्धांत है।

१५ : मीमांसा-मत

उपर्युक्त अद्वैत-सिद्धांतमें मीमांसाके अनुयायी यह शंका करते हैं—

सकल वेद प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति (विधि-निषेध) के ही बोधक हैं, वेद विधि-निषेधशून्य अर्थका कदापि बोधन नहीं करता। यदि वेद ऐसा बोधन करे तो वह निष्फल अर्थका बोधक होनेसे अप्रमाण्य होगा। इसलिये विधि-निषेधशून्य जो वेदान्त-वाक्य हैं, उनका विधिरूप वाक्योंसे ही सम्बन्ध होनेसे वे वेदान्त-वाक्य वस्तुतः विधि-वाक्योंके शेष हैं। उनमें कोई वाक्य तो कर्म-कर्ताके स्वरूपके बोधक हैं, जैसे त्वं पदार्थके बोधक पञ्चकोश-वाक्य हैं और कोई वाक्य कर्म-शेष देवताके स्वरूपके बोधक

हैं, वे तत्पदार्थके बोधक वाक्य हैं। तथा जीव-ब्रह्मके अभेद-बोधक वाक्योंका यह अर्थ है कि 'कर्म-कर्ता जीव देवभावको प्राप्त हो जाता है इसलिये कर्म अवश्य कर्तव्य है।' इस प्रकार कर्मफलकी स्तुति करनेसे अभेद-बोधक वाक्य अर्थवादरूप ही हैं। यद्यपि मीमांसा मतमें देवता मंत्रमय ही हैं, विग्रहवान् वा ऐश्वर्यवान् कोई देव नहीं है, इसलिये देवभावकी प्राप्ति कहना भी सम्भव नहीं; तथापि यह सम्भावनामात्रसे कर्मफलकी स्तुति ही है। जैसे श्रीकृष्ण-प्रभाकी उपमा कोटि सूर्य-प्रभा कही गई है, वहाँ यद्यपि कोटि सूर्य-प्रभा अलीक पदार्थ है, तो भी सम्भावनामात्रसे ऐसी उपमा कही गई है कि यदि कोटि सूर्य-प्रभा एकत्र हो तो श्रीकृष्ण-प्रभाकी उपमा सम्भव हो। इसी प्रकार यदि सर्वज्ञतादि गुणविशिष्ट परम ऐश्वर्यवान् कोई अद्भुत देव हो तो कर्म-कर्ताका ऐसा स्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार सभी वेद साक्षात् अथवा परम्परासे प्रवृत्ति-निवृत्ति अर्थात् विधि-निषेधके ही बोधक हैं। प्रवृत्तिमें अनुपयोगी जो ब्रह्म-ज्ञान वह वेद-वाक्योंसे सम्भव नहीं होता। ऐसा मीमांसाका मत है।

१६ : प्राचीन वृत्तिकारका मत

प्राचीन वृत्तिकार भी वेदांती कहलाते हैं, उनका मत यह है—

वेदांत-वाक्य कर्म-विधिके प्रकरणमें नहीं हैं, इसलिये कर्म-विधिसे भिन्न प्रकरणमें पठित वेदान्त-वाक्य कर्म-विधिके शेष भी नहीं हैं। किन्तु वेदान्त-वाक्य उपासना-विधिके प्रकरणमें ही हैं, इसलिये सभी वेदान्त-वाक्य उपासना-विधिके ही शेष हैं। अर्थात् त्वंपदार्थके बोधक वाक्य तो उपासकके स्वरूपका बोधन करते हैं और तत्पदार्थ-बोधक वाक्य उपास्यके स्वरूपका। तथा त्वंपदार्थ व तत्पदार्थके अभेद-बोधक वाक्योंका यह अर्थ है कि यद्यपि संसार-दशामें तो जीव-ब्रह्मका भेद है, परन्तु उपासनाके बलसे इनका मोक्ष-दशामें अभेद हो जाता है। यद्यपि अद्वैतवादमें तो इनका सदा ही अभेद है, संसार-दशामें भी भेद-प्रतीति भ्रमरूप ही है, परन्तु इस मतमें संसार-दशामें भेद और मोक्ष-दशामें अभेद होता है। ऐसा प्राचीन वृत्तिकारका मत है,

परन्तु जो मत मोक्ष-दशामें भी जीव-ब्रह्मका भेद माननेवाले हैं वे इन वृत्तिकारके मतमें इस प्रकार दोष कहते हैं—

जीवमें ब्रह्मका भेद स्वरूपसे मानते हो, अथवा उपाधिकृत ? यदि जीव-ब्रह्मका स्वरूपसे ही भेद माना जाय, तब तो जहाँतक स्वरूप रहे वहाँतक भेदकी निवृत्ति असम्भव होगी । यदि मोक्ष-दशामें भेदकी निवृत्तिके लिये जीवके स्वरूपकी निवृत्ति मानी जाय तो वृत्तिकारके सिद्धांतका त्याग और मोक्षकी अपुरुषार्थता होगी । क्योंकि प्रथम तो वृत्तिकारने मोक्ष-दशामें स्वरूपकी निवृत्तिका अंगीकार नहीं किया, इसलिये ऐसा माननेसे उनके सिद्धांतका त्याग होगा । दूसरे, किसीके भी सिद्धांतमें मोक्षमें स्वरूपकी निवृत्ति होती नहीं है । यदि कोई मोक्ष-दशामें स्वरूपकी निवृत्ति माने तो स्वरूपकी निवृत्तिमें किसी भी पुरुषकी अभिलाषा हो नहीं सकती और पुरुषकी अभिलाषाका विषय ही 'पुरुषार्थ' कहा जाता है, इसलिये मोक्षमें पुरुषार्थताका अभाव होगा । इस प्रकार यदि जीवमें ब्रह्मका भेद स्वरूपसे माना जाय तो मोक्ष-दशामें उनका अभेद असम्भव होगा । यदि जीवमें ब्रह्मके भेदको उपाधिकृत कहा जाय तो उपाधिकी निवृत्तिसे यद्यपि मोक्ष-दशामें अभेद तो सम्भव हो जाता है, परन्तु तब वृत्तिकारके मतका अद्वैत-मतसे कोई भेद सिद्ध न होगा । क्योंकि अद्वैत-वादमें भी जीव-ब्रह्मका उपाधिकृत भेद अंगीकार किया गया है । वह उपाधिकृत भेद फिर मिथ्या ही होगा और फिर अद्वैत-वादकी भाँति उसकी निवृत्ति ज्ञानसे ही माननी होगी । इस प्रकार फिर उपासनाविधि निष्फल ही रहेगी ।

इस प्रकार नैयायिकादि वृत्तिकारके मतमें कुतर्क करते हैं वह असम्भव है । क्योंकि यद्यपि वृत्तिकारके मतमें जीवब्रह्मका भेद स्वरूपसे नहीं किन्तु उपाधिकृत ही है, परन्तु इस मतमें यदि उपाधि मिथ्या मानी गई हो तो उपाधिकृत भेद भी मिथ्या हो और तब उसकी केवल ज्ञानसे निवृत्ति भी सम्भव हो । परन्तु यहाँ वृत्तिकारके मतमें तो आकाशादि पदार्थ प्रलयपर्यन्त स्थायी हैं वे मिथ्या नहीं, तैसे ही अन्तःकरणादि जीवकी उपाधि भी सत्य हैं इसलिये ज्ञानमात्रसे उस उपाधिकी निवृत्ति भी नहीं

होती। यद्यपि वृत्तिकारने मोक्षदशामें अन्तःकरणादिका नाश तो माना है, इसलिये उनके मतमें भी अन्तःकरणादिमें ध्वंसशून्यतारूप नित्यता व सत्यता तो नहीं बनती; तथापि इस मतमें भी ज्ञानसे अबाध्यतारूप नित्यता सकल पदार्थोंमें सम्भव होती है। इस प्रकार वृत्तिकारके मतमें उपाधि सत्य है और उस उपाधिकृत भेद भी सत्य है। अर्थात् जैसे पृथ्वीमें जल-संयोगरूप सत्य उपाधिकृत शीतलता सत्य होती है, तैसे ही यहाँ सत्य उपाधिकृत भेद भी सत्य है। इस मतमें उस सत्य भेद और सत्य उपाधिकी ज्ञानमात्रसे ही निवृत्ति नहीं होती, किन्तु नित्य कर्म एवं उपासनासहित ज्ञानसे मोक्ष-दशामें उपाधिकी निवृत्तिद्वारा जीवब्रह्मके भेदकी निवृत्ति होती है। परन्तु अद्वैत-मतमें तो सभी उपाधि और भेद मिथ्या हैं, इसलिये उनकी ज्ञानमात्रसे ही निवृत्ति होती है और संसार-दशामें भी मिथ्या उपाधिसे पारमार्थिक अद्वैतता बिगड़ती नहीं है। इस प्रकार अद्वैत-मत और वृत्तिकारके मतका भेद है। इस रीतिसे वृत्तिकारके मतमें भेदबोधक और अभेदबोधक वाक्योंकी गति सम्भव होती है। अर्थात् जीवमें ब्रह्मके भेदबोधक वाक्य तो संसारी जीवका स्वरूप बोधन करते हैं और अभेदबोधक वाक्य मुक्त जीवका स्वरूप बोधन करते हैं। इसके विपरीत जो इनका मुक्त-दशामें भी भेद ही अंगीकार करते हैं, उनके मतमें तो अभेदबोधक वाक्य बाधित ही होते हैं। परन्तु अद्वैत-वादमें तो सदा ही इनके अभेदका अंगीकार है, इसलिये इस मतमें जीव-ब्रह्मके भेदबोधक वाक्य बाधित होते हैं। इस प्रकार वृत्तिकारके मतमें जीव-ब्रह्मका संसार-दशामें भेद और मुक्त-दशामें अभेद माना गया है।

वास्तवमें यह मत भी समीचीन नहीं है, क्योंकि 'सभी वेदान्त-वाक्य अहेय-अनुपादेय ब्रह्मके ही बोधक हैं किसी कर्म-उपासनादि विधिशेषरूप अर्थके बोधक नहीं—' यह अर्थ श्रीभाष्यकारने ब्रह्मसूत्रके प्रथम अध्यायके चतुर्थ सूत्रके व्याख्यानमें विस्तारसे लिखा है। यदि किसी मंदमति पुरुषोंकी मीमांसा व वृत्तिकारादिके मतोंमें श्रद्धा हो और साथ ही उनका शास्त्रोंमें भी प्रवेश हो तो उन्हें भामतीनिबंध एवं ब्रह्मविद्याभरण आदि व्याख्यानसहित

भाष्यके विचारद्वारा अपने बुद्धि-दोषकी निवृत्ति करनी चाहिये। जिनकी बुद्धि सूत्र-भाष्यके विचारमें समर्थ न हो, उन्हें श्रीभाष्यकारके व्याख्यानसहित उपनिषद् ग्रन्थोंका विचार करना चाहिये। इससे उनको भलीभाँति स्पष्ट होगा कि वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य एकमात्र अहेय-अनुपादेय ब्रह्म-बोधमें ही है, उनका तात्पर्य न कर्म-विधिमें ही है और न उपासना विधिमें ही। क्योंकि लौकिक वाक्योंका तात्पर्य तो उनके प्रकरणादिसे जाना जाता है और वे प्रकरणादि काव्यप्रकाश व काव्यप्रदीपमें लिखे गये हैं।

१७ : वैदिक वाक्यके तात्पर्य-बोधक षड् लिंग

इस प्रकार यद्यपि लौकिक वाक्योंका तात्पर्य तो उनके प्रकरणोंसे जाना जाता है, परन्तु वैदिक वाक्योंके तात्पर्य-ज्ञानके हेतु तो षड्लिंग ही हैं। वे इस प्रकार—(१) उपक्रम और उपसंहारकी एकता, (२) अभ्यास, (३) अपूर्वता, (४) फल, (५) अर्थवाद और (६) उपपत्ति। इनसे वैदिक वाक्योंका तात्पर्य जाना जाता है, इसलिये ये तात्पर्यके बोधक लिंग कहलाते हैं, जैसे धूमरूप लिंगसे वह्नि जानी जाती है, अतः धूम वह्निका लिंग कहा जाता है। उपनिषदोंसे भिन्न कर्मकाण्डका बोधन करानेवाले वेदका तात्पर्य तो कर्म-विधिमें ही है, उनके उपक्रमोपसंहारादि तो जिस प्रकार कर्म-विधिमें हैं उनका निरूपण श्रीजैमिनिकृत द्वादशाध्यायीमें स्पष्ट है। परन्तु उपनिषद्रूप वेदके उपक्रमोपसंहारादि तो अद्वितीय ब्रह्ममें ही हैं, इसलिये अद्वितीय ब्रह्ममें ही उनका तात्पर्य है। जिस प्रकार उनका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें है उन षड् लिंगोंका प्रकार नीचे स्पष्ट किया जाता है—

(१) छांदोग्य-उपनिषद् षष्ठाध्यायका उपक्रम अर्थात् आरम्भ अद्वितीय ब्रह्मसे ही है और उपसंहार अर्थात् समाप्ति भी अद्वितीय ब्रह्ममें ही है। जो अर्थ आरम्भमें हो और समाप्ति भी उसी अर्थमें हो, वहाँ उसी अर्थमें 'उपक्रमोपसंहारकी एकरूपता' कही जाती है।

(२) पुनः-पुनः कथनका नाम 'अभ्यास' है। छांदोग्यउपनिषद्के षष्ठाध्यायमें नव बार 'तत्त्वमसि' महावाक्य आता है, इसलिये अभ्यास भी अद्वितीय ब्रह्ममें ही है।

(३) उपनिषद्से भिन्न प्रमाणान्तरसे अज्ञातताका नाम 'अपूर्वता' है। अर्थात् उपनिषद्रूप शब्द-प्रमाणके अतिरिक्त अद्वितीय ब्रह्म किसी अन्य प्रमाणका विषय नहीं है, इसलिये अद्वितीय ब्रह्ममें प्रमाणान्तरसे अज्ञाततारूप अपूर्वता है।

(४) अद्वितीय ब्रह्मके ज्ञानसे अज्ञानरूप मूलसहित शोकमोहकी निवृत्ति 'फल' कहा जाता है।

(५) स्तुति अथवा निन्दाका बोधक वचन 'अर्थवाद' कहलाता है। अद्वितीय ब्रह्मकी स्तुति तो उपनिषदोंमें स्पष्ट ही है।

(६) जो अर्थ कथन किया गया है, उसके अनुकूल युक्तिको 'उपपत्ति' कहते हैं। छांदोग्य-उपनिषद्में सकल पदार्थोंका ब्रह्मसे अभेद कथन करनेके लिये कारणसे कार्यका अभेद अनेक दृष्टांतोंसे कथन किया गया है।

इस प्रकार इन षड्लिंगोंसे सभी उपनिषदोंका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें ही जाना जाता है। श्रीभाष्यकारने उपनिषदोंके व्याख्यानमें वे षड् लिंग स्पष्ट लिखे हैं और उनसे वेदान्त-वाक्योंका अद्वितीय ब्रह्ममें ही तात्पर्य स्पष्ट निश्चित हो जाता है। क्योंकि जिस किसी अर्थमें वक्ताके तापर्त्यका ज्ञान होता है, श्रोताको उस अर्थका बोध केवल शब्दसे ही हो सकता है, इसीलिये शब्दकी शक्ति-वृत्ति अथवा लक्षणा-वृत्तिका ज्ञान ही एकमात्र शाब्द-बोधका हेतु हो सकता है।

१८ : शाब्द-बोधके सहकारी चार आकांक्षादिका वर्णन

शाब्द-बोधके सहकारी (१) आकांक्षा-ज्ञान, (२) योग्यता-ज्ञान, (३) तात्पर्य-ज्ञान और (४) आसक्ति—ये चार माने गये हैं। उनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

(१) एक पदार्थका पदार्थान्तरसे अन्वय-बोधके अभावका नाम 'आकांक्षा' है। वह आकांक्षा शाब्द-बोधमें सहकारी है और उस आकांक्षाके समाप्त हो जानेपर शाब्द-बोधकी उत्पत्ति होती है। जैसे 'अयमेति पुत्रो राज्ञः पुरुषोऽपसार्यताम्' इस वाक्यमें 'राज' पदार्थ, 'पुत्र' पदार्थ और 'पुरुष' पदार्थके अन्वय-बोधकी आकांक्षा शाब्द-बोधका हेतु होती है। उनमेंसे जब 'राज' पदार्थका 'पुत्र' पदार्थसे अन्वय-बोध हो जाता है, तब 'राज' पदार्थका 'पुरुष' पदार्थसे अन्वय-बोधकी आकांक्षाके अभावसे 'राज' व 'पुरुष' उन दोनोंका अन्वय-बोधरूप शाब्द-बोध भी नहीं होता। क्योंकि एक पदार्थका पदार्थान्तरसे अन्वय हो जानेके बाद फिर अन्वय-बोधाभावरूप आकांक्षा नहीं रहती। इसकी स्थूल रीति यह है कि आकांक्षा नाम इच्छाका है, वह यद्यपि चेतनमें होती है तथापि जितने समयतक एक पदके अर्थका पदार्थान्तरसे अन्वय-बोध न हो, उतने समयतक अपने अर्थके अन्वयके लिये पदार्थान्तरकी इच्छासदृश प्रतीत होती है, परन्तु अन्वय-बोध हो जानेके बाद उसकी प्रतीति नहीं होती। वही 'आकांक्षा' कही जाती है और वही शाब्द-बोधका हेतु है। ग्रन्थोंमें आकांक्षाका स्वरूप सूक्ष्म रीति से लिखा गया है वह कठिन है, इसलिये यहाँ रीतिमात्र ही जनाई गई है। उपर्युक्त वाक्यमें 'यह राजाका पुत्र आता है' इस प्रकार 'राज' पदार्थका 'पुत्र' पदार्थसे अन्वय-बोध हो जानेके बाद 'राज' पदार्थमें 'पुरुष' पदार्थसे अन्वय-बोधकी हेतु आकांक्षा नहीं रहती। इसलिये 'राजाके पुरुषको निकालो' ऐसा शाब्द-बोध भी नहीं होता, किन्तु 'पुरुषको निकालो' ऐसा ही शाब्द-बोध होता है। यदि आकांक्षा-ज्ञान शाब्द-बोधका हेतु न हो तो 'राजाका पुत्र आता है, राजके पुरुषको निकालो' ऐसा बोध होना चाहिये। इसलिये आकांक्षा-ज्ञान शाब्द-बोधका हेतु है, यह सिद्ध हुआ।

(२) एक पदार्थका पदार्थान्तरसे सम्बन्धका नाम 'योग्यता' है। जहाँ यह योग्यता न हो वहाँ शाब्द-बोध भी नहीं होता। जैसे 'वह्निना सिञ्चति' अर्थात् अग्निद्वारा सींचता है, इस वाक्यमें तृतीयाविभक्तिरूप वह्निवर्ति करणता-पदार्थका सिंचन-पदार्थमें निरूपकता-सम्बन्धरूप

योग्यता नहीं है, इसलिये ऐसा शाब्द-बोध भी नहीं होता। यदि योग्यता-ज्ञान शाब्द-बोधमें हेतु न हो तो इस वाक्यसे भी शाब्द-बोध होना चाहिये।

(३) वक्ताकी इच्छाका नाम तात्पर्य है। जिस अर्थमें तात्पर्य-ज्ञान न हो उसका शाब्द-बोध भी नहीं होता। जैसे 'सैंधवमानय' (सैंधव लाओ) 'सैंधव' नाम अश्वका भी है और लवणका भी। इस वाक्यसे भोजनके समय वक्ताका तात्पर्य अश्वमें सम्भव नहीं होता, इसलिये उस समय अश्वका शाब्द-बोध भी नहीं होता, तैसे ही गमनसमयमें लवणका शाब्द-बोध नहीं होता। यदि तात्पर्य-ज्ञान शाब्द-बोधका हेतु न हो तो 'सैंधवमानय' इस वाक्यसे भोजनसमयमें अश्वका और गमनसमयमें लवणका बोध होना चाहिये। इससे स्पष्ट है कि शाब्द-बोधमें तात्पर्य-ज्ञान हेतु है। यहाँ ऐसी शंका होती है—

'वक्ताकी इच्छाका नाम 'तात्पर्य' है। परन्तु शुक-वाक्यमें वक्ताकी कोई इच्छा नहीं होती, फिर भी शुक-वाक्यसे शाब्द-बोध होता है। तथा मीमांसक वेदको नित्य मानते हैं और ईश्वरका उनके मतमें अंगीकार नहीं है। इसके सिवा और कोई जीव वेदका कर्ता बन नहीं सकता, क्योंकि वेद नित्य हैं। इसलिये कर्ताके अभावसे वैदिक वाक्योंमें भी वक्ताकी इच्छारूप तात्पर्य-ज्ञान असम्भव है।'

मंजूषा ग्रन्थमें श्रीनागोजी भट्टने इस शंकाका इस प्रकार समाधान किया है—यदि तात्पर्य-ज्ञान सभी शाब्द-बोधोंका हेतु माना गया हो, तब यह दोष सम्भव हो। परन्तु सभी शाब्द-बोधोंका हेतु तात्पर्य-ज्ञान नहीं माना गया, किन्तु नाना अर्थवाले पदोंके सहित जो वाक्य, उस वाक्यसे उत्पन्न होनेवाले शाब्द-बोधका हेतु तात्पर्य-ज्ञान होता है। इसलिये यह दोष नहीं रहता।

श्रीप्रकाशात्म श्रीचरणने तो अपने विवरण ग्रन्थमें शाब्द-बोधकी हेतुतामें तात्पर्य-ज्ञानका सर्वथा ही निषेध किया है। परन्तु वास्तवमें इन दोनोंकी उक्ति समीचीन नहीं है। क्योंकि इन दोनोंके मतका अंगीकार कर

लेनेसे तो पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा जो वेद-वाक्योंके तात्पर्यके निर्णयके हेतु हैं, वे दोनों ही व्यर्थ सिद्ध होंगे। इसलिये तात्पर्यनिश्चय सभी शाब्द-बोधोंका हेतु है, ऐसा मानना पड़ेगा। 'शुक-वाक्यमें तथा कर्ताके अभावसे वैदिक वाक्योंमें तात्पर्य-ज्ञान सम्भव नहीं होता' इस शंकापर हमारा यह समाधान है--

यद्यपि मीमांसकके लिये वेद-कर्ताके तात्पर्यका ज्ञान तो सम्भव नहीं होता; तथापि वेद-वक्ता जो पाठक उसके तात्पर्यका ज्ञान तो सम्भव होता ही है, अर्थात् तात्पर्यके विना तो वेदपाठ ही निष्फल है। यद्यपि शुक-वाक्यमें तात्पर्य-ज्ञान सम्भव नहीं है; तथापि श्रोताको बोध करानेकी इच्छासे जो वाक्य उच्चारण किया जाय उसे 'बुबोधयिषाधीन वाक्य' कहा जाता है। यद्यपि शुक-वाक्य बुबोधयिषाधीन वाक्य नहीं है; तथापि वेद-वाक्य तो पाठककी वुबोधयिषाधीन ही है, इसलिये मानना चाहिये कि बुबोधयिषाधीन वाक्यजन्य ज्ञानमें तो तात्पर्य-ज्ञान हेतु है ही। बोध करानेकी इच्छाको 'बुबोधयिषा' कहते हैं। क्योंकि शुकको बोध करानेकी इच्छा नहीं है, इसलिये शुक-वाक्यजन्य ज्ञानमें तापर्य-ज्ञान हेतु नहीं। यद्यपि वेदान्त-परिभाषामें शुक-वाक्यमें भी तात्पर्य माना गया है, तथापि वह वक्ताकी इच्छारूप तात्पर्य नहीं बनता, किन्तु इष्ट अर्थके बोध करानेमें उसकी योग्यता है, यही इसका तात्पर्य कहा जा सकता है। इस विषयमें और भी शंका-समाधान हैं वे सब निष्फल ही हैं। सारांश, तात्पर्यका अर्थ 'वक्ताकी इच्छा' ही प्रसिद्ध है, इस अर्थको त्यागकर 'तात्पर्य' पदका और कोई पारिभाषिक अर्थ कल्पना करके शुक-वाक्यमें भी तात्पर्य-ज्ञानका प्रतिपादन करना, लोक-प्रसिद्धिसे विरोधके सिवा इसका और कोई फल नहीं हो सकता। क्योंकि 'शुकवाक्यं न तात्पर्यवत्' सर्वं लोकमें यही अनुभव प्रसिद्ध है, 'शुकवाक्यं तात्पर्यवत्' लोकमें ऐसा कोई भी नहीं कहता। इससे स्पष्ट हुआ कि बुबोधयिषाधीन वाक्यजन्य शाब्द-बोधमें तात्पर्य-ज्ञान अवश्य हेतु होता है। यद्यपि बोधरहित पुरुषके उच्चारण किये हुए वाक्यसे भी कुछ-न-कुछ शाब्द-बोध तो होता ही है, परन्तु वह वाक्य बुबोधयिषाधीन

नहीं कहा जा सकता, अतः उसके अर्थके बोधमें तात्पर्य-ज्ञान हेतु नहीं बनता। वेदान्त-परिभाषाकी टीकामें श्रीधर्मराजके पुत्रने ऐसा लिखा है कि मौनिरचित श्लोकमें भी वक्ताकी इच्छारूप तात्पर्य सम्भव नहीं होता, क्योंकि उच्चारणका कर्ता वक्ता कहा जाता है, परन्तु मौनि उच्चारण नहीं करता इसलिये मौनिकी इच्छा वक्ताकी इच्छा नहीं कही जा सकती। इसके समाधानमें शब्दरत्नव्याकरणमें यह विषय आता है कि यदि उच्चारणके विना ही शाब्द-बोध न होता हो तो उच्चारणविना एकान्तमें पुस्तक देखनेवालेको भी शाब्द-बोध न होना चाहिये। अर्थात् वहाँ भी पुस्तक देखनेवाला सूक्ष्म उच्चारण तो करता ही है। इस प्रकार मौनिलिखित श्लोकका उच्चारण-कर्ता मौनि ही है।

इसके अतिरिक्त श्रीअभेदरत्नकारका यह मत है कि जहाँ तात्पर्यका संदेह हो वहाँ शाब्द-बोध नहीं होता और जहाँ तात्पर्यके अभावका निश्चय हो जाय वहाँ भी शाब्द-बोध नहीं होता। परन्तु जहाँ प्रथम तात्पर्यका संदेह हो अथवा जहाँ तात्पर्यके अभावका निश्चय हो और फिर उत्तर कालमें तात्पर्यका निश्चय हो जाय, वहाँ शाब्द-बोध होता है। इसलिये तात्पर्यके संदेहके उत्तरकालभावि शाब्द-बोधमें और तात्पर्य-अभावनिश्चयके उत्तरकालभावि शाब्द-बोधमें तो तात्पर्य-ज्ञान हेतु होता है, परन्तु सभी शाब्द-बोधोंमें हेतु नहीं होता, ऐसा मानना चाहिये। वेदान्त-शिखामणि ग्रन्थमें इस मतमें भी दोष दिया गया है, परन्तु इसके खण्डनमें हमारा आग्रह नहीं है इसलिये यहाँ वह दोष लिखा नहीं गया। क्योंकि पूर्वोक्त विवरणकार और मंजूषाकारके मतको ग्रहण कर लेनेसे जैसे पूर्व व उत्तर दोनों मीमांसा निष्फल हो जाती हैं, तैसे इस मतके अनुसार दोनों मीमांसाएँ निष्फल नहीं होतीं। क्योंकि इस मतमें तात्पर्यके संदेहके बाद जो शाब्द-बोध होता है, उसमें तात्पर्य-ज्ञानको हेतु मान लिया गया है। वेद-वाक्योंमें तात्पर्यका संदेह तो स्वाभाविक ही है और उसकी निवृत्ति मीमांसाद्वारा ही हो सकती है। जिस प्रकार वेद-वाक्योंमें संदेह और उसकी निवृत्ति होती है, वह प्रकार पूर्व एवं उत्तर-मीमांसामें स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और तात्पर्य शाब्द-बोधके हेतु हैं, परन्तु ये आकांक्षादि अपने स्वरूपसे हेतु नहीं होते, किन्तु इनका ज्ञान हेतु होता है। क्योंकि जहाँ वस्तुतः वाक्य आकांक्षादिशून्य हो, परन्तु वहाँ आकांक्षादिका भ्रम हो जाय कि यहाँ आकांक्षादि हैं, ऐसे स्थलमें भी शाब्द-बोध होता है। यदि आकांक्षादि अपने स्वरूपसे ही शाब्द-बोधमें हेतु माने जायँ तो ऐसे आकांक्षादिके भ्रमस्थलमें शाब्द-बोध नहीं होना चाहिये, परन्तु होता है। इसके विपरीत यदि आकांक्षादिके ज्ञानको शाब्द-बोधमें हेतु माना जाय तो हेतुरूप ज्ञान होनेसे, चाहे वह भ्रमरूप ही है, शाब्द-बोध सम्भव होता है। यदि स्वरूपसे आकांक्षादि हेतु माने जायँ तो जहाँ वस्तुतः आकांक्षादि हैं भी, परन्तु श्रोताको ऐसा भ्रमज्ञान हो जाय कि यह वाक्य आकांक्षादिशून्य है, तब वहाँ शाब्द-बोध होना चाहिये। क्योंकि आकांक्षादि तो विद्यमान हैं ही, परन्तु आकांक्षादिके अभावका भ्रमज्ञान होनेसे यहाँ शाब्द-बोध नहीं होता। इससे सिद्ध हुआ कि आकांक्षादिका ज्ञान ही शाब्द-बोधमें हेतु है, स्वरूपसे आकांक्षादि हेतु नहीं। वह ज्ञान चाहे भ्रमरूप हो चाहे प्रमा, अर्थात् भ्रम-प्रमासाधारण आकांक्षादिका ज्ञान ही शाब्द-बोधका हेतु होता है। इतनी और विशेषता है कि शाब्द-बोध भ्रम-सामग्रीसे भ्रमरूप नहीं होता, किन्तु विषयके अभावसे ही भ्रमरूप होता है। जैसे वह्नि का व्यभिचारी जो पृथ्वीत्व, उसमें यदि वह्नि-व्याप्यताका भ्रम होकर उस पृथ्वीत्व-हेतुसे वह्निवाले पर्वतमें वह्निका अनुमिति-ज्ञान हो तो विषयके सद्भावसे वह ज्ञान प्रमारूप ही होता है, चाहे ज्ञानकी सामग्री व्यभिचारी ही है। परन्तु विषयशून्य देशमें तो व्यभिचारी हेतुसे अनुमिति भी भ्रमरूप ही होती है। इस प्रकार विषयके सद्भावसे जैसे भ्रम-सामग्रीसे भी अनुमिति प्रमारूप ही होती है, तैसे शाब्द-बोधकी सामग्री आकांक्षादिका ज्ञान चाहे भ्रमरूप हो अथवा प्रमा, परन्तु जहाँ विषयका सद्भाव हो वहाँ तो शाब्द-बोध भी प्रमा और जहाँ विषयका असद्भाव हो वहाँ शाब्द-बोध भी भ्रमरूप ही होता है। परन्तु इतनी विशेषता और है कि योग्यताज्ञान जहाँ भ्रमरूप हो वहाँ तो शाब्द-बोध भी

नियमसे भ्रमरूप ही होता है, प्रमारूप हो ही नहीं सकता। क्योंकि जहाँ शाब्द-बोधका विषय विद्यमान होता है, वहाँ नियमसे योग्यता-ज्ञान प्रमा ही होता है और जहाँ योग्यता-ज्ञान भ्रमरूप होता है वहाँ नियमसे शाब्द-बोधका विषय होता ही नहीं। इसलिये यह नियम किया जाता है कि विषयके सद्भावसे शाब्द-बोध प्रमारूप और विषयके अभावसे शाब्द-बोध भ्रमरूप होता है, उसकी सामग्री चाहे भ्रमरूप हो चाहे प्रमा।

(४) जैसे आकांक्षादिके ज्ञान शाब्द-बोधके हेतु होते हैं, तैसे चतुर्थ आसत्ति भी शाब्द-बोधकी हेतु होती है। न्यायग्रन्थोंमें पदोंकी समीपताको 'आसत्ति' कहते हैं, क्योंकि व्यवहित पदोंके अर्थोंका बोध नहीं होता। जैसे 'गिरिर्भुक्तं वह्निमान् देवदत्तेन' इस वाक्यसे अन्वय-बोध नहीं हो सकता, किन्तु 'गिरिर्वह्निमान् भुक्तं देवदत्तेन' इस वाक्यसे ही शाब्द-बोध होता है। इसलिये पदोंकी समीपतारूप आसत्ति भी शाब्द-बोधका हेतु है। जहाँ समीपता न हो, परन्तु समीपताका भ्रम हो जाय, वहाँ भी शाब्द-बोध होता है, इसलिये भ्रम-प्रमासाधारण आसत्तिका ज्ञान ही हेतु होता है स्वरूपसे आसत्ति हेतु नहीं होती। ग्रन्थकारोंने ऐसा भी लिखा है कि जहाँ व्यवहित पद हों वहाँ भी श्लोकादिमें शाब्द-बोध होता है। इस-लिये उक्त आसत्ति ही शाब्द-बोधका हेतु नहीं, किन्तु शक्ति अथवा लक्षणा-रूप पदोंके सम्बन्धसे पदार्थोंकी जो व्यवधानरहित स्मृति, ऐसी आसत्ति शाब्द-बोधका हेतु होती है। पदोंका चाहे व्यवधान हो चाहे अव्यवधान, परन्तु जिस पदार्थका जिस पदार्थसे अन्वय-बोध बनता हो उन पदार्थोंकी स्मृति व्यवधानरहित होनी चाहिये। अन्वय-बोधकी व्यवधानरहित स्मृतिके विना यदि पदार्थोंकी स्मृतिमात्रसे ही शाब्द-बोध माना जाय तो किसी भी रीतिसे जिस पदार्थकी स्मृति हो जाय, उसका ही शाब्द-बोध हो जाना चाहिये। यदि पदके सम्बन्धमात्रसे पदार्थकी स्मृतिको शाब्द-बोधका हेतु कहा जाय तो सकल पदोंका आकाशमें समवाय-सम्बन्ध है तथा सकल पदोंका आत्मामें स्वानुकूलकृति-सम्बन्ध है। इसलिये घटादि पदके समवाय-सम्बन्धसे जहाँ आकाशकी स्मृति हो और स्वानुकूलकृति-

सम्बन्धसे जहाँ आत्माकी स्मृति हो, वहाँ 'घटमानय' इत्यादि वाक्योंसे पदोंके सम्बन्धी आकाश व आत्माका भी शाब्द-बोध होना चाहिये। इससे स्पष्ट हुआ कि न पदार्थोंकी स्मृतिमात्र ही शाब्द-बोधका हेतु है और न पदोंका सम्बन्धमात्र ही शाब्द-बोधका हेतु है, किन्तु शक्तिवृत्ति अथवा लक्षणा-वृत्तिरूप पदोंके सम्बन्धसे पदार्थोंकी स्मृति ही शाब्द-बोधका हेतु होती है। यद्यपि घटादि पदोंका समवाय-सम्बन्ध आकाशमें और स्वानुकूलकृति-सम्बन्ध आत्मामें है, परन्तु घटादि पदोंका शक्तिवृत्तिरूप अथवा लक्षणावृत्तिरूप सम्बन्ध आकाश एवं आत्मामें नहीं है। किन्तु आकाश-गगनादि पदोंका शक्तिरूप सम्बन्ध आकाशमें और स्व-पद व आत्म-पदका शक्तिरूप सम्बन्ध आत्मामें है, इसीलिये आकाश-पदसहित वाक्यसे आकाशका और आत्म-पदसहित वाक्यसे आत्माका शाब्द-बोध होता है। अतः जिस पदके वृत्तिरूप सम्बन्धसे जिस पदार्थकी स्मृति हो उसीका शाब्द-बोध होता है, यह सिद्ध हुआ। यदि ऐसा कहा जाय कि 'घटमानय' इस प्रथम वाक्यसे जो बोध होता है उस बोधकी उत्पत्ति 'घटः कर्मता, आनयनं कृतिः' इस दूसरे वाक्यके इतने पदोंसे होती है और क्योंकि दोनों वाक्योंके पदोंकी शक्ति समान है इसलिये दोनोंसे ही बोध होना चाहिये, परन्तु प्रथम वाक्यसे तो शाब्द-बोध होता है और दूसरेसे नहीं। इसमें हेतु यह है कि योग्य पदकी वृत्तिसे जिस पदार्थकी स्मृति हो उसका ही शाब्द-बोध होता है, यहाँ प्रथम वाक्यके पद तो योग्य हैं परन्तु दूसरेके नहीं। योग्यता-अयोग्यता अनुभवके अनुसार अनुमेय हैं। शाब्द-बोध जिन पदोंसे अनुभवसिद्ध है उनमें योग्यता और जिन पदोंसे शाब्द-बोधका अभाव अनुभवसिद्ध है उनमें अयोग्यता जान लेनी चाहिये। इस प्रकार योग्य पदोंके वृत्तिरूप सम्बन्धसे पदार्थोंकी व्यवधानरहित स्मृतिका नाम 'आसत्ति' कहा जाता है। इस प्रकारकी आसत्ति तो अपने स्वरूपसे ही शाब्द-बोधका हेतु होती है, उसका ज्ञान नहीं।

इस प्रकार आकांक्षा-ज्ञान, योग्यता-ज्ञान, तात्पर्य-ज्ञान और आसत्ति—ये चार शाब्द-बोधके हेतु हैं और इन चारोंको शाब्द-सामग्री कहा जाता है।

१९ : उत्कट जिज्ञासुको बोधकी हेतुता

इस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञानकी सामग्री तो इन्द्रिय-संयोगादि हैं और अनुमिति-ज्ञानकी सामग्री व्याप्ति-ज्ञान है। जहाँ दो ज्ञानोंकी दो सामग्री हों वहाँ दोनोंका फल समकालीन नहीं होता, क्योंकि एक क्षणमें दो ज्ञानों-की उत्पत्ति असम्भव है। यद्यपि व्यधिकरण ज्ञानद्वयका आधार तो एक क्षण हो सकता है, जैसे देवदत्तका ज्ञान और यज्ञदत्तका ज्ञान व्यधिकरण है, इसलिये उन दोनोंके अपने-अपने व्यधिकरण ज्ञानोंकी उत्पत्ति एक क्षणमें हो सकती है। परन्तु समानाधिकरण देवदत्तके दो ज्ञानोंकी उत्पत्ति-का आधार एक क्षण नहीं हो सकता, यह सिद्धांत है। इस प्रकार दो ज्ञानों-की दोनों सामग्रीका फल एक कालमें नहीं होता, किन्तु इनमेंसे जो प्रबल हो उसका तो फल होता है और दुर्बलका बाध हो जाता है। प्रबलता-दुर्बलता अनुभवके अनुसार अनुमेय हैं। जैसे भूतल एवं घटके साथ नेत्रका संयोग हो और उस कालमें 'घटवद्भूतलम्' (घटवाला भूतल है) ऐसे वाक्य-का श्रवण भी हो, वहाँ यद्यपि 'घटवाला भूतल है' ऐसी प्रत्यक्ष-ज्ञान और शाब्द-ज्ञानकी दोनों सामग्री हैं; तथापि प्रत्यक्ष-ज्ञान तो होता है, परन्तु शाब्द-ज्ञान नहीं होता। इसलिये जहाँ समानविषयक प्रत्यक्ष-ज्ञान और शाब्द-ज्ञानकी दो सामग्री हों, वहाँ प्रत्यक्ष-ज्ञानकी सामग्री प्रबल और शाब्द-ज्ञानकी दुर्बल होती है। परन्तु जहाँ भूतलसंयुक्त घटसे नेत्रका संयोग हो और उसी कालमें 'पुत्रस्ते जातः' (तुम्हारे पुत्र हुआ है) इस वाक्यका श्रवण भी हो, वहाँ भूतलमें घटका तो प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु पुत्र-जन्मका शाब्द-बोध होता है। इस प्रकार जहाँ भिन्नविषयक ज्ञानोंकी प्रत्यक्ष और शाब्द दो सामग्रीयाँ हों वहाँ शाब्द-सामग्री प्रबल और प्रत्यक्ष दुर्बल होती है। इसी प्रकार सूक्ष्मदर्शी पुरुषको बाध्य-बाधकभावका विचार करके प्रबलता-दुर्बलता जान लेनी चाहिये और यह बाध्य-बाधकभाव

जिज्ञासाशून्य स्थलमें ही घटित होता है। परन्तु जहाँ एक वस्तुकी जिज्ञासा हो और अपरकी नहीं, इसके साथ ही सामग्री दोनोंके बोधकी हो, वहाँ जिज्ञासितका तो बोध हो जाता है, परन्तु अजिज्ञासितका नहीं होता। इसलिये जिज्ञासितके बोधकी सामग्री प्रबल और अजिज्ञासितकी दुर्बल जाननी चाहिये। ज्ञानकी इच्छाको 'जिज्ञासा' कहते हैं और उसके विषयको 'जिज्ञासित' कहा जाता है। यद्यपि जिज्ञासासहित सामग्री सभी प्रबल हैं, परन्तु जहाँ उभयकी जिज्ञासा हो वहाँ उत्कट जिज्ञासा प्रबल व बाधक है। इसीलिये अध्यात्म ग्रन्थोंमें लिखा है कि उत्कट जिज्ञासावालेको ही ब्रह्म-बोध होता है, उत्कट जिज्ञासारहितको नहीं होता। क्योंकि जिस पदार्थकी जिज्ञासासहित बोध-सामग्री हो, उसका तो उत्कट जिज्ञासा-सहित बोध-सामग्रीसे बाध हो जाता है, अन्यथा केवल जिज्ञासासहित सामग्री ही अन्य लौकिक बोध-सामग्री का बाधक होती है। क्योंकि लौकिक पदार्थोंकी जिज्ञासा और उनके प्रत्यक्षादि बोधकी सामग्री तो सर्वदा जाग्रत-कालमें ही सम्भव होती है और उससे जिज्ञासारहित ब्रह्म-बोधकी सामग्रीका बाध भी स्वाभाविक ही है, इसलिये जिज्ञासासहित लौकिक पदार्थोंकी प्रत्यक्षादि बोध-सामग्रीके बाधके लिये एकमात्र ब्रह्म-बोधकी उत्कट जिज्ञासा ही चाहिये। उस उत्कट जिज्ञासासहित ब्रह्म-बोधकी सामग्रीसे ही लौकिक-सामग्रीका बाध होता है।

'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' इस वेदान्त-सूत्रका भी इसी उपर्युक्त अर्थमें तात्पर्य है। यद्यपि व्याख्यानकारोंने 'जिज्ञासा' पदकी 'विचार' में लक्षणा कथन की है और 'कर्तव्य' पदका अध्याहार किया है, इससे 'ब्रह्म-ज्ञानके लिये वेदान्त-वाक्योंका विचार कर्तव्य है' ऐसा इस सूत्रका अर्थ निकलता है। तथापि इस सूत्रमें जो वाचक-पद 'विचार' को त्यागकर लाक्षणिक-पद 'जिज्ञासा' का प्रयोग किया गया है, उससे सूत्रकारका तात्पर्य वाच्य व लक्ष्य दोनों अर्थोंके ग्रहण करनेमें है। अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासा ब्रह्म-विचारका हेतु है, ऐसा वाच्यार्थ होता है। यदि ऐसी शंका की जाय कि एक पदसे शक्ति-वृत्ति और लक्षणा-वृत्तिरूप दो अर्थोंका बोध नहीं होता तो इस उक्तिका

'गंगायां मीनघोषौ' इस वाक्यमें व्यभिचार पाया जानेसे यह शंका श्रद्धा-योग्य नहीं रहती। क्योंकि 'गंगायां मीनघोषौ' इस वाक्यमें 'गंगा' पदके वाच्यार्थका मीनसे और लक्ष्यार्थका घोषसे सम्बन्ध होता है, इसलिये 'गंगाके प्रवाहमें मीन और तीरमें ग्राम हैं' ऐसा वाक्यार्थ होता है। इस प्रकार यद्यपि ग्रन्थकारोंने सूत्रोंके अनेक अर्थ लिखे हैं, तथापि वे अनेक अर्थ सूत्रोंके भूषण हैं। यहाँ 'विचार' के समान 'जिज्ञासा' में विधि सम्भव है या नहीं, इस अर्थके लिखनेमें ग्रन्थकी वृद्धि होती है, इसलिये यहाँ नहीं लिखा गया।

२० : वेदान्तका तात्पर्य तथा वेद व शब्दके विषयमें विचार

'आकांक्षा-ज्ञानादि शाब्द-बोधके हेतु हैं उनमें तात्पर्य-ज्ञान भी है तथा वेद-वाक्यके तात्पर्य-ज्ञानके हेतु उपक्रमोपसंहारादि हैं, उनसे वेदान्त-वाक्योंका तात्पर्य अद्वितीय ब्रह्ममें ही है, कर्म अथवा उपासना-विधिमें नहीं' ऐसा ऊपर निरूपण किया गया और श्रीभाष्यकारने भी यही अर्थ 'तत्तु समन्वयात्' इस चतुर्थ ब्रह्मसूत्रके व्याख्यानमें विस्तारसे लिखा है। इसलिये मीमांसक तथा वृत्तिकारका मत जैसा पीछे अंक १५ व १६ में वर्णन किया गया है, वह समीचीन नहीं है। उनके मतखण्डनके अनुकूल तर्क भाषाके श्रोताके लिये दुर्ज्ञेय हैं, इसलिये वे यहाँ नहीं लिखे गये। 'श्रोताको इस वाक्यसे इस अर्थका बोध हो' ऐसी वक्ताकी इच्छा 'तात्पर्य' कहाती है। मीमांसकमतमें तो वेद नित्य हैं, इसलिये वहाँ तो कर्ताकी इच्छा असम्भव ही है, किन्तु अध्यापककी इच्छा ही सम्भव होती है। इसके विपरीत न्याय-मतमें शब्दका तीसरे क्षणमें नाश माना गया है और चूँकि वेद भी शब्दरूप ही हैं, इसलिये इस मतमें वेद भी क्षणिक ही हैं नित्य नहीं। जिसका तीसरे क्षणमें नाश हो, वह 'क्षणिक' कहा गया है। न्याय-मतमें उच्चारणके भेदसे भी वेदका भेद ही है, क्योंकि एक बार उच्चारण करके फिर उसी वाक्यका उच्चारण किया जाय तब वह वाक्य वास्तवमें पूर्व वाक्यसे भिन्न ही होता है और पूर्व वाक्यके सजातीय ही वह उत्तर वाक्य होता है, परन्तु

उस सजातीयमें अभेदका केवल भ्रम ही होता है। इसके साथ ही न्याय-मतमें भारतादिके समान वेद भी पौरुषेय और क्षणिक ही हैं, क्योंकि वेद वर्णसमुदायसे पृथक् तो हैं नहीं, किन्तु वर्णसमुदायका नाम ही वेद है। वह समुदाय प्रत्येक वर्णसे न्यारा नहीं, इसलिये वेद वर्णरूप ही हैं और वह वर्ण शब्दरूप ही है तथा शब्द आकाशका गुण है, यह स्पष्ट हुआ। अतः नाना शब्दोंकी एक कालमें उत्पत्तिअसम्भवहै, क्योंकि,न्याय-मतानुसार जैसे ज्ञानादि आत्माके विशेष गुण हैं, तैसे शब्द भी आकाशका गुणविशेष है और विभुके जो विशेष गुण होते हैं वे एक कालमें दो उत्पन्न हो नहीं सकते, यह नियम है। हाँ, देवदत्तका शब्द और यज्ञदत्तका शब्द तो एक कालमें हो सकता है और भेरी व तालका शब्द भी एक कालमें हो सकता है। इस प्रकार यद्यपि 'व्यधिकरण' होनेसे भेरी-तालादिके शब्द तो एक कालमें हो सकते हैं, परन्तु समानाधिकरण दो शब्दोंकी एक कालमें उत्पत्तिका असम्भव है, जैसे समानाधिकरण होनेसे देवदत्तके दो शब्द एक कालमें उत्पन्न नहीं हो सकते। तथापि सभी शब्दोंका समवाय-सम्बन्ध तो एक आकाशमें ही है और सभी शब्द समवाय-सम्बन्धसे आकाशवर्ति होनेसे समानाधिकरण ही हैं, व्यधिकरण कोई भी नहीं है, इसलिये कोई भी दो शब्द एक कालमें उत्पन्न न होने चाहियें। यद्यपि ऐसा है, तथापि यह मानना पड़ेगा कि जैसे शब्दका आकाशमें समवाय-सम्बन्ध है, तैसे कण्ठ, तालु, दन्त, नासिका, ओष्ठ, जिह्वामूल, उरस् एवं शिरस्-इन अष्ट अंगोंमें वर्णरूप शब्दका अवच्छेदकता-सम्बन्ध भी है और ध्वनिरूप शब्दका भेरी-तालादिमें अवच्छेदकता-सम्बन्ध है। एक अधिकरण वर्तिको समानाधिकरण कहते हैं। इस प्रकार यद्यपि सभी शब्द समवाय-सम्बन्धसे आकाशवर्ति होनेसे समानाधिकरण हैं भी, परन्तु अवच्छेदकता-सम्बन्धसे तो देवदत्त शब्द और यज्ञदत्त शब्द व्यधिकरण ही हैं, तैसे ही भेरी व तालके शब्द भी अवच्छेदकता-सम्बन्धसे व्यधिकरण ही हैं और यह नियम है कि अवच्छेदकता-सम्बन्धसे एक अधिकरणमें दो शब्दोंकी समकालीन उत्पत्ति नहीं हो सकती। आशय यह कि एक अवच्छेदकमें दो शब्द समकालीन उत्पन्न नहीं हो सकते।

इसलिये वाक्य व पदके अवयवरूप जो वर्ण हैं उनकी एक कालमें उत्पत्तिका असम्भव है, किन्तु सभी वर्ण क्रम-क्रमसे उपजते हैं ।

यह तो वर्णोंकी क्रमशः उत्पत्तिके विषयमें विचार हुआ, अब उनके नाशके विषयमें विचार किया जाता है । यहाँ यह मानना पड़ेगा कि इस प्रकार क्रमशः उत्पन्न होनेवाले वर्णोंका किसी निमित्तसे ही नाश होता है । यदि निमित्तके विना ही उनका नाश माना जाय तो सभी वर्णोंकी प्रथम क्षणमें उत्पत्ति और द्वितीय क्षणमें नाश होगा और फिर उत्पत्ति-नाशके सिवा शब्दमें और कोई प्रत्यक्षादि व्यापारकी सिद्धि ही न रहेगी । इसलिये क्रमशः उत्पन्न होनेवाले वर्णोंके नाशका अवश्य कोई निमित्त मानना चाहिये कि जिस निमित्तके विना वर्णका द्वितीय क्षणमें नाश नहीं होता । वहाँ और तो कोई वर्णनाशका निमित्त सम्भव होता नहीं है, किन्तु पूर्व वर्णके नाशका हेतु स्वोत्तरवर्ति वर्ण ही हो सकता है । जैसे 'गौः' इस वाक्यमें पुरुषकी कृतिसे नाभिदेशसे वायुमें क्रिया होकर प्रथम गकारका जनक जिह्वामूलमें वायुका संयोग होकर, फिर औकारका जनक कण्ठ-ओष्ठसे वायुका संयोग होकर, तदनन्तर विसर्ग (:)का जनक कण्ठसे वायुका संयोग होता है । इस प्रकार जिस क्रमसे ये तीन संयोग होते हैं, उसी क्रमसे गकार, औकार और विसर्गरूप तीन वर्ण उत्पन्न होते हैं । यद्यपि कौमुदी आदि ग्रन्थोंमें कवर्गका कण्ठस्थान लिखा है; तथापि पाणिनिकृत शिक्षामें कवर्गका स्थान जिह्वामूल ही लिखा गया है । इसलिये उस शिक्षा-वचनके अनुसार यहाँ जिह्वामूलमें वायुके संयोगसे गकारकी उत्पत्ति कही गई है । यद्यपि व्याकरण-मतमें 'गौः' इतने वर्ण वाक्यरूप नहीं हैं; तथापि न्याय-मतमें यह वाक्य माना गया है । इस मतमें प्रथम गकार, फिर औकार और फिर विसर्गकी उत्पत्ति मानी गई है और गकारके नाशमें औकार तथा औकारके नाशमें विसर्ग हेतु माना गया है । इसके साथ ही इस मतमें दूसरे क्षणमें नहीं किन्तु तृतीय क्षणमें वर्णका नाश माना गया है, क्योंकि नाशका हेतु स्वोत्तर शब्द है जो दूसरे क्षणमें तो उपजता है और तीसरे क्षणमें नाश करता है, कारणकी सिद्धिके पश्चात्

ही कार्य होता है यह नियम है । इस मतके अनुसार प्रथम क्षणमें द्वितीय शब्द (वर्ण) असिद्ध है, इसलिये द्वितीय क्षणमें सिद्ध द्वितीय शब्दसे तृतीय क्षणमें प्रथम शब्दका नाश होता है और इसी प्रकार तृतीय शब्दसे द्वितीय शब्दका नाश होता है । इसी रीतिसे उपांत्य शब्दपर्यन्त स्वोत्तरवर्ति शब्दसे स्वपूर्व शब्दका नाश होता रहता है और अंत्य शब्दका उपांत्य शब्दसे सुन्दोप सुन्द-न्यायसे नाश हो जाता है । सुंद और उपसुंद दो भ्राता हुए हैं, भारतमें उनका परस्पर नाश प्रसिद्ध है । परन्तु इसमें यह दोष आता है कि यदि उपांत्य शब्दसे अन्त्य शब्दका नाश माना जाय तो अन्त्य शब्दका दूसरे क्षणमें ही नाश मानना होगा, इसलिये अन्त्य शब्द उत्पत्ति-नाशके सिवा अन्य व्यापार-रहित और अप्रत्यक्ष ही रहना चाहिये । यदि ऐसा कहा जाय कि 'श्रीजगदीश भट्टाचार्यने अन्त्य शब्द अप्रत्यक्ष ही माना है इसलिये अप्रत्यक्षका अपादन (आपादन) इष्ट है दोष नहीं' फिर भी 'तृतीय क्षणमें शब्दका नाश होता हैं' इस नियमका भंग होगा । इसलिये अन्त्य शब्दके नाशमें उपान्त्य शब्द हेतु नहीं किन्तु उपान्त्यका नाश हेतु है, इस पक्षके ग्रहण कर लेनेपर अन्त्य शब्दके नाशमें द्वितीय क्षणमें नाशकी आपत्ति नहीं रहती । क्योंकि उपान्त्य शब्दका नाश तो तीसरे क्षणमें अन्त्य शब्दसे होता ही है और अन्त्य शब्दके दूसरे क्षणमें उपान्त्यका नाश होकर उससे उत्तर तीसरे क्षणमें अन्त्यका नाश होता है । इस प्रकार सभी शब्दोंका तीसरे क्षणमें नाश सिद्ध होता है ।

यहाँ ऐसी शंका होती है—'जहाँ एक ही वर्णरूप शब्द हो वहाँ तो शब्दके नाशका हेतु अन्य कोई शब्द ही नहीं है ।' इस शंकाका समाधान न्याय-मतमें इस प्रकार है—

जैसे वायुका कण्ठादिदेशसे संयोग वर्णरूप शब्दकी उत्पत्तिका हेतु है और दण्डादिका भेरी आदिसे संयोग ध्वनिरूप शब्दकी उत्पत्तिका हेतु है एवं वंशके दलद्वयका विभाग ध्वनिरूप शब्दकी उत्पत्तिका हेतु है, तैसे ही शब्द भी शब्दकी उत्पत्तिका हेतु है । क्योंकि यह नियम है कि भेरीदण्डके संयोगसे जो शब्द भेरी-देशमें उत्पन्न होता है उसीका श्रवण-साक्षात्कार

नहीं होता, किन्तु भेरी-देशमें उत्पन्न हुए शब्दसे प्रतिध्वनिरूप जो अन्य शब्द उत्पन्न होता है उसीका श्रवणद्वारा साक्षात्कार होता है । तैसे ही वायुके संयोगसे कण्ठादि-देशमें जो वर्णरूप शब्द उपजता है उसीका श्रोत्र-साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु उस वर्णरूप शब्दसे प्रतिध्वनिरूप अन्य शब्दंका ही साक्षात्कार होता है। इस प्रकार जैसा शंकावादीने कहा है, अन्य शब्दरहित एक ही शब्द अलीक है । इसके साथ ही वर्णका समुदायरूप जो पद है, उस पदकी तो एक कालमें उत्पत्ति सम्भव भी नहीं होती, इसलिये पदका साक्षात्कार तो सम्भव होता नहीं है, किन्तु प्रत्येक वर्णके साक्षात्कारसे उन सकल वर्णोंको विषय करनेवाली एक स्मृति होती है । उस स्मार्त-पदसे फिर पदार्थकी स्मृति होती है और फिर शाब्द-बोध होता है । अथवा यों कहिये कि पूर्व-पूर्व वर्णके अनुभवसे संस्कार होता है और संस्कारसहित अंत्य वर्णके अनुभवसे पदका अनुभव होता है, पदानुभवसे पदार्थकी स्मृति होती है और उससे शाब्द-बोध होता है । इस प्रकार यह तो न्यायका मत है ।

इसके विपरीत मीमांसा-मतमें तो वर्ण नित्य हैं और वर्णसमुदायरूप वेद भी नित्य हैं, इसके साथ ही सारे वर्ण विभु हैं । जहाँ कण्ठादिदेशमें अध्यात्म वायुका संयोग होता है वहाँ वर्णोंकी अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं । न्याय-मतमें वर्णोंकी उत्पत्तिमें जो हेतु माने गये हैं, मीमांसा-मतमें वे सभी वर्णोंकी अभिव्यक्तिमें हेतुरूप ग्रहण किये गये हैं । इस प्रकार इस मतमें वर्णसमुदायरूप वेद नित्य हैं और इसीलिये वे अपौरुषेय हैं।

वेदान्त-मतमें वर्ण और उनका समुदायरूप वेद नित्य नहीं हैं, क्योंकि श्रुतिने वेदकी उत्पत्ति कथन की है और चेतनसे भिन्न सभी अनित्य है । इसलिये वेद नित्य नहीं और क्षणिक भी नहीं, किन्तु सृष्टिके आदि कालमें सर्वज्ञ ईश्वरके संकल्पमात्रसे वेदकी उत्पत्ति होती है, इसलिये अनायास श्वासकी भाँति ईश्वर वेदको रचता है। जिस प्रकार न्याय-मतमें भारतादिके समान वेद पौरुषेय हैं, उसी प्रकार वेदान्त-मतमें भारतादिकी भाँति ईश्वर-रूप पुरुषद्वारा रचित होनेसे वेद पौरुषेय तो हैं, परन्तु इतना भेद है कि जहाँ

सर्वज्ञ श्रीव्यासादि सकल सर्गोंमें भारतादिको रचते हैं, वहाँ यह नियम नहीं कि पूर्व सर्गमें जैसी आनुपूर्वी रही है उत्तर सर्गमें वैसे ही आनुपूर्वीवाले भारतादि हों, किन्तु वे अपनी इच्छानुसार भारतादिकी आनुपूर्वी रचते हैं। परन्तु वेदकी आनुपूर्वी विलक्षण नहीं होती, किन्तु सर्वज्ञ ईश्वर तो पूर्व सर्गकी आनुपूर्वीको स्मरण करके उत्तर सर्गमें पूर्व सर्गके समान ही आनुपूर्वीवाले वेदको रचता है। इस प्रकार पुरुषरचिततारूप पौरुषेयता तो वेदमें भारतादिके समान ही है, परन्तु भारतादिमें अन्य सर्गकी आनुपूर्वीके स्मरणविना पुरुषरचितत्वरूप पौरुषेयता है और वेदमें ऐसा नहीं। किन्तु वेदमें तो पूर्व सर्गकी आनुपूर्वीको स्मरण करके ही पुरुषरचितत्व है, इसलिये वेदकी आनुपूर्वी अनादि है और ईश्वररूप पुरुषद्वारा रचित है॥

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें शव्द-प्रमाण-निरूपणं नामक
तृतीय प्रकाश समाप्त हुआ॥

चतुर्थ प्रकाश

उपमान-प्रमाण-निरूपण

१ : क्रमभंगके अभिप्रायपूर्वक न्याय-रीतिसे उपमान व उपमितिका द्विधा स्वरूप

यद्यपि न्याय-वेदान्तके सभी ग्रन्थोंमें उपमान-प्रमाणके निरूपणके पश्चात् ही शब्द-प्रमाणका निरूपण किया गया है; तथापि सांख्यादि जो तीन प्रमाण ही माननेवाले हैं वे उपमान-प्रमाणको नहीं मानते हैं और वे प्रत्यक्ष, अनुमान एवं शब्द ये तीन ही प्रमाण मानते हैं। इसलिये प्रथम उनके उपयोगी प्रमाणोंका निरूपण करना आवश्यक हुआ और इसीलिये यहाँ शब्द-प्रमाणके पश्चात् उपमान-प्रमाण निरूपण किया जाता है। जिस क्रमसे शास्त्रोंमें अधिक प्रमाणोंका अंगीकार किया गया है, उसी क्रमसे इस ग्रन्थमें प्रमाणोंका निरूपण किया जा रहा है, इसलिये यहाँ अन्य संगतिकी अपेक्षा नहीं है।

उपमिति-प्रमाके करणको उपमान-प्रमाण कहते हैं। न्यायरीतिसे संज्ञीमें संज्ञाकी वाच्यताका जो ज्ञान वह 'उपमिति-प्रमा' कहा जाता है और उसके करण अर्थात् व्यापारवाले असाधारण कारणको 'उपमान-प्रमाण' कहा गया है। जैसे कोई नगरवासी पुरुष 'गवय' पदके वाच्यको न जानकर किसी अरण्यक पुरुषसे ऐसा प्रश्न करे कि 'गवय कैसा होता है?' तब अरण्यक पुरुषके ऐसे वचनको सुनकर कि 'गौके सदृश गवय होता है' और इस वाक्यार्थका अनुभव करके तथा वनमें गोसदृश गवयको देखकर 'गौके सदृश गवय होता है' इस प्रकार उस वाक्यार्थका स्मरण करता है। तदनन्तर दृष्ट पशुमें 'गवय' पदकी वाच्यताको जानता है। वहाँ उस

पशुविशेषमें 'गवय' पदकी वाच्यताका ज्ञान तो उपमिति-प्रमा है और अरण्यकपुरुषबोधित वाक्यके अर्थका शाब्दानुभव उपमानप्रमाणरूप करण है। गोसदृश पिंडको देखकर वाक्यार्थकी स्मृति व्यापार है और संस्कारका उद्बोधक होनेसे गोसदृश पिंडका प्रत्यक्ष सहकारी है। इस प्रकार वाक्यार्थानुभव उपमान, वाक्यार्थ-स्मृति व्यापार, गोसदृश पिंडका प्रत्यक्ष सहकारी और उपमिति फल है। ऐसा साम्प्रदायिक नैयायिकोंका मत है।

नवीन नैयायिकोंका मत ऐसा है कि गोसदृश पिंडका प्रत्यक्ष जो ऊपर सहकारी माना गया है वह तो उपमान है और वाक्यार्थ-स्मृति व्यापार है तथा 'गवय' पदकी वाच्यताका ज्ञान उपमितिरूप फल है। इस मतमें वाक्यार्थका अनुभव कारणका कारण होनेसे कुलाल-पिताके समान अन्यथा-सिद्ध है। अर्थ यह कि जैसे कुलाल-पिता घटकी सामग्रीसे बाह्य होता है, तैसे यह वाक्यार्थ-अनुभव भी उपमिति-सामग्रीसे बाह्य है। इस प्रकार नैयायिकोंके ये दो मत हैं। न्यायकौस्तुभादि ग्रन्थोंमें इन दोनों मतोंपर अनेक शंका-समाधानरूप विचार लिखे गये हैं, परन्तु सिद्धान्तमें उपयोगी न होनेसे हमने उन्हें यहाँ नहीं लिखा।

जैसे सादृश्य-ज्ञानसे उपमिति होती है, तैसे उपमिति विधर्मज्ञानसे भी होती है। जहाँ 'खड्गमृग (गैंडा)' पदके वाच्यको न जाननेवाला पुरुष किसी अरण्यकपुरुषसे ऐसा श्रवण करे कि 'उष्ट्रविधर्मा शृंगसहित नासिका-वाला 'खड्गमृग' पदका वाच्य है।' वहाँ वह इस वाक्यको सुनकर और वाक्यार्थ-अनुभवके उत्तर वनमें जाकर उष्ट्रविधर्म खड्गमृगके प्रत्यक्षके पश्चात् वाक्यार्थकी स्मृतिसे गैंडेमें 'खड्गमृग' पदकी वाच्यताको जानता है। तथा 'पृथ्वी' पदके वाच्यको न जाननेवाला पुरुष 'जलादिवैधर्म्यवती पृथ्वी' ऐसा गुरु-वाक्यको सुनकर, उसके अर्थको अनुभव करके, जलादिवैधर्म्यवान् पदार्थको देखकर और वाक्यार्थको स्मरण करके उस पदार्थमें 'पृथ्वी' पदकी वाच्यताका निश्चय करता है। ये दोनों उपमिति विधर्म-ज्ञानसे ही होती हैं, सादृश्य-ज्ञानसे नहीं। विरुद्ध धर्मवालेको 'विधर्म' और विरुद्ध धर्मको 'वैधर्म्य' कहा जाता है। यहाँ खड्गमृगमें उष्ट्रसे विरुद्ध धर्म ह्रस्व ग्रीवादि

हैं और पृथ्वीमें जलादिसे विरुद्ध धर्म गंध है। दोनों उदाहरणोंमें साम्प्रदायिक रीतिसे वाक्यार्थ-अनुभव करण है, वाक्यार्थ-स्मृति व्यापार है और विरुद्ध-धर्मवत् पदार्थ-दर्शन सहकारी है। नवीन रीतिसे विरुद्ध धर्मविशिष्ट पदार्थ-दर्शन करण, वाक्यार्थ-स्मृति व्यापार और वाक्यार्थानुभव-सामग्री वाह्य होनेसे अन्यथासिद्ध है। दोनों मतोंमें 'खड्गमृग' पदका वाच्यता-ज्ञान तथा 'पृथ्वी' पदका वाच्यता-ज्ञान उपमितिरूप फल है। इस प्रकार न्याय-मतमें संज्ञीमें संज्ञाका वाच्यताज्ञान उपमान-प्रमाणका फल है और प्राचीन मतमें जहाँ वाक्यार्थानुभव उपमान-प्रमाण कहा गया है वहाँ नवीन मतमें सादृश्यविशिष्ट पिंड-दर्शन अथवा वैधर्म्यविशिष्ट पिंड-दर्शन उपमान-प्रमाण कहा गया है।

२ : वेदान्त-रीतिसे उपमान व उपमितिका स्वरूप

वेदान्त-मतमें उपमिति व उपमानका अन्य स्वरूप माना गया है। अर्थात् ग्राममें गो-व्यक्तिको देखनेवाला पुरुष जब वनमें जाकर गवयको देखता है, तब 'यह पशु गौके सदृश है' ऐसा उसको प्रत्यक्ष होता है। तदनन्तर 'मेरी गौ इस पशुके सदृश है' ऐसा उसको ज्ञान होता है। वहाँ गवयमें गोसादृश्यका ज्ञान तो 'उपमान-प्रमाण' कहा जाता है और गौमें गवयका सादृश्य-ज्ञान 'उपमिति' कहलाता है। यद्यपि इस मतमें भी उपमितिके करणको ही उपमान कहते हैं, परन्तु यहाँ उपमितिका स्वरूप और लक्षण भिन्न है, इसलिये उपमानके लक्षणके भेदविना उपमितिके स्वरूपका भेद सिद्ध नहीं हो सकता। न्याय-मतमें तो संज्ञीमें संज्ञाका वाच्यता-ज्ञान उपमिति कहा जाता है, परन्तु वेदान्तमें सादृश्य-ज्ञानसे जन्य ज्ञानको उपमिति कहते हैं। गवयमें गौके सादृश्य-ज्ञानसे गौमें गवयका सादृश्य-ज्ञान जन्य है और वह उपमिति है। इस प्रकार यहाँ न्यायसे उपमिति-लक्षण भिन्न है और उसके करणको उपमान कहते हैं। अर्थात् सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञानरूप उपमिति तो गौमें गवयका सादृश्य-ज्ञान है और उसका करण गवयमें गौका सादृश्य-ज्ञान उपमान है। इस मतमें उपमान-प्रमाण

व्यापारहीन है, अर्थात् उपमानसे अनन्तर उपमितिकी उत्पत्तिमें कोई व्यापार नहीं मिलता। इस मतमें वैधर्म्यविशिष्ट ज्ञानसे उपमितिका अंगीकार भी नहीं है, क्योंकि इस मतमें सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञानको ही उपमिति माना गया है, अन्यको नहीं।

३ : विचार-सागरमें न्याय-रीतिसे उपमितिके कथनका अभिप्राय

विचार-सागरमें न्यायकी रीतिसे उपमितिका स्वरूप कथन किया गया है, उसका अभिप्राय यह है कि यदि न्यायकी रीतिसे उपमिति-उपमानका स्वरूप माना जाय तो भी अद्वैत-सिद्धान्तमें कोई हानि नहीं होती, बल्कि न्यायकी रीतिसे सिद्धान्तके अनुकूल उदाहरण मिलता है। क्योंकि न्याय-मतमें सादृश्य-ज्ञानसे ही नहीं, किन्तु वैधर्म्य-ज्ञानसे भी उपमिति मानी गई है, इसलिये उसका सिद्धान्तके अनुकूल यह उदाहरण मिलता है—

(प्रश्न) 'आत्म' पदका अर्थ कैसा है ?

(उत्तर) देहादि वैधर्म्यवान् आत्मा है।

ऐसा गुरु-मुखसे श्रवण करके अनित्य, अशुचि एवं दुःख-स्वरूप देहादिसे विधर्मा नित्य, शुद्ध और आनन्दरूप 'आत्म' पदका वाच्य है, ऐसा एकान्त देश और विवेचन कालमें शिष्यके मनका आत्मासे संयोग होकर उपमिति-ज्ञान होता है। इसके विपरीत यदि सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञानको ही उपमिति माना जाय तो आत्मामें किसीका भी सादृश्य असम्भव ही है, इसलिये जिज्ञासुके अनुकूल कोई उदाहरण ही नहीं मिलता। यद्यपि असंगतादि धर्मोंको लेकर 'आकाशके सदृश आत्मा है' ऐसा आकाशमें आत्माका सादृश्य-ज्ञान तो उपमान-प्रमाण और आत्मामें आकाशका सादृश्य-ज्ञान उपमिति-प्रमा; जिज्ञासुके अनुकूल सिद्धान्तकी उपमितिका ऐसा उदाहरण सम्भव हो सकता है। तथापि जिस अधिकरणमें जिस पदार्थके अभावका ज्ञान होता है, उस अधिकरणमें उस अभाव-ज्ञानमें भ्रम-बुद्धि हुए विना उस पदार्थ-का ज्ञान होता नहीं है। जैसे वेदान्त-श्रवणसे जिसको आत्मामें कर्तृत्वादिका

अभाव-ज्ञान हुआ है, वह यदि न्यायादि शास्त्र श्रवण करके 'कर्ता-भोक्ता आत्मा है' ऐसा निश्चय करे तो प्रथम ज्ञानमें भ्रम-बुद्धि हुए विना ऐसा ज्ञान हो नहीं सकता। जिसको वेदान्तार्थ निश्चयके बाद नैयायिकादिके कुसंगसे 'कर्ता-भोक्ता आत्मा है' ऐसा ज्ञान होता है, उसको प्रथम ज्ञानमें भ्रम-बुद्धि होकर ही ऐसा ज्ञान होता है, प्रथम ज्ञानमें भ्रम-बुद्धि हुए विना विरोधी ज्ञान हो नहीं सकता। वह भ्रम-बुद्धि भ्रमरूप हो अथवा यथार्थ, इसमें आग्रह नहीं, परन्तु भ्रम-बुद्धिमें भ्रमत्व-निश्चय नहीं होना चाहिये, यह आग्रह अवश्य है। इस प्रकार जिस कालमें जिज्ञासुको गुरु-वाक्योंसे ऐसा दृढ निश्चय हुआ है कि 'आकाशादि सकल प्रपञ्च गन्धर्व-नगरके समान दृष्टनष्टस्वभाव है, आत्मा उससे सर्वथा विलक्षणस्वभाव है तथा आकाशादिमें आत्माका किञ्चित् भी सादृश्य नहीं है' उस कालमें आकाश और आत्माका सादृश्य-ज्ञान सम्भव नहीं होता। इसलिये सिद्धान्तमें उत्तम जिज्ञासुके अनुकूल उपमितिका कोई भी उदाहरण नहीं मिलता, ऐसा कहना चाहिये।

इसीलिये विचार-सागरमें न्याय-मतके अनुसार उपमान-उपमितिका स्वरूप वर्णन किया गया है।

४ : पूर्वोक्त वेदान्त-रीति और न्याय-रीतिसे विलक्षण उपमान-उपमितिका लक्षण

यदि नैयायिक रीतिकी उपमितिमें सर्वथा विद्वेष ही हो तो उपमितिका ऐसा लक्षण करना चाहिये—

'सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञान अथवा वैधर्म्य-ज्ञानजन्य ज्ञान, इन दोनोंमेंसे कोई एक हो वह 'उपमिति' कहा जाता है।'

इस लक्षणके अनुसार खड्गमृगमें उष्ट्रके वैधर्म्य-ज्ञानसे उष्ट्रमें खड्गमृगका वैधर्म्य-ज्ञान होता है और पृथ्वीमें जलके वैधर्म्य-ज्ञानसे जलमें पृथ्वीका वैधर्म्य-ज्ञान होता है। इसलिये उष्ट्रमें खड्गमृगका वैधर्म्य-ज्ञान और जलमें पृथ्वीका वैधर्म्य-ज्ञान तो उपमिति-प्रमा और उसका करण अर्थात् खड्गमृगमें उष्ट्रका वैधर्म्य-ज्ञान और पृथ्वीमें जलका वैधर्म्य-

ज्ञान उपमान-प्रमाण होता है । तैसे ही प्रपञ्चमें आत्माके वैधर्म्य-ज्ञानसे आत्मामें प्रपञ्चका वैधर्म्य-ज्ञान उपमिति-प्रमा होता है । इसके विपरीत सादृश्य-ज्ञानद्वारा भी उपमान-उपमितिभाव सम्भव होता है, अर्थात् इन्द्रियसम्बद्धमें सादृश्य-ज्ञान तो उपमान और इन्द्रिय-व्यवहितमें सादृश्य-ज्ञान उपमिति बनता है ।

इस प्रकार सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञान और वैधर्म्य-ज्ञानजन्य ज्ञान, दोनोंको ही उपमिति कहा जाय तो जिज्ञासुके अनुकूल उदाहरण सम्भव हो सकता है ।

५ : वेदान्तपरिभाषा और उसकी टीकाकी उक्तिका खण्डन

वेदान्तपरिभाषामें केवल सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञान ही उपमितिका लक्षण कहा गया है । इसके साथ ही इस ग्रन्थके व्याख्यानमें इस ग्रन्थके लेखकके पुत्रश्रीने दूसरे प्रकारकी उपमिति, अर्थात् वैधर्म्यज्ञानजन्य ज्ञानके खण्डनार्थ ऐसा कहा है—

"जहाँ 'कमलेन लोचनमुपमिनोमि' अर्थात् 'मैं लोचनको कमलसे उपमा देता हूँ' इस प्रकार उपमान-उपमेयभाव पाया जाय, वहीं उपमान-प्रमाण होता है । इसके विपरीत जहाँ वैधर्म्य-ज्ञान हो वहाँ तो उपमान-उपमेयभाव ही लुप्त रहता है, इसलिये उपमान-प्रमाण सम्भव ही नहीं होता ।"

उन महाशयसे यह पूछना चाहिये कि अनेक स्थलोंपर वैधर्म्य-ज्ञानजन्य उपमितिके जो उदाहरण मिलते हैं, यदि उन स्थलोंमें उपमितिके विषयका ज्ञान उपमान-प्रमाणसे न माना जाय तो फिर अन्य किस प्रमाणसे उनका ज्ञान माना जा सकता है ? यह आपको बतलाना चाहिये । अन्ततः किसी प्रमाणविना तो प्रमाकी सिद्धि हो नहीं सकती । यदि आप उन स्थलोंमें कोई अन्य प्रमाण लगा सकते हैं तो फिर उसी प्रमाणसे सादृश्य-ज्ञानजन्य उपमितिके विषयका ज्ञान भी हो सकता है । फिर प्रयोजनके अभावसे उपमान-प्रमाणका अंगीकार न करके इसका अनंगीकार ही रहना चाहिये । यदि ऐसा कहा जाय—

'गवयके प्रत्यक्षसमय गवयमें गौका सादृश्य तो प्रत्यक्ष है, परन्तु उस समय गौमें गवयका सादृश्य प्रत्यक्ष नहीं है। क्योंकि जब धर्मीके साथ इन्द्रियका संयोग हो, तब इन्द्रियसंयुक्तमें तादात्म्यसम्बन्धसे सादृश्य-धर्मका भी प्रत्यक्ष होता है, यह नियम है। यहाँ गोरूप धर्मीके साथ इन्द्रिय-संयोगके अभावसे गौमें गवयका सादृश्य प्रत्यक्षका विषय नहीं, इसलिये गौमें गवयके सादृश्य-ज्ञानका हेतु जो गवयमें गौका सादृश्य-ज्ञानरूप उपमान-प्रमाण, वह तो रहना ही चाहिये।'

तब, तैसे ही खड्गमृगमें उष्ट्रके वैधर्म्यका तो प्रत्यक्ष-ज्ञान है ही, परन्तु इन्द्रिय-संयोगके अभावसे उष्ट्रमें खड्गमृगके वैधर्म्यका प्रत्यक्षरूप ज्ञान नहीं है। इसलिये उसका हेतु खड्गमृगमें उष्ट्रका वैधर्म्य-ज्ञानरूप उपमान-प्रमाण मानना ही योग्य है। इसके अतिरिक्त वेदान्त-परिभाषाकी टीकामें जो ऐसा लिखा है—

'जिस ज्ञानसे उत्तर ज्ञाताको 'उपमिनोमि' (मैं उपमा देता हूँ) ऐसी प्रतीति हो, वही ज्ञान उपमितिरूप होता है। चूँकि वैधर्म्य-ज्ञानजन्य ज्ञानसे उत्तर 'उपमिनोमि' ऐसी प्रतीति होती नहीं है, इसलिये वह ज्ञान उपमितिरूप भी नहीं है।'

ऐसा कथन भी अशुद्ध है। क्योंकि मुखमें चन्द्रके सादृश्यताके प्रत्यक्षके बाद 'मुखं चन्द्रेण उपमिनोमि' ऐसी प्रतीति होती है, परन्तु यहाँ मुखमें चन्द्रके सादृश्यकी प्रत्यक्ष-प्रमा ही है, उपमिति-प्रमा नहीं। इसलिये 'उपमिनोमि' इस व्यवहारका विषय तो उपमालंकार ही है, उपमिति-प्रमा नहीं है। अलंकारका सामान्य लक्षण और उपमादिके विशेष लक्षण अलंकारचन्द्रिकादि ग्रन्थोंमें प्रसिद्ध हैं, कठिन और अनुपयोगी जानकर वे यहाँ नहीं लिखे गये। सार इसका यही है कि जहाँ 'उपमिनोमि' ऐसी प्रतीति हो, उसका विषय उपमिति-प्रमा नहीं है, किन्तु सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञान और वैधर्म्य-ज्ञानजन्य ज्ञानमें ही 'उपमिति' शब्द पारिभाषिक है। शास्त्रके संकेतको 'परिभाषा' और परिभाषाद्वारा बोधक शब्दको 'पारिभाषिक' कहते हैं। जैसे छंद-ग्रन्थोंमें पञ्च, षट् और सप्तके बोधक

'बाण' 'रस' एवं 'मुनि' शब्द पारिभाषिक हैं, तैसे ही न्याय और अद्वैत-शास्त्रमें 'उपमिति' शब्द भी भिन्न-भिन्न अर्थमें पारिभाषिक ही है। इस प्रकार अद्वैत-शास्त्रमें 'सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञान' के समान 'वैधर्म्य-ज्ञानजन्य ज्ञान' भी 'उपमिति' शब्दका अर्थ है।

भेदसहित समान धर्मको 'सादृश्य' कहते हैं। जैसे गवयमें गौके भेदसहित समान अवयव हैं, वह ही गवयमें गौका सादृश्य है, परन्तु गौमें तो गौका समान धर्म ही है, कोई भेद नहीं। इसके विपरीत अश्वमें तो गौका न समान धर्म ही है और न भेदसहित समान धर्म ही है, इसलिये सादृश्य भी नहीं है। मुखमें चन्द्रके भेदसहित आह्लाद-जनकतारूप समान धर्म है, वही मुखमें चन्द्रका सादृश्य है। इस प्रकार उपमान-उपमेयका भेदसहित समान धर्म ही 'सादृश्य' पदका अर्थ है।

कोई ऐसा कहते हैं कि सादृश्य नामका कोई भिन्न पदार्थ है, जो उपमान-उपमेयमें वर्तनेवाला तो है परन्तु उपमान-उपमेयके निर्णीत धर्मोंसे भिन्न है। यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि जहाँ दो पदार्थोंमें अल्प समान धर्म होता है वहाँ अपकृष्ट सादृश्य और जहाँ अधिक समान धर्म हो वहाँ उत्कृष्ट सादृश्य कहा जाता है। इस प्रकार समान धर्मोंकी न्यूनता-अधिकतासे सादृश्यमें अपकृष्टता-उत्कृष्टता तो होती है, परन्तु इसीसे सादृश्यता निर्णीत धर्मोंसे अतिरिक्त कोई भिन्न पदार्थ नहीं हो जाती। यदि ऐसा होता हो तो वह सादृश्यता ब्राह्मणत्वादि जातिके समान अखण्ड होगी और फिर उसमें अपकर्ष-उत्कर्ष भी नहीं बनेगा। इसलिये भेदसहित समान धर्मरूप ही सादृश्य है, ऐसा श्रीउदयनाचार्यका मत ही सिद्धान्तमें अंगीकरणीय है।

६ : करणके लक्षणका निर्णय

यद्यपि न्याय और वेदान्त दोनों मतोंमें 'उपमान' शब्दके अर्थका तो भेद नहीं है; तथापि 'उपमिति' शब्दकी परिभाषाका उक्त दोनों मतोंमें भेद अवश्य है। अर्थात् उपमितिके करणको उपमान तो दोनों ही मानते

हैं, परन्तु न्याय-मतमें 'गवय' पदका वाच्यता-ज्ञान 'उपमिति' शब्दका पारिभाषिक अर्थ है और वाक्यार्थानुभव अथवा सादृश्यविशिष्ट पिंडका प्रत्यक्ष उसका करण है। इसके विपरीत अद्वैत-मतमें 'सादृश्य-ज्ञानजन्य ज्ञान' और 'वैधर्म्य-ज्ञानजन्य ज्ञान' 'उपमिति' पदका पारिभाषिक अर्थ है और सादृश्य-ज्ञान व वैधर्म्य-ज्ञान उसका करण है। इस प्रकार उक्त दोनों मतोंमें 'उपमिति' शब्दकी परिभाषामें भेद है और उसके भेदसे उपमानका भेदभी स्वाभाविक सिद्ध हो ही जाता है। 'उपमान' पद पारिभाषिक नहीं, किन्तु यौगिक है। व्याकरणकी रीतिसे जो पद अपने अवयवके अर्थका त्याग नहीं करता, वह यौगिक-पद कहाता है। यहाँ व्याकरणकी रीतिसे 'उपमितिका करण' ऐसा उपमान पदके अवयवोंका अर्थ है। उपमानसे उपमितिकी उत्पत्तिमें कोई व्यापार नहीं है, इसलिये वेदान्त-मतमें व्यापारवत् कारण ही करण हो, ऐसा नियम नहीं है, किन्तु निर्व्यापार कारण भी करण होता है। यद्यपि न्याय-मत-निरूपणके प्रसंगमें यह कहा जा चुका है कि व्यापारवाला असाधारण कारण ही करण होता है, इसलिये निर्व्यापार कारणमें करणता सम्भव नहीं होती। तथापि सिद्धान्त-मतमें तो व्यापारसे भिन्न असाधारण कारणमें भी करणता मानी गई है, केवल व्यापारवालेमें ही नहीं। जैसे 'व्यापारवत्' कहनेसे व्यापारमें करण-लक्षण नहीं जाता है, वैसे ही 'व्यापारभिन्न' कहनेसे भी व्यापारमें करण-लक्षणका प्रवेश नहीं होता है। क्योंकि जिस प्रकार व्यापारमें व्यापारवत्ताका प्रवेश नहीं है, उसी प्रकार व्यापारमें व्यापारभिन्नताका भी प्रवेश नहीं है। इस रीतिसे वेदान्तमें व्यापारभिन्न असाधारण कारणको करण कहा गया है, वह निर्व्यापार हो अथवा सव्यापार। वेदान्त-मतानुसार प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द ये तीन प्रमाण तो प्रत्यक्ष-प्रमा, अनुमिति-प्रमा और शाब्दी-प्रमाके व्यापारवाले कारण हैं और उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धि ये तीन प्रमाण उपमिति, अर्थापत्ति एवं अभाव-प्रमाके निर्व्यापार कारण हैं। इसलिये वेदान्त-रीतिसे करणके लक्षणमें 'व्यापारवत्' पदके स्थानपर 'व्यापारभिन्न' कहा गया। इसके विपरीत न्याय-मतमें तो व्यापारमें

करण-लक्षणकी अतिव्याप्तिके परिहारके लिये चाहे 'व्यापारवत्' पदका निवेश हो अथवा 'व्यापारभिन्न' पदका निवेश हो, दोनों प्रकारसे करण-लक्षण सम्भव होता है । क्योंकि न्याय-मतानुसार उपमिति-प्रमाके करण उपमान-प्रमाणमें, जैसा पहिले कहा गया वाक्यार्थ-स्मृति व्यापार है, इसलिये उपमितिके करण उपमानमें व्यापारवत् भी कहा जाय तो करण-लक्षणकी अव्याप्ति नहीं होती । अर्थापत्तिका तो नैयायिक अनुमान-प्रमाणमें अन्तर्भाव ही मानते हैं, इसलिये अर्थापत्तिमें तो प्रमाकी करणतारूप प्रमाणताका अंगीकार ही न होनेसे उसमें करणता-व्यवहारकी अपेक्षा ही नहीं रहती । तैसे ही वे अभाव-प्रमामें अनुपलब्धिको सहकारी कारण ही मानते हैं, स्वतन्त्र प्रमाकी करणतारूप प्रमाणता अनुपलब्धिमें नहीं मानते, किन्तु अभाव-प्रमामें अनुपलब्धिसहकृत इन्द्रियादिको ही प्रमाण मानते हैं । इसलिये न्यायमतानुसार अनुपलब्धिमें भी प्रमाणताका अंगीकार न होनेसे करण-व्यवहारकी अपेक्षा नहीं रहती ।

इस स्थानमें निष्कर्ष यह है कि यदि नैयायिकोंको अर्थापत्ति व अनुपलब्धिमें करणता-व्यवहार इष्ट हो और वहाँ 'व्यापारवत् असाधारण कारण करण होता है' ऐसा उनका करण-लक्षण न घटता हो तो करण-लक्षणमें अव्याप्ति दोष हो । तथा यदि उनको अर्थापत्ति व अनुपलब्धिमें प्रमाणताका अंगीकार हो तो उन्हें करणताकी अपेक्षा हो, क्योंकि प्रमाके करणको प्रमाण कहते हैं, इसलिये प्रमाणतामें करणताका प्रवेश होनेसे करणताके विना प्रमाणताका असम्भव हो । परन्तु नैयायिकोंने तो अर्थापत्ति व अनुपलब्धिमें प्रमाणताका अंगीकार ही नहीं किया, इसलिये इन दोनोंमें उन्हें करणता-व्यवहारकी अपेक्षा ही नहीं रहती । इस प्रकार करणतारहित अर्थापत्ति व अनुपलब्धिमें उनके करण-लक्षणके घटित न होनेसे उन्हें अव्याप्ति दोष भी स्पर्श नहीं करता । इस रीतिसे न्याय-मतमें तो 'व्यापारवत् असाधारण कारण' को करणता कहनेसे भी अव्याप्ति-दोष नहीं लगता, परन्तु वेदान्त-सिद्धान्तमें करण-लक्षणमें 'व्यापारवत्' कहनेसे उपमानादि तीनों प्रमाणोंमें करण-लक्षणकी अव्याप्ति हो जाती है । क्योंकि वेदान्तमें

इन्द्रियसम्बन्धी प्रत्यक्षरूप गवयमें गौका सादृश्य-ज्ञान उपमान-प्रमाण कहा गया है और व्यवहित गौमें गवयका सादृश्य-ज्ञान उपमिति-प्रमा। तैसे ही इन्द्रियसम्बन्धी पशुमें व्यवहित पशुका वैधर्म्य-ज्ञान उपमान-प्रमाण कहा गया है और व्यवहित पशुमें इन्द्रियसम्बन्धी पशुका वैधर्म्य-ज्ञान उपमिति-प्रमा। इस प्रकार वेदान्तमें उपमान-प्रमाणमें करणता-व्यवहार तो इष्ट है, परन्तु उपमानसे उपमितिकी उत्पत्तिमें कोई व्यापार सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार अर्थापत्ति और अनुपलब्धिमें भी आगे चलकर प्रमाणता कथन करेंगे, इसलिये इनमें भी करणता-व्यवहार तो इष्ट है, परन्तु इनमें व्यापारका सम्भव नहीं। इसलिये उपमान, अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धिमें यदि नैयायिकके करण-लक्षणको अंगीकार किया जाय तो अव्याप्ति अवश्य होगी। इसी-लिये वेदान्तमें करणके लक्षणमें 'व्यापारवत्' पदको त्यागकर 'व्यापारभिन्न' कहा गया है।

वेदान्त-परिभाषा ग्रन्थमें श्रीधर्मराजने 'व्यापारवत् असाधारणं कारणं करणम्' (व्यापारवाले असाधारण कारणको करण कहते हैं) ऐसा तो करणका लक्षण किया है और 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' (प्रमाके करणको प्रमाण कहते हैं) ऐसा प्रमाणका लक्षण कथन किया है। परन्तु इसके विपरीत उनके पुत्रने वेदान्त-परिभाषाकी टीकामें ही ऐसा कहा है—

"उपमितिका असाधारण कारण जो उपमान है वह व्यापारहीन है। तैसे ही अर्थापत्ति व अनुपलब्धिके असाधारण कारण भी व्यापारहीन ही हैं, इसलिये उपमानादि तीनों प्रमाणोंके लक्षणमें व्यापारका प्रवेश नहीं है। इसके विपरीत 'उपमिति-प्रमाका व्यापारवत् असाधारण कारण उपमान है, उपपादककी प्रमाका व्यापारवत् असाधारण कारण अर्थापत्ति-प्रमाण है और अभाव-प्रमाका व्यापारवत् असाधारण कारण अनुपलब्धि-प्रमाण है' यदि इस प्रकार इन तीनों प्रमाणोंके लक्षण 'व्यापारवत्' पदघटित किये जायें तो वस्तुतः इन तीनोंमें व्यापारवत्वके अभावसे इन तीनों प्रमाणोंके विशेष लक्षणोंका असम्भव होगा। इसलिये 'व्यापारवत्' पदरहित ही इन तीनोंका विशेष लक्षण है। अर्थात् 'उपमिति-प्रमाका असाधारण कारण

उपमान प्रमाण है' इसी प्रकार अर्थापत्ति एवं अनुपलब्धिके लक्षणमें भी 'व्यापारवत्' पद न जोड़नेसे उपर्युक्त असम्भवता दोष न रहेगा।"

इस प्रकार श्रीधर्मराजके पुत्रने यथासम्भव इन तीनों प्रमाणोंमेंसे 'व्यापारवत्' पद निकालकर इनके कुछ विशेष लक्षण तो कथन किये, परन्तु मूलकार श्रीधर्मराजने जो करण और प्रमाणके उपर्युक्त सामान्य लक्षण कथन किये हैं, उनमें कुछ विलक्षणता कथन नहीं की। इसलिये उनके पुत्रकी उक्तिमें न्यूनता है, क्योंकि वस्तुतः व्यापारवत्ताके अभावसे करणके लक्षणमें विशेष कहे विना केवल इतना ही कह देना कि 'उपमितिका करण उपमान है, अर्थापत्तिका करण अर्थापत्ति है और अभाव-प्रमाका करण अनुपलब्धि है' पर्याप्त नहीं। तथा इस प्रकार अधूरे करण-लक्षणमें करणता-व्यवहार नहीं होना चाहिये। तैसे ही फिर करणताके अभावसे उपमानादि तीनों प्रमाणोंमें प्रमाणता-व्यवहार भी नहीं होना चाहिये। इस प्रकार मूलकारके करण-लक्षणमें 'व्यापारवत्' पदका उनके पुत्रद्वारा यदि 'व्यापारभिन्न' व्याख्यान किया जाता, जैसा हमने ऊपर इसे स्पष्ट किया है, तो इससे सर्व इष्टकी सिद्धि हो सकती थी। परन्तु मूलकारके करण-लक्षणमें 'व्यापारवत्' पदका ऐसा विलक्षण अर्थ न करनेसे उनके पुत्रकी उक्तिमें न्यूनता ही है। इसके विपरीत हमारी रीतिसे तो 'व्यापारभिन्न' कहनेसे इधर व्यापाररहित उपमानादि तीनों प्रमाणोंमें उपमिति आदि तीनों प्रमाकी करणता सम्भव होती है और उधर व्यापारवाले प्रत्यक्षादि तीनों प्रमाणोंमें भी यही लक्षण घट जाता है।

इस प्रकार प्रपञ्चमें ब्रह्मकी विधर्मताका ज्ञान उपमान है और प्रपञ्चसे विधर्म ब्रह्म है, यही उपमान-प्रमाणका फल उपमिति-प्रमा है॥

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें उपमान-प्रमाण-निरूपणं नामक
चतुर्थ प्रकाश समाप्त॥

पञ्चम प्रकाश

अर्थापत्ति-प्रमाण-निरूपण

१ : न्याय-मतमें अर्थापत्तिका अनंगीकार एवं त्रिधा अनुमानका वर्णन

न्याय-मतमें पूर्वोक्त चार ही प्रमाणोंका अंगीकार किया गया है और व्यतिरेकी अनुमानमें ही अर्थापत्तिका अन्तर्भाव माना गया है । परन्तु सिद्धान्तमें केवल-व्यतिरेकी-अनुमानका अंगीकार नहीं किया गया, इसलिये अर्थापत्तिरूप भिन्न प्रमाण स्वीकार किया गया है और केवल-व्यतिरेकी-अनुमानका प्रयोजन अर्थापत्तिसे सिद्ध किया गया है । जहाँ अन्वय-व्याप्तिका उदाहरण न मिले, परन्तु साध्याभावमें हेत्वभाव (हेतुके अभाव) की व्याप्तिका उदाहरण मिले वह 'केवल-व्यतिरेकी-अनुमान' कहा जाता है । जैसे 'पृथ्वी इतरभेदवती गंधवत्त्वात्' (पृथ्वी गंधवाली होनेसे इतरभेदवाली अर्थात् दूसरोंसे भेदवाली है), इस स्थानमें 'यत्र गंधवत्त्वं तत्रेतरभेदः' (जहाँ गन्धवत्त्व है, वहाँ इतरभेद है) इस रीतिसे अन्वय-व्याप्तिका उदाहरण नहीं मिलता, क्योंकि दृष्टांत पक्षसे भिन्न ही होता है । इस स्थानमें चूंकि सकल पृथ्वी ही पक्ष है, इसलिये उससे भिन्न जलादिमें इतरभेद और गन्ध दोनों नहीं रह सकते, इसलिये अन्वय-व्याप्तिके अभावसे यह केवल-व्यतिरेकी-अनुमान है । परन्तु 'यत्र इतरभेदाभावः तत्र गन्धाभावः यथा जले' (जहाँ इतरभेदका अभाव है वहाँ गन्धका अभाव भी है, जैसे जलमें) इस रूपसे साध्याभावमें हेत्वभावकी व्याप्तिज्ञानका हेतु जो सहचार-ज्ञान वह तो जलादिमें ही मिलता है, इसलिये जलादि ही उदाहरण हैं । क्योंकि जहाँ व्याप्तिज्ञानका हेतु सहचार-ज्ञान हो वही 'उदाहरण' कहलाता है ।

इस प्रकार अन्वयी-अनुमानमें जैसा व्याप्य-व्यापकभाव होता है, व्यतिरेकी-अनुमानमें उससे विपरीत ही व्याप्य-व्यापकभाव वर्तता है। अर्थात् अन्वयी-अनुमानमें तो हेतु व्याप्य होता है और साध्य व्यापक, परन्तु व्यतिरेकी-अनुमानमें साध्याभाव व्याप्य और हेत्वभाव व्यापक होता है। इस स्थानमें नैयायिकोंके दो मत हैं। प्रथम मतमें साध्याभावमें हेत्वभावका सहचार-दर्शन होता है और साध्याभावमें ही हेत्वभावकी व्याप्तिका ज्ञान भी होता है। इसलिये इस पक्षमें साध्याभाव हेतु और हेत्वभाव साध्य माना गया है। इस पक्षमें दूसरे मतवाले नैयायिक ऐसा दोष देते हैं—

जिस पदार्थमें जिसकी व्याप्तिका ज्ञान हो, उस हेतुसे उसी साध्यकी अनुमिति होती है, परन्तु जिन पदार्थोंका परस्पर व्याप्य-व्यापक-भाव ही नहीं जाना गया उनका परस्पर हेतु-साध्यभाव भी नहीं बनता। यहाँ व्याप्य-व्यापकभाव तो वस्तुतः गंध और इतरभेदका, फिर इतरभेदाभाव एवं गंधाभावका वस्तुतः न होते हुए भी हेतु-साध्य-भाव कहना आश्चर्यजनक है। इसलिये साध्याभावमें हेत्वभावके सहचार-दर्शनसे भी हेतुमें ही साध्यकी व्याप्तिका ज्ञान होता है, ऐसा मानना चाहिये। अन्वयी और व्यतिरेकी अनुमानका इतना ही भेद है कि जहाँ हेतु-साध्यके सहचार-ज्ञानसे हेतुमें साध्यकी व्याप्तिका ज्ञान हो वहाँ तो अन्वयी-अनुमान कहा जाता है, परन्तु जहाँ साध्याभावमें हेत्वभावके सहचार-दर्शनसे हेतुमें साध्यकी व्याप्तिका ज्ञान हो वहाँ व्यतिरेकी-अनुमान कहलाता है। वास्तवमें साध्याभावमें हेत्वभावकी व्याप्तिका ज्ञान कहीं भी नहीं होता जहाँ साध्या-भावमें हेत्वभावकी व्याप्तिका ज्ञान होता भी है वहाँ भी अनुमिति तो हेतुसे ही साध्यकी होती है, साध्याभावसे हेत्वभावकी अनुमिति कदापि नहीं। क्योंकि व्याप्यज्ञानसे ही व्यापककी अनुमिति होती है, ऐसा नियम है। आदि पक्ष प्राचीनका है और द्वितीय नवीनका।

अनुमान-प्रकरणमें न्याय-ग्रन्थके अध्ययनविना बुद्धिका प्रवेश नहीं होता, इसलिये हमने यहाँ अनुमानका कोई अर्थ विस्तारसे नहीं लिखा। इस प्रकार यह केवल-व्यतिरेकी-अनुमानका उदाहरण स्पष्ट किया गया। परन्तु

जहाँ साध्याभाव-हेत्वभावके सहचारका उदाहरण न मिले वहाँ केवलान्वयी-अनुमान कहा जाता है। जैसे 'घटः पद शक्तिमान् ज्ञेयत्वात् पटवत्' (ज्ञेयत्वके कारण 'घट' पद पटके समान शक्तिवाला है) यहाँ साध्याभाव-हेत्वभावका सहचार नहीं मिलता। क्योंकि न्याय-मतमें ज्ञेयता और पद-शक्ति सर्व पदोंमें है, इसलिये अभावोंके सहचारका कोई उदाहरण बन नहीं सकता। परन्तु जहाँ अन्वय-सहचार और व्यतिरेक-सहचार दोनोंके उदाहरण मिलें, वहाँ अन्वय-व्यतिरेकी-अनुमान कहा जाता है, ऐसा प्रसिद्ध अनुमान है। 'पर्वतो वह्निमान्' इसको प्रसिद्ध-अनुमान कहते हैं। यहाँ अन्वयके सहचारका उदाहरण महानस है और व्यतिरेकके सहचारका उदाहरण महान् ह्रद है। अर्थात् जहाँ-जहाँ धूम है वहाँ-वहाँ वह्नि है, जैसे महानसमें और जहाँ धूम नहीं है, वहाँ वह्नि भी नहीं है, जैसे महान् ह्रदमें। इस प्रकार ये अन्वय-सहचार और व्यतिरेक-सहचार दोनोंके उदाहरण हैं। इस प्रकार नैयायिक केवलव्यतिरेकी, केवलान्वयी और अन्वय-व्यतिरेकी तीन प्रकारका अनुमान मानते हैं।

२ : वेदान्तकी रीतिसे एकान्वयी (अन्वय-व्यतिरेकी) अनुमान और अर्थापत्तिका अङ्गीकार

वेदान्त-मतमें केवल-व्यतिरेकी-अनुमानका प्रयोजन अर्थापत्ति-प्रमाणसे सिद्ध होता है। अर्थात् इतरभेदके विना गन्धवत्ता सम्भव नहीं होती, इसलिये गन्धवत्ताकी अनुपपत्ति इतरभेदकी कल्पना कराती है। इस प्रकार अर्थापत्ति-प्रमाणसे केवल-व्यतिरेकी-अनुमान गतार्थ है और वेदान्तमें केवलान्वयी-अनुमान कोई होता ही नहीं है। क्योंकि ब्रह्ममें सभी पदार्थोंका अभाव है, इसलिये ब्रह्ममें सभी पदार्थोंके व्यतिरेकी-सहचारका उदाहरण मिलता है। यद्यपि वृत्ति-ज्ञानकी विषयतारूप ज्ञेयता ब्रह्ममें भी है और उसका ब्रह्ममें अभाव नहीं बनता; तथापि ब्रह्ममें ज्ञेयतादि मिथ्या ही हैं, इसलिये मिथ्या पदार्थ और उसका अभाव एक अधिष्ठानमें रह सकते हैं। इस प्रकार नैयायिक जिसको अन्वय-व्यतिरेकी-अनुमान

कहते हैं, वेदान्त-रीतिसे वह अन्वयी नामका एक ही प्रकारका अनुमान है। इस मतमें केवल-व्यतिरेकी-अनुमानका अंगीकार नहीं है, किन्तु इसके स्थानपर अर्थापत्ति-प्रमाणका अंगीकार किया गया है।

यदि विचार-दृष्टिसे देखा जाय तो केवल-व्यतिरेकी-अनुमान और अर्थापत्ति दोनों ही मानने चाहिये। क्योंकि जहाँ एक पदार्थके ज्ञानके अनुव्यवसाय भिन्न-भिन्न हों, वहाँ उस पदार्थके ज्ञानके प्रमाण भी भिन्न-भिन्न ही होते हैं, व्यवसायज्ञानका जनक जो प्रमाण उसके भेदके विना अनुव्यवसायका भेद होता नहीं है। अर्थात् एक वह्निका जब प्रत्यक्ष-ज्ञान हो तब 'वह्निं साक्षात्करोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है, अनुमानजन्य ज्ञान हो तब 'वह्निमनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है, जहाँ शब्दसे वह्निका ज्ञान हो वहाँ 'वह्निं शाब्दयामि' ऐसा अनुव्यवसाथ होता है और जहाँ सादृश्य-ज्ञानरूप उपमान-प्रमाणसे सूर्यसदृश वह्निका ज्ञान हो वहाँ 'सूर्येण वह्नि-मुपमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। ज्ञानके ज्ञानको 'अनुव्यवसाय' कहते हैं और अनुव्यवसायका विषय जो ज्ञान वह 'व्यवसाय' कहलाता है। इस प्रकार व्यवसाय-ज्ञानके जनक प्रमाणके भेदसे अनुव्यवसायका भेद होता है। अर्थात् कदाचित् 'गन्धेन इतरभेदं पृथिव्यामनुमिनोमि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है और कदाचित् 'गन्धानुपपत्या इतरभेदं पृथिव्यां कल्पयामि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है। जहाँ अनुव्यवसायका विषय व्यवसाय अनुमान-प्रमाणजन्य हो वहाँ प्रथम अनुव्यवसाय होता है और जहाँ अनुव्यवसायका विषय व्यवसाय अर्थापत्ति-प्रमाणजन्य हो वहाँ द्वितीय अनुव्यवसाय होता है। इस प्रकार अनुव्यवसायके भेदसे व्यवसाय-ज्ञानके जनक अनुमान एवं अर्थापत्ति दोनों ही हो सकते हैं, किसी एकको मानकर दूसरेका निषेध नहीं हो सकता। शब्दशक्तिप्रकाशिका आदि ग्रन्थोंमें अनुव्यवसायके भेदसे ही अनुमान-प्रमाणसे शब्द-प्रमाणका भेद सिद्ध किया गया है, इसलिये प्रमाणके भेदकी सिद्धिमें अनुव्यवसायका भेद ही प्रबल हेतु है। इस प्रकार अर्थापत्ति और केवल-व्यतिरेकी अनुमान दोनों ही बन सकते हैं, जहाँ विषयका प्रकाश एक प्रमाणसे सिद्ध हो वहाँ अपरका निषेध नहीं किया

जा सकता । संक्षेपसे केवल-व्यतिरेकी-अनुमानका स्वरूप पीछे दिखलाया जा चुका है ।

३ : अर्थापत्ति-प्रमाण एवं प्रमाका स्वरूप-भेद और उनका उदाहरण

जैसे प्रमाण और प्रमाका बोधक एक प्रत्यक्ष-शब्द ही है, तैसे ही अर्थापत्ति-शब्द भी प्रमाण और प्रमा दोनोंका बोधक है। अर्थापत्तिका यह स्वरूप है—

उपपादक-कल्पनाके हेतु उपपाद्य-ज्ञानको अर्थापत्ति-प्रमाण कहते हैं और उपपादक-ज्ञानको अर्थापत्ति-प्रमा कहा जाता है । उपपादक व सम्पादक पर्याय शब्द हैं और उपपाद्य व सम्पाद्य भी पर्याय हैं। इसीलिये विचारसागरमें सम्पादक ज्ञानको अर्थापत्ति-प्रमा कहा गया है, यहाँ उससे विरोध नहीं है। जिसके विना जो सम्भव न हो उसका वह 'उपपाद्य' कहा जाता है । जैसे रात्रिभोजनके विना दिवा-अभोजी पुरुषमें स्थूलता सम्भव नहीं होती, इसलिये स्थूलता रात्रिभोजनका उपपाद्य है । तथा जिसके अभावसे जिसका अभाव हो, वह उसका 'उपपादक' कहा जाता है। जैसे रात्रिभोजनके अभावसे दिवा-अभोजीमें स्थूलताका अभाव होता है, इसलिये रात्रिभोजन स्थूलताका उपपादक है ।

(शंका) इस प्रकार व्यापकको उपपादकता और व्याप्यको उपपाद्यता सिद्ध होती है । अर्थात् उपपादक-ज्ञानका हेतु उपपाद्य-ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाण है, ऐसा कहनेसे व्यापक-ज्ञानका हेतु व्याप्य-ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाण है, यह सिद्ध होता है। ऐसा ही अनुमान-प्रमाणमें घटित होता है, अर्थात् व्याप्य तो हेतु एवं प्रमाण होता है और व्यापक साध्य व प्रमा होता है । फिर अनुमान-प्रमाणसे अर्थापत्ति-प्रमाणका कोई भेद सिद्ध नहीं हुआ ।

(समाधान) 'स्थूलता रात्रिभोजनका व्याप्य है और स्थूलतावाला देवदत्त है' ऐसे दो ज्ञान होकर जहाँ रात्रिभोजनका ज्ञान हो वहाँ तो अनुमिति-प्रमा होती है और 'दिवा-अभोजी पुरुषमें रात्रि भोजनके विना

स्थूलताकी अनुपपत्ति है' ऐसे ज्ञानके उत्तर जहाँ रात्रिभोजनका ज्ञान हो वहाँ अर्थापत्ति-प्रमा होती है। इसीलिये प्रथम रीतिसे तो रात्रिभोजनके ज्ञानके पश्चात् 'स्थौल्येन रात्रिभोजनमनुमिनोमि' (स्थूलतारूप हेतुसे मैं रात्रिभोजनका अनुमान करता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय होता है और द्वितीय रीतिसे रात्रिभोजनके ज्ञानके बाद 'स्थूलतानुपपत्त्या रात्रिभोजनं कल्पयामि' (स्थूलताकी अनुपपत्तिसे मैं रात्रिभोजनकी कल्पना करता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय होता है ।

इस प्रकार उपपाद्यकी अनुपपत्तिके ज्ञानके पश्चात् जो उपपादक-कल्पना, वह तो अर्थापत्ति-प्रमा कही जाती है और उपपादक-कल्पनाका हेतु जो उपपाद्यकी अनुपपत्तिका ज्ञान, वह अर्थापत्ति-प्रमाण कहलाता है । आशय यह कि 'अर्थ' अर्थात् उपपादक-वस्तु, उसकी 'आपत्ति' अर्थात् कल्पना, इस अर्थमें तो 'अर्थापत्ति' पद प्रमाका बोधक है । यहाँ तो 'अर्थस्य आपत्ति' ऐसा षष्ठी-तत्पुरुष-समास घटित होता है और 'अर्थस्य आपत्तिर्यस्मात्' इस बहुव्रीहि-समाससे, जिससे अर्थकी कल्पना की जाय, वह उपपाद्यकी अनुपपत्तिका ज्ञानरूप 'अर्थापत्ति' पद प्रमाणका बोधक है ।

अर्थापत्ति दो प्रकारकी होती है, उनमें एक दृष्टार्थापत्ति और दूसरी श्रुतार्थापत्ति कहलाती है । जहाँ दृष्ट उपपाद्यकी अनुपपत्तिके ज्ञानसे उपपादककी कल्पना हो, वह दृष्टार्थापत्ति कही जाती है । जैसे दिवा-अभोजी स्थूलमें दृष्टार्थापत्ति है, क्योंकि उपपाद्य स्थूलता दृष्ट है । जहाँ श्रुत उपपाद्यकी अनुपपत्तिके ज्ञानसे उपपादककी कल्पना हो, वहाँ श्रुतार्थापत्ति कहलाती है। जैसे 'गृहेऽसन् देवदत्तो जीवति' इस वाक्यको सुनकर 'गृहसे बाहर देवदत्तकी सत्ताविना गृहमें असत् देवदत्तका जीवन बन नहीं सकता' ऐसी कल्पना होती है । इसलिये गृहमें असत् देवदत्तके जीवनकी अनुपपत्तिसे देवदत्तकी गृहसे बाहर सत्ता कल्पना की जाती है, यहाँ गृहमें असत् देवदत्तका जीवन दृष्ट नहीं, किन्तु श्रुत है । अतः श्रुत अर्थकी अनुपपत्तिसे उपपादककी कल्पना 'श्रुतार्थापत्ति-प्रमा' कही जाती है और उसका हेतु श्रुतार्थकी अनुपपत्तिका ज्ञान 'श्रुतार्थापत्ति-प्रमाण'

कहलाता है। इस स्थानमें गृहमें असत् देवदत्तका जीवन उपपाद्य है और गृहसे बाहर उसकी सत्ता उपपादक है।

श्रुतार्थापत्ति भी अभिधानानुपपत्ति और अभिहितानुपपत्तिके भेदसे दो प्रकारकी होती है। 'द्वारम्' अथवा 'पिधेहि' इत्यादि स्थानोंमें जहाँ वाक्यका एक देश उच्चारित हो और अन्य देश उच्चारित न हो, वहाँ श्रुत पदके अर्थके अन्वययोग्य अर्थका अध्याहार किया जाता है, अथवा अन्वय-योग्य अर्थका बोधक जो शब्द उसका अध्याहार किया जाता है। ग्रन्थोंमें क्रमशः इन्हींको 'अर्थाध्याहारवाद' और 'शब्दाध्याहारवाद' कहा गया है। परन्तु अर्थापत्ति-प्रमाणके सिवा अन्य किसी प्रमाणसे अर्थके अध्याहारका ज्ञान अथवा शब्दके अध्याहारका ज्ञान सम्भव नहीं होता। यही 'अभिधानानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति' है, क्योंकि अन्वयबोध जिसका फल है, ऐसे शब्द-प्रयोगको 'अभिधान' कहते हैं। 'द्वारम्' इस शब्द-प्रयोगरूप अभिधानकी 'पिधान' रूप अर्थके वा 'पिधेहि' रूप शब्दके अध्याहारविना अनुपपत्ति है। अथवा यों कहना चाहिये कि इस स्थानमें एक पदार्थका दृष्टपदार्थान्तरसे अन्वय-बोधमें वक्ताका जो तात्पर्य वह 'अभिधान' पदका अर्थ है। यदि 'द्वारम्' इतना ही कहें तो द्वार-कर्मताका निरूपकता-सम्बन्धसे श्रोताको पिधानान्वयी बोध हो, ऐसा यहाँ वक्ताका तात्पर्यरूप अभिधान है। यदि 'पिधेहि' इतना ही कहा जाय तो पूर्वोक्त द्वारान्वयी-बोध, यही वक्ताका तात्पर्यरूप अभिधान है। अर्थात् वक्ताके तात्पर्यरूप अभिधानके अध्या-हारविना बोधकी अनुपपत्ति है, इसलिये यह अभिधानानुपपत्ति कही जाती है। यहाँ अर्थका अध्याहार अथवा शब्दका अध्याहार तो उपपादक है और बोध जिसका फल है ऐसा शब्द-प्रयोग उपपाद्य है। अथवा यों कहिये कि पूर्वोक्त तात्पर्य तो उपपाद्य है और बोध-फलवाले शब्दके प्रयोगरूप उपपाद्यकी अनुपपत्तिसे वा तात्पर्यरूप उपपाद्यकी अनुपपत्तिसे अर्थ अथवा शब्दरूप उपपादककी कल्पना की जाती है। इसलिये अर्थापत्ति-प्रमाणसे अध्याहृत अर्थ अथवा शब्दकी अभिधानानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति-प्रमा होती है। जहाँ वाक्यके एक देशका ही नहीं, किन्तु सारे ही वाक्यका अर्थ अन्य

अर्थकी कल्पनाविना अनुपपन्न हो, वहाँ 'अभिहितानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति' है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत्' इस वाक्यका अर्थ अपूर्व-कल्पनाविना अनुपपन्न है, इसलिये यह अभिहितानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति है। यहाँ यागको स्वर्ग-साधनता तो उपपाद्य है और अन्य प्रकार उसकी अनुपपत्तिसे अपूर्वकी कल्पना उपपादक है तथा स्वर्ग-साधनता दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है, इसलिये यह श्रुतार्थापत्ति है।

४ : अर्थापत्तिका जिज्ञासुके अनुकूल उदाहरण

'तरति शोकमात्मवित्' इस प्रकार यह जिज्ञासुके अनुकूल श्रुतार्थापत्तिका उदाहरण है। यहाँ ज्ञानसे शोककी निवृत्ति श्रुत है और शोक-मिथ्यात्वविना उसकी अनुपपत्ति होती है, क्योंकि ज्ञान मिथ्यात्वका ही बाधक है। इसलिये अन्य प्रकार ज्ञानसे शोक-निवृत्तिकी अनुपपत्तिसे बंध-मिथ्यात्वकी कल्पना होती है। यहाँ बंध-मिथ्यात्व उपपादक है और ज्ञानसे शोक-निवृत्ति उपपाद्य, वह दृष्ट नहीं किन्तु श्रुत है, इसलिये यह श्रुतार्थापत्ति है। तैसे ही जहाँ महावाक्योंसे जीव-ब्रह्मका अभेद श्रवण होता है, वहाँ यदि भेद औपाधिक माना जाय तो इनका अभेद सम्भव हो सकता है, परन्तु यदि जीव-ब्रह्मका स्वरूपसे ही भेद हो तो अभेद असम्भव होता है। इसलिये अन्य प्रकार जीव-ब्रह्मके अभेदकी अनुपपत्तिसे भेदका औपाधिकत्व-ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाणजन्य है। यहाँ जीव-ब्रह्मका अभेद उपपाद्य है और भेदकी सोपाधिकता उपपादक है। सभी स्थलोंमें उपपाद्य-ज्ञान तो प्रमाण होते हैं और उपपादक-ज्ञान प्रमा। जीव-ब्रह्मका अभेद विद्वान्‌को तो दृष्ट होता है, परन्तु अन्योंको श्रुत, इसलिये यह दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्ति दोनोंका उदाहरण है। जहाँ वाक्यमें पदका वा अर्थका अध्याहार तो न हो, परन्तु अन्य अर्थकी कल्पनाविना वाक्यार्थकी अनुपपत्ति हो, वहाँ अभिहितानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्ति होती है। इसलिये 'द्वारम्' इस एक उदाहरणके विना उपर्युक्त सभी अभिहितानुपपत्तिरूप श्रुतार्थापत्तिके ही उदाहरण हैं। तैसे रजतके अधिकरण शुक्तिमें रजतका निषेध दृष्ट है,

वह रजतके मिथ्यात्वविना सम्भव नहीं होता । इसलिये अन्य प्रकार निषेधकी अनुपपत्तिसे रजत-मिथ्यात्वकी कल्पना होती है, यह दृष्टार्था-पत्तिका उदाहरण है । यहाँ रजत-निषेध उपपाद्य है और रजत-मिथ्यात्व उपपादक । मनके विलयके अनन्तर निर्विकल्प समाधिमें अद्वितीय ब्रह्ममात्र शेष रहता है और वहाँ सकल अनात्म वस्तुका अभाव हो जाता है । वह अनात्म वस्तु मानस हो तो मनके विलयसे उसका अभाव सम्भव हो, यदि मानस न हो तो मनके विलयसे उसका अभाव भी न हो । क्योंकि अन्यके विलयसे अन्यका अभाव नहीं होता, इसलिये मनके विलयके विना सकल द्वैताभावकी अनुपपत्ति होनेसे सकल द्वैत मनोमात्र है, ऐसी कल्पना होती है । इस स्थानमें मनके विलयसे सकल द्वैतका विलय उपपाद्य है और उसका ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाण है । सकल द्वैतके प्रति मानसता उपपादक है और उसका ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमा है । इस स्थानमें उपपादक-प्रमाका असाधारण कारण अर्थापत्ति-प्रमाण यद्यपि निर्व्यापार है तो भी उसमें उपपादक-प्रमाकी करणता सम्भव होती है, यह उपमान-निरूपणमें कहा गया है ।

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें अर्थापत्ति-प्रमाण-निरूपणं नामक
पञ्चम प्रकाश समाप्त हुआ ।।

षष्ठ प्रकाश

अनुपलब्धि-प्रमाण-निरूपण

१ : अभावका सामान्य लक्षण और उसका भेद

अनुपलब्धि-प्रमाणसे अभावरूप प्रमाकी उत्पत्ति होती है, इसलिये अभाव-प्रमाके असाधारण कारणको अनुपलब्धि-प्रमाण कहा जाता है। जो न्याय-वेदान्तके संस्कारोंसे हीन हैं वे अभावके स्वरूपको नहीं जानते, इसलिये प्रथम अभावका स्वरूप निरूपण किया जाता है। जो निषेधमुख प्रतीतिका विषय हो, अथवा प्रतियोगीसापेक्ष प्रतीतिका विषय हो, वह 'अभाव' कहा जाता है। नैयायिकोंके प्राचीन मतके अनुसार अभावका प्रथम लक्षण है, परन्तु नवीन मतके अनुसार ध्वंस एवं प्रागभाव 'निषेध' शब्दजन्य प्रतीतिके विषय नहीं हैं, यह अर्थ आगे स्पष्ट किया जायगा, इसलिये नवीन मतमें उपर्युक्त दूसरा ही अभावका लक्षण है। क्योंकि प्रतियोगीको त्यागकर अभावकी प्रतीति होती नहीं है, इसलिये सकल अभाव प्रतियोगीसापेक्ष प्रतीतिके ही विषय होते हैं। यद्यपि अभावके समान सम्बन्ध और सादृश्य भी प्रतियोगी-निरपेक्ष प्रतीतिके विषय नहीं हैं, किन्तु वे भी प्रतियोगीसापेक्ष प्रतीतिके ही विषय होते हैं, इसलिये उनमें भी अभाव-लक्षणकी अतिव्याप्ति होनी चाहिये; तथापि सम्बन्ध और सादृश्यकी प्रतियोगितासे अभावकी प्रतियोगिता विलक्षण है। क्योंकि आचार्योंने न्याय-ग्रन्थोंमें अभावाभावके अभावकी प्रतियोगिताका स्वरूप भी निरूपण किया है, परन्तु सम्बन्ध और सादृश्यकी ऐसी प्रतियोगिता नहीं है। इसलिये सम्बन्ध एवं सादृश्यकी प्रतियोगितासे विलक्षण प्रतियोगिता-वाला जिसका प्रतियोगी हो, वह 'अभाव' कहा जाता है। इसकी स्थूल

रीति यह है कि जो सम्बन्ध व सादृश्यसे तो भिन्न हो और प्रतियोगीसापेक्ष प्रतीतिका विषय हो वह 'अभाव' कहा जाता है। न्यायरीतिसे वह अभाव दो प्रकारका है, एक संसर्गाभाव और दूसरा अन्योऽन्याभाव है। इनमें अन्योऽन्याभाव तो एकविध ही है और संसर्गाभावके चार भेद हैं, अर्थात् (१) प्रागभाव, (२) प्रध्वंसाभाव, (३) सामयिकाभाव और (४) अत्यंताभाव। इस प्रकार चार प्रकारका संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव मिलकर पाँच प्रकारका अभाव होता है। न्यायमतसे उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

(१) घटकी उत्पत्तिसे पूर्व कपालमें जो घटका अभाव है और रक्त रूपकी उत्पत्तिसे पूर्व कच्चे कपालमें जो रक्त रूपका अभाव है, वह 'प्रागभाव' है। (२) घटकी उत्पत्तिके पश्चात् मुद्गरादिसे कपालोंमें जो फिर घटका अभाव हो जाता है तथा पक्व कपालमें जो श्याम रूपका अभाव हो जाता है, वह प्रध्वंसाभाव है। प्रध्वंसाभाव सादि और अनन्त है, क्योंकि मुद्गरादिसे घटके ध्वंसकी उत्पत्ति होती है, यह तो अनुभवसिद्ध है, परन्तु घट-ध्वंसका ध्वंस अर्थात् अभाव सम्भव नहीं होता। क्योंकि घटके सम्बन्धमें प्रागभाव, प्रतियोगी अथवा ध्वंस—इन तीनोंमेंसे एकका अधिकरण-काल अवश्य रहना चाहिये। अर्थात् जो काल घट-प्रागभाव और ध्वंसका अनाधारकाल है वह घटरूप प्रतियोगीका आधारकाल होता है, यह नियम है। आशय यह कि घटकी उत्पत्ति हो जानेपर और उसके नाशसे पूर्व जो काल है वह घट-प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अनाधारकाल है, क्योंकि घट-प्रागभावका तो नाश हो चुका, परन्तु घट-ध्वंसकी उत्पत्ति नहीं हुई, इसलिये घट-प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अनाधार जो काल है वह घटरूप प्रतियोगीका आधारकाल होता है। यदि किसी प्रकार घट ध्वंसका ध्वंस माना भी जाय तो वह घट-ध्वंसके ध्वंसका आधारकाल घटप्रागभाव और घट-ध्वंसका अनाधारकाल होनेसे घटका आधारकाल ही होना चाहिये। इस प्रकार यदि घट-ध्वंसका ध्वंस माना जाय तो प्रतियोगी घटका उन्मज्जन होना चाहिये। इसीलिये प्रागभावको अनादि

माना गया है, क्योंकि यदि उसे सादि माना जाय तो उस प्रागभावकी उत्पत्तिसे पूर्व काल प्रागभाव एवं ध्वंस दोनोंका अनाधारकाल होगा और फिर वह प्रतियोगीका आधारकाल ही बनेगा। क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है प्रागभाव, प्रतियोगी और ध्वंस इन तीनोंमेंसे एकका अधिकरणकाल अवश्य रहना चाहिये। अतः प्रागभाव तो अनादि-सांत है और प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त। (३) भूत-वर्तमानादि कालोंमें जहाँ कदाचित् घट हो वहाँ घटशून्य कालमें घटका सामयिकाभाव होता है, अर्थात् जो किसी समयमें हो और किसी समयमें न हो वह 'सामयिकाभाव' कहा जाता है। (४) वायुमें रूप कदाचित् भी नहीं होता, इसलिये वायुमें रूपका 'अत्यन्ताभाव' होता है। (५) घटसे इतर पदार्थोंमें जो घटका भेद वह घटका 'अन्योऽन्याभाव' है। इनमें सामयिकाभाव तो सादि-सांत है और अत्यन्ताभाव व अन्योऽन्याभाव अनादि-अनन्त हैं। इस प्रकार न्यायरीतिसे पाँच प्रकारका अभाव होता है।

२ : प्राचीन न्याय-मतमें अभावोंके परस्पर विलक्षणताकी साधकप्रतीति

अब इन अभावोंकी परस्पर विलक्षणताकी साधक विलक्षण प्रतीतिका निरूपण किया जाता है—

घटकी उत्पत्तिसे पूर्व कपालमें 'कपाले घटो नास्ति' (कपालमें घट नहीं है) ऐसी प्रतीति होती है। उस प्रतीतिका विषय घट-प्रागभाव है, क्योंकि अपने प्रतियोगीके उपादान-कारणमें सामयिकाभाव और अत्यंताभाव तो रह नहीं सकते, किन्तु अपने प्रतियोगीके उपादानको छोड़कर अन्य स्थानोंमें ही ये दोनों अभाव रह सकते हैं, यह विषय आगे स्पष्ट किया जायगा। इसलिये 'कपाले घटो नास्ति' इस प्रतीतिके विषय सामयिकाभाव एवं अत्यंताभाव तो हो नहीं सकते। तथा घटकी उत्पत्तिसे पूर्व ध्वंसका तो सम्भव ही नहीं हो सकता, क्योंकि ध्वंसका निमित्तकारण प्रतियोगी हुआ करता है जो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ, इसलिये कारणसे पहले कार्यका

तो सम्भवही कैसे हो ? अतः घटकी उत्पत्तिसे पहले 'कपाले घटो नास्ति' इस प्रतीतिका विषय घट-प्रध्वंसाभाव भी नहीं हो सकता । यद्यपि घटान्योऽन्याभाव कपालमें सर्वदा रहता है; तथापि 'कपालो न घटः' (कपाल घट नहीं है) अन्योऽन्याभावकी ऐसी ही प्रतीति होती है, 'कपाले न घटः' (कपालमें घट नहीं) अन्योऽन्याभावकी ऐसी प्रतीति नहीं होती । इस प्रकार 'कपाले न घटः' ऐसी प्रतीतिका जो विषय है वह प्रागभाव ही कहा जाता है । तैसे ही जब मुद्गरादिसे घटका अदर्शन हो जाय तब भी यद्यपि 'कपाले घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति तो होती है, परन्तु उसका विषय प्रागभाव नहीं होता । क्योंकि प्रागभावका नाश प्रतियोगीरूप ही होता है, इसलिये घटकी उत्पत्तिके उत्तर प्रागभावका तो सम्भव ही नहीं होता । इसके साथ ही अन्य जो तीन अभाव हैं, उनका भी 'कपाले घटो नास्ति' इस प्रतीतिमें सम्भव नहीं होता । इस प्रकार मुद्गरादिजन्य घटके अदर्शनकालमें 'कपाले घटो नास्ति' ऐसी जो प्रतीति होती है, उसका विषय प्रध्वंसाभाव ही है । इस रीतिसे प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव भी 'न' शब्दजन्य प्रतीतिके ही विषय हैं, ऐसा प्राचीन नैयायिकोंका मत है ।

३ : नवीन न्यायमतमें अभावोंकी परस्पर विलक्षणताकी साधक प्रतीति

नवीन न्याय-मतके अनुसार प्रतियोगीके उपादान-कारणमें अत्यंताभाव भी रहता है, क्योंकि अत्यंताभावका अपने प्रतियोगीसे ही विरोध है अन्यसे नहीं । इसलिये जहाँ प्रतियोगी न हो वहाँ सर्वत्र अत्यंताभाव रहता है । इस प्रकार घटकी उत्पत्तिसे पूर्व और घट-नाश-कालमें भी प्रतियोगीका अत्यंताभाव होनेसे 'कपाले घटो नास्ति' इस प्रतीतिका विषय अत्यंताभाव भी है, ऐसी प्रतीतिसे केवल प्रागभाव व प्रध्वंसाभावकी ही सिद्धि नहीं होती । परन्तु 'कपाले घटो भविष्यति' (कपालमें घट होगा) ऐसी प्रतीति जो घटोत्पत्तिसे पूर्व होती है, उसका विषय तो प्रागभाव है और 'कपाले घटो ध्वस्तः' (कपालमें घट नष्ट हो गया) ऐसी प्रतीतिका विषय प्रध्वंसाभाव

है। इस प्रकार यद्यपि घटोत्पत्तिसे पूर्व कपालमें घटका अत्यंताभाव और प्रागभाव रहते तो दोनों ही हैं; तथापि उनमें 'कपाले घटो नास्ति' इस प्रतीतिका विषय कपालमें घटका अत्यंताभाव और 'कपाले घटो भविष्यति' इस प्रतीतिका विषय प्रागभाव है। तैसे ही जब मुद्गरादिसे कपालमें घटका अदर्शन हो जाय, तब भी 'कपाले घटो नास्ति' (कपालमें घट नहीं है) और 'कपाले घटो ध्वस्तः' (कपालमें घट नष्ट हो गया) इस प्रकार द्विविध प्रतीति होती है, उनमें आद्य प्रतीतिका विषय कपालमें घटका अत्यंताभाव और द्वितीय प्रतीतिका विषय प्रध्वंसाभाव है। इस प्रकार नवीन मतमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव 'न' शब्दजन्य प्रतीतिके विषय नहीं हैं। इसलिये अभावका पूर्वोक्त प्रथम लक्षण तो प्राचीन मतके अनुसार और द्वितीय लक्षण नवीन मतके अनुसार है।

४ : अभावका द्वितीय लक्षण और विलक्षण प्रतीति

'सम्बन्ध और सादृश्यसे भिन्न जो प्रतियोगीसापेक्ष प्रतीतिका विषय हो वह 'अभाव' कहाता है' ऐसा द्वितीय लक्षण है। तहाँ 'भूतले घटो नास्ति' (भूतलमें घट नहीं है) इस प्रतीतिके विषय प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव तो हो नहीं सकते, क्योंकि ये दोनों अभाव प्रतियोगीके उपादान-कारणमें ही रहनेवाले हैं। परन्तु चूँकि घटाभावके प्रतियोगी घटका उपादानकारण भूतल नहीं है, इसलिये उक्त प्रतीतिके विषय ये दोनों अभाव भी नहीं हो सकते। तथा अत्यंताभाव और अन्योऽन्याभाव नित्य हैं, परन्तु भूतलमें घटाभाव अनित्य है, इसलिये उक्त प्रतीतिका विषय सामयिकाभाव ही हो सकता है। 'वायौ रूपं नास्ति' (वायुमें रूप नहीं है) इस प्रतीतिका विषय केवल अत्यंताभाव ही है। क्योंकि अत्यंताभाव अनन्त होनेसे प्रागभाव नहीं, अनादि होनेसे प्रध्वंसाभाव नहीं और सर्वदा होनेसे सामयिकाभाव नहीं, इसलिये उक्त प्रतीतिका विषय अत्यंताभाव ही है। तैसे ही 'वायुर्न रूपवान्' (वायु रूपवाला नहीं है) इस प्रतीतिका विषय अन्योऽन्याभाव है, क्योंकि उक्त प्रतीतिसे वायुमें रूपवत्का भेद जाना

जाता है। इसी प्रकार 'घटः पटो न' (घट पट नहीं है) इस प्रतीति-का विषय भी अन्योऽन्याभाव ही है, क्योंकि अन्योऽन्याभावका नाम ही भेद है।

५ : अन्योऽन्याभावलक्षण और उसमें शंका-समाधान

अभेदका निषेधक जो अभाव वह 'अन्योऽन्याभाव' कहलाता है। 'घटः पटो न' ऐसा कहनेमें घटमें पटके अभेदका निषेध होता है, इसलिये घटमें पटके अभेदका निषेध, घटमें पटका अन्योऽन्याभाव है। क्योंकि 'न' शब्दविना जिसमें जो प्रतीत हो, 'न' शब्दसे उसमें उसका निषेध होता है। जैसे 'घटः पटः' इस वाक्यमें 'न' शब्दके विना 'नीलो घटः' इत्यादिके समान पटमें घटका अथवा घटमें पटका अभेद प्रतीत होता है और उस अभेदका निषेध 'न' शब्दसे होता है। परन्तु इतना भेद है कि जिस पदसे 'न' शब्दका सम्बन्ध हो, उस पदके अर्थके अभेदका ही निषेध होता है। जैसे 'घटः पटो न' इस वाक्यमें 'पट' पदसे 'न' शब्दका सम्बन्ध है, यहाँ तो 'न' शब्दसे घटमें 'पट' पदके अर्थके अभेदका निषेध होता है और 'पटो घटो न' इस वाक्यमें 'न' शब्दका 'घट' पदसे सम्बन्ध है, तहाँ 'न' शब्दसे पटमें 'घट' पदके अर्थके अभेदका निषेध होता है। इसीलिये 'घटः पटो न' इस वाक्यमें जो अन्योऽन्याभाव प्रतीत होता है, उसका घट अनुयोगी है और पट प्रतियोगी तथा 'पटो घटो न' इस वाक्यमें प्रतीत होनेवाले अन्योऽन्याभावका पट अनुयोगी है और घट प्रतियोगी। जिसमें अभाव रहे वह अभावका अनुयोगी और जिसका अभाव हो वह अभावका प्रतियोगी कहलाता है।

(शंका) जिसका निषेध किया जाय उसका अभाव कहा जाता है और वही अभावका प्रतियोगी कहलाता है। परन्तु ऊपर यह कहा गया कि 'घटः पटो न' इस वाक्यसे तो घटमें पटके अर्थके अभेदका निषेध होता है और 'पटो घटो न' इस वाक्यसे पटमें घटके अर्थके अभेदका निषेध होता है। इसलिये 'घटः पटो न' इस वाक्यसे प्रतीत होनेवाले अभावका प्रतियोगी

तो पटका अभेद है, पट नहीं और 'पटो घटो न' इस वाक्यसे प्रतीत होनेवाले अभावका प्रतियोगी घटका अभेद है, घट नहीं। इस प्रकार यदि दोनों वाक्योंमें अभेदका निषेध किया जाय तो क्रमशः पट और घटमें जो प्रतियोगिता कथन की गई, उससे विरोध होगा।

(समाधान) अभेद असाधारण धर्मका नाम है, अर्थात् जो अपने आत्माके सिवा अन्य किसी पदार्थमें न रहे, किन्तु केवल अपनेमें ही रहे वह अपना असाधारण धर्म कहलाता है। जैसे घटका अभेद घटमें ही रहता है, अन्यमें नहीं, इसलिये घटका अभेद घटका असाधारण धर्म है। वह असाधारण-धर्मरूप अभेद-सम्बन्ध सकल पदार्थोंका अपने-अपनेमें ही है। इस प्रकार सभी पदार्थोंका असाधारण-धर्मरूप अभेद-सम्बन्ध अपने-अपने स्वरूपमें ही रहता है। जिस पदार्थका जिसमें जो सम्बन्ध होता है, वह पदार्थ उसमें उसी सम्बन्धसे रहा करता है। जैसे जहाँ घटका भूतलमें संयोग-सम्बन्ध हो, वहाँ 'घट भूतलमें संयोग-सम्बन्धसे वर्त रहा है' ऐसा व्यवहार होता है। इसलिये 'घटका भूतलमें संयोग-सम्बन्ध है' अथवा 'घट भूतलमें संयोग-सम्बन्धसे रहता है' इन दोनों कथनोंमें अर्थका भेद नहीं है। तैसे ही 'संयोग-सम्बन्धसे भूतलमें घटाभाव है' अथवा 'भूतलमें घट-संयोगका अभाव है' इन दोनों वाक्योंका भी एक ही अर्थ है। इसी प्रकार 'पटमें अभेद-सम्बन्धसे घटाभाव' और 'घटके अभेद-सम्बन्धका पटमें अभाव' ये दोनों भी समनियत होनेसे एक ही पदार्थ हैं और समनियत अभावोंका भेद नहीं हुआ करता है। जैसे घटत्वात्यंताभाव और घटान्योऽन्याभाव ये दोनों घटसे भिन्न सकल पदार्थोंमें रहते हैं, इसलिये समनियत होनेसे ये दोनों परस्पर भिन्न नहीं। किन्तु एक ही अभावमें घटत्वात्यंताभावत्व और घटान्योऽन्याभावत्वरूप दो धर्म हैं और उस एक ही अभावके क्रमशः घटत्व और घट दोनों प्रतियोगी हैं। अर्थात् घटत्वात्यंताभावत्वरूपसे जिस अभावका घटत्व प्रतियोगी है, उसी अभावका घटान्योऽन्याभावत्वरूपसे घट भी प्रतियोगी है। तथा जिस प्रकार रूपभेदसे एक ही अभावके दो प्रतियोगी हैं, उसी प्रकार रूपभेदसे एक ही अभावके प्रतियोगितावच्छेदक

सम्बन्ध भी दो हैं । अर्थात् घटत्वात्यंताभावत्वरूपसे तो घटमें घटत्वका प्रतियोगितावच्छेदक समवाय-सम्बन्ध है और घटान्योऽन्याभावत्वरूपसे घटका अपने स्वरूपमें प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप-सम्बन्ध है । इसी प्रकार पटादि सकल पदार्थोंमें घटाभेदका अत्यंताभाव और घटान्योऽन्याभाव भी एक ही वस्तु हैं और उस एक अभावमें घटाभेदात्यंताभावत्व व घटान्योऽन्याभावत्व दो धर्म हैं । उस एक अभावका घटाभेदात्यंताभावत्वरूपसे तो घटाभेद प्रतियोगी है और प्रतियोगितावच्छेदक अभेद-सम्बन्ध है तथा घटान्योऽन्याभावत्वरूपसे उसी अभावका घट प्रतियोगी है और प्रतियोगितावच्छेदक स्वरूप-सम्बन्ध है । उस अभेद-सम्बन्धको ही 'तादात्म्य' कहते हैं और 'तद्व्यक्तित्व' भी कहते हैं । इस प्रकार घटके अभेदके निषेधका घट प्रतियोगी है, यह कथन भी सम्भव होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं ।

इस स्थानमें यह निष्कर्ष है कि 'न' शब्दविना जिस वाक्यसे, जिस पदार्थमें, जिस सम्बन्धसे, जो पदार्थ प्रतीत हो, 'न' शब्दसहित उस वाक्यसे उस पदार्थमें, उस सम्बन्धसे, उस पदार्थका निषेध प्रतीत होता है । जैसे 'नीलो घटः' इस वाक्यसे घट-पदार्थमें नील-पदार्थ अभेद-सम्बन्धसे प्रतीत होता है । क्योंकि 'अभेद-सम्बन्धसे नीलविशिष्ट घट है' यह इस वाक्यका अर्थ है तथा 'न' सहित 'घटो न नीलः' इस वाक्यसे नीलका घटमें अभेद सम्बन्धसे निषेध प्रतीत होता है । इसी प्रकार 'घटः पटः' इस वाक्यसे भी 'न' शब्दविना पट-पदार्थमें घट-पदार्थ अभेद-सम्बन्धसे ही प्रतीत होता है, क्योंकि जहाँ दोनों पदोंमें समान विभक्ति हो वहाँ एक पदार्थमें अपर पदार्थ अभेद-सम्बन्धसे प्रतीत हुआ करता है, यह नियम है । चूँकि 'नीलो घटः' इस वाक्यके समान 'घटः पटः' इस वाक्यमें भी दोनों पद समानविभक्तिवाले हैं, इसलिये 'न' शब्दविना 'घटः पटः' इस वाक्यसे भी पट-पदार्थमें घट-पदार्थ अभेद-सम्बन्धसे प्रतीत होता है । यद्यपि पट-पदार्थमें घट-पदार्थ अभेद-सम्बन्धसे सम्भव नहीं होता; तथापि एक पदार्थमें अपर पदार्थके अभेद-सम्बन्धसे प्रतीतिकी सामग्री समानविभक्ति ही है

और वह 'घटः पटः' इस वाक्यमें विद्यमान है। इसलिये 'न' शब्दविना 'घटः पटः' इस वाक्यसे पट-पदार्थमें घट-पदार्थ अभेद-सम्बन्धसे प्रतीत होता तो है, परन्तु ऐसी अभेद-प्रतीति भ्रमरूप ही होगी, प्रमा नहीं। इस प्रकार 'न' शब्दविना जहाँ एक पदार्थमें अपर पदार्थकी जिस सम्बन्धसे भ्रमरूप वा प्रमारूप प्रतीति हो, वहाँ 'न' शब्दके मिलनेपर उस एक पदार्थमें उस अपर पदार्थका उस सम्बन्धसे निषेध हो जाता है। इस रीतिसे एक पदार्थमें अपर पदार्थका अभेद-सम्बन्धसे निषेधक अभाव 'अन्योऽन्याभाव' कहा जाता है।

६ : प्राचीन नैयायिक-रीतिसे संसर्गाभावके चार भेद और उनके लक्षण व परीक्षा

अन्योऽन्याभावसे भिन्न जो अभाव वह संसर्गाभाव कहलाता है। प्राचीन मतसे यह चार प्रकारका है—

(१) अनादि-सांत जो अभाव वह 'प्रागभाव' कहा जाता है। प्रागभाव अपने प्रतियोगीके उपादान-कारणमें रहा करता है। जैसे घटके प्रागभावका प्रतियोगी जो घट है, उसके उपादान-कारण कपालमें घटका प्रागभाव रहता है और कपालकी उत्पत्तिसे पूर्व घटका प्रागभाव कपालके उपादान-कारणमें भी रहता है। इसी प्रकार सृष्टिसे पूर्व घटारम्भक परमाणुसमुदायमें भी घट-प्रागभाव रहता है तथा परमाणु व घटके मध्यमें द्व्यणुकादिसे लेकर कपालपर्यन्त जितने भी अवयवी हैं, उन सर्वके प्रागभाव सृष्टिसे पूर्व परमाणुमें रहते हैं। इस रीतिसे प्रागभाव अनादि अर्थात् उत्पत्तिरहित है और सांत अर्थात् अन्तवाला है। अंत नाम ध्वंसका है जिसको नाश भी कहते हैं। जो घटकी उत्पत्तिकी सामग्री है उससे घटके प्रागभावका अंत होता है, इसलिये घटके प्रागभावका अंत घटरूप ही है, अर्थात् घटके प्रागभावका ध्वंस घटसे पृथक् नहीं। यद्यपि प्रध्वंसाभाव अनन्त है और घट सांत है, इसलिये यदि घटके प्रागभावका ध्वंस घटरूप हो तो प्रध्वंसाभाव भी सांत होगा और प्रध्वंसाभाव अनन्त है, इस नियमका

भंग होगा; तथापि ध्वंस, नाश और अंत ये पर्याय शब्द हैं, वह ध्वंस दो प्रकारका होता है। एक तो भावपदार्थका नाशरूप ध्वंस और दूसरा अभाव-पदार्थका नाशरूप ध्वंस। उनमें भावपदार्थका नाशरूप ध्वंस तो अभावरूप होता है और उसीको प्रध्वंसाभाव कहते हैं। जैसे घटादि भावपदार्थोंका नाशरूप ध्वंस तो अभावरूप होता है और उसको प्रध्वंसाभाव कहते हैं, परन्तु अभावपदार्थोंका नाशरूप ध्वंस भावरूप होता है। उसको ध्वंस व प्रध्वंस तो कहा जाता है, परन्तु ध्वंसाभाव व प्रध्वंसाभाव नहीं कहा जाता। जैसे घटका प्रागभाव अभावपदार्थ है, उसका नाशरूप ध्वंस घट है वह भावरूप है, उसको प्रध्वंसाभाव नहीं कहा जाता, किन्तु घटके प्रागभावके नाशरूप घटको स्वप्रागभावका ध्वंस व प्रध्वंस ही कहते हैं। इस प्रकार ध्वंस दो प्रकारका है, उनमें भावरूप ध्वंस तो सांत है, परन्तु अभावरूप ध्वंस अनन्त है। इसीलिये घटके प्रागभावका ध्वंस तो घटरूप होनेसे सांत है और घटका प्रध्वंसाभाव अनन्त है, इस नियमकी हानि नहीं। इस प्रकार अनादि-सांत जो अभाव वह प्रागभाव कहलाता है।

अनादि अभाव तो अत्यंताभाव भी है, परन्तु वह सांत नहीं और सांत अभाव तो सामयिकाभाव भी है, परन्तु वह अनादि नहीं। वेदान्त-सिद्धान्तमें अनादि-सांत तो माया भी है, परन्तु वह अभाव नहीं, किन्तु वह जगतका उपादान-कारण है। यदि माया अभावरूप हो तो उसमें उपादान-कारणता सम्भव न हो, क्योंकि कपालादि जो घटके उपादान-कारण हैं वे भावरूप ही प्रसिद्ध हैं, अभाव किसीका उपादान-कारण नहीं होता, इसलिये माया भावरूप ही है। यद्यपि वेदान्त-सिद्धान्तमें मायाको भाव-अभावसे विलक्षण अनिर्वचनीय माना गया है, इसलिये मायामें भावरूपता भी सम्भव नहीं होती; तथापि माया अभावरूप नहीं, इसलिये प्रागभावके लक्षणमें 'अभाव' पदका प्रवेश होनेसे मायामें प्रागभावका लक्षण घटित नहीं होता। 'माया भावरूप नहीं' इस कथनका अभिप्राय यह है कि कालत्रयमें जिसका बाध न हो वही परमार्थ सत् और वही भावरूप कहलाता है, ऐसा ब्रह्म ही है माया नहीं। चूंकि ज्ञानसे उत्तर कालमें ही मायाका बाध हो जाता है, इसलिये

यद्यपि परमार्थं सत्स्वरूप भावरूपता तो मायामें नहीं है; तथापि जो विधिमुख प्रतीतिका विषय हो वह भी सत् और भावरूप कहलाता है तथा जो निषेधमुख प्रतीतिका विषय हो वह अभावरूप कहा जाता है; चूँकि मायामें निषेधमुख प्रतीतिकी विषयता नहीं है, इसीलिये वह भावरूप कही गई है । यद्यपि 'माया' 'प्रकृति' 'अविद्या' एवं 'अज्ञान' ये सभी शब्द पर्याय हैं और 'अविद्या' व 'अज्ञान' शब्दोंमें अकार निषेधका वाचक है, इसलिये माया भी निषेधमुख प्रतीतिका विषय होनेसे अभावरूप ही कही जानी चाहिये; तथापि अकारका केवल निषेधमें ही अर्थ नहीं है, किन्तु विरोध, भेद एवं अल्प भी अकारके अर्थ होते हैं । जैसे 'अधर्म' शब्दमें अकारका विरोधी अर्थ है, अर्थात् धर्मविरुद्धको 'अधर्म' कहा जाता है । 'अब्राह्मणो नाचार्यः' इस स्थानमें अकारका भेदवान् अर्थ है, अर्थात् 'ब्राह्मणसे भिन्न, आचार्यताके अयोग्य' यह इस वाक्यका अर्थ है । तथा 'अनुदरा देवदत्तकन्या' इस स्थानमें अकारका अल्प अर्थ है, अर्थात् 'अल्प उदरवाली देवदत्तकी कन्या है' यह इस वाक्यका अर्थ है । जिस प्रकार उपर्युक्त स्थानोंमें अकारका 'निषेध' अर्थ नहीं है, उसी प्रकार 'अविद्या' व 'अज्ञान' शब्दोंमें भी अकारका 'निषेध' अर्थ नहीं, किन्तु 'विरोधी' ही अर्थ है । चूँकि ज्ञानसे मायाका वध्य घातकभाव विरोध है, इसलिये मायाको ज्ञान-विरुद्ध अज्ञान कहते हैं, अर्थात् माया वध्य है और ज्ञान घातक है । वेदान्त-वाक्यजन्य ब्रह्माकार-वृत्तिको विद्या कहते हैं और वह मायाकी विरोधिनी है, इसलिये विद्याविरुद्ध होनेसे मायाको अविद्या कहा गया है, 'अज्ञान' व 'अविद्या' शब्दोंका वाच्य भी माया ही है । इस प्रकार यहाँ अकारका विरोधी अर्थ होनेसे माया भावरूप ही है, भावरूप होती हुई भी वह ब्रह्मकी भाँति परमार्थ सत्रूप नहीं, किन्तु केवल विधिमुख प्रतीतिका विषय होनेसे व्यावहारिक सत्रूप ही है । सारांश, यदि प्रागभावके लक्षणमें 'अभाव' पद नहीं होता तो मायामें उस लक्षणकी अतिव्याप्ति होती, क्योंकि माया भी अनादि-सांत है, परन्तु प्रागभावके लक्षणमें 'अभाव' पदका प्रवेश होनेसे अनादि-सांत जो अभाव वह प्रागभाव कहा जाता है ।

(२) सादि-अनन्त जो अभाव वह 'प्रध्वंसाभाव' कहलाता है। क्योंकि घटादिका मुद्‌गरादिसे ध्वंस होता है, इसलिये वह ध्वंस सादि तो है ही और इसकी अनन्ततामें युक्ति पूर्व कही जा चुकी है। यदि अनन्त अभावको ही प्रध्वंसाभाव कहा जाय तो अनन्त तो अत्यन्ताभाव भी है अतः उसमें अतिव्याप्ति होगी। इसलिये प्रध्वंसाभावके लक्षणमें सादि कहना चाहिये, क्योंकि अत्यंताभाव सादि नहीं किन्तु अनादि है। यदि सादि अभावको ही प्रध्वंसाभाव कहा जाय तो सादि अभाव तो सामयिकाभाव भी है, वहाँ अतिव्याप्ति होगी, परन्तु सामयिकाभाव अनन्त नहीं किन्तु सांत है। यदि सादि-अनन्तको ही प्रध्वंसाभाव कहा जाय तो उसकी मोक्षमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि ज्ञानसे मोक्ष होता है इसलिये वह सादि और मुक्त-को फिर संसार नहीं होता इसलिये वह अनन्त है। परन्तु चूँकि मोक्ष भावरूप है अभावरूप नहीं, इसलिये प्रध्वंसाभावके लक्षणमें 'अभाव' कहना चाहिये। यद्यपि अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्तिका नाम मोक्ष है और निवृत्ति नाम ध्वंसका है, इसलिये मोक्ष भी अभावरूप कहना चाहिये और प्रध्वंसाभावके लक्षणमें 'अभाव' पद जोड़ें तब भी इस लक्षणकी मोक्षमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि जो दुष्ट लक्षण अलक्ष्यमें घट जाय उसको अतिव्याप्ति दोषवाला कहते हैं। यहाँ अज्ञान और उसके कार्यके ध्वंसको मोक्ष-लक्ष्यता तो स्पष्ट ही है और सकलनाश प्रध्वंसाभावके लक्षणका लक्ष्य है तथा सकलनाशके अंतर्भूत ही कार्यसहित अज्ञानका नाशरूप मोक्ष है, इसलिये प्रध्वंसाभावके लक्षणकी मोक्षमें अतिव्याप्ति होती है। तथापि कल्पितकी निवृत्ति अधिष्ठानरूप ही होती है, यह सिद्धान्त है और अज्ञान एवं उसका कार्य कल्पित होनेसे उनकी निवृत्ति अधिष्ठान ब्रह्मरूप है, इसलिये मोक्ष अभावरूप नहीं किन्तु ब्रह्मरूप होनेसे भावरूप ही है। चूँकि मोक्ष भावरूप है, इसलिये प्रध्वंसाभावके लक्षणकी मोक्षमें अतिव्याप्ति नहीं होती और इस प्रकार सादि-अनंत जो अभाव वह प्रध्वंसाभाव ही कहा जाता है।

(३) उत्पत्ति-नाशवाला जो अभाव वह 'सामयिकाभाव' कहलाता

है। जहाँ किसी कालमें पदार्थ हो और किसीमें न हो, वहाँ पदार्थशून्य कालमें उस पदार्थका सामयिकाभाव कहाता है। जैसे जहाँ भूतलादिमें घटादि किसी कालमें होते हैं और किसी कालमें नहीं, वहाँ घटशून्य कालसम्बन्धी भूतलादिमें घटादिका सामयिकाभाव होता है। जो समयविशेषमें उपजे और समयविशेषमें नष्ट हो, वह सामयिकाभाव है। जब घटको भूतलसे अन्य देशमें ले जायँ, तब भूतलमें घटका अभाव उपजता है और जब उसी भूतलमें घटको पुनः ले आवें, तब उस भूतलमें घटाभाव नष्ट हो जाता है, इस प्रकार सामयिकाभाव उत्पत्ति-नाशरूप है। उत्पत्ति-वाला अभाव तो प्रध्वंसाभाव भी है, इसलिये उसमें अतिव्याप्तिके परिहारके लिये सामयिकाभावके लक्षणमें 'नाश' पद जोड़ा गया है। यद्यपि प्रध्वंसाभाव उत्पत्तिवाला तो है परन्तु नाशवाला नहीं, इसलिये 'नाश' पद जोड़नेसे प्रध्वंसाभावमें अतिव्याप्ति नहीं होती। यदि नाशवाले अभावको ही सामयिकाभाव कहा जाय तो नाशवाला तो प्रागभाव भी है उसमें अतिव्याप्ति होगी, इसलिये सामयिकाभावके लक्षणमें 'उत्पत्ति' पद जोड़ा गया है। इस प्रकार इस लक्षणमें उत्पत्ति-पदके प्रवेशसे प्रागभावमें अतिव्याप्ति नहीं होती, क्योंकि प्रागभावका नाश तो होता है परन्तु अनादि होनेसे उसकी उत्पत्ति नहीं होती। यदि सामयिकाभावके लक्षणमें 'अभाव' पद न जोड़ा जाय, किन्तु केवल उत्पत्ति-नाशवालेको ही सामयिकाभाव कहा जाय तो उसकी घटादिमें अतिव्याप्ति होगी, क्योंकि घटादि भूत-भौतिक अनन्त पदार्थ उत्पत्ति-नाशवान् ही हैं। परन्तु घटादिमें भावरूपता होनेसे और सामयिकाभावके लक्षणमें 'अभाव' पदके प्रवेशसे उनमें इस लक्षणकी अतिव्याप्ति नहीं होती। इस प्रकार भूतलादिमें घटादिका उत्पत्ति-नाशवाला अभाव सामयिकाभाव है।

(४) अन्योऽन्याभावसे भिन्न जो उत्पत्ति-नाशशून्य अभाव वह अत्यंताभाव कहलाता है। जहाँ जो पदार्थ किसी कालमें भी न हो वहाँ उस पदार्थका अत्यंताभाव कहा जाता है। जैसे वायुमें रूप किसी कालमें भी नहीं होता, इसलिये वायुमें रूपका अत्यंताभाव कहा जाता है। स्नेह-गुण

केवल जलमें ही रहता है अन्यत्र कहीं भी नहीं, इसलिये जलके सिवा अन्य सब पदार्थोंमें स्नेहका अत्यंताभाव रहता है । आत्मामें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध कभी भी नहीं होते, इसलिये आत्मामें इन पाँचोंका अत्यंताभाव रहता है । पृथ्वी और जलमें रस रहता है अन्यत्र कहीं भी नहीं, इसलिये पृथ्वी-जलभिन्न पदार्थोंमें रसका अत्यंताभाव रहता है । पृथ्वीत्व-जाति केवल पृथ्वीमें ही रहती है जलादिमें कभी भी नहीं, इसलिये जलादिमें पृथ्वीत्वका अत्यंताभाव है । ब्राह्मणभिन्न क्षत्रियादिमें ब्राह्मणत्व कभी भी नहीं रहता, इसलिये क्षत्रियादिमें ब्राह्मणत्वका अत्यंताभाव है । आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा व्यापक हैं उनमें कभी भी क्रिया नहीं होती, इसलिये उनमें क्रियाका अत्यंताभाव है । पृथ्वी, जल, तेज, वायु और मनमें कदाचित् क्रिया होती है कदाचित् नहीं होती, इसलिये जब वे निष्क्रिय होते हैं तब उनमें क्रियाका न तो अत्यंताभाव होता है और न सामयिकाभाव ही होता है । क्योंकि सामयिकाभाव तो केवल द्रव्यका ही होता है क्रियाका कदापि नहीं, यह वार्ता आगे स्पष्ट की जायगी, किन्तु इन पाँचोंमें क्रियाका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव ही होता है ।

७ : चारों संसर्गाभावोंका प्रतियोगीसे विरोध और अन्योऽन्याभावका अविरोध

इस प्रकार भूतलादिमें जहाँ कदाचित् घट होता है और कदाचित् नहीं, वहाँ सर्वत्र सामयिकाभाव ही रहता है अत्यंताभाव नहीं, क्योंकि अभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध है । अर्थात् जहाँ प्रतियोगी हो वहाँ उसका अभाव नहीं होता, किन्तु उसके अभावका अभाव होता है । जहाँ भूतलादिमें कदाचित् घट हो और कदाचित् न हो, वहाँ यदि अत्यंताभाव माना जाय तो अत्यंताभाव नित्य है, इसलिये नित्य होनेसे घटकालमें भी घटका अत्यंताभाव रहना चाहिये और फिर अत्यंताभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध न रहना चाहिये । इसलिये प्रतियोगीसे विरोध होनेके कारण भूतलादिमें घटादिका अत्यंताभाव सम्भव नहीं होता । जैसे

घटकी उत्पत्तिसे पूर्व कपालमें घटका प्रागभाव रहता है और घटरूप प्रतियोगीके उत्पन्न हो जानेपर प्रागभावका नाश हो जाता है, इसलिये प्रागभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध है। तैसे ही जब कपालमें घटका प्रध्वंसाभाव उत्पन्न हो तब भी घट नहीं रहता और जबतक घट रहे तबतक कपालमें प्रध्वंसाभाव उत्पन्न नहीं होता, इसलिये प्रध्वंसाभावका भी अपने प्रतियोगीसे विरोध स्पष्ट है। इसी प्रकार जबतक घटादि भूतलादिमें संयोग-सम्बन्धसे रहते हैं, तबतक भूतलादिमें घटादिके सामयिकाभाव नहीं रहते, किन्तु जितने काल घटादि-प्रतियोगी भूतलादिमें न रहें उतने काल ही उनका सामयिकाभाव रहता है। यदि घटादि-प्रतियोगी भूतलादिमें पुनः आ जायँ, तब पुनः उनके सामयिकाभावका नाश हो जाता है और जब घटादिको उस भूतलसे पुनः उठा लिया जाय, तब पुनः वहाँ उनका सामयिकाभाव उत्पन्न हो आता है। इसीलिये सामयिकाभावके उत्पत्ति-नाश माने गये हैं और इस प्रकार सामयिकाभावका भी अपने प्रतियोगीसे विरोध स्पष्ट है। जैसे उपर्युक्त तीनों प्रागभावादिका अपने प्रतियोगीसे विरोध है, तैसे अत्यंताभावका भी अपने प्रतियोगीसे विरोध स्पष्ट करना चाहिये। इस विषयमें नीचे विचार किया जाता है——

यदि सभी अभावोंका अपने प्रतियोगीसे विरोध हो तो जिस कालमें घट भूतलमें विद्यमान हो उस कालमें घटका अन्योऽन्याभाव भूतलमें नहीं रहना चाहिये, परन्तु घटवाले भूतलमें भी घटका अन्योऽन्याभाव तो रहता ही है। क्योंकि भेदको ही अन्योऽन्याभाव कहते हैं, जिसको अपनेसे अतिरिक्तता, भिन्नता और जुदापन भी कहा जाता है। यहाँ घटवाला भूतल भी घटस्वरूप तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु वह घटसे अतिरिक्त, भिन्न और जुदा ही होता है। इस प्रकार घटवाले भूतलमें भी घटका अन्योऽन्याभाव तो रहता ही है, इसलिये घटके अन्योऽन्याभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध नहीं। इसी प्रकार पटके अन्योऽन्याभावका पटादिसे विरोध नहीं, क्योंकि जिस स्थानमें पटादि विद्यमान हैं, उसी स्थानमें उनका अन्यो-ऽन्याभाव भी रहता है। इसलिये सकल अभावोंका तो अपने-अपने

प्रतियोगियोंसे विरोध कहना सम्भव नहीं, किन्तु किसी अभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध है और किसीका नहीं, ऐसा कहना चाहिये। यद्यपि जहाँ प्रागभावादिके दृष्टान्तसे अत्यंताभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध सिद्ध किया जाय, वहाँ अन्योऽन्याभावके दृष्टान्तसे अत्यंताभावका अपने प्रतियोगीसे अविरोध भी सिद्ध किया जा सकता है, क्योंकि घटके अन्योऽन्याभावके समान घटके अत्यंताभावका भी घटके अधिकरणमें रहना सम्भव है; तथापि घटके अधिकरणमें घटका अत्यंताभाव सम्भव नहीं होता। क्योंकि जैसा पूर्व कहा गया है, अभाव दो प्रकारका होता है, एक अन्योऽन्याभाव और दूसरा संसर्गाभाव, उनमें संसर्गाभाव चार प्रकारका माना गया है, इस प्रकार पञ्चविध अभाव माना गया है। उनमें अभावत्व-धर्म तो सबमें समान है और निषेधमुख प्रतीतिकी विषयता भी सबमें समान ही है, फिर भी अन्योऽन्याभावसे चतुर्विध संसर्गाभावमें अनेकविध विलक्षणताएँ हैं। अर्थात् जिस वाक्यमें अनुयोगी-प्रतियोगी-बोधक भिन्न-भिन्न विभक्तिवाले पद हों, उस वाक्यसे संसर्गाभावकी ही प्रतीति होती है। जैसे उत्पत्तिसे पूर्व 'कपाले घटो नास्ति' इस वाक्यमें अनुयोगी-बोधक 'कपाल' पद सप्तम्यंत और प्रतियोगीबोधक 'घट' पद प्रथमान्त है, यहाँ प्रागभावकी प्रतीति होती है। मुद्गरादिसे जहाँ घटका अदर्शन हो जाय वहाँ भी उसी वाक्यसे इसी प्रकार भिन्न विभक्तिवाले अनुयोगी-प्रतियोगीबोधक पदोंकी प्रतीति होती है। 'भूतले घटो नास्ति' इस सामयिकाभावमें भी अनुयोगीबोधक 'भूतल' पद सप्तम्यंत और प्रतियोगी-बोधक 'घट' पद प्रथमांत है। तैसे ही 'वायौ रूपं नास्ति' इस वाक्यमें रूपात्यंताभावकी प्रतीति होती है और यहाँ भी अनुयोगीबोधक 'वायु' पद तो सप्तम्यंत और प्रतियोगीबोधक 'रूप' पद प्रथमांत है। परन्तु 'भूतलं न घटः' जहाँ इस वाक्यसे भूतलमें घटका अन्योऽन्याभाव प्रतीत होता है, वहाँ तो अनुयोगीबोधक 'भूतल' पद और प्रतियोगीबोधक 'घट' पद दोनों ही प्रथमांत हैं। इस प्रकार भिन्नविभक्तत्यंत-पदघटित-वाक्यजन्य-प्रतीतिकी विषयता संसर्गाभावमें ही है, अन्योऽन्याभावमें नहीं और

समानविभक्त्यत्यंत-पदघटित-वाक्यजन्यप्रतीतिकी विषयता अन्योऽन्याभावमें ही है, संसर्गाभावमें नहीं। इस प्रकार अन्योऽन्याभावसे चतुर्विध संसर्गाभाव विलक्षण स्वभाववाले हैं, इसलिये प्रागभाव-प्रध्वंसाभावके दृष्टान्तसे अत्यंताभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध ही सिद्ध होता है, किन्तु विलक्षण स्वभाववाले अन्योऽन्याभावके दृष्टान्तसे उसका अपने प्रतियोगीसे अविरोध सिद्ध नहीं होता। संसर्गाभावोंकी अन्योऽन्याभावसे और भी विलक्षणताएँ हैं, जो नीचे दर्शाई जाती हैं—

८ : चतुर्विध संसर्गाभावोंका परस्पर विरोध, परन्तु अन्योऽन्याभावका उनसे अविरोध

चतुर्विध संसर्गाभावोंका परस्परमें विरोध है, क्योंकि एक संसर्गाभावके अधिकरणमें अपर नहीं रहता। जैसे घटकी उत्पत्तिसे पूर्व जहाँ कपालमें घटका प्रागभाव रहता है, वहाँ घटका प्रध्वंसाभाव, अथवा अत्यंताभाव, वा सामयिकाभाव तीनों ही नहीं रहते। जब कपालमें घटका प्रध्वंसाभाव हो, तब वहाँ भी प्रागभावादि तीनों संसर्गाभाव नहीं रहते। जहाँ भूतलमें घटका सामयिकाभाव रहे, वहाँ भी अन्य तीनों संसर्गाभाव नहीं रहते। तैसे ही जहाँ वायुमें रूपका अत्यंताभाव रहे वहाँ भी रूपका प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अथवा सामयिकाभाव तीनों नहीं रहते। परन्तु प्रागभाव और प्रध्वंसाभावकी विद्यमानतामें कपालोंमें घटका अन्योऽन्याभाव रहता है, सामयिकाभावकी विद्यमानतामें भूतलमें घटका अन्योऽन्याभाव रहता है और अत्यंताभावकी विद्यमानतामें भी वायुमें रूपका अन्योऽन्याभाव रहता है। इस प्रकार चतुर्विध संसर्गाभावोंका तो परस्पर विरोध है, परन्तु अन्योऽन्याभावका इन चारोंसे ही विरोध नहीं, किन्तु अविरोध है। सारांश, जैसे अन्योऽन्याभावका अन्य चारों अभावोंसे अविरोध होते हुए भी चारों प्रागभावादिका परस्पर अविरोध सिद्ध नहीं होता, तैसे ही अन्योऽन्याभावका परस्पर चारों अभावोंसे और अपने प्रतियोगीसे अविरोध देखकर चारोंमेंसे किसी भी संसर्गाभावका अपने प्रतियोगीसे

अविरोध सिद्ध नहीं होता। यही अन्योऽन्याभावकी अन्य चारोंसे विलक्षणता है, इसीको विस्तारसे नीचे वर्णन किया जाता है—

९ : प्राचीन मतके अनुसार अभावोंका परस्पर और अपने-अपने प्रतियोगीसे विरोधाविरोधका सविस्तर प्रतिपादन

अब अभावोंका परस्पर और अपने-अपने प्रतियोगीसे विरोधाविरोधका विस्तारसे प्रतिपादन किया जाता है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव दोनों अपने प्रतियोगीके उपादान-कारणमें रहते हैं। जैसे घटकी उत्पत्तिसे पूर्व घटका प्रागभाव घटके उपादान-कारण कपालमें रहता है और नाशके पश्चात् घटका प्रध्वंसाभाव भी उसी कपाल में रहता है। इसलिये यद्यपि प्रागभाव व प्रध्वंसाभावका परस्पर विरोध कहना सम्भव नहीं; तथापि ये दोनों अभाव एक कालमें नहीं रहते, भिन्न कालमें ही रहते हैं, इसलिये 'एकदा सह अनवस्थानरूप' विरोध प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका भी परस्पर है। तैसे ही सामयिकाभाव व अत्यंताभावका भी इनसे और परस्पर विरोध मानना चाहिये। यद्यपि अन्योऽन्याभावका किसीसे भी विरोध नहीं है, क्योंकि जहाँ कपाल में घटका प्रागभाव है वहाँ घटका अन्योऽन्याभाव भी है, जहाँ कपालमें घटका प्रध्वंसाभाव है वहाँ भी उसका अन्योऽन्याभाव है, जहाँ तंतुमें घटका अत्यंताभाव है वहाँ भी घटका अन्यो-ऽन्याभाव है और जहाँ भूतलमें घटका सामयिकाभाव है वहाँ भी घटका अन्योऽन्याभाव है। इस प्रकार यद्यपि अन्योऽन्याभावका अन्य किसी भी अभावसे विरोध नहीं है; तथापि संसर्गाभावका यह स्वभाव है कि चतुर्विध संसर्गाभावोंमेंसे जब कोई एक संसर्गाभाव जहाँ एक कालमें रहता है, तब वहाँ दूसरा नहीं रहता। जैसे उत्पत्तिसे पूर्व जब कपालमें घटका प्रागभाव रहता है, तब वहाँ घटका प्रध्वंसाभाव नहीं रहता और जब प्रध्वंसाभाव रहे तब प्रागभाव नहीं रहता तथा कपालमें घटके सामयिकाभाव और अत्यंताभाव

तो कभी भी नहीं रहते । यद्यपि जब कपालमें घटके प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हों तब पटका अत्यंताभाव भी कपालमें रहता है; तथापि एक प्रतियोगीके दो संसर्गाभाव नहीं रहते यह नियम है, परन्तु दूसरे प्रतियोगीके दूसरे संसर्गाभावके रहनेका विरोध नहीं है । इसी प्रकार जहाँ भूतलादिमें घटका सामयिकाभाव रहता है और वायुमें रूपका अत्यंताभाव रहता है, वहाँ भी अन्य तीनों संसर्गाभाव नहीं रहते ।

यद्यपि घट संयोग-सम्बन्धसे भूतलादिमें कदाचित् रहता है, परन्तु समवाय-सम्बन्धसे तो कपाल के विना अन्य किसी भी पदार्थ में कभी भी नहीं रहता । इसलिये भूतलादिमें समवाय-सम्बन्धसे घटका अत्यंताभाव और संयोग-सम्बन्धसे सामयिकाभाव दोनों रहते हैं, अतः सामयिकाभाव और अत्यंताभावका परस्पर विरोध सम्भव नहीं होता । तथापि घटके संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभावका घटके संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभावसे तो विरोध ही है, यद्यपि समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभावसे विरोध नहीं भी है । इसलिये यह नियम सिद्ध हुआ कि जिस अधिकरणमें, जिस कालमें, जिस पदार्थका, जिस सम्बन्धसे एक संसर्गाभाव रहे; उस अधिकरणमें, उस कालमें, उस पदार्थका, उसी सम्बन्धसे अपर संसर्गाभाव नहीं रहता, यद्यपि अन्य सम्बन्धसे रह सकता है । क्योंकि जो पदार्थ जिस सम्बन्धसे जहाँ न हो, वहाँ उस पदार्थ का तत्सम्बन्धावच्छिन्न ही अभाव कहा जाता है । जैसे घट भूतलमें संयोग-सम्बन्धसे कदाचित् रहता है, इसलिये घटका भूतलमें संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव कभी भी नहीं कहा जा सकता, परन्तु भूतलत्व-जातिमें और भूतलके रूपादि गुणोंमें तो घट संयोग-सम्बन्धसे कदाचित् भी नहीं रहता । क्योंकि संयोग तो दो द्रव्योंका ही हुआ करता है, द्रव्य व जातिका तथा द्रव्य व गुणका संयोग कदापि नहीं हुआ करता, इसलिये भूतलत्वमें और भूतलके रूपादि गुणोंमें घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही है । तैसे ही घट भूतलत्वमें और भूतलके रूपादि गुणोंमें भी समवाय-सम्बन्धसे कभी भी नहीं रहता, क्योंकि समवाय-सम्बन्ध तो कार्यद्रव्यका अपने उपादान-

कारणमें ही हुआ करता है, उपादानका कार्यद्रव्य में. नहीं। इसी प्रकार समवाय-सम्बन्ध गुणका अपने गुणीमें, जातिका अपने व्यक्तिमें और क्रियाका अपने क्रियावान्‌में ही होता है, अन्य किसी स्थानमें भी समवाय-सम्बन्ध नहीं होता। यद्यपि नैयायिक परमाणु आदि नित्य द्रव्योंमें भी विशेष पदार्थका समवाय मानते हैं; तथापि विशेष पदार्थ अप्रसिद्ध है इसलिये उसकी कल्पना निष्प्रयोजन है, यह अद्वैत ग्रन्थोंमें स्पष्ट है तथा श्रीदीधितिकारशिरोमणि भट्टाचार्यने भी विशेष द्रव्यका खण्डन ही किया है। इसलिये उपादान-कारण, गुणी, व्यक्ति और क्रियावान्‌में ही क्रमशः कार्यद्रव्य, गुण, जाति और क्रियाका समवाय-सम्बन्ध रहता है, अन्य किसीका किसीमें समवाय-सम्बन्ध कभी भी नहीं रहता। इस प्रकार भूतलत्वमें और भूतलके रूपादि गुणोंमें घटका समवाय-सम्बन्ध कभी भी नहीं होता, किन्तु केवल कपालमें ही घटका समवाय-सम्बन्ध होता है। इसलिये अपने उपादान-कारण कपालको छोड़कर अन्य सभी स्थानोंमें घटका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव है और वह भूतलत्वमें और भूतलके रूपादिगुणोंमें भी है। इस अत्यंताभावके साथ घटका अन्य कोई भी संसर्गाभाव नहीं रहता, क्योंकि घटका प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव तो कपालके विना अन्य किसी स्थानमें रहते ही नहीं हैं और घटका सामयिकाभाव भी वहाँ भूतलत्व व भूतलके रूपादि गुणों में नहीं रहता। यद्यपि भूतलमें रहता है। आशय यह कि जहाँ किसी कालमें किसी सम्बन्धसे प्रतियोगी हो और अन्य कालमें उसी सम्बन्धसे वहाँ प्रतियोगी न हो, तब उस अभावकालमें प्रतियोगीका तत्सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव होता है। परन्तु जहाँ किसी भी कालमें जिस सम्बन्धसे प्रतियोगी होवे ही नहीं वहाँ तो तत्सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही होता है, सामयिकाभाव नहीं। चूँकि घट कपालके विना अन्य किसी पदार्थमें कदाचित् भी नहीं रहता, इसलिये घटके समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभावके अधिकरण भूतलत्व व भूतलके रूपादि गुणोंमें घटका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव भी नहीं रहता, किन्तु केवल अत्यंताभाव ही रहता है।

यदि विचारसे देखा जाय तो द्रव्यका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव ही अप्रसिद्ध है, किन्तु द्रव्यका तो केवल संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव ही प्रसिद्ध हो सकता है। क्योंकि नित्य-द्रव्य तो कार्य न होनेसे किसीमें समवाय-सम्बन्धसे रहता ही नहीं है, इसलिए नित्य-द्रव्यका तो समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही होता है, फिर नित्य-द्रव्यका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव तो बने ही कैसे ? हाँ कार्य-द्रव्यका अपने उपादान-कारणमें प्रागभाव अथवा प्रध्वंसाभाव अवश्य रहता है, परन्तु वहाँ भी समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव अथवा समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव नहीं रहते। क्योंकि कार्य-द्रव्य यदि अपने उपादान-कारणको छोड़कर अन्य पदार्थमें समवाय-सम्बन्धसे कदाचित् रहता हो और कदाचित् न रहता हो तो अवश्य समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभावकी सिद्धि हो, परन्तु कार्य-द्रव्य तो अपने उपादानसे भिन्न अन्यत्र कदाचित् भी नहीं रहता। फिर कार्य-द्रव्यका अपने उपादानसे भिन्न पदार्थोंमें समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव कैसे सम्भव हो ? किन्तु वहाँ (उपादानभिन्न पदार्थोंमें) भी कार्य-द्रव्यका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही रहता है। इस प्रकार द्रव्यका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव तो अप्रसिद्ध ही है।

तैसे ही गुण व क्रिया भी जिस द्रव्यमें समवाय-सम्बन्धसे उपजकर नष्ट हो जाते हैं वहाँ भी द्रव्यमें गुण-क्रियाका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव नहीं रहता, किन्तु उत्पत्तिसे पूर्व तो गुण-क्रियाका अपने द्रव्यमें प्रागभाव रहता है और नाशके पश्चात् प्रध्वंसाभाव। तथा घटके गुण-क्रिया तो घटके सिवा अन्य द्रव्यमें कदाचित् रहते ही नहीं हैं, इसलिये अन्य द्रव्यमें तो उनका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही रहता है, सामयिकाभाव नहीं। इसलिये गुण-क्रियाका भी समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव अप्रसिद्ध ही है। क्योंकि यदि गुण-क्रिया संयोग-सम्बन्धसे कदाचित् रहते हों और कदाचित् नहीं, तो गुण-क्रियाका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव सम्भव हो। परन्तु गुण-क्रिया तो

किसीमें संयोग-सम्वन्धसे कदाचित् रहते ही नहीं, इसलिये गुण-क्रिया का तो सर्वत्र संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही रहता है। अर्थात् गुण-क्रियाका वह संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव सभी पदार्थोंमें है, क्योंकि यदि गुण-क्रिया संयोग-सम्वन्धसे किसी भी पदार्थमें रहते हों तो उस पदार्थमें गुण-क्रियाका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव न भी हो। परन्तु जब-कि संयोग-सम्बन्धसे गुण-क्रियाका कोई आधार है ही नहीं, तब गुण-क्रियाका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव केवलान्वयी ही है। जिसका कभी अभाव न हो उसको 'केवलान्वयी' कहते हैं, चूँकि उक्त अत्यंताभाव सर्वत्र है इसका कहीं भी अभाव नहीं, इसलिये यह केवलान्वयी कहा जाता है। इस प्रकार गुण-क्रियाका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव अथवा संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव भी अप्रसिद्ध है।

इधर गुण-क्रियाकी भाँति जातिका सामयिकाभाव भी अप्रसिद्ध है। क्योंकि जाति संयोग-सम्बन्धसे किसी पदार्थमें कदाचित् भी रहती नहीं है, इसलिये जातिका सभी पदार्थोंमें संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही है, सामयिकाभाव नहीं। तैसे जाति अपने आश्रय व्यक्तिमें समवाय-सम्बन्धसे सदा ही रहती है, इसलिये जातिका अपने व्यक्तिमें समवाय-सम्बन्धसे कोई भी अभाव नहीं रहता। जैसे घटत्व-जाति घट-व्यक्तिमें समवाय-सम्बन्धसे रहती है, वहाँ घटत्वका अत्यंताभाव, सामयिकाभाव, प्रागभाव अथवा प्रध्वंसाभाव कोई भी नहीं रहते। क्योंकि प्रागभाव-प्रध्वंसाभाव तो अनित्यके ही होते हैं, परन्तु घटत्व तो नित्य है इसलिये उसका प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव तो सम्भव ही नहीं। फिर जहाँ प्रतियोगी कदाचित् भी न हो वहाँ तो अत्यंताभाव और जहाँ प्रतियोगी कदाचित् हो कदाचित् न हो, वहाँ सामयिकाभाव रहता है। यहाँ चूँकि घटमें घटत्व समवाय-सम्बन्धसे सदा रहता है, इसलिये घटमें घटत्वका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव अथवा समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव असम्भव ही है। इसी प्रकार घटसे भिन्न घटत्वके अनाधार जो सकल द्रव्य पटादि हैं, उनमें तो घटत्व-जाति समवाय-सम्बन्धसे कभी भी नहीं रहती, इसलिये

उनमें भी घटत्व-जातिका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव नहीं, किन्तु समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही रहता है। इस प्रकार द्रव्यसे भिन्न जाति, गुण अथवा क्रियाका सामयिकाभाव अप्रसिद्ध ही है।

द्रव्य भी नित्य व अनित्यके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। उनमें द्व्यणुकादिरूप पृथ्वी, जल, तेज और वायु तो अनित्य द्रव्य हैं और आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन तथा परमाणुरूप पृथ्वी, जल, तेज एवं वायु—ये नव नित्य द्रव्य हैं। वह नित्य द्रव्य तो समवाय-सम्बन्धसे किसी भी पदार्थमें कदाचित् रहते ही नहीं हैं, इसलिये इनका तो समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव कहीं भी सम्भव नहीं, किन्तु सर्वत्र समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही है। तैसे द्व्यणुकादिरूप जो अनित्य द्रव्य हैं, वे अवश्य अपने अवयव परमाणु आदि में रहते हैं, परन्तु वे भी अपने अवयवके विना अन्य किसी पदार्थमें समवाय-सम्बन्धसे कभी भी नहीं रहते। तथा अवयवमें अवयवीका नियमसे प्रागभाव व प्रध्वंसाभाव ही रहता है, इसलिये अवयवमें भी अवयवी (कार्य-द्रव्य) का समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव कभी भी नहीं रहता। चूँकि अवयवी अपने अवयवसे भिन्न पदार्थमें कभी भी नहीं रहता, इसलिये वहाँ (अवयवभिन्नमें) भी समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव न रहकर समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही रहता है। इस प्रकार द्रव्यका भी समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव अप्रसिद्ध ही है, किन्तु द्रव्यका केवल संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव ही प्रसिद्ध है, वह भी कार्य द्रव्यका ही। नित्य द्रव्यका तो सर्वत्र संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही है, फिर नित्य द्रव्यका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव तो बने ही कैसे? क्योंकि नित्य द्रव्यका अवृत्ति स्वभाव है, इसलिये नित्य द्रव्य संयोग-सम्बन्धसे किसी भी पदार्थमें कभी नहीं रहता। जो पदार्थ संयोग-सम्बन्धसे अथवा समवाय-सम्बन्धसे किसीमें भी न रहे वह 'अवृत्ति' कहा जाता है। यद्यपि नित्य द्रव्यका भी अपर द्रव्यसे संयोग तो होता है और जिसमें जिसका संयोग हो वह उसमें संयोग-सम्बन्धसे ही रहता है;

तथापि नित्य द्रव्यका संयोग वृत्ति-नियामक नहीं । जैसे कुंड-बदरका संयोग बदरकी वृत्तिका नियामक है, कुंडकी वृत्तिका नियामक नहीं; तैसे ही नित्य-द्रव्यका कार्य-द्रव्यसे संयोग भी कार्य-द्रव्यकी वृत्तिका नियामक है, नित्य-द्रव्यकी वृत्तिका नियामक नहीं, अर्थात् कार्य-द्रव्य क्रियाजन्य है । इसलिये नित्य-द्रव्यका भी संयोगसम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव अप्रसिद्ध है । यद्यपि नित्य-द्रव्यमें तो अन्य पदार्थ संयोग-सम्बन्धसे अथवा समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं, परन्तु नित्य-द्रव्य अन्य पदार्थोंमें संयोग अथवा समवाय-सम्बन्धसे कभी भी नहीं रहते, इसीलिये नित्य-द्रव्योंको अवृत्ति कहते हैं ।

सारांश, इस प्रकार संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभावके भेदसे अभाव दो प्रकारका है, उनमें संसर्गाभावके चार भेद हैं और उन चारोंका परस्परमें तथा अपने-अपने प्रतियोगीसे विरोध है । प्रतियोगीसे तो विरोध इस प्रकार है कि जो प्रतियोगी जहाँ जिस सम्बन्धसे हो वहाँ उसका तत्सम्बन्धावच्छिन्न अभाव नहीं रहता, परन्तु जहाँ एक सम्बन्धसे प्रतियोगी हो वहाँ अन्य सम्बन्धसे उसका अभाव भी रहता है। जैसे जहाँ भूतलमें घट संयोग-सम्बन्धसे हो वहाँ घट समवाय-सम्बन्धसे नहीं रहता । इसलिये संयोग-सम्बन्धसे घटवाले भूतलमें भी घटका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव रह सकता है । इस प्रकार जिस सम्बन्धसे प्रतियोगी हो, तत्सम्बन्धावच्छिन्न संसर्गाभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध है, अन्य सम्बन्धावच्छिन्नका नहीं । तैसे इन चतुर्विध संसर्गाभावोंका परस्पर विरोध भी समान सम्बन्धसे ही है, विषम सम्बन्धसे नहीं । अर्थात् जहाँ एक संसर्गाभाव एक सम्बन्धसे रहता है, वहाँ अपर संसर्गाभाव अन्य सम्बन्धसे रह सकता है । जैसे घटशून्य भूतलमें घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव रहता है और उसी घटका उसी भूतलमें समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव भी रह सकता है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि इन चतुर्विध संसर्गाभावोंका अपने-अपने प्रतियोगियोंसे एक सम्बन्धसे ही विरोध है अन्य सम्बन्धसे नहीं तथा

इन संसर्गाभावोंका परस्पर विरोध भी सम सम्बन्धसे ही है, विषम सम्बन्धसे नहीं। परन्तु अन्योऽन्याभावका तो जैसे प्रागभावादिसे विरोध नहीं, तैसे स्वप्रतियोगीसे भी विरोध नहीं।

यदि विचारसे देखा जाय तो यद्यपि अन्योऽन्याभावका अन्य अभावोंसे विरोध नहीं भी है; तथापि अपने प्रतियोगीसे तो इसका भी विरोध ही है। इस विषयमें बहुत ग्रन्थकारोंका कथन इस प्रकार है—

'संसर्गाभावका तो अपने प्रतियोगीसे विरोध है, परन्तु अन्योऽन्याभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध नहीं; किन्तु केवल प्रतियोगितावच्छेदक-धर्मसे ही विरोध है। जैसे जब भूतलमें घट हो, तब वहाँ घटका अन्योऽन्याभाव भी है; क्योंकि भेदका नाम ही अन्योऽन्याभाव है और घटवाला भूतल भी घटरूप तो नहीं किन्तु घट से भिन्न ही है, अर्थात् भूतल घटके भेदवाला है। भेदवाला और अन्योऽन्याभाववाला कहनेमें एक ही अर्थ है। यद्यपि घटके सिवा अन्य सभी पदार्थ घटभिन्न हैं और उन घटभिन्न पदार्थोंमें घटका अन्योऽन्याभाव रहता है; तथापि घटमें जहाँ घटत्व रहता है वहाँ घटका भेदरूप अन्योऽन्याभाव नहीं रहता, क्योंकि घटत्व घटके सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें नहीं रहता। इसलिये जहाँ घटत्व नहीं वहाँ सर्वत्र ही घटका अन्योऽन्याभाव है। इस प्रकार कहना चाहिये कि घटान्योऽन्याभावका घटसे विरोध नहीं, किन्तु घटत्व से विरोध है। यहाँ घटान्योऽन्याभावका घट तो प्रतियोगी है और घटत्व प्रतियोगितावच्छेदक है; अर्थात् जिसका अभाव हो वह तो अपने अभावका 'प्रतियोगी' और प्रतियोगीमें जो धर्म रहे वह 'प्रतियोगितावच्छेदक' कहा जाता है। यद्यपि घटरूप प्रतियोगीमें रहनेवाले अनेक धर्म घटत्व, पृथ्वीत्व, द्रव्यत्व एवं पदार्थत्वादि भी हैं, इसलिये घटत्वके अतिरिक्त वे पृथ्वीत्वादि भी घटान्योऽन्याभावके प्रतियोगितावच्छेदक होने चाहिये। तथापि घटत्वको छोड़कर वे पृथ्वीत्वादि घटान्योऽन्याभावके प्रतियोगितावच्छेदक नहीं हो सकते, किन्तु पृथ्वीके

अन्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक पृथ्वीत्व और द्रव्यान्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक द्रव्यत्व तो हो सकते हैं, परन्तु घटान्योऽन्याभावके प्रतियोगितावच्छेदक पृथ्वीत्वादि नहीं हो सकते। यद्यपि वे पृथ्वीत्वादि घटरूप प्रतियोगीमें ही रहते हैं, इसलिये घटत्वकी भाँति वे पृथ्वीत्वादि भी घटान्योऽन्याभावके प्रतियोगितावच्छेदक मानने चाहिये; तथापि अभाव-बोधक पदके साथ प्रतियोगी-बोधक पदके उच्चारण करनेपर जिस धर्मकी प्रतीति हो वही प्रतियोगितावच्छेदक कहा जाता है, अन्य नहीं। जैसे 'पटो घटो न' इस वाक्यमें पटमें घटान्योऽन्याभावका प्रतियोगी-बोधक 'घट' पद है, उस घटके उच्चारण करनेपर घटत्वकी ही प्रतीति होती है, पृथ्वीत्वादि की नहीं। इसलिये घटान्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व ही हो सकता है, पृथ्वीत्वादि नहीं। तैसे 'जलं पृथिवी न' इस वाक्यके उच्चारण करनेपर जलमें पृथिवीका अन्योऽन्याभाव प्रतीत होता है, यहाँ प्रतियोगी-बोधक 'पृथ्वी' पद है, उसके उच्चारण करनेपर पृथ्वीत्वकी ही प्रतीति होती है, द्रव्यत्वकी नहीं, इसलिये यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक पृथ्वीत्व ही है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि घटान्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व ही है। इसमें यह हेतु है कि 'घट' पदकी शक्ति घटत्वविशिष्टमें ही है, जिस पदकी जिस धर्मविशिष्टमें शक्ति हो उस पदसे उसी धर्मकी प्रतीति होती है, अन्य धर्मकी नहीं, यह नियम है। इस प्रकार घटान्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक घटत्व है वह तो घटमें रहता है, परन्तु घटमें घटान्योऽन्याभाव नहीं रहता। किन्तु घटान्योऽन्याभाव तो घटभिन्न सभी पदार्थोंमें रहता है, परन्तु वहाँ घटत्व नहीं रहता। इसलिये घटान्योऽन्याभावका घटत्वरूप प्रतियोगितावच्छेदकसे ही विरोध है, घटरूप प्रतियोगीसे नहीं, क्योंकि वहाँ घटत्वकी विद्यमानतासे ही घटान्योऽन्याभावके लिये अवकाश नहीं है। इसके सिवा अन्य सभी संसर्गाभावोंका अपने-अपने प्रतियोगियोंसे विरोध है।'

इस प्रकार यद्यपि बहुत-से ग्रन्थकारोंने ऐसा अपना मत दर्शाया है

और संसर्गाभाव व अन्योऽन्याभावके लक्षण भी इसी अर्थके अनुसार ही किये हैं। अर्थात् उनके द्वारा प्रतियोगीविरोधी जो अभाव वह संसर्गाभाव और प्रतियोगितावच्छेदकविरोधी जो अभाव वह अन्योऽन्याभाव माना गया है। इस प्रकारके लक्षणोंसे भी अन्योऽन्याभावका तो प्रतियोगीसे अविरोध और चतुर्विध संसर्गाभावों का प्रतियोगीसे विरोध सिद्ध होता है। तथापि उन ग्रन्थकारोंका यह समग्र लेख स्थूल दृष्टिसे ही है, विवेक दृष्टिसे नहीं। क्योंकि वास्तवमें जिस प्रकार अत्यंताभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध है, उसी प्रकार अन्योऽन्याभावका भी अपने प्रतियोगीसे विरोध ही है। आशय यह कि यों तो जिस भूतलमें घट संयोग-सम्बन्धसे रहता है उसी भूतलमें घटका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव भी रहता है, इसलिये भूतलमें घटके समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभावका भी अपने प्रतियोगी घटसे विरोध न हुआ। परन्तु वास्तव में भूतलमें जिस सम्बन्धसे घटरूप प्रतियोगी हो तत्सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव नहीं होता, अर्थात् भूतलमें घट जब संयोग-सम्बन्धसे रहे, तब घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव नहीं रहता, परन्तु घटका अन्य सम्बन्धावच्छिन्न (समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न) अत्यंताभाव तो तब भी रह सकता है। इस प्रकार कहना चाहिये कि सभी अभावों का अपने प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धविशिष्ट प्रतियोगीसे ही विरोध है, प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धसे भिन्न अन्य सम्बन्धविशिष्ट प्रतियोगीसे किसी भी अभावका विरोध नहीं। जिस सम्बन्धसे पदार्थका अभाव कहा जाय वह 'प्रतियोगितावच्छेदकसम्बन्ध' कहा जाता है। अब देखिये कि अत्यंताभावके प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध अनेक हैं। अर्थात् जिस अधिकरणमें जो पदार्थ जिस सम्बन्धसे रहता है, उसी अधिकरणमें उसी पदार्थका अपर सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव भी रह सकता है। जैसे पृथिवीमें गंध समवाय-सम्बन्धसे रहता है, संयोग-सम्बन्ध से कदापि नहीं, इसलिये पृथिवीमें गन्धका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव है, यहाँ प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध संयोग है। तैसे जलमें गन्ध न तो संयोग-सम्बन्धसे ही

रहता है और न समवाय-सम्बन्धसे ही, किन्तु जलमें गन्ध कालिक-सम्बन्धसे ही है, इसलिये जलमें गन्धका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न और समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यन्ताभाव ही है। यहाँ प्रथम अत्यन्ताभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध तो संयोग है और द्वितीय अत्यन्ताभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध समवाय है। कालिक-सम्बन्धसे तो प्रत्येक जन्यमें सभी पदार्थ रहते हैं, इसलिये द्व्यणुकादिरूप जलमें भी गन्ध होनेसे जलवर्ति गन्धात्यन्ताभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध कालिक नहीं होता। परन्तु नित्य द्रव्यमें तो कोई भी पदार्थ कालिक-सम्बन्धसे नहीं रहता, इसलिये परमाणुरूप जलमें तो गन्धका कालिक-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यन्ताभाव भी है और इस प्रकार परमाणुरूप जलवर्ति गन्धात्यंताभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध कालिक भी बनता है। इस प्रकार अत्यंताभावके तो प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध अनेक होते हैं, परन्तु अन्य अभावोंके प्रतियोगितावच्छेदक सम्बन्ध एक-एक ही होते हैं। जैसे कपालमें घटका प्रागभाव है अन्य कहीं भी घटका प्रागभाव नहीं, इसलिये कपालमें घटके प्रागभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध केवल समवाय ही है, अन्य कोई भी सम्बन्ध नहीं। क्योंकि जिसका जिसमें यत्सम्बन्धावच्छिन्न प्रागभाव हो, उसकी उसमें उसी सम्बन्धसे उत्पत्ति होती है, यह नियम है। चूँकि कपालमें घटकी उत्पत्ति समवाय-सम्बन्धसे ही होती है, अन्य सम्बन्धसे नहीं, इसलिये कपालमें घटका समवाय सम्बन्धावच्छिन्न प्रागभाव ही है और उसका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध समवाय ही है। तैसे 'कपाले समवायेन घटो नष्टः' (कपालमें घट समवाय-सम्बन्धसे नष्ट हुआ) प्रध्वंसाभावकी ऐसी ही प्रतीति होती है, इसलिये प्रध्वंसाभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध भी समवाय ही है। इसी प्रकार सामयिकाभाव भी जन्य-द्रव्य का ही होता है और वह भी संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न ही। सामयिकाभाव समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न तो अप्रसिद्ध ही है, यह पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है। इसलिये सामयिकाभावका भी प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध एक संयोग ही है। इसी प्रकार अन्योऽन्या-

भावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध एक अभेद-सम्बन्ध ही है, उस अभेदको ही तादात्म्य-सम्बन्ध कहते हैं और अभेद-सम्बन्धावच्छिन्न अभावको ही अन्योऽन्याभाव कहा जाता है। इसके विपरीत अन्य सम्बन्धावच्छिन्न अभावको संसर्गाभाव कहा जाता है, अन्योऽन्याभाव नहीं कहा जाता। इस प्रकार अन्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध एकमात्र तादात्म्यनाम अभेद ही है, इसका अन्य कोई प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध नहीं बन पड़ता। तथा प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धविशिष्ट प्रतियोगीका ही अपने अभावसे विरोध हुआ करता है, अन्य सम्बन्धविशिष्ट प्रतियोगीका तो अत्यंताभावसे भी विरोध नहीं होता है, यह ऊपर निर्णय किया जा चुका है। इस प्रकार अन्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध जो अभेद है, उस अभेद-सम्बन्धसे घट अपने स्वरूपमें ही रहता है, अभेद-सम्बन्धसे घट भूतल अथवा कपालादिमें कदापि नहीं रहता। इसके साथ ही जहाँ घट अभेद-सम्बन्धसे नहीं रहता। वहाँ सर्वत्र ही घटान्योऽन्याभाव रहता है, परन्तु चूँकि घट अपने स्वरूपमें अभेद-सम्बन्धसे रहता है, इसलिये वहाँ घटान्योऽन्याभाव नहीं रहता। इस रीतिसे प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध-विशिष्ट प्रतियोगीका जैसे अत्यंताभावसे विरोध है वैसे ही प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धविशिष्ट प्रतियोगीका अन्योऽन्याभावसे भी विरोध स्पष्ट ही है। इस प्रकार अत्यंताभावके समान प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धविशिष्ट प्रतियोगीसे अन्योऽन्याभावका भी विरोध स्पष्ट रहते हुए फिर भी अन्योऽन्याभावका अपने प्रतियोगीसे अविरोध कथन करना, यह उन सकल ग्रन्थकारोंने विवेकनेत्र निमीलन करके ही कथन किया है। अतः यह स्पष्ट हुआ कि सभी अभावोंका अपने-अपने प्रतियोगीसे विरोध है।

पूर्व प्रसंग यह है कि भूतलादिमें जहाँ कदाचित् घट हो और कदाचित् न हो, वहाँ घटका सामयिकाभाव रहता है अत्यंताभाव नहीं, क्योंकि अभावका अपने प्रतियोगीसे विरोध है, यह तो ऊपर निर्णीत हो ही चुका है। अब यदि यहाँ सामयिकाभाव न मानकर अत्यंताभाव ही

माना जाय तो जब भूतलमें घट संयोग-सम्बन्धसे विद्यमान हो तब तो वहाँ घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव नष्ट हो गया और जब घट वहाँसे उठा लिया जाय तब फिर घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव उत्पन्न हो गया, ऐसा ही मानना होगा। इस प्रकार भूतलमें घटके अत्यंताभावके उत्पत्ति-नाश मानने होंगे, क्योंकि उत्पत्ति-नाश मानेविना कदाचित् है और कदाचित् नहीं, यह कहना सम्भव नहीं होता। परन्तु वास्तवमें घटात्यंताभावके ऐसे उत्पत्ति-नाश असम्भव हैं। क्योंकि जहाँ भी संयोग-सम्बन्धसे घट नहीं है वहाँ सर्वत्र ही घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव है, ऐसा मानना होगा और वह घटका अत्यंताभाव सभी पदार्थोंमें एक ही है नाना नहीं, ऐसा भी मानना होगा। क्योंकि न्यायका यह सिद्धांत है कि प्रतियोगीके भेदसे ही अभावका भेद होता है, अधिकरणके भेदसे अभावका भेद नहीं होता, जैसे घटाभाव और पटाभावके प्रतियोगी भिन्न हैं तो अभाव भी भिन्न ही हैं। अब जैसे भूतलमें संयोग-सम्बन्धसे घटात्यंताभाव माना गया है, तैसे भूतलत्वमें, घटत्व-जातिमें और पटत्वादिमें तो वस्तुतः संयोग-सम्बन्धसे घट है ही नहीं, इसलिये वहाँ तो संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव है ही। इस प्रकार अनन्त अधिकरणोंमें संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव है, यद्यपि उसके अधिकरण अनन्त हैं तथापि प्रतियोगी तो एकमात्र घट ही है, इसलिये संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव भी एक ही है। परन्तु भूतलत्व और घटत्व-पटत्वादि जातिसे तो घटका संयोग-सम्बन्ध कदापि नहीं होता, इसलिये भूतलत्व और घटत्वादिजातियोंमें तो घटका संयोग-सम्वन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव उत्पत्ति-नाशरहित नित्य ही है। इसके विपरीत भूतलादिमें घट संयोग-सम्बन्धसे कदाचित् होता है और कदाचित् नहीं, इसलिये घटकालमें तो भूतलवर्ति संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव नष्ट हो जाता है और घटके अपसरण-कालमें वह घटात्यंताभाव उपज आता है, ऐसा माननेके सिवा कोई चारा ही नहीं है और फिर घटत्वादि जातिमें तो उस संयोग-सम्बन्धा-

वच्छिन्न घटात्यंताभावको नित्य कहना तथा भूतलादिमें उसे उत्पत्ति-नाशवान् अनित्य कहना सर्वथा असंगत होगा। इसलिये इस आपत्तिसे छूटनेके लिये जहाँ संयोग-सम्बन्धसे कदाचित् घट हो, वहाँ घटशून्य कालमें घटके संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अभावको अनित्य ही मानना चाहिये और वह सामयिकाभाव ही कहा जाना चाहिये। हाँ, उसी भूतलमें घट समवाय-सम्बन्धसे कदाचित् भी नहीं रहता, इसलिये वहाँ तो घटका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही रहता है। तैसे ही घट घटत्व और भूतलत्वादिमें तो संयोग-सम्बन्धसे भी कदाचित् नहीं रहता और कपालके सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें समवाय-सम्बन्धसे भी कदाचित् नहीं रहता, इसलिये घटत्वादिमें संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अथवा समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव रहता है और वह अत्यंताभाव उत्पत्ति-नाशरहित नित्य है।

इस प्रकार निष्कर्षरूपसे यह सिद्ध हुआ—

(१) जहाँ संयोग-सम्बन्धसे कदाचित् प्रतियोगी हो और कदाचित् न हो, वहाँ संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव ही कहा जाता है। क्योंकि घटके सामयिकाभाव उत्पत्ति-नाशरूप हैं, इसलिये प्रतियोगीके भेद-विना भी एक घटके सामयिकाभाव अनन्त होते हैं।

(२) जहाँ जिस सम्बन्धसे घटरूप प्रतियोगी कभी भी न रहे, वहाँ घटका तत्सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव कहा जाता है और वह अत्यंताभाव उत्पत्ति-नाशरहित नित्य है।

(३) प्रतियोगी एक होनेसे घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव अनन्त अधिकरणोंमें भी एक ही है। इसी प्रकार समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव भी अनंत अधिकरणोंमें एक है। यदि किसी अधिकरणका नाश हो भी जाय तो भी वही अत्यंताभाव अन्य अधिकरणोंमें रहता है, इसलिये अत्यंताभावका नाश होता ही नहीं है। जैसे घटका समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव यद्यपि तंतु, तंतुत्व-जाति, घटत्व, पटत्व और कपालत्वादि अनेक अधिकरणोंमें है; तथापि केवल कपालको

छोड़कर अन्य सभी पदार्थोंमें समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव तो एक ही है। तंतु आदि अनित्य पदार्थोंका नाश हो जानेपर भी वही अत्यंताभाव तंतुत्वादि नित्य पदार्थोंमें रहता है। इसलिये अत्यंताभाव नित्य है और प्रतियोगीके भेदसे ही अत्यंताभावका भेद होता है, अधिकरण-के भेदसे नहीं। जैसे घटात्यंताभावसे पटात्यंताभाव भिन्न है, यहाँ दोनों अभावोंमें प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धका भेद न होते हुए भी प्रतियोगीके भेदसे ही अत्यंताभावका भेद होता है। इसी प्रकार यद्यपि समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंताभाव और संयोग सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंता-भावका प्रतियोगी गन्ध तो एक ही है; तथापि प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्ध दो होनेसे वे दो अभाव हैं। यदि उन्हें दो न मानकर एक ही माना जाय तो पृथ्वीमें तो समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंताभाव नहीं है, किन्तु वहाँ तो गन्ध समवाय-सम्बन्धसे है, परन्तु वहाँ भी संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंताभाव तो अवश्य रहता है। इसलिये यदि प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धके भेदसे अभावका भेद न माना जाय तो पृथ्वीमें समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंताभावका अभाव होनेसे वहाँ संयोग-सम्बन्धा-वच्छिन्न गन्धात्यंताभाव भी न रहना चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि पृथ्वीमें संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंताभाव भी नहीं है तो 'पृथिव्यां संयोगेन गन्धो नास्ति' (पृथ्वीमें संयोगसम्बन्धसे गन्ध नहीं है) ऐसी प्रतीति न होनी चाहिये, परन्तु होती है। इसलिये पृथ्वीमें संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंताभाव तो है, परन्तु समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न गन्धात्यंताभाव नहीं है, यह स्पष्ट ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जैसे प्रतियोगीके भेदसे अत्यंताभावका भेद होता है, तैसे ही प्रतियोगिता-वच्छेदक-सम्बन्धके भेदसे भी अत्यंताभावका भेद होता है, परन्तु अधि-करणभेदसे नहीं। इसके विपरीत सामयिकाभावका तो प्रतियोगिता-वच्छेदक-सम्बन्धके भेदविना भी केवल समयभेदसे ही भेद होता है। जैसे भूतलमें घट-संयोग जितने समय न रहे उतने समयतक घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव रहता है, परन्तु जब भूतलमें घटका संयोग

हो जाय तब घटका प्रथम सामयिकाभाव नष्ट हो जाता है। भूतलसे जब फिर घटको उठा लिया जाय तब उसी भूतलमें घटका अन्य सामयिकाभाव उपजता है और जब फिर उसी घट को उसी भूतलमें लाया जाय तव द्वितीय सामयिकाभावका नाश हो जाता है। पुनः जब उसी घटको उठा लेवें तब उसी घटका उसी भूतलमें तृतीय संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न सामयिकाभाव उत्पन्न होता है। इस प्रकार प्रतियोगीके भेदविना और प्रतियोगितावच्छेदक-सम्बन्धके भेदविना भी केवल कालभेदसे ही सामयिकाभावका भेद होता है। इस रीतिसे सामयिकाभाव और अत्यंताभाव की विलक्षणता स्पष्ट है। इस प्रकार न्यायसम्प्रदायमें पाँच प्रकारके अभाव हैं।

१० : नवीन तार्किकद्वारा सामयिकाभावके स्थानमें नित्य अत्यंताभावका अंगीकार और उसमें शंका-समाधान

नवीन तार्किक सामयिकाभावका अंगीकार नहीं करते हैं, किन्तु उनका यह मत है कि जहाँ भूतलादिमें घटादिका सामयिकाभाव माना गया है, वहाँ भी सर्वत्र घटादिका अत्यंताभाव ही रहता है और जो दूसरे मतवाले भूतलादिमें घटादिका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव माननेमें यह दोष देते हैं, अर्थात्—

'जाति गुणादिमें तो घटके संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभावको नित्य मानना और भूतलादिमें उसी घट के संयोगसम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव को अनित्य मानना असंगत है, क्योंकि नित्य-अनित्य परस्पर भिन्न हैं एक नहीं। यदि जातिगुणादि और भूतलादि में संयोगसम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभावका भेद न मानें तो नित्यता और अनित्यतारूप जो विरोधी धर्म हैं उनकी संकरता होगी।'

इस शंकाका समाधान श्रीगंगेशोपाध्यायादि नवीन तार्किक इस प्रकार करते हैं—

'भूतलादिमें भी घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव अनित्य

नहीं, किन्तु नित्य ही है। अर्थात् जब भूतलमें घटका संयोग रहे तबभी घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव रहता ही है, उसका नाश तबभी नहीं होता। इसलिये यह अत्यंताभाव तो केवलान्वयी ही है, अर्थात् जिसका कदाचित् अभाव न हो किन्तु सर्वदा रहे वह 'केवलान्वयी' कहा जाता है। यदि ऐसी शंका उपस्थित की जाय कि 'भूतलमें घटका संयोग-सम्बन्ध रहते हुए भी यदि संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव माना जायगा तो घटवाले भूतलमें 'संयोगेन घटो नास्ति' (संयोगसम्बन्धसे घट नहीं है) ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, परन्तु होती नहीं' इस शंकापर हमारा (नवीन तार्किकका) समाधान यह है—

यद्यपि निर्घट भूतलके समान घट-संयोगवाले भूतलमें भी घटका संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव रहता तो है; तथापि निर्घट भूतलमें तो 'संयोगेन भूतले घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति होती है, परन्तु सघट भूतलमें उक्त प्रतीति नहीं होती। इसका कारण यह है कि उक्त प्रतीतिका विषय केवल घटात्यंताभाव ही नहीं है, किन्तु भूतलसम्बन्धी घटके आधार-कालसे अतिरिक्त-काल और संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव, ये दोनों मिलकर जहाँ रहें वहाँ तो 'संयोगेन घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति होती है। क्योंकि जहाँ भूतलमें संयोग-सम्बन्धसे घट नहीं होता वहाँ भूतलसम्बन्धी घटाधार-काल भी नहीं होता, किन्तु भूतल-असम्बन्धी जो घट उसका आधार-काल होता है। इसलिये वह भूतलसम्बन्धी घटके आधार-कालसे अतिरिक्त-काल है और संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव भी है। इस प्रकार यहाँ तो दोनों सामग्री होने से 'संयोगेन घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति होती है। परन्तु जहाँ भूतलमें संयोग-सम्बन्धसे घट है वहाँ भी अत्यंताभाव नित्य होनेसे यद्यपि संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव तो है, परन्तु भूतलसम्बन्धी जो घट उसका आधार-काल है, अर्थात् भूतलसम्बन्धी घटाधार-कालसे अतिरिक्त-काल नहीं है। इसलिये संयोग-सम्बन्धसे घट रहते हुए 'संयोगेन भूतले घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति नहीं होती।

इस प्रकार हमारे मतसे अत्यंताभाव तो प्रतियोगीके रहते हुए अथवा न रहते हुए सर्वत्र और सर्वदा रहता ही है, परन्तु अत्यंताभावके प्रतियोगी जो घटादि और अनुयोगी जो भूतलादि उनका सम्बन्धी आधारकाल तो प्रतियोगीके रहते हुए ही होता है, अर्थात् वह प्रतियोगी-सम्बन्धी अनुयोगीके आधारकालसे अतिरिक्त-काल नहीं होता। इसलिए प्रतियोगीके रहते हुए 'प्रतियोगी नास्ति' ऐसी प्रतीति नहीं होती। परन्तु जब प्रतियोगी न हो तब प्रतियोगीसम्बन्धी अनुयोगीके आधारकालसे अतिरिक्त-काल और अत्यंताभाव दोनों रहते हैं, इसीलिये 'भूतले संयोगेन घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति होती है।

इस रीतिसे प्राचीन नैयायिक जहाँ सामयिकाभाव मानते हैं वहाँ नवीन नैयायिक सर्वत्र अत्यंताभाव मानते हैं और उसे नित्य मानते हैं तथा प्रतियोगीके रहते हुए भी प्रतियोगीके आधारकालसे अतिरिक्त-कालका अभाव होनेसे अत्यंताभावकी प्रतीति नहीं मानते।

११ : नवीन तार्किकके उपर्युक्त मतका खण्डन

इस प्रकार जो नवीन तार्किकका मत है वह समीचीन नहीं, किन्तु प्राचीनमत ही समीचीन है। क्योंकि यदि प्रतियोगीके रहते हुए भी अत्यंताभाव माना जाय तो प्रतियोगी व अभावका परस्पर विरोध है, जैसा ऊपर अंक ९ में विस्तारसे सिद्धांत किया जा चुका है, उस सिद्धांतसे विरोध होगा। यदि नवीन तार्किक ऐसा कहें—

'विरोध दो प्रकारका होता है, एक सहानवस्थानरूप और दूसरा सहाप्रतीतिरूप। जो दो पदार्थ एक अधिकरणमें एक कालमें न रहें, उनका तो 'सहानवस्थानरूप विरोध' होता है, जैसे आतप-शीतका विरोध है। यहाँ ऐसा विरोध तो अभाव-प्रतियोगीका नहीं है, क्योंकि प्रतियोगीके रहते हुए भी अत्यंताभाव रहता है। किन्तु यहाँ तो अभाव और प्रतियोगीका सहाप्रतीतिरूप विरोध ही है। अर्थात् जो एक कालमें और एक अधिकरणमें रहते तो हों, परन्तु उनकी प्रतीति न हो, उनको 'सहा-

प्रतीतिरूप विरोध' कहा जाता है। चूंकि यहाँ प्रतियोगीके रहते हुए अभावकी प्रतीति नहीं होती है, इसलिये यहाँ प्रतियोगी-अभावका सहा-प्रतीतिरूप विरोध तो है, परन्तु सहानवस्थानरूप विरोध नहीं।'

इस प्रकार नवीन तार्किकका समाधान सर्व लोक व शास्त्र से विरुद्ध है। क्योंकि अभावके अभावको प्रतियोगी कहा जाता है, अर्थात् जहाँ अभाव न हो वहाँ अभावका अभाव रहता है। जैसे घटवाले भूतलमें घटका अभाव नहीं है, किन्तु घटाभावका अभाव है, वही घट है और वही घटाभावका प्रतियोगी है। इस प्रकार सभी शास्त्र अभावके अभावको ही प्रतियोगी कहते हैं, परन्तु नवीन तार्किककी रीतिसे तो सभी शास्त्रोंका यह मत असंगत होगा। क्योंकि इनके मतमें तो घटवाले भूतलमें घटका अभाव भी है, इसलिए वहाँ घटाभावका अभाव कहना नहीं बनता। यद्यपि वक्ष्यमाण रीतिसे घटाभावाभाव घटरूप नहीं होता, किन्तु घटसे भिन्न ही होता है; तथापि घटाभावाभाव घटके समनियत तो है ही, यह वार्ता तो निर्विवाद ही है। परन्तु इनके मतसे तो घटवाले भूतलमें घटाभाव भी है, इसलिये घटाभावका अभाव नहीं होनेसे दोनोंकी समनियतता भी सम्भव नहीं होती। इसके साथ ही प्रतियोगी और अभाव समानाधिकरण कदापि नहीं होते, यह भी सर्वलोक-प्रसिद्ध है, इस नवीन कल्पनामें उस लोकप्रसिद्ध अर्थका भी बाध होगा। तथा घटके अधिकरणमें ही घटका अत्यंताभाव मानना प्रमाणशून्य भी है, किसीभी प्रमाणसे ऐसा सिद्ध नहीं होता। जहाँ घट नहीं है वहाँ 'घटो नास्ति' इस प्रतीतिसे तो यद्यपि घटात्यंताभाव सिद्ध होता है, परन्तु घटवाले भूतलमें भी 'घटो नास्ति' ऐसी प्रतीति कदाचित् किसीको नहीं होती तथा अन्य कोई भी प्रतीति घटवाले भूतलमें घटात्यंताभावकी साधक बन नहीं सकती। इसलिये प्रतियोगी-देशमें अत्यंताभावका अंगीकार लोक, शास्त्र और प्रमाणविरुद्ध ही है। इसके विपरीत घटवाले भूतलमें तो 'घटात्यंताभावो नास्ति' ऐसी ही प्रतीति होती है, फिर घटवाले भूतलमें घटात्यंताभावका अंगीकार उस प्रतीतिसे भी विरुद्ध ही है और 'मूलवृद्धिकी वाञ्छासे परदेशगमन करने-

वाले पुरुषका मूल भी नष्ट हो गया' इस न्यायकी ही प्राप्ति करनेवाला है। आशय यह कि अत्यंताभावको केवलान्वयी और नित्यसिद्ध करनेके लिये ही घटसंयुक्त भूतलमें घटात्यंताभाव माना गया था, परन्तु यदि घटसंयुक्त भूतलमें भी घटात्यंताभाव माना जाय तो अत्यंताभाव ही निष्फल और निष्प्रमाण हो जाता है। वह इस प्रकार कि सभी पदार्थोंका फल केवल व्यवहारकी सिद्धि ही होता है; अन्य कुछ नहीं। अर्थात् घटात्यंताभावका फल 'घटो नास्ति' इस व्यवहारकी सिद्धि करनेके सिवा तो अन्य कुछ सम्भव नहीं होता, केवल उक्त व्यवहारकी सिद्धि ही इसका फल होता है। इसके साथ ही 'घटो नास्ति' इस प्रतीतिसे ही घटात्यंताभावकी सिद्धि होती है, उक्त प्रतीतिको छोड़कर घटात्यंताभावकी सिद्धिमें भी अन्य कोई प्रमाण नहीं बनता। परन्तु नवीन नैयायिकके मतके अनुसार तो घटात्यंताभावसे 'घटो नास्ति' इस व्यवहारकी सिद्धि ही नहीं होती, किन्तु घटसम्बन्धी भूतलाधिकरण-कालसे अतिरिक्त कालसे ही उक्त व्यवहारकी सिद्धि होती है। क्योंकि उनके मतानुसार जहाँ घटसम्बन्धी भूतलाधिकरण-कालसे अतिरिक्त काल होता है वहीं 'घटो नास्ति' यह व्यवहार होता है, परन्तु जहाँ घटसम्बन्धी भूतलाधिकरण-काल होता है वहाँ अत्यंताभाव रहते हुए भी 'घटो नास्ति' ऐसा व्यवहार नहीं होता। इसी प्रकार 'घटो नास्ति' इस प्रतीतिसे भी केवल घटसम्बन्धी भूतलाधिकरण-कालसे अतिरिक्त-कालकी ही सिद्धि होती है, उक्त प्रतीति घटात्यंताभावकी तो सिद्धि नहीं करती। इसके साथ ही उक्त मतमें घटात्यंताभाव भी 'घटो नास्ति' इस प्रतीति के अनुसार इस व्यवहारकी सिद्धि करानेमें असमर्थ है, किन्तु उक्त कालसे ही उक्त व्यवहारकी सिद्धि होती है। इस प्रकार 'घटो नास्ति' न तो इस प्रतीतिसे घटात्यंताभावकी सिद्धि हुई और न घटात्यंताभावसे ही 'घटो नास्ति' इस व्यवहारकी सिद्धि हुई, इसलिये उक्त मतमें घटात्यंताभाव निष्फल और निष्प्रमाण ही है। शब्दप्रयोगका नाम 'व्यवहार' और ज्ञानको 'प्रतीति' कहते हैं।

इस प्रकार इस मतके अनुसार यदि अत्यंताभावको नित्य माननेके

लिये प्रतियोगीसंयुक्त देशमें भी उसका अत्यंताभाव माना जाय तो मूलमें अत्यंताभावकी ही हानि हो जाती है, इसलिये घटसंयुक्त देशमें घटात्यंताभाव सम्भव नहीं होता। इसके साथही जहाँ भूतलमें कदाचित् घट हो वहाँ यदि उसका अत्यंताभाव भी रहता हो तो 'अत्यंताभाव' यह संज्ञा ही निरर्थक होगी, क्योंकि जहाँ तीनों कालमें भी प्रतियोगी न रहे, संज्ञाकी रीतिसे वही 'अत्यन्ताभाव' कहा जाता है। इसलिये जहाँ कदाचित् प्रतियोगी हो और कदाचित् न हो, वहाँ चूँकि कालत्रयमें प्रतियोगीका अभाव नहीं, अतः वहाँ अत्यंताभाव भी नहीं, किन्तु उससे भिन्न ही कोई अभाव हो सकता है और वह सामयिकाभाव ही कहा जा सकता है।

१२ : न्यायसम्प्रदायमें घटके प्रध्वंसके प्रागभावकी घट और घटप्रागभावरूपता

इस प्रकार न्यायसम्प्रदायके अनुसार चतुर्विध संसर्गाभाव और अन्योऽन्याभाव मिलकर पाँच प्रकारका अभाव होता है। इनमें प्रत्येक अभाव दो प्रकारका माना गया है, एक भावप्रतियोगिक और दूसरा अभावप्रतियोगिक। भावका अभाव भावप्रतियोगिकअभाव और अभावका अभाव अभावप्रतियोगिकअभाव कहा जाता है। जैसे प्रागभाव दो प्रकारका कहा गया है, उनमें घटादिका कपालादिमें जो प्रागभाव वह तो भावप्रतियोगिक है और जिस प्रकार भावरूप पदार्थका प्रागभाव होता है, तैसे ही अभावरूप पदार्थका भी प्रागभाव माना गया है, परन्तु केवल सादि अभावरूप पदार्थोंका ही प्रागभाव माना गया है अनादिका नहीं। चूंकि अत्यंताभाव, अन्योऽन्याभाव और प्रागभाव अनादि हैं, इसलिये उनका तो प्रागभाव सम्भव ही नहीं होता और प्रध्वंसाभाव अनन्त तो है परन्तु सादि है, इसलिये प्रध्वंसाभावका प्रागभाव माना गया है। प्रध्वंसाभावका वह प्रागभाव प्रतियोगीरूप और प्रतियोगीका प्रागभावरूप माना गया है। जैसे जब मुद्गरादिसे घटका नाश हो, तब उसे घटका प्रध्वंसाभाव कहते हैं, चूंकि वह प्रध्वंसाभाव मुद्गरादिजन्य है, मुद्गरादिके

व्यापारसे पूर्व घटकाल और घटके प्रागभाव-कालमें नहीं है, इसलिये वह सादि है और मुद्‌गरादिके व्यापारसे पूर्व वह घटध्वंसका प्रागभाव है तथा उस ध्वंसका प्रागभाव घटकालमें और घटकी उत्पत्तिसे पूर्व घटके प्रागभावकालमें भी है। इसलिये घटध्वंसका प्रागभाव घटकालमें तो घटरूप और घटकी उत्पत्तिसे पूर्व घटका प्रागभावरूप है। इस प्रकार घटध्वंसका प्रागभाव घट और घटके प्रागभावके अन्तर्भूत है, उनसे न्यारा नहीं। ऐसा साम्प्रदायिक मत है और ऐसा माननेमें लाघव है।

१३ : उक्त मतका खण्डन और घटध्वंसके अभाव-प्रतियोगिक प्रागभावकी सिद्धि

यह मत भी युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि घट तो भावरूप और सादि, परन्तु घटका प्रागभाव अभावरूप और अनादि होता है। फिर एक ही घटध्वंसके प्रागभावको कदाचित् घटरूपसे भावरूपता और कदाचित् उसके प्रागभावरूपसे अभावरूपता कहना विरुद्ध है। इसी प्रकार उस प्रागभावको कदाचित् घटरूपसे सादिरूपता और कदाचित् उसके प्रागभावरूपसे अनादिरूपता कहना भी विरुद्ध है। इसके साथ ही जहाँ घटकालमें 'कपाले समवायेन घटोऽस्ति, घटप्रध्वंसो नास्ति' (कपालमें समवाय सम्बन्धसे घट है, घटप्रध्वंस नहीं है) इस प्रकार विधिरूप एवं निषेधरूप दो विलक्षण प्रतीति होती हैं, वहाँ उनके विषय भी परस्पर विलक्षण दो ही पदार्थ माने जाने चाहिये। जबकि वे परस्पर विलक्षण माने गये तब घट घटध्वंसका प्रागभावरूप नहीं बनता। तैसे ही घटकी उत्पत्तिसे पूर्व भी 'कपाले घटो नास्ति, घटप्रध्वंसो नास्ति' (कपालमें घट नहीं है, घटप्रध्वंस नहीं है) इस प्रकार दो ही प्रतीति होती हैं। यद्यपि वे दोनों प्रतीति निषेधमुख हैं; तथापि हैं विलक्षण। क्योंकि प्रथम प्रतीतिमें तो नास्ति कहनेसे प्रतीत होनेवाला जो अभाव है उसका प्रतिगोगी घट प्रतीत होता है और दूसरी प्रतीतिमें 'नास्ति' शब्दसे प्रतीत होनेवाला जो अभाव है उसका प्रतियोगी घटप्रध्वंस प्रतीत

होता है। इसलिये प्रतियोगियोंका भेद होनेसे प्रथम प्रतीतिमें प्रतीत होने-वाले घटप्रागभावका और दूसरी में प्रतीत होनेवाले घटप्रध्वंस प्रागभाव-का अभेद सम्भव नहीं होता। इस प्रकार क्या घटकालमें और क्या घटोत्पत्तिसे पूर्वकालमें उपर्युक्त द्विधा प्रतीतियोंके अनुसार घटप्रध्वंसका प्रागभाव न तो घट बन सकता है और न घटप्रागभाव, क्योंकि विलक्षण वस्तु प्रागभाव नहीं बन सकती। किन्तु घटप्रध्वंसका प्रागभाव घट और उसके प्रागभावसे न्यारा ही मानना योग्य है। प्रथम तो अनुभवसिद्ध पदार्थका लाघवबलसे लोप सम्भव नहीं, दूसरे साम्प्रदायिक रीतिसे घट-प्रध्वंसप्रागभावका घट और उसके प्रागभावमें अंतर्भाव माननेमें लाघव भी अकिंचित्कर है। इस प्रकार प्रध्वंसाभावका प्रागभाव कोई अभाव-प्रतियोगिक ही हो सकता है, भावप्रतियोगिक नहीं।

१४ : सामयिकाभावके प्रागभावकी अभावप्रतियोगिता

इसी प्रकार चूंकि सामयिकाभाव भी सादि है, इसलिये उसका प्राग-भाव भी अभावप्रतियोगिक ही हो सकता है।

१५ : प्राचीन मतानुसार प्रागभावके प्रध्वंसकी प्रतियोगी-प्रतियोगी और प्रतियोगी-प्रतियोगीके ध्वंसमें अन्तर्भावका नवीनद्वारा खण्डन और उसकी अभावप्रतियोगिता

इसी प्रकार चूंकि अत्यंताभाव और अन्योऽन्याभाव दोनों अनादि-अनन्त हैं, इसलिये इन दोनोंका तो प्रध्वंसाभाव असम्भव है, तैसे ही प्रध्वंसाभाव भी अनन्त है इसलिये उसका भी प्रध्वंस सम्भव नहीं होता। सांत होने से केवल प्रागभाव और सामयिकाभावका ही प्रध्वंस सम्भव होता है। साम्प्रदायिक रीतिसे प्रागभावका ध्वंस भी प्रतियोगी-प्रतियोगी और प्रतियोगी-प्रतियोगीके ध्वंसके अन्तर्भूत ही होता है, उनसे पृथक् नहीं। जैसे जब घटके प्रागभावका ध्वंस होता है, तब वह घटकालमें और घटके

ध्वंसकालमें भी रहता है। अर्थात् घटकालमें तो घटप्रागभावका ध्वंस प्रतियोगी-प्रतियोगीस्वरूप होता है, क्योंकि घटप्रागभावके ध्वंसका प्रतियोगी घटप्रागभाव है और घटप्रागभावका प्रतियोगी घट है, इसलिये घटकालमें तो घट प्रागभावका ध्वंस अपने प्रतियोगीका प्रतियोगीस्वरूप होता है। जब मुद्‍गरादिसे घटका नाश हो जाय, तब भी अनन्त होनेसे घटप्रागभावका ध्वंस तो है परन्तु घट नहीं है, इसलिये उस कालमें भी घटप्रागभावका ध्वंस अपने प्रतियोगीके प्रतियोगीका ध्वंसरूप है। क्योंकि घटप्रागभावध्वंसका प्रतियोगी जो घटप्रागभाव, उसका प्रतियोगी जो घट, उस घटका ध्वंस ही घटप्रागभावध्वंस है, अर्थात् तब घटध्वंससे पृथक् घटप्रागभावध्वंस नहीं है। इस प्रकार प्रागभावका ध्वंस कदाचित् तो अपने प्रतियोगी का प्रतियोगीस्वरूप होता है और कदाचित् अपने प्रतियोगीके प्रतियोगीका ध्वंसरूप होता है, प्रागभाव-ध्वंस इनसे पृथक् नहीं होता।

यह साम्प्रदायिक रीति भी युक्तिविरुद्ध है। क्योंकि घट तो सांत एवं भावरूप और घटध्वंस अनन्त व अभावरूप है। फिर एक ही घटप्रागभावध्वंसको सांत व अनन्तरूपसे तथा भाव व अभावरूपसे अभेद कथन करना विरुद्ध ही है। इसके साथ ही जब घटकी उत्पत्ति होती है तब तो 'घटो जातः' और 'घटप्रागभावो नष्टः' इस प्रकार दो विलक्षण प्रतीति होती हैं। उनमें 'घटो जातः' इस प्रतीतिका विषय तो उत्पन्नघट है और 'घटप्रागभावोनष्टः' इस प्रतीतिका विषय घटप्रागभावका ध्वंस है, फिर उनका अभेदकथन सम्भव नहीं होता। तैसे ही मुद्‍गरादिसे घटका ध्वंस होते ही ऐसी प्रतीति होती है—'इदानीं घटध्वंसो जातः घटप्रागभावध्वंसस्तु पूर्वं घटोत्पत्तिकाले जातः' (घटध्वंस अब उत्पन्न हुआ और घटप्रागभावध्वंस तो पहले ही घटोत्पत्तिकालमें उत्पन्न हो गया था)। तहाँ वर्तमानकालमें तो घटध्वंसकी उत्पत्ति और अतीतकालमें घटप्रागभावध्वंसकी उत्पत्ति सिद्ध होती है। वर्तमानकालमें उत्पत्तिवालेका अतीतकालमें उत्पत्तिवालेसे अभेद सम्भव नहीं होता, इसलिये

घटप्रागभावका ध्वंस घटके ध्वंससे पृथक् ही होना चाहिये । यद्यपि वेदान्तपरिभाषादि अद्वैत ग्रन्थोंमें भी ध्वंसका प्रागभाव और प्रागभावका ध्वंस, घटादि और उनके प्रागभाव-प्रध्वंसादिसे पृथक् नहीं लिखे, किन्तु पूर्वोक्त न्यायसम्प्रदायकी रीतिसे अन्तर्भाव ही लिखा है, तथापि श्रुति, सूत्र एवं भाष्य तो इस विषयमें कुछ निरूपण करनेसे उदासीन ही हैं, इसलिये जैसा अर्थ युक्ति व अनुभवके अनुसार सिद्ध हो वही मानना चाहिये । इसके विपरीत युक्ति-अनुभवविरुद्ध केवल आधुनिक ग्रन्थकारोंका लेख ही प्रमाणभूत नहीं हो सकता । परन्तु हमारा उपर्युक्त अर्थ तो प्रमाणविरुद्ध नहीं, किन्तु पृथक् मानना ही अनुभवानुसारी है । इस प्रकार प्रागभावका ध्वंस अभावप्रतियोगिक प्रध्वंसाभाव ही हो सकता है, यह सिद्ध हुआ ।

१६ : घटान्योऽन्याभावके अत्यन्ताभावकी घटत्वरूपता और उसमें दोष

सामयिकाभाव तो केवल द्रव्यका ही होता है, यह पूर्व प्रतिपादन किया जा चुका है, इसलिये अभावप्रतियोगिक सामयिकाभाव तो अप्रसिद्ध ही है । हाँ, अभावप्रतियोगिक अत्यंताभावके तो अनेक उदाहरण हो सकते हैं । जैसे घटका कपालमें प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव है, परन्तु तन्तुमें नहीं; इसलिये तन्तुमें घटप्रागभाव और घटप्रध्वंसाभावका अत्यंताभाव है । तैसे ही कपालमें घटका सामयिकाभाव और अत्यंताभाव नहीं है, इसलिये कपालमें घटके सामयिकाभाव का अत्यंताभाव है और घटात्यंता-भावका भी अत्यंताभाव है । इसी प्रकार कपालमें कपालका अन्योऽन्या-भाव नहीं है, बल्कि वहाँ कपालान्योऽन्याभावका अत्यंताभाव है । तैसे ही घटमें घटका अन्योऽन्याभाव नहीं है और यहाँ भी घटान्योऽन्याभावका अत्यंताभाव ही है । परन्तु स्मरण रहे कि अन्योऽन्याभावका अत्यंताभाव पृथक् नहीं है, किन्तु वह तो अन्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक धर्म-रूप ही है । जैसे घटान्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक धर्म घटत्व है, वह केवल घटमें ही रहता है और घटान्योऽन्याभावका अत्यंताभाव भी

घटमें ही रहता है । क्योंकि घटान्योऽन्याभाव घटसे भिन्न सकल पदार्थों-में रहता है, इसलिये घटान्योऽन्याभावका अत्यंताभाव घटसे भिन्न किसी पदार्थमें भी नहीं रहता । इस प्रकार घटान्योऽन्याभावका अत्यन्ताभाव घटत्वके समनियत होनेसे घटत्वरूप ही है ।

प्राचीन नैयायिकोंका इस प्रकारका लेख भी श्रद्धायोग्य नहीं हो सकता । क्योंकि 'घटे समवायेन घटत्वम्' (घटमें समवायसम्बन्धसे घटत्व है) इस प्रतीतिका विषय तो घटत्व ही है और 'घटे घटान्यो-ऽन्याभावो नास्ति' (घटमें घटान्योऽन्याभाव नहीं है) इस प्रतीतिका विषय घटान्योऽन्याभावका अत्यंताभाव है । इसलिये अन्योऽन्याभावका अत्यंताभाव अन्योऽन्याभावका प्रतियोगितावच्छेदक धर्मरूप नहीं हो सकता, किन्तु उससे पृथक् अभावरूप ही हो सकता है ।

१७ : प्राचीनोंद्वारा अत्यंताभावके अत्यंताभावको प्रथमात्यंताभावकी प्रतियोगीरूपताप्रतिपादन और नवीनोंद्वारा उसका खण्डन

इसी प्रकार प्राचीन नैयायिक अत्यंताभावके अत्यंताभावको भी प्रथम अत्यंताभावका प्रतियोगीस्वरूप ही मानते हैं, उसका खण्डन तो नवीन न्याय-ग्रन्थोंमें स्पष्ट ही है । प्राचीन मत यह है—

जहाँ घट कभी भी न हो वहाँ घटका अत्यंताभाव है और जहाँ घट हो वहाँ घटात्यंताभाव नहीं है, इसलिये वहाँ घटात्यंताभावका अत्यंताभाव है । इस प्रकार घटात्यंताभावका अत्यंताभाव प्रथमात्यंताभावका प्रति-योगी जो घट, उसके समनियत होनेसे घटस्वरूप ही है, उससे पृथक् नहीं । यदि घटात्यंताभावके अत्यंताभावको घटरूप न माना जाय और उससे पृथक् माना जाय तो अत्यंताभावोंकी अनवस्था होगी । क्योंकि जैसे प्रथम घटात्यंताभावका अत्यंताभाव पृथक् है, तैसे ही द्वितीय अत्यंता-भावका तृतीय अत्यंताभाव, तृतीयका चतुर्थ अत्यंताभाव और चतुर्थका

पञ्चम अत्यंताभाव, इस प्रकार अत्यंताभावोंको पृथक् माननेसे अत्यंताभावोंकी कहीं समाप्ति न हो, ऐसी अनन्त धारा होंगी। इसके विपरीत यदि द्वितीय अत्यंताभावको प्रथमात्यंताभावका प्रतियोगीस्वरूप मान लें तब अनवस्था दोष नहीं रहता। क्योंकि यदि प्रथम घटात्यंताभावके अत्यंताभावको घटरूप मान लें तो द्वितीयात्यंताभावका अत्यंताभाव घटात्यंताभावरूप ही होगा। इस प्रकार जब द्वितीयात्यंताभावको घटरूप मान लिया गया है, तब उसका अत्यन्ताभाव घटका अत्यन्ताभाव ही हो सकता है। तैसे ही तृतीयात्यन्ताभावका चतुर्थात्यन्ताभाव पुनः घटरूप और उस चतुर्थात्यन्ताभावका पञ्चमात्यन्ताभाव फिर घटात्यन्ताभावरूप हो सकता है। इस रीतिसे प्रतियोगी और उसके एक अत्यन्ताभावके अन्तर्गत सभी अत्यन्ताभाव आ जाते हैं इसलिये अनवस्था दोष नहीं रहता।

इस प्रकार प्राचीन नैयायिकोंने अत्यन्ताभावके अत्यन्ताभावको प्रथमात्यन्ताभावका प्रतियोगीस्वरूप माना है। तहाँ नवीन नैयायिकोंने यह दोष लिखा है कि जहाँ भूतलमें घट हो वहाँ 'भूतलेघटोऽस्ति, भूतले घटात्यन्ताभावो नास्ति' (भूतलमें घट है, भूतलमें घटात्यन्ताभाव नहीं हैं) इस प्रकारसे दो विलक्षण प्रतीति होती हैं और विधिमुख-प्रतीति व निषेधमुखप्रतीतिका विषय एक सम्भव नहीं हो सकता। इसलिए विधिमुखप्रतीतिका विषय तो घट है और निषेधमुख-प्रतीतिका विषय घटात्यन्ताभाव है, वह घटरूप नहीं किन्तु अभावरूप है और घटसे पृथक् ही है। इसके साथ ही प्राचीनोंने द्वितीय अत्यन्ताभावको पृथक् माननेमें जो अनवस्था-दोष कथन किया है उसका समाधान नवीनोंके मतमें यह है——

प्राचीनोंद्वारा द्वितीयात्यन्ताभाव तो प्रथमात्यन्ताभावके प्रतियोगीके समनियत माना गया है और तृतीयात्यन्ताभाव प्रथमात्यन्ताभावके समनियत। तथा प्रतियोगीके समनियत जो द्वितीयात्यन्ताभाव उसके समनियत चतुर्थात्यन्ताभाव माना गया है और तृतीयात्यन्ताभावके समनियत पञ्चमात्यन्ताभाव। इस प्रकार युग्म संख्याके सभी अत्यन्ताभाव तो

द्वितीयात्यन्ताभावके समनियत और विषम संख्याके सभी अत्यन्ताभाव प्रथमात्यन्ताभावके समनियत माने गये हैं। तहाँ यद्यपि द्वितीयात्यंताभाव प्रथमात्यंताभावके प्रतियोगीके समनियत तो है, परन्तु भाव व अभावकी एकता नहीं बनती। इसलिये घटके समनियत होता हुआ भी वह घटात्यन्ताभावाभाव घटसे पृथक् ही है। तथा प्रथमात्यन्ताभावके समनियत तृतीयात्यन्ताभाव तो प्रथमात्यन्ताभावस्वरूप ही है, उससे पृथक् नहीं। क्योंकि 'घटो नास्ति' ऐसी निषेधमुख प्रतीतिका विषय तो प्रथमात्यन्ताभाव है और 'घटात्यंताभावाभावो नास्ति' (घटात्यंताभावका अभाव नहीं है) ऐसी ही निषेधमुख प्रतीतिका विषय तृतीयात्यंताभाव है, इसलिये तृतीयात्यन्ताभाव तो प्रथमात्यंताभावस्वरूप ही हो सकता है। तैसे ही 'घटात्यन्ताभावो नास्ति' ऐसी निषेधमुख प्रतीतिका विषय द्वितीयात्यन्ताभाव है और 'तृतीयात्यन्ताभावो नास्ति' इस प्रकार चतुर्था-त्यन्ताभाव भी निषेधमुख प्रतीतिका विषय ही है, इसलिये वह चतुर्थात्यन्ताभाव यद्यपि द्वितीयात्यन्ताभावके समनियत तो है, परन्तु वह द्वितीयात्यन्ताभाव घटके समनियत होता हुआ भी भावरूप घटसे पृथक् अभावरूप ही है। इस प्रकार प्रथमात्यन्ताभाव और द्वितीयात्यन्ताभावके अन्तर्भूत सभी अभाव-माला आ जाती हैं, अनवस्थादोष भी नहीं रहता और प्रतीतिसे विपरीत समनियतताकी कल्पना भी छूट जाती है। प्राचीन रीतिसे तो अभाव और उसके प्रतियोगीके अन्तर्भूत सकल अत्यन्ताभाव आते हैं, इसलिये एक ही अभाव मानना होता है, परन्तु नवीन रीतिसे दो अभाव मानने पड़ते हैं। इसलिये यद्यपि नवीनमतमें गौरव है; तथापि भाव व अभावकी एकता नहीं बन पड़ती। इसलिये प्राचीनमत प्रमाणविरुद्ध और नवीनमत अनुभवानुसारी है, इसलिये प्रमाणसिद्ध होनेसे वह गौरवदोषकर नहीं रहता।

इस प्रकार घटात्यंताभावका अत्यन्ताभाव भी अभावप्रतियोगिक ही है। इस रीतिसे यहाँतक अभावप्रतियोगिक संसर्गाभावके उदाहरण कहे गये।

१८ : अभावप्रतियोगिक अन्योऽन्याभावके उदाहरण और उक्त अर्थका अनुवाद

अभावप्रतियोगिक अन्योऽन्याभावके उदाहरण तो अति स्पष्ट हैं। जैसे प्रागभावका अन्योऽन्याभाव प्रागभावमें नहीं, किन्तु अन्य सभी पदार्थोंमें है। क्योंकि भेदको ही अन्योऽन्याभाव कहते हैं और अपने स्वरूपमें अपना भेद रहता नहीं है, किन्तु स्वरूपातिरिक्त अन्य सर्वमें अपना भेद रहता है। इसलिये प्रागभावसे भिन्न पदार्थोंमें प्रागभावका अन्योऽन्याभाव है, प्रध्वंसाभावसे भिन्नमें प्रध्वंसाभावका, अत्यन्ताभावसे भिन्नमें अत्यन्ताभावका और अन्योऽन्याभावसे भिन्नमें अन्योऽन्याभावका अन्योऽन्याभाव (भेद) है। क्योंकि चारों प्रकारका संसर्गाभाव और अन्य सभी भाव-पदार्थ अन्योऽन्याभावरूप नहीं, किन्तु वे सभी अन्योऽन्याभावसे भिन्न हैं और जो जिससे भिन्न होता है उसमें उसका अन्योऽन्याभाव रहता है, इसलिये चतुर्विध संसर्गाभावों और सकल भाव-पदार्थोंमें अन्योऽन्याभावका अन्योऽन्याभाव स्पष्ट है—

निष्कर्ष यह कि इस प्रकार पंचविध अभावोंमें सामयिकाभाव तो चूँकि द्रव्यका ही होता है, इसलिये वह तो अभावप्रतियोगिक नहीं हो सकता, इसके सिवा अन्य चार अभावोंके अभावप्रतियोगिक उदाहरण कहे गये। प्राचीनमतानुसारी इन अभावप्रतियोगिक अभावोंको कई स्थलोंमें भावरूप मानते हैं। जैसे वे घटप्रागभावके ध्वंसको घटरूप, घटध्वंसके प्रागभावको घटरूप, घटान्योऽन्याभावके अत्यंताभावको घटत्वरूप और घटात्यंताभावके अत्यंताभावको घटरूप मानते हैं। उसका ऊपर खण्डन किया गया और अभावप्रतियोगिक अभावकी ही सिद्धि की गई। भावप्रतियोगिक अभाव तो अतिप्रसिद्ध है ही। इस प्रकार न्याय-शास्त्रकी रीतिसे अभावका निरूपण किया गया और प्राचीन अथवा नवीन मतमें जो दोष कहे गये हैं वे भी न्यायकी मर्यादाको लेकर ही कहे गये हैं।

१९ : उक्त न्याय-मतमें वेदान्तसे विरुद्ध आशंका-प्रदर्शन और अनादि प्रागभावका खण्डन

अभावका उक्त प्रकारसे निरूपण वेदान्त-शास्त्रसे भी विरुद्ध नहीं है और जितने अंशमें वह वेदान्तविरुद्ध है, अब उसका स्पष्टीकरण किया जाता है—

कपालमें घटके प्रागभावको जो अनादि कहा गया है वह प्रमाणविरुद्ध है, इसलिये यह वेदान्तके अनुसार नहीं। क्योंकि घटप्रागभावका अनुयोगी (अधिकरण) सादि और प्रतियोगी घट भी सादि, फिर प्रागभावमें ही अनादिता किस प्रकार हो सकती है ? यदि मायामें सकल कार्योंके प्रागभावको अनादि कहा जाय तो किसी प्रकार सम्भव हो भी सकता है, क्योंकि माया अनादि है। परन्तु मायामें सकल कार्योंका प्रागभाव मानना व्यर्थ है और सिद्धान्तमें इष्ट भी नहीं। क्योंकि घटकी उत्पत्ति केवल कपालमें ही होती है, अन्य किसीमें भी नहीं और पटकी उत्पत्ति केवल तंतुमें ही होती है, अन्यमें नहीं। इसलिये नैयायिक रीतिसे घटका प्रागभाव कपालमें है तंतुमें नहीं और पटका प्रागभाव तंतुमें है कपालमें नहीं, क्योंकि जिसका जिसमें प्रागभाव होता है, उसकी उसमें ही उत्पत्ति होती है, अन्यमें नहीं। सर्वमें सर्वकी उत्पत्ति न हो, इसीलिये न्याय-मतमें प्रागभावका अंगीकार किया गया है।

नैयायिक प्रागभावका मुख्य प्रयोजन यह बतलाते हैं कि कपाल-तन्त्वादिके घट-पटादि परिणाम तो हैं नहीं, किन्तु कपालमें घटका और तंतुमें पटका आरम्भ होता है। अर्थात् घट-पटादि कार्योंकी उत्पत्ति हो जानेके पश्चात् भी कपाल-तन्त्वादि पूर्ववत् विद्यमान रहते हैं। यदि वे परिणामको प्राप्त हुए हों तो घटाकारको प्राप्त होनेके बाद कपाल न रहना चाहिये और पटाकारको प्राप्त होनेके पश्चात् तंतु न रहना चाहिये, परन्तु उनके मतसे इस रूपसे परिणाम तो होता नहीं है, किन्तु आरम्भ ही होता है। अर्थात् कपाल आप ज्यों-का-त्यों रहता है और अपनेमें घटकी

उत्पत्ति करता है तथा जब घट उत्पन्न हो जाता है तब भी पूर्ववत् घटकी सामग्री बनी रहती है। इसके विपरीत परिणामवादमें तो कार्यकी उत्पत्ति हो जानेपर उपादान नहीं रहता, क्योंकि परिणामवादमें उपादान-कारण ही कार्यरूपमें परिणामी होता है। इसलिये घटरूपको प्राप्त हो जानेके बाद कपाल घटकी सामग्री नहीं रहता। परन्तु आरम्भवादमें तो उपादान-कारण अपने स्वरूपको त्यागता ही नहीं है, किन्तु उपादान आप ज्यों-का-त्यों बना रहकर उपादानमें कार्य जुदी ही वस्तु उत्पन्न होती है। इसलिये वहाँ यह आपत्ति होती है कि घटकी उत्पत्ति हो जानेपर भी सामग्री ज्यों-की-त्यों रहनेसे घटकी पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये। यद्यपि एक घटकी उत्पत्ति हो जानेपर अन्य घटकी उत्पत्तिमें प्रथम घट प्रतिबन्धक है, क्योंकि प्रथम घटसे निरुद्ध कपालमें अन्य घटकी उत्पत्ति असम्भव है; तथापि प्रथम उत्पन्न, घटकी ही पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये। यदि प्रथम उत्पन्न घटकी पुनः उत्पत्ति मानी जाय तो जैसे उत्पत्तिकालमें 'घट उत्पद्यते' (घट उत्पन्न होता है) ऐसा व्यवहार होता है, वैसे ही उत्पत्तिसे उत्तर-कालमें भी 'घट उत्पद्यते' ऐसा व्यवहार होना चाहिये। सिद्ध घटका जो आधारकाल वह घटोत्पत्तिकालसे उत्तर काल है। परन्तु सिद्ध घटके आधारकालमें तो 'उत्पन्नो घटः' (घट उत्पन्न हुआ) ऐसा ही व्यवहार होता है और 'उत्पद्यते घटः' ऐसा व्यवहारं तो एकमात्र उत्पत्तिक्षणमें ही होता है। घटके आधार द्वितीयादि क्षणमें 'उत्पद्यते घटः' ऐसा व्यवहार नहीं होता, क्योंकि इस व्यवहारसे तो 'वर्तमान उत्पत्तिवाला घट है' यही अर्थ निकलता है, परन्तु 'उत्पन्नो घटः' इस कथनसे अतीत उत्पत्तिवाले घटकी सिद्धि होती है। यदि उत्पन्नकी उत्पत्ति मानी जाय तो घटकी सिद्ध दशामें भी कोई वर्तमान उत्पत्ति रहेगी, इसलिये उत्पन्न घटमें भी 'उत्पद्यते घटः' ऐसा व्यवहार होना चाहिये। परन्तु उत्पन्न घटकी पुनः उत्पत्ति देखनेमें नहीं आती है, इससे यह मानना चाहिये कि घटोत्पत्तिकी कोई-न-कोई सामग्री नहीं रही है। तहाँ न्यायमतसे कपा-लादि अन्य सब सामग्री तो हैं, परन्तु उस घटका प्रागभाव नहीं रहा

है, क्योंकि घटोत्पत्तिक्षणमें ही घटप्रागभाव नष्ट हो चुका है। घटोत्पत्तिमें वह घटप्रागभाव कारण-सामग्रीमें सम्मिलित था और उसके अभावसे ही उत्पन्न घटकी पुनः उत्पत्ति असम्भव हो गई।

इस प्रकार प्रागभावकी सिद्धिमें नैयायिकोंका ऐसा कथन है और उनके मतसे प्रागभावका यही मुख्य प्रयोजन है। वह मायामें घटादिके प्रागभावका प्रथम प्रयोजन, अर्थात् सबसे सबकी उत्पत्ति न हो, यह तो सम्भव नहीं होता; क्योंकि घटादिका साक्षात् उपादान माया नहीं किन्तु कपालादि ही हैं। यद्यपि सिद्धांतपक्षमें माया सर्व पदार्थोंके प्रति साक्षात् उपादानरूप भी मानी गयी है, क्योंकि माया कार्यकी उत्पत्तिमें अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं करती, मायामें कुछ ऐसी ही अद्‌भुत शक्ति है। इसलिये सिद्धांतपक्षमें मायाको प्रागभावादिरूप अन्य किसी भी कारणकी अपेक्षा नहीं है और मायामें किसीका भी प्रागभाव नहीं है। तथापि 'कपालमें घटकी उत्पत्ति होती है, पटकी नहीं और तंतुमें पटकी उत्पत्ति होती है घटकी नहीं' यदि इसी निमित्तसे प्रागभाव को हेतु कहा जाय तो यह भी बनता नहीं है। क्योंकि 'कपाल में घटकी ही कारणता है, पटकी नहीं और तन्तुमें पटकी ही कारणता है, घटकी नहीं' इस प्रकार कारण-कार्यज्ञानसे ही अर्थकी सिद्धि होती है, इसको छोड़कर बीचमें ही किसी प्रागभावादि पदार्थको ऊपरसे कारणसामग्रीमें जोड़ना व्यर्थ और निष्प्रयोजन ही है। कारणताका ज्ञान अन्वय-व्यतिरेकसे होता है, अर्थात् कपालके अन्वय (सत्ता) से घटका अन्वय होता है और कपालके व्यतिरेक (अभाव) से घटका व्यतिरेक होता है। इस प्रकार कपालके अन्वय-व्यतिरेक (भाव-अभाव) से घटका ही अन्वय-व्यतिरेक देखा जाता है, पटका नहीं। इसलिये कपालमें घटकी ही कारणता है पटकी नहीं और इसीलिये कपालसे घट ही होता है पटादि नहीं होते। अतः पटादिकी व्यावृत्तिके लिये ही कपालमें घटका प्रागभाव मानना व्यर्थ और बालविनोदके तुल्य है। इसके अतिरिक्त प्रागभावका मुख्य प्रयोजन जो यह कहा गया कि 'कपालमें घटकी उत्पत्तिके अनन्तर पुनः

घटोत्पत्ति होनी चाहिये' वह भी दोष परिणामवादमें नहीं आता, क्योंकि अपने स्वरूपसे स्थित ही कपाल घटकी उत्पत्ति कर सकता है, कार्यरूपमें प्राप्त हुए कपालसे घटकी उत्पत्ति असम्भव है। इसलिये परिणामवादमें तो प्रागभाव निष्फल ही है।

यदि विचार किया जाय तो आरम्भवादमें भी प्रागभाव निष्फल ही है। क्योंकि 'घटकी उत्पत्ति हो जाने पर पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये' जो ऐसी आपत्ति करते हैं उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि 'घटान्तरकी उत्पत्ति होनी चाहिये अथवा जो घट जिस कपाल में उपजा है उसीकी पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये ?' उत्तरमें यदि ऐसा कहा जाय कि 'अन्य घटकी उत्पत्ति होनी चाहिये' सो तो असम्भव है। क्योंकि जिस कपालमें जो घट उत्पन्न होता है, उस कपालमें उसी घटकी कारणता है, घटांतरकी कारणता कपालान्तरमें है, इसलिये अन्य घटकी उत्पत्तिकी तो आपत्ति नहीं रहती। क्योंकि नैयायिक भी भिन्न-भिन्न कपालोंमें भिन्न-भिन्न घटका ही प्रागभाव मानते हैं, एक कपाल में घटान्तरका प्रागभाव नहीं मानते। यदि ऐसा कहा जाय कि 'जो घट प्रथम उपजा है उसीकी पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये' वह भी असम्भव है। क्योंकि जहाँ कपालमें प्रथम घटकी उत्पत्ति हो चुकी, वहाँ प्रथम उत्पत्ति अन्य उत्पत्तिका प्रतिबन्धक है, इसलिये पुनः उत्पत्तिकी प्रतीति भी नहीं होती। अतः प्रागभाव निष्फल ही है।

यदि उत्पत्तिके स्वरूपका सूक्ष्म विचार किया जाय तो 'पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये' ऐसा कथन ही विरुद्ध है। क्योंकि आद्य क्षणसे सम्बन्धका नाम 'उत्पत्ति' है, जैसे घटका आद्य क्षणसे सम्बन्ध घटकी उत्पत्ति कही जाती है। अर्थात् घटाधिकरणक्षणके ध्वंसका अनधिकरण जो क्षण, वह घटका आद्य क्षण कहाता है। आशय यह कि घटके अधिकरणभूत तो अनन्त क्षण हैं, उनमेंसे घटके अधिकरण जो द्वितीयादि क्षण हैं, उनमें तो घटाधिकरण प्रथम क्षणका ध्वंस रहता है, परन्तु प्रथम क्षणमें घटाधिकरणक्षणका कोई ध्वंस नहीं रहता। इसलिये घटाधिकरणक्षणके ध्वंसका अनधिकरणक्षण, घटका प्रथम क्षण है और उस क्षणसे सम्बन्ध

ही घटकी उत्पत्ति कही जाती है। चूँकि द्वितीयादि क्षणमें प्रथम क्षणसे सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये प्रथम क्षणमें ही 'उत्पद्यते' ऐसा व्यवहार होता है, द्वितीयादि क्षणमें नहीं। इस प्रकार 'प्रथम क्षणका सम्बन्धरूप उत्पत्ति पुनः होनी चाहिये' ऐसा कथन 'मम जननी वंध्या' इस वाक्यके तुल्य है। क्योंकि घटकी उत्पत्तिसे उत्तर क्षण घटाधिकरणक्षणके ध्वंसका अधिकरण ही होगा, इसलिये घटाधिकरणक्षणके ध्वंसका अनधिकरणक्षण पुनः असम्भव है। अतः 'उत्पन्नकी पुनः उत्पत्ति होनी चाहिये' यह कथन ही विरुद्ध है, इस प्रकार प्रागभाव निष्फल है। वास्तवमें घटोत्पत्तिसे पूर्व 'कपाले समवायेन घटो नास्ति' (कपालमें समवायसे घट नहीं है) इस प्रतीतिका विषय कपालमें घटका सामयिकाभाव ही सम्भव होता है और 'कपाले घटो भविष्यति' (कपालमें घट होगा) इस प्रतीतिका विषय भी घटका भविष्यत् काल है, अतः प्रागभाव असिद्ध ही है।

यदि अपने शास्त्रोंके संस्कारोंसे नैयायिक प्रागभावको माननेका ही आग्रह करें तो उसे सादि ही मानना चाहिये, अनादि तो सम्भव नहीं होता। क्योंकि अन्य मतों में तो सभी अभावोंका अधिकरणके भेदसे ही भेद होता है, परन्तु नैयायिक मतमें अभावका भेद अधिकरणके भेदसे नहीं, किन्तु प्रतियोगीके भेदसे ही अभावका भेद माना गया है। इसलिये यद्यपि न्यायमतमें नाना अधिकरणोंमें एक प्रतियोगिक अभाव एक ही होता है, तथापि प्रागभाव तो न्यायमतमें भी अधिकरणके भेदसे भिन्न-भिन्न ही माना गया है। क्योंकि घटका प्रागभाव घटके उपादान-कारण कपालमें ही रहता है, उनमें भी जिस कपालमें जो घट हो, उसी कपालमें उसी घटका प्रागभाव रहता है और अन्य घटका प्रागभाव अन्य कपालमें रहता है। इस प्रकार एक प्रागभाव एक ही अधिकरणमें रहता है, वह घटप्रागभावके अधिकरण कपालादि नाना एवं सादि हैं, फिर उन नाना अधिकरणोंमें रहनेवाले नाना प्रागभाव किसी भी रीतिसे अनादि सम्भव नहीं होते। यदि अनादि अधिकरणमें और एक ही प्रागभाव रहता तो उसे अनादि कहना भी सम्भव होता। परन्तु यहाँ तो नाना अधिकरणोंमें एक

प्रागभाव असम्भव है, इसलिये एक-एक कपाल-मात्रवर्ति एक-एक घट-प्रागभावको अनादि कहना सम्भव नहीं हो सकता।

यदि ऐसा कहा जाय कि कपालकी उत्पत्तिसे पूर्व कपालके अवयवोंमें घटका प्रागभाव रहता है, उससे पूर्व उन अवयवोंके अवयवोंमें रहता है और इस प्रकार अनादि परमाणुमें घटप्रागभाव अनादि है, वह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि प्रागभाव तो अपने प्रतियोगीके उपादान-कारणमें ही रहता है, यह नैयायिकोंका सिद्धांत है। कपालके अवयव कपालके उपादानकारण हैं घटके नहीं, इसलिये कपालावयवोंमें कपालका ही प्रागभाव सम्भव होता है, परन्तु घटका प्रागभाव तो कपालमें ही है कपालावयवोंमें नहीं। इस प्रकार परमाणु केवल द्व्यणुकके ही उपादान-कारण हैं, इसलिये परमाणुमें द्व्यणुकका ही प्रागभाव रहता है, द्व्यणुकसे आगे त्र्यणुकादि घटपर्यंतके प्रागभाव परमाणुमें सम्भव नहीं होते। यदि परमाणुमें द्व्यणुकसे भिन्न पदार्थोंका भी प्रागभाव माना जाय तो परमाणुसे भी घटकी उत्पत्ति होनी चाहिये। जिस प्रकार परिणामवादमें कारण-कार्यका अभेद है, इसलिये द्व्यणुकसे लेकर अंत्यावयवी घटपर्यंत कारणकार्यधाराका भेद नहीं, इसी प्रकार यदि आरम्भवादमें भी कारणकार्यका अभेद माना गया होता तो परमाणुमें द्व्यणुकका प्रागभाव ही घटपर्यंत कार्यधाराका प्रागभाव बन सकता था और इस प्रकार परमाणुमें घटादिका प्रागभाव कहना सम्भव हो सकता था तथा प्रागभावमें अनादिता भी सिद्ध हो सकती थी। परन्तु आरम्भवादमें तो कारण-कार्यका अभेद नहीं, किन्तु इनका परस्पर अत्यंत भेद है, इसलिये कपालावयवोंमें घटका प्रागभाव सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार परमाणुमें द्व्यणुकके किसी कार्यका प्रागभाव भी सम्भव नहीं होता, फिर सादि कपालादिमें घटादिके प्रागभावको अनादि कहना सर्वथा असंगत है।

२० : अनन्त प्रध्वंसाभावका खण्डन

इसी प्रकार न्यायमतमें प्रध्वंसाभाव भी अपने प्रतियोगीके उपादान-कारणमें ही रहता है, इसलिये 'घटका ध्वंस जो कपालमात्रवर्ति है वह

अनन्त है' यह कथन भी असंगत है। क्योंकि घट-ध्वंसका अधिकरण जो कपाल, उसके नाशसे तो घट-ध्वंसका नाश होता ही है। घट-ध्वंसका नाश माननेमें नैयायिक जो ऐसा दोष देते हैं—

'यदि घट-ध्वंसका ध्वंस हो तो घटका उज्जीवन होना चाहिये, क्योंकि प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अनाधारकाल प्रतियोगीका आधार होता है, यह नियम है। अर्थात् जिस कालमें घट-ध्वंसका ध्वंस हो वह काल घट-ध्वंसका अनाधार होगा और वह प्रागभावका भी अनाधार होगा, इसलिये वह घटका आधारकाल होना चाहिये। इस प्रकार यदि घट-ध्वंसका ध्वंस माना जाय तो घटादि प्रतियोगीका उज्जीवन होगा।'

यह दोष भी असंगत है। क्योंकि यदि प्रागभावको अनादि और प्रध्वंसाभावको अनन्त माना जाय तो उक्त नियमकी सिद्धि हो और यदि उक्त नियमको माना जाय तो प्रागभावमें अनादिता और प्रध्वंसाभावमें अनन्तता-की सिद्धि हो। परन्तु सिद्धांतपक्षमें तो प्रागभाव सादि है, इसलिये प्राग-भावकी उत्पत्तिसे पूर्वकाल घटके प्रागभावका और घटके प्रध्वंसाभावका अनाधार तो है, परन्तु वह घटका आधार नहीं। अथवा मुख्य सिद्धांतमें तो वस्तुतः प्रागभावका सर्वथा अंगीकार ही नहीं, इसलिये घटकी उत्पत्तिसे पूर्वकाल घटके प्रागभाव, घटके प्रध्वंसाभाव और घटरूप प्रतियोगीका भी अनाधार ही है, वह घटरूप प्रतियोगीका भी आधार नहीं। इस प्रकार 'प्रागभाव और प्रध्वंसाभावका अनाधारकाल प्रतियोगीका आधार होता है' इस नियमका सम्भव नहीं। इसलिये घट-ध्वंसका भी ध्वंस होता है और उक्त नियमकी असिद्धिसे घटका उज्जीवन भी नहीं होता।

२१ : अन्योऽन्याभावकी सादि-सांतता और अनादिताका अंगीकार

इसी प्रकार अन्योऽन्याभाव भी सादि-सांत अधिकरणमें सादि-सांत ही होता है। जिस प्रकार घटमें पटका जो अन्योऽन्याभाव है, उसका अधिकरण घट है और वह सादि-सांत है, इसलिये घटवर्ति पटान्योऽन्या-

भाव भी सादि-सांत ही है। अनादि अधिकरणमें अन्योऽन्याभाव यद्यपि अनादि है, परन्तु अनादि होता हुआ भी वह रहता सांत ही है, अनन्त नहीं। जैसे ब्रह्ममें जो जीवका भेद है वह ब्रह्ममें जीवका अन्योऽन्याभाव है और उसका अधिकरण ब्रह्म है वह अनादि है। इसीलिये ब्रह्ममें जीवका भेदरूप अन्योऽन्याभाव अनादि तो है, परन्तु ब्रह्म-ज्ञानसे अज्ञान-निवृत्तिद्वारा भेदका अंत हो जाता है, इसलिये अनादि होता हुआ वह सांत भी है। क्योंकि अद्वैतवादमें अनादि पदार्थोंकी भी ज्ञानसे निवृत्ति इष्ट है। इसीलिये (१) शुद्ध चेतन, (२) जीव, (३) ईश्वर, (४) अविद्या, (५) अविद्या व चेतन का सम्बन्ध और (६) इन अनादिका परस्पर भेद—ये षट् पदार्थ अद्वैत मतमें स्वरूपसे अनादि कहे गये हैं और शुद्ध चेतनके सिवा इन पाँचोंकी ज्ञानसे निवृत्ति मानी गई है।

इस विषयमें ऐसी शंका होती है कि जीव-ईश्वरको अद्वैतवादमें मायिक कहते हैं, मायाका कार्य मायिक कहा जाता है और जब जीव-ईश मायाके कार्य हैं, तब फिर इनको अनादि कहना विरुद्ध है।

(समाधान)—जीव-ईश मायाके कार्य हैं, 'मायिक' पदका यह अर्थ नहीं है, किन्तु मायाकी स्थितिके अधीन जीव-ईशकी स्थिति है। मायाकी स्थितिके विना जीव-ईशकी स्थिति नहीं होती, इसलिये ये मायिक हैं और मायाके समान अनादि हैं।

इस प्रकार अनादि अन्योऽन्याभाव भी सांत होता है; अनन्त नहीं होता। तैसे ही आकाशादिके समान अत्यंताभाव भी अविद्याका कार्य है और विनाशी है। इस रीतिसे अद्वैतवादमें सभी अभाव विनाशी हैं, कोई भी अभाव नित्य नहीं। अद्वैतवादमें तो सभी अनात्म पदार्थ मायाके कार्य हैं, इसलिये आत्मभिन्नमें नित्यता असम्भव ही है। जैसे घटादि मायाके कार्य हैं, तैसे ही सभी अभाव भी मायाके कार्य ही हैं। यद्यपि अद्वैत-वादमें मायाको भावरूप कहा गया है, इसलिये मायामें अभावरूप पदार्थों-

की उपादानता सम्भव नहीं होती। क्योंकि उपादान कार्यके सजातीय ही होता है, परन्तु माया अभावके सजातीय नहीं किन्तु माया और अभाव भावत्व व अभावत्वरूपसे विजातीय ही हैं, अर्थात् मायामें भावत्व और अभावमें अभावत्व रहता है। तथापि सभी अभावोंका उपादान मायाही है, क्योंकि अनिर्वचनीयत्व, मिथ्यात्व, ज्ञाननिवर्त्यत्व और अनात्मत्वादि धर्मोंसे माया और अभाव सजातीय हैं। यदि सभी धर्मोंसे उपादान व कार्यकी सजातीयता मानी जाय तो घटकपालमें भी घटत्व-कपालत्व विजातीय धर्म होनेसे कपाल घटका उपादान नहीं होना चाहिये। परन्तु जैसे मृन्मयत्वादि धर्मोंसे घट-कपाल सजातीय हैं, तैसे ही अनिर्वचनीयत्वादि धर्मोंसे माया और अभाव भी सजातीय हैं। इसलिये सभी अभाव मायाके कार्य हैं और मिथ्या हैं।

अद्वैतवादी कोई ग्रन्थकार एक अत्यंताभावको ही मानते हैं और अन्य सभी अभावोंको अलीक कहते हैं। जैसे कपालमें जो घटका प्रागभाव माना गया है वह अलीक है, क्योंकि घटोत्पत्तिसे पूर्वकालसम्बन्धी कपाल ही 'घटो भविष्यति' इस प्रतीतिका विषय है, इसलिये घट-प्रागभाव अप्रसिद्ध है। इसी प्रकार मुद्गरादिसे चूर्णीकृत अथवा विभक्त कपालसे पृथक् घट-ध्वंस भी अप्रसिद्ध ही है। तैसे ही घट-असम्बन्धी भूतल ही घटका सामयिकाभाव कहा गया है, अर्थात् जब घट हो तब तो भूतल घटका सम्बन्धी होता है, इसलिये तब भूतल घट-असम्बन्धी नहीं रहता। इस प्रकार अपने अधिकरणसे पृथक् सामयिकाभाव कुछ भी नहीं। इसी प्रकार घटमें पटके भेदको घटवर्ति पटान्योऽन्याभाव कहते हैं, वह वह भी दोनोंके अभेदका अत्यंताभावरूप ही है, अर्थात् दो पदार्थोंके अभेदात्यन्ताभावसे पृथक् अन्योऽन्याभाव भी अप्रसिद्ध है। इस रीतिसे एक अत्यन्ताभाव ही है, अन्य कोई अभाव नहीं। इस प्रकार अभावके निरूपणमें बहुत विचार हैं, परन्तु ग्रन्थ-विस्तारके भयसे रीतिमात्र ही जनाई गई है।

२२ : अभावकी प्रमाके हेतु प्रमाणका निरूपण और अभाव-ज्ञानके भेदपूर्वक न्यायमतमें भ्रमप्रत्यक्षमें विषय-अनपेक्षा

अभावका स्वरूप निरूपण किया गया अब उसमें प्रमाणका निरूपण किया जाता है। अभावका ज्ञान दो प्रकार का होता है, एक भ्रमरूप और दूसरा प्रमा। प्रमाके समान भ्रमज्ञान भी प्रत्यक्ष और परोक्षके भेदसे दो प्रकारका होता है। जहाँ भूतलसे इन्द्रियसंयोग होनेपर भी घटवाले भूतलमें किसी प्रकार घटकी उपलब्धि न हो, वहाँ घटाभावका प्रत्यक्ष-भ्रम तो होता है, परन्तु प्रत्यक्ष-ज्ञान विषयके विना नहीं होता। क्योंकि अन्यथाख्यातिवादमें प्रत्यक्ष-भ्रममें विषयकी अपेक्षा नहीं है, किन्तु उस मतमें अन्य पदार्थके अन्य रूपसे ज्ञानको ही अन्यथाख्याति कहते हैं, इसलिये जिस पदार्थका अन्य रूपसे ज्ञान हो उस पदार्थकी ही अपेक्षा होती है। जैसे जहाँ रज्जुका सर्पत्वरूपसे ज्ञान होता है वहाँ अन्यथा-ख्यातिवादमें रज्जुकी तो अपेक्षा है, परन्तु ज्ञानमें जिस विषयका आकार प्रतीत होता है उसकी अपेक्षा नहीं, जैसे भ्रममें जो सर्पका आकार भासता है उसकी अपेक्षा नहीं होती।

२३ : सिद्धांतमें परोक्ष-भ्रममें विषयकी अनपेक्षा और अपरोक्षभ्रममें अपेक्षा

इसके विपरीत सिद्धांतमें अनिर्वचनीय ख्याति है, अर्थात् जहाँ प्रत्यक्ष भ्रम हो वहाँ भ्रम-ज्ञानके समान अनिर्वचनीय विषयकी भी उत्पत्ति होती है। इसलिये व्यावहारिक घटवाले भूतलमें प्रातिभासिक घटाभाव अनिर्वचनीय ही उपजता है, क्योंकि व्यावहारिक घटका व्यावहारिक घटाभावसे तो विरोध है परन्तु व्यावहारिक घटका प्रातिभासिक घटा-भावसे विरोध नहीं। इसलिये व्यावहारिक घटवाले भूतलमें अनिर्वच-नीय घटाभाव और उसका अनिर्वचनीय ज्ञान दोनों उत्पन्न होते हैं और

वहाँ घटाभावका प्रत्यक्ष-भ्रम कहा जाता है। परन्तु जहाँ विप्रलम्भक वचनसे अंधको घटवाले भूतलमें घटाभावका ज्ञान हो, वहाँ अभावका परोक्ष-भ्रम होता है। क्योंकि परोक्ष-ज्ञानमें विषयकी अपेक्षा नहीं होती, जैसे अतीत व अनागतका भी परोक्ष-ज्ञान ही होता है। इसलिये जहाँ परोक्ष-भ्रम हो वहाँ प्रातिभासिक अभावकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु केवल अभावाकार वृत्तिरूप ज्ञानकी ही उत्पत्ति होती है।

२४ : सिद्धांतमें अभाव-भ्रमके स्थानमें अन्यथाख्यातिका अंगीकार

अथवा यह भी माना जा सकता है कि सिद्धांतमें परोक्ष-भ्रमके समान जहाँ अभावका प्रत्यक्षभ्रम हो वहाँ भी प्रातिभासिक अभावकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु अभावका भ्रम अन्यथाख्यातिरूप ही होता है। क्योकि रज्जु आदिमें तो सर्पादि भ्रमको यदि अन्यथाख्यातिरूप माना जाय तो यह दोष लागू होता है कि रज्जुमें सर्पत्व-धर्मकी प्रतीतिको जो अन्यथाख्यातिरूप कहा गया है वह असम्भव है, क्योंकि इन्द्रियका सम्बन्ध तो रज्जु और रज्जुत्वसे है, फिर सर्पके विना केवल सर्पत्वसे ही इन्द्रियका सम्बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? इसके साथ ही विषयके सम्बन्धविना इन्द्रियजन्य ज्ञान हो भी कैसे सकता है? इसलिये रज्जुकी सर्पत्वरूपसे प्रतीतिरूप अन्यथाख्याति सम्भव नहीं हो सकती। इस प्रकार प्रत्यक्ष-भ्रमस्थलमें तो अन्यथाख्यातिका निषेध करके अनिर्वचनीय ख्याति ही मानी गई है और उसकी रीति पूर्व विचार-सागरमें कही गई है। परन्तु जहाँ अधिष्ठान व आरोप्य दोनों इन्द्रियसम्बन्धी हों वहाँ उक्त दोष सम्भव नहीं होता, इसलिये सिद्धांत ग्रन्थोंमें भी वहाँ अन्यथाख्यातिका स्वीकार किया गया है। जैसे जपापुष्पके ऊपर धरे हुए स्फटिकमें पुष्पकी रक्तताका प्रत्यक्ष-भ्रम होता है। वहाँ इधर पुष्पकी रक्ततासे नेत्रका संयुक्त-समवाय अथवा संयुक्त-तादात्म्य-सम्बन्ध है और उधर नेत्रका स्फटिकसे भी संयोग-सम्बन्ध है, वहाँ स्फटिकमें रक्तता तो

आरोप्य है और स्फटिक अधिष्ठान। वहाँ स्फटिकमें पुष्पकी व्यावहारिक रक्तता ही प्रतीत होती है, स्फटिकमें अनिर्वचनीय रक्तताकी उत्पत्ति नहीं होती। क्योंकि यदि सर्पत्वके समान रक्ततासे नेत्रका सम्बन्ध न होता तो 'विषयसे सम्बन्धविना इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं होता' यह दोष खड़ा होता, परन्तु यहाँ तो नेत्रसे रक्तताका संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध होनेसे उक्त दोष लागू नहीं होता, इसलिये आरोप्यके सन्निधान स्थलमें अन्यथाख्याति भी सम्भव होती है।

तैसे ही घटवाले भूतलमें जहाँ घटाभावका भ्रम होता है, वहाँ आरोप्य व अधिष्ठानका सन्निधान होनेसे अधिष्ठानकी भाँति आरोप्यसे भी इन्द्रियका सम्बन्ध है। क्योंकि यहाँ अधिष्ठान भूतल है और आरोप्य घटाभाव, जो यद्यपि भूतलमें तो नहीं है अर्थात् भूतलतो घटवाला है ही; तथापि भूतलवर्ति भूतलत्वमें और भूतलवर्ति रूप-स्पर्शादि गुणोंमें घटाभाव अवश्य है। क्योंकि भूतलत्व और भूतलके रूप-स्पर्शादि गुणोंमें घटका संयोग कभी भी नहीं होता, अर्थात् संयोग तो दो द्रव्योंका ही होता है। यहाँ यद्यपि घट तो द्रव्य है, परन्तु भूतलत्व द्रव्य नहीं किन्तु जाति है और भूतलके रूप-स्पर्शादि भी द्रव्य नहीं किन्तु गुण हैं, इसलिये भूतलकी जाति व गुणोंसे घटका संयोग असम्भव है और जिसमें जिसका संयोग-सम्बन्ध सम्भव न हो, उसमें उस पदार्थका संयोगसम्बन्धावच्छिन्न अत्यंताभाव ही होता है। इस प्रकार भूतलमें संयोग-सम्बन्धसे घट होते हुए भी भूतलत्व और भूतलके गुणोंमें संयोग-सम्बन्धसे घट न होनेसे वहाँ संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न घटात्यंताभाव रहता है। यहाँ अधिष्ठान तो भूतल है और आरोप्य घटात्यंताभाव तथा भूतलकी जाति व गुणोंका भूतलसे स्वाधिकरण-समवाय-सम्बन्ध है। 'स्व' अर्थात् घटात्यंताभाव, उसका अधिकरण भूतलत्व और भूतलके रूप-स्पर्शादि गुण, उनका भूतल-में समवाय-सम्बन्ध है। भूतलका घटात्यंताभावसे स्वसमवेत-वृत्तित्व-सम्बन्ध है। 'स्व' अर्थात् भूतल, उसमें समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्ध-से रहनेवाले भूतलत्व और भूतलके रूप-स्पर्शादि गुण, उनमें वृत्तित्व

अर्थात् आधेयता घटात्यंताभावकी है। इस प्रकार अधिष्ठान-आरोप्यके परस्पर सम्बन्ध होनेसे सन्निधान है, इसलिये भूतलत्ववर्ति और रूपस्पर्शादि-वर्ति जो व्यावहारिक घटात्यंताभाव, उसकी भूतलमें प्रतीति होनेसे अभावका भ्रम अन्यथाख्यातिरूप ही है। यहाँ प्रातिभासिक अभावकी उत्पत्ति मानना निष्प्रयोजन है। इस प्रकार प्रत्यक्ष एवं परोक्षके भेदसे अभावभ्रम दो प्रकारका होता है--

२५ : प्रत्यक्ष, परोक्ष, यथार्थ और भ्रमरूप अभाव-प्रमाकी इन्द्रिय व अनुपलम्भादि सामग्रीका वर्णन

इस प्रकार अभाव-प्रमा प्रत्यक्ष एवं परोक्षभेदसे दो प्रकारकी होती है। न्यायमतमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) ज्ञान कहते हैं और उससे भिन्नको परोक्ष-ज्ञान कहा जाता है। तथा जहाँ इन्द्रियका अभावसे विशेषणता अथवा स्वसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध हो वहाँ अभावकी भी प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-प्रमा कही जाती है। जैसे जहाँ श्रोत्रसे शब्दाभावका विशेषणता-सम्बन्ध है, वहाँ न्यायमतमें शब्दाभावकी श्रोत्रजन्य प्रत्यक्ष-प्रमा मानी गयी है। तैसे ही जहाँ भूतलमें घटाभाव हो, वहाँ नेत्र सम्बद्ध भूतलमें अभावका विशेषणता-सम्बन्ध होनेसे घटाभावकी नेत्रजन्य प्रत्यक्ष-प्रमा होती है। परन्तु जहाँ पुरुष-शून्य स्थाणुमें पुरुष-भ्रम होता है, वहाँ यद्यपि पुरुषाभाव है और पुरुषाभावसे नेत्रका स्वसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध भी है; तथापि वहाँ पुरुषाभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि न्यायमतके अनुसार अभावके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय तो करण है और प्रतियोगीका अनुपलम्भ सहकारी है, परन्तु यहाँ जब स्थाणुमें पुरुष-भ्रम होता है, तब प्रतियोगीका अनुपलम्भ नहीं होता, किन्तु भ्रमरूप प्रतियोगीपुरुषका उपलम्भ होता है। जैसे घटादि द्रव्यके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें नेत्र-इन्द्रिय करण है, परन्तु अन्धकारमें घटका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये नेत्रजन्य चाक्षुष-प्रत्यक्षमें आलोक-संयोग सहकारी होता है। इसीलिये जहाँ अन्धकारस्थ घट हो वहाँ यद्यपि नेत्र-इन्द्रिय है और उसका घटसे संयोग भी है; तथापि

घटका आलोकसे संयोगरूप सहकार नहीं, इसलिये अन्धकारस्थ घटका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि चाक्षुष-प्रत्यक्षमें जहाँ आलोक-संयोग सहकारी होता है, वहाँ नेत्र-इन्द्रियसे आलोकका संयोग हेतु नहीं होता, किन्तु विषयसे आलोक-संयोग ही चाक्षुष-प्रत्यक्षमें सहकारी होता है। इसीलिये प्रकाशमें स्थित पुरुषको अन्धकारस्थ घटका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि यद्यपि इन्द्रियके साथ तो आलोक-संयोग है परन्तु विषय जो घट उससे आलोक-संयोग नहीं। इसके विपरीत अन्धकारस्थ पुरुषको प्रकाशस्थ घटका प्रत्यक्ष होता है, वहाँ यद्यपि इन्द्रियसे आलोक-संयोग नहीं भी है परन्तु विषय से आलोक-संयोग है। इससे स्पष्ट हुआ कि विषयके साथ आलोक-संयोग ही चाक्षुष-प्रत्यक्षमें सहकारी होता है। ऐसा होते हुए भी यदि घटके पूर्वदेशमें आलोक-संयोग हो और पश्चिम देशमें नेत्र-संयोग हो, वहाँ भी घटका चाक्षुष नहीं होता। क्योंकि यद्यपि विषयसे आलोक-संयोग रूप सहकार है और संयोगरूप व्यापारवाला नेत्र-इन्द्रिय करण भी है; तथापि घटके जिस देशमें नेत्रका संयोग हो उसी देशमें आलोक-संयोग सहकारी होता है, ऐसा मानना चाहिए। दीप-सूर्यादिकी प्रभाको आलोक कहते हैं। इस प्रकार जैसे द्रव्यके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें आलोक-संयोग सहकारी है, तैसे अभावके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय तो करण है और प्रतियोगीका अनुपलम्भ उसका सहकारी होता है। परन्तु जहाँ स्थाणुमें पुरुष-भ्रम होता है वहाँ पुरुषाभावका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि वहाँ पुरुषाभावके प्रतियोगी पुरुषका अनुपलम्भरूप सहकार नहीं। जैसे जहाँ भूतलमें घट न हो, किन्तु घटके सदृश अन्य पदार्थ रखा हो और उसमें घटका भ्रम हो जाय, वहाँ यद्यपि उस भूतलमें वस्तुतः घटाभाव है और घटाभावसे नेत्र-इन्द्रियका स्वसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध भी है, परन्तु प्रतियोगीका अनुपलम्भरूप सहकार नहीं। इसलिये सम्बन्धरूप व्यापारवाले इन्द्रियरूप करणके होते हुए भी, प्रतियोगीके अनुपलम्भरूप सहकारके अभावसे घटाभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि ज्ञानको उपलम्भ कहते हैं, वह ज्ञान भ्रमरूप हो अथवा प्रमा हो इसमें विशेषता नहीं। इस स्थलमें चूंकि घटका भ्रम हुआ है

और इसीलिये यहाँ घटाभावका प्रतियोगी जो घट उसका अनुपलम्भ भी नहीं है, किन्तु घटका भ्रमरूप उपलम्भ है इसलिये घटाभाव होते हुए भी भ्रमरूप उपलम्भके कारण घटाभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। इससे स्पष्ट हुआ कि न्याय-मतके अनुसार अभावके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय करण है और प्रतियोगीका अनुपलम्भ उसका सहकारी है।

यदि केवल प्रतियोगीके अनुपलम्भको ही सहकारी कहा जाय तो भी निर्वाह नहीं होता। क्योंकि जैसे स्तम्भमें पिशाचका भेद तो प्रत्यक्ष है, परन्तु स्तम्भमें पिशाचका अत्यन्ताभाव प्रत्यक्ष नहीं। अर्थात् 'यह स्तम्भ पिशाच नहीं है' ऐसा अनुभव तो सर्व लोकोंको होता है, परन्तु 'इस स्तम्भमें पिशाच नहीं है' ऐसा निश्चय नहीं होता। यहाँ प्रथम अनुभवका विषय तो स्तम्भवर्ति पिशाचान्योऽन्याभाव है और द्वितीय अनुभवका विषय पिशाचात्यन्ताभाव है। यद्यपि दोनों अभावोंका प्रतियोगी एक पिशाच है, उसका अनुपलम्भ भी है, इन्द्रिय सम्बद्ध स्तम्भ भी है और उसमें पिशाचान्योऽन्याभाव एवं पिशाचात्यन्ताभाव दोनों विशेषणता-सम्बन्धसे रहते भी हैं, परन्तु फिर भी स्तम्भमें पिशा-चान्योऽन्याभावके समान पिशाचात्यन्ताभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। तैसे ही न्यायमतसे आत्मामें सुखाभावका और दुःखाभावका तो प्रत्यक्ष होता है, परन्तु धर्माभाव-अधर्माभावका प्रत्यक्ष नहीं होता, यह वार्ता सर्वके अनुभवसिद्ध है। अर्थात् 'इदानीं मयि सुखं नास्ति, इदानीं मयि दुःखं नास्ति' (अब मेरेमें सुख नहीं है, अब मेरेमें दुःख नहीं है) इस प्रकारका अनुभव तो सभीको होता है, परन्तु 'मयि धर्मो नास्ति, मय्यधर्मो नास्ति' (मेरेमें धर्म नहीं है, मेरेमें अधर्म नहीं है) ऐसा प्रत्यक्ष किसीको भी नहीं होता। सुख-दुखका अनुभव न्याय-मतमें मानस-प्रत्यक्षरूप है, वहाँ मनका सुखाभाव व दुःखाभावसे स्वसंयुक्तविशेषणता-सम्बन्ध होता है। क्योंकि 'स्व' अर्थात् मन, उससे संयुक्त अर्थात् संयोगवाला आत्मा, उसमें विशेषणता-सम्बन्धसे सुखाभाव और दुःखाभाव रहते हैं। इसी प्रकार यद्यपि धर्माभाव-अधर्माभावसे भी मनका स्वसंयुक्त-विशेषणता-सम्बन्ध तो

है; तथापि धर्माभाव-अधर्माभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि जिस प्रकार सुखाभाव-दुःखाभावके प्रतियोगी जो सुख-दुःख हैं और जिस प्रकार उनके अभाव-कालमें उनका अनुपलम्भ भी होता है, उसी प्रकार धर्माभाव-अधर्माभावके प्रतियोगी जो धर्म-अधर्म हैं उनका भी अनुपलम्भ तो होता है; परन्तु जैसे प्रतियोगीके अनुपलम्भरूप सहकारीसहित मनसे सुखाभाव-दुःखाभावका प्रत्यक्ष हो जाता है, वैसे ही धर्माधर्मरूप प्रतियोगीके अनुपलम्भरूप सहकारीसहित मनसे धर्माभाव-अधर्माभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार वायुमें रूपाभाव तो प्रत्यक्ष है, परन्तु गुरुत्वाभाव प्रत्यक्ष नहीं। रूपाभावका प्रतियोगी रूप और गुरुत्वाभावका प्रतियोगी गुरुत्व है। यद्यपि इन दोनोंका वायुमें अनुपलम्भ है, नेत्रका वायुसे संयोग-सम्बन्ध भी है और नेत्रसंयुक्त वायुमें रूपाभाव-गुरुत्वाभाव विशेषणता-सम्बन्धसे रह भी रहे हैं; तथापि नेत्रसम्बद्ध विशेषणता-सम्बन्धसे जैसे वायुमें रूपाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, तैसे गुरुत्वाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता। अर्थात् जैसे 'वायौ रूपं नास्ति' (वायुमें रूप नहीं है) ऐसी चाक्षुष-प्रतीति होती है, वैसे ही 'वायौ गुरुत्वं नास्ति' (वायुमें गुरुत्व नहीं है) ऐसी चाक्षुष-प्रतीति नहीं होती। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन्द्रियजन्य अभावके प्रत्यक्षमें केवल अनुपलम्भ ही सहकारी नहीं, किन्तु योग्यानुपलम्भ सहकारी होता है। अर्थात् वायुमें जैसे रूपका अनुपलम्भ है तैसे गुरुत्वका भी है, परन्तु रूपका तो योग्या-नुपलम्भ है इसलिये रूपाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो जाता है और गुरुत्वका योग्यानुपलम्भ नहीं इसलिये गुरुत्वाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्षयोग्यकी अप्रतीतिको 'योग्यानुपलम्भ' कहते हैं, यहाँ रूप तो प्रत्यक्ष-योग्य है, परन्तु गुरुत्व प्रत्यक्षयोग्य नहीं। क्योंकि तराजूके ऊर्ध्वादि भावसे गुरुत्वकी अनुमिति ही होती है, किसी इन्द्रियसे गुरुत्वका ज्ञान नहीं होता, इसलिये गुरुत्व प्रत्यक्षयोग्य नहीं होनेसे उसका अनुपलम्भ योग्यानुपलम्भ नहीं बनता। इसी प्रकार आत्मामें जहाँ सुखाभाव-दुःखाभावका मानस-प्रत्यक्ष होता है, वहाँ तो प्रत्यक्षयोग्य सुख-दुःखका

अनुपलम्भ होनेसे योग्यानुपलम्भरूप सहकारीका सम्भव है; परन्तु आत्मामें धर्माभाव-अधर्माभावका मानस-प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि वहाँ यद्यपि धर्म-अधर्मरूप प्रतियोगीका अनुपलम्भ तो है; तथापि वे धर्म-अधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं किन्तु केवल शास्त्रवेद्य हैं। इसलिये वे धर्म-अधर्म योग्यानुपलम्भरूप नहीं और उस योग्यानुपलब्धिके अभावसे ही धर्माभाव-अधर्माभावका मानस-प्रत्यक्ष नहीं होता।

२६ : स्तम्भमें पिशाचके दृष्टान्तसे शंका-समाधान-पूर्वक अनुपलम्भका निर्णय

इसी प्रकार स्तम्भमें पिशाचात्यंताभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। यद्यपि यहाँ भी पिशाचरूप प्रतियोगीका अनुपलम्भ तो है, परन्तु पिशाच प्रत्यक्षयोग्य न होनेसे उसका अनुपलम्भ योग्यानुपलम्भ नहीं बनता।

(शंका)—स्तम्भमें पिशाचके भेदका भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये। क्योंकि पिशाचभेदको ही पिशाचान्योऽन्याभाव कहते हैं, उसका प्रतियोगी भी पिशाच ही है और वह प्रत्यक्षयोग्य नहीं। इसलिये यहाँ भी योग्यानुपलम्भके अभावसे पिशाचात्यंताभावके समान पिशाचान्योऽन्याभाव भी अप्रत्यक्ष ही रहना चाहिये। यदि सिद्धान्ती ऐसा कहे—

'केवल उपर्युक्त लक्षणवाला योग्यानुपलम्भ ही नहीं, किन्तु प्रत्यक्ष-योग्य अधिकरणमें प्रतियोगीके अनुपलम्भको भी योग्यानुपलम्भ कहते हैं। प्रतियोगी चाहे प्रत्यक्षयोग्य हो अथवा अप्रत्यक्षयोग्य, परन्तु अभावका अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य होना चाहिये और उसमें प्रतियोगीका अनुपलम्भ मिलना चाहिये। स्तम्भमें जो पिशाचान्योऽन्याभाव है और उसका प्रतियोगी जो पिशाच है, वह तो यद्यपि प्रत्यक्षयोग्य नहीं है और उसमें प्रत्यक्षयोग्यताकी अपेक्षा भी नहीं है; तथापि पिशाचान्योऽन्याभावका अधिकरण जो स्तम्भ है वह प्रत्यक्षयोग्य होनेसे योग्यानुपलम्भका सद्भाव हो जाता है। इसलिये स्तम्भमें पिशाचान्योऽन्याभावका प्रत्यक्ष सम्भव होता है।'

सिद्धान्तीका इस प्रकारका समाधान भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि उक्त रीतिसे यही सिद्ध होता है कि 'अभावका प्रतियोगी चाहे प्रत्यक्षके योग्य हो अथवा अयोग्य, परन्तु जहाँ अभावका अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य हो और उसमें प्रतियोगीका अनुपलम्भ हो, वहीं अभावके प्रत्यक्षमें योग्यानुपलम्भरूप सहकारी है।' यदि सिद्धांतीके समाधानका ऐसा अर्थ माना जाय तो स्तम्भमें पिशाचात्यन्ताभाव भी प्रत्यक्ष होना चाहिये और तैसे ही आत्मामें धर्माभाव-अधर्माभाव भी प्रत्यक्ष होने चाहिये। क्योंकि जैसे स्तम्भवर्ति पिशाचात्यंताभावका अधिकरण स्तम्भ प्रत्यक्षयोग्य है, वैसे ही आत्मवर्ति धर्माभाव-अधर्माभावका अधिकरण आत्मा भी प्रत्यक्ष-योग्य है। इन दोनोंमें इतना भेद अवश्य है कि स्तम्भ तो बाह्य इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्षयोग्य है, इसलिये स्तम्भमें तो पिशाचात्यंताभावका बाह्य इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होना चाहिये और आत्मा मानस-प्रत्यक्षयोग्य है, इस-लिये आत्मामें धर्माभाव-अधर्माभावका मानस-प्रत्यक्ष होना चाहिये। यदि वायुको भी प्रत्यक्षयोग्य माना जाय तो वायुवर्ति गुरुत्वाभाव भी प्रत्यक्ष होना चाहिये और यदि वायुको प्रत्यक्षयोग्य न माना जाय तो वायुवर्ति रूपाभावका भी प्रत्यक्ष न होना चाहिये। परन्तु वायुमें तो रूपाभाव प्रत्यक्ष है, यह सिद्धान्त है और अनुभवसिद्ध भी है, इस अर्थको आगे स्पष्ट करेंगे। इससे भी विपरीत यदि सिद्धान्ती इस प्रकार समाधान करे—

'योग्यानुपलम्भ दो प्रकारका होता है। उनमें एक तो प्रत्यक्षयोग्य प्रतियोगीका अनुपलम्भरूप योग्यानुपलम्भ होता है और दूसरा प्रत्यक्ष-योग्य अधिकरणमें प्रतियोगीका अनुपलम्भरूप योग्यानुपलम्भ होता है। इनमेंसे अत्यंताभावके प्रत्यक्षमें तो प्रथम अर्थात् प्रत्यक्षयोग्य प्रतियोगीका अनुपलम्भरूप योग्यानुपलम्भ सहकारी होता है। इसलिये अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य हो अथवा अयोग्य, परन्तु जिस अत्यंताभावका प्रतियोगी प्रत्यक्षयोग्य हो उसका अनुपलम्भ योग्यानुपलम्भ होकर अत्यंताभावके प्रत्यक्षमें सहकारी होता है। परन्तु अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें द्वितीय

योग्यानुपलम्भ अर्थात् प्रत्यक्षयोग्य अधिकरणमें प्रतियोगीका अनुपलम्भ-रूप योग्यानुपलम्भ सहकारी बनता है। इसलिये अन्योऽन्याभावका प्रतियोगी प्रत्यक्षयोग्य हो अथवा अयोग्य, परन्तु प्रत्यक्षयोग्य अधिकरणमें प्रतियोगीका अनुपलम्भरूप योग्यानुपलम्भ अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें सह-कारी हो जाता है। इस प्रकार कहीं भी दोष नहीं होता, क्योंकि स्तम्भमें पिशाचात्यंताभावका प्रतियोगी पिशाच तो प्रत्यक्षयोग्य नहीं है, इसलिये स्तम्भवर्ति पिशाचात्यंताभाव तो अप्रत्यक्ष रहता है, परन्तु स्तम्भवर्ति पिशाचान्योऽन्याभावका अधिकरण स्तम्भ प्रत्यक्षयोग्य है, इसलिये स्तम्भमें पिशाचान्योऽन्याभावका प्रत्यक्ष हो जाता है। इसी प्रकार आत्मवर्ति सुखात्यंताभाव-दुःखात्यंताभावके प्रतियोगी सुख-दुःख तो मानस-प्रत्यक्षके योग्य हैं, इसलिये उनके अत्यंताभावोंका तो मानस-प्रत्यक्ष हो जाता है, परन्तु धर्म-अधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं, इसलिये उनके अत्यंताभावोंका प्रत्यक्ष नहीं होता। तैसे ही रूप-गुण तो प्रत्यक्षयोग्य है, इसलिये वायुमें रूपात्यंता-भावका प्रत्यक्ष होता है, परन्तु गुरुत्व-गुण प्रत्यक्षयोग्य नहीं, इसलिये वायुमें गुरुत्वात्यंताभाव प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार यह अर्थ सिद्ध हुआ कि अधिकरणमें प्रत्यक्षयोग्यता और प्रतियोगीका अनुपलम्भ तो अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें योग्यानुपलम्भरूप सहकारी है तथा प्रतियोगीमें प्रत्यक्षयोग्यता और प्रतियोगीका अनुपलम्भ अत्यंताभावके प्रत्यक्षमें योग्यानुपलम्भरूप सहकारी है।'

यदि सिद्धान्ती ऐसा नियम करे तो यह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि यदि अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें अधिकरणकी प्रत्यक्षयोग्यता हेतु मानी जाय तो वायुमें जो रूपवद्भेदका प्रत्यक्ष होता है, वह न होना चाहिये। 'वायू रूपवान्न' (वायु रूपवाली नहीं है) ऐसा प्रत्यक्ष सभीको होता है, परन्तु सिद्धान्तीकी वक्ष्यमाण रीतिसे ऐसा प्रत्यक्ष सम्भव न होना चाहिये, क्योंकि वहाँ अन्योऽन्याभावका अधिकरण जो वायु है वह प्रत्यक्षयोग्य नहीं है। यदि किसी प्रकार वायुमें प्रत्यक्षयोग्यता मान भी ली जाय तो वायुमें गुरुत्ववद्भेदका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु

'वायुर्गुरुत्ववान्न' (वायु गुरुत्ववाला नहीं है) ऐसा प्रत्यक्ष किसीको भी नहीं होता और सिद्धान्तीकी वक्ष्यमाण रीतिसे ऐसा प्रत्यक्ष सम्भव होना चाहिये, क्योंकि अन्योऽन्याभावके अधिकरण वायुको प्रत्यक्षयोग्य मान लिया गया है। इसी प्रकार स्तम्भमें पिशाचवद्भेद अप्रत्यक्ष है वह न होना चाहिये। क्योंकि यदि अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें अधिकरणकी योग्यता हेतु हो तो पिशाचवद्भेदका अधिकरण जो स्तम्भ वह तो प्रत्यक्ष योग्य है ही, फिर पिशाचवदन्योऽन्याभावरूप पिशाचवद्भेद प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु 'स्तम्भ पिशाचवाला नहीं है' ऐसा प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें प्रत्यक्षयोग्य अधिकरणमें प्रतियोगीका अनुपलम्भ योग्यानुपलम्भ होकर सहकारी होता है, यह नियम भी सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार अत्यंताभावके प्रत्यक्षमें यदि प्रतियोगीकी प्रत्यक्ष-योग्यताको सहकारी माना जाय तो जलपरमाणुमें पृथ्वीत्वात्यंताभावका प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि जल-परमाणुवर्ति पृथ्वीत्वात्यंताभावका प्रतियोगी पृथ्वीत्व है और उसका घटादिमें चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, इसलिये वह प्रत्यक्षयोग्य है। इसके साथ ही पृथ्वीत्वका जल-परमाणुमें उपलम्भ अर्थात् प्रतीति भी नहीं होती, इसलिये पृथ्वीत्वका वहाँ अनुपलम्भ भी है और जल-परमाणुसे नेत्रका संयोग भी होता है, इसलिये जल-परमाणुवर्ति पृथ्वीत्वात्यंताभावसे नेत्रका स्वसंयुक्त-विशेषणता-सम्बन्ध भी है। यदि ऐसा कहा जाय—

'परमाणु निरवयव हैं इसलिये परमाणुसे नेत्रका संयोग सम्भव नहीं है। क्योंकि संयोग सदैव पदार्थके एकदेशमें होता है और अवयवको देश कहते हैं, परन्तु परमाणुका अवयवरूप देश ही असम्भव है। यदि सकल (पूरे) परमाणुसे संयोग कहा जाय तो संयोगका स्वभाव अव्याप्यवृत्ति नहीं रहेगा, परन्तु उसका स्वभाव अव्याप्यवृत्ति ही होता है। जो वस्तु एक देशमें हो और एक देशमें न हो, वह 'अव्याप्यवृत्ति' कहलाती है। इस प्रकार नेत्रका परमाणुसे संयोग नहीं होता।'

ऐसा कथन भी सम्भव नहीं। क्योंकि यदि परमाणुसे संयोग न होता

हो तो द्व्यणुककी सिद्धि ही न होगी और परमाणुमें जो महत्त्वात्यंता-भावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, वह न होगा। परमाणुमें महत्त्वाभावका प्रत्यक्ष होता है, यह विषय आगे स्पष्ट होगा। इस प्रकार नेत्रसंयुक्त-विशेषणता-सम्बन्धसे जैसे जल-परमाणुमें महत्त्वात्यंताभावका प्रत्यक्ष होता है, तैसे ही जल-परमाणुमें नेत्रसंयुक्त-विशेषणता-सम्बन्धसे पृथ्वीत्वात्यंता-भावका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। क्योंकि नेत्रसंयुक्त जल-परमाणुमें महत्त्वात्यंताभावके समान पृथ्वीत्वात्यंताभावका भी विशेषणता-सम्बन्ध है और परमाणुका संयोग व्याप्यवृत्ति होता है, यह मंजूषाकी टीकामें लिखा है। इस रीतिसे जल-परमाणुमें पृथ्वीत्वात्यंताभावकी प्रत्यक्षयोग्य प्रतियोगीकी योग्यानुपलम्भरूप प्रत्यक्षकी सामग्री होनेसे उसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये, परन्तु जल-परमाणुमें पृथ्वीत्वात्यंताभावका प्रत्यक्ष होता नहीं है।

इस प्रकार सकल अभावोंके प्रत्यक्षमें न तो एकरूप योग्यानुपलम्भ ही सम्भव होता है और न अन्योऽन्याभाव व अत्यंताभावके प्रत्यक्षमें भिन्न-भिन्न रूपवाला योग्यानुपलम्भ ही सहकारी कहा जा सकता है। पृष्ठ १९४ से यहाँ तक पूर्वपक्षीने जो विस्तारपूर्वक शंका उपस्थित की, सिद्धान्तीकी ओरसे उसका समाधान इस प्रकार है—

(समाधान)—'योग्ये अनुपलम्भः'=योग्यानुपलम्भः, यदि ऐसा सप्तमी-समास किया जाय, तब तो अधिकरणमें प्रत्यक्षयोग्यता होती है और वहाँ योग्यानुपलम्भ सिद्ध होता है। 'योग्यस्य अनुपलम्भः=योग्यानु-पलम्भः, यदि ऐसा षष्ठी-समास किया जाय, तब प्रतियोगीमें प्रत्यक्ष-योग्यता होती है और वहाँ योग्यानुपलम्भ सिद्ध होता है। तहाँ इन दोनों-मेंसे किसी एक प्रकारका योग्यानुपलम्भ माननेमें भी दोष कहा गया और भिन्न-भिन्न अर्थात् अन्योऽन्याभावके प्रत्यक्षमें अधिकरणकी प्रत्यक्षयोग्यताका साधक सप्तमी-समासरूप योग्यानुपलम्भ सहकारी माननेमें तथा अत्यंता-भावके प्रत्यक्षमें प्रतियोगीकी प्रत्यक्षयोग्यताका साधक षष्ठी-समासरूप योग्यानुपलम्भ सहकारी माननेमें भी दोष कहा गया। इसलिये अन्य

प्रकारका योग्यानुपलम्भ सहकारी मानना चाहिये। अर्थात् 'योग्यानुपलम्भ' शब्दमें सप्तमी-समास और षष्ठी-समास दोनोंका परित्याग करके 'नील-घटः' इस वाक्यके समान प्रथमा-समास ही मानना चाहिये। वह इस रीतिसे कि 'नीलश्चासौ घटः'=नीलघटः, इस वाक्यमें जो प्रथमा-समास है, उसको व्याकरणमें कर्मधारय-समास कहते हैं। अर्थात् जहाँ कर्मधारय-समास होता है, वहाँ पूर्व पदार्थका उत्तर पदार्थसे अभेद प्रतीत होता है, जैसे 'नीलघटः' इस वाक्यमें कर्मधारय-समास कहनेपर नील-पदार्थका घट-पदार्थसे अभेद प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'योग्यश्चासौ अनुपलम्भः' योग्यानुपलम्भः, ऐसा कर्मधारय-समास किया जाय तो 'योग्यानुपलम्भः' शब्दसे योग्य-पदार्थका अनुपलम्भ-पदार्थसे अभेद प्रतीत होता है। इसलिये अभावके प्रतियोगी और अधिकरण चाहे जैसे हों, उनमें योग्यतासे प्रयो-जन नहीं, परन्तु अनुपलम्भमें योग्यता चाहिये। अर्थात् जहाँ प्रतियोगीका अनुपलम्भ योग्य हो वहाँ तो अभावका प्रत्यक्ष होता है, परन्तु जहाँ प्रति-योगीका अनुपलम्भ अयोग्य हो वहाँ अभावका प्रत्यक्ष नहीं होता। अनु-पलम्भमें योग्यता-अयोग्यता इस प्रकारकी है—

उपलम्भाभावको अनुपलम्भ कहते हैं। प्रतीति, ज्ञान और उपलम्भ—ये पर्याय शब्द हैं और प्रतियोगीकी प्रतीतिका अभाव अनुपलम्भ-शब्दका अर्थ है। इसलिये इन्द्रियसे घटाभावके प्रत्यक्षमें घटकी प्रतीतिका अभाव सहकारी है। तहाँ घटाभावका ज्ञान तो अभाव-प्रमारूप फल है और घट-ज्ञानका अभाव घटाभाव-प्रमाका सहकारी कारण है। वह घट-ज्ञानका अभाव योग्य चाहिये, क्योंकि घट-ज्ञानाभावको ही घटानुपलम्भ कहते हैं। उस अभावरूप (ज्ञानाभावरूप) अनुपलम्भमें अन्य प्रकारकी योग्यता तो सम्भव नहीं होती, किन्तु जिस अनुपलम्भका उपलम्भरूप प्रतियोगी योग्य हो वही अनुपलम्भ योग्य कहा जाता है और जिस अनुपलम्भका प्रति-योगीरूप उपलम्भ अयोग्य हो वह अनुपलम्भ अयोग्य कहलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि योग्य उपलम्भका अभावरूप योग्यानुपलम्भ ही सहकारी होता है और इस रीतिसे अनुपलम्भकी योग्यता कहनेका उपलम्भकी

योग्यतामें पर्यवसान होता है, इसलिये उपलम्भमें योग्यता चाहिये । अर्थात् योग्य उपलम्भका अभाव योग्यानुपलम्भ कहलाता है और उपलम्भकी योग्यताका अनुपलम्भमें व्यवहार होता है । आशय यह कि प्रथम यह जानना होगा कि अमुक स्थलमें अमुक वस्तुका उपलम्भ हो सकता है या नहीं, यदि उपलम्भ हो सकता है परन्तु होता नहीं है, तब उस उपलम्भकी योग्यताका अनुपलम्भमें व्यवहार होता है । यद्यपि प्रथम ही योग्य उपलम्भके अभावको योग्यानुपलम्भ कहा जाय तो लाघव है और उपलम्भरूप प्रतियोगीद्वारा अनुपलम्भको योग्य कहना निष्फल है; तथापि व्याकरणकी मर्यादासे 'योग्यानुपलम्भ' शब्दका अर्थ किया जाय तब अनुपलम्भमें ही योग्यता प्रतीत होती है, इसलिये उपलम्भवर्ति मुख्य योग्यताका अनुपलम्भमें आरोप किया जाता है । इस प्रकार यह सिद्धार्थ है कि जहाँ प्रतियोगीरूप योग्य उपलम्भका अभाव हो वहीं अभावका प्रत्यक्ष होता है और जहाँ नियमपूर्वक प्रतियोगीकी सत्तासे प्रतियोगीके उपलम्भकी सत्ता हो वहीं उपलम्भ योग्य होता है तथा उसका अभावरूप अनुपलम्भ भी योग्य कहलाता है । इसके विपरीत जहाँ प्रतियोगी होते हुए भी प्रतियोगीका उपलम्भ न हो वह उपलम्भ अयोग्य है और उस उपलम्भका अभावरूप अनुपलम्भ भी अयोग्य कहलाता है । जैसे जहाँ आलोकमें घटकी सत्ता हो वहाँ नियमसे घटका उपलम्भ होता है और वह उपलम्भ भी योग्य कहलाता है तथा फिर उसका अभावरूप अनुपलम्भ भी योग्य कहा जाता है । परन्तु जहाँ संयोगसम्बन्धसे पिशाच होते हुए भी पिशाचसत्तासे नियमपूर्वक पिशाचका उपलम्भ न होता हो, वहाँ पिशाचका उपलम्भ अयोग्य है और उसका अभावरूप पिशाचानुपलम्भ भी अयोग्य कहा जाता है । इस प्रकार घटानुपलम्भ तो योग्य है और वह घटाभावके प्रत्यक्षमें हेतु है, परन्तु पिशाचानुपलम्भ योग्य नहीं, इसलिये इस अयोग्य पिशाचानुपलम्भसे पिशाचात्यंताभावका प्रत्यक्ष नहीं होता । यद्यपि घटाभावाधिकरणमें घटकी और उसके उपलम्भकी सत्ताका सम्भव नहीं है; तथापि वहाँ घट और उसके उपलम्भका ऐसा आरोप होता है कि 'यदि

भूतले घटः स्यात् तदा घटोपलम्भः स्यात् ।' (यदि भूतलमें घट होता तो उसका उपलम्भ होता) इस प्रकार घटाभावाधिकरणमें घटानुपलम्भ होते हुए भी आरोपित घट और आरोपित घटोपलम्भकी सत्ताका सम्भव होता है । अतः यह निष्कृष्ट अर्थ है—

जिस अभावके अधिकरणमें प्रतियोगीका आरोप करनेपर प्रतियोगीके उपलम्भका नियमसे आरोप हो सके वह उपलम्भ योग्य है और उसका अनुपलम्भ भी योग्य कहा जाता है तथा उस अधिकरणमें उस अभावका प्रत्यक्ष भी होता है । परन्तु जिस अभावके अधिकरणमें उस अभावके प्रतियोगीका आरोप करनेपर प्रतियोगीके उपलम्भका आरोप न हो सके वह उपलम्भ अयोग्य है, उसका अनुपलम्भ भी अयोग्य है और उस अधिकरणमें उस अभावका प्रत्यक्ष भी नहीं होता । जैसे अन्धकारमें घटाभावका प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि अन्धकारमें 'यदि अत्र घटः स्यात् तदा तस्योपलम्भः स्यात्' (यदि यहाँ घट होता तो उसका उपलम्भ होता) इस प्रकार घटका आरोप करनेपर घटके उपलम्भका आरोप सम्भव नहीं होता, इसलिये वहाँ घटाभावका प्रत्यक्ष भी नहीं होता । परन्तु स्तम्भमें पिशाचभेद प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि 'यदि तादात्म्येन स्तम्भे पिशाचः स्यात्तदा तस्योपलम्भः स्यात्' अर्थात् यदि स्तम्भमें पिशाच अभेदरूपसे होता तो उसका उपलम्भ भी होता, इस प्रकार स्तम्भवर्ति तादात्म्य-सम्बन्धसे पिशाचके आरोप करनेपर पिशाचके उपलम्भका नियमसे आरोप होता है । चूंकि स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धसे स्तम्भ ही है और उसका नियमसे उपलम्भ होता है, इसी प्रकार यदि स्तम्भमें पिशाच भी तादात्म्य-सम्बन्धसे होता तो स्तम्भके समान उसका भी वहाँ उपलम्भ होता । परन्तु इस प्रकारके उपलम्भके अभावसे अर्थात् स्तम्भमें पिशाचके तादात्म्य-सम्बन्धके अभावसे पिशाचका स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धावच्छिन्नाभाव प्रत्यक्ष होता है और तादात्म्यसम्बन्धावच्छिन्नाभावको ही अन्योऽन्याभाव कहते हैं । इसके विपरीत स्तम्भमें संयोगसम्बन्धावच्छिन्न पिशाचात्यंताभाव तथा समवायसम्बन्धावच्छिन्न पिशाचात्यंता-

भाव प्रत्यक्ष नहीं होते। क्योंकि 'यदि स्तम्भे संयोगेन समवायेन वा पिशाचः स्यात् तदा तस्योपलम्भः स्यात्' अर्थात् यदि स्तम्भमें संयोग-सम्बन्ध अथवा समवाय-सम्बन्धसे पिशाच होता तो उसका उपलम्भ भी होता, इस प्रकार स्तम्भमें संयोग-सम्बन्धसे अथवा समवाय-सम्बन्धसे पिशाचका आरोप करनेपर पिशाचोपलम्भका आरोप नहीं होता। क्योंकि जहाँ श्मशानके वृक्षादिमें संयोग-सम्बन्धसे पिशाच रहता है और जहाँ वह अपने अवयवोंमें समवाय-सम्बन्धसे रहता है, वहाँ भी उसका उपलम्भ नहीं होता। यदि स्तम्भमें वस्तुतः संयोग-सम्बन्ध अथवा समवाय-सम्बन्धसे रहनेवाले जो पदार्थ हैं, उन सवका नियमसे वहाँ उपलम्भ होता हो तो किसी प्रकार स्तम्भमें भी संयोग-सम्बन्ध वा समवाय-सम्बन्धसे पिशाचके आरोपसे पिशाचोपलम्भका सम्भव होता। परन्तु स्तम्भमें ही द्व्यणुकादि एवं वायुका संयोग है, इसलिये द्व्यणुक व वायु संयोग-सम्बन्धसे स्तम्भवर्ति हैं भी, फिर भी वहाँ उनका उपलम्भ नहीं होता। इसके साथ ही स्तम्भमें जो गुरुत्वादि गुण समवाय-सम्बन्धसे अप्रत्यक्ष रहते हैं, जवकि उनका भी वहाँ उपलम्भ नहीं होता तब फिर स्तम्भमें संयोग वा समवाय-सम्बन्धसे पिशाचारोप करनेपर उसके उपलम्भका आरोप तो कैसे सम्भव हो? अतः स्तम्भमें संयोगसम्बन्धावच्छिन्न एवं समवायसम्बन्धावच्छिन्न पिशाचात्यंताभाव अप्रत्यक्ष ही रहता है। यद्यपि यहाँ ऐसी आपत्तिकी जा सकती है—

'जहाँ तादात्म्य-सम्बन्धसे पिशाच होता है, वहाँ भी उसका नियमपूर्वक उपलम्भ नहीं होता। क्योंकि पिशाचमें तो पिशाच तादात्म्य-सम्बन्धसे है ही, परन्तु वहाँ भी उसका उपलम्भ नहीं होता। इसलिये जबकि पिशाचस्थलमें भी तादात्म्य-सम्बन्धसे पिशाचके आरोपसे नियमसे पिशाचोपलम्भका आरोप असम्भव है, तब अत्यंताभावकी रीति ही अन्योऽन्याभावमें ग्रहण करनी चाहिये। अर्थात् स्तम्भमें जैसे पिशाचात्यंताभाव अप्रत्यक्ष होता है तैसे अन्योऽन्याभाव भी अप्रत्यक्ष रहना चाहिये।

तथापि अन्य प्रकारसे इन दोनों अभावोंमें भेद है, वह इस प्रकार

कि स्तम्भमें जो तादात्म्य-सम्बन्धसे रहता हो, उसका वहाँ नियमसे उपलम्भ होता है । अर्थात् स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धसे स्तम्भ है, अन्य नहीं और स्तम्भका नियमसे उपलम्भ होता ही है । यदि अन्य कोई पदार्थ स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धसे रहता हो तो स्तम्भकी भाँति उसका भी उपलम्भ होना चाहिये । इसलिये स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धसे पिशाचारोप करनेपर उसका तो वहाँ नियमसे इस भाँति आरोप हो जाता है 'यदि तादात्म्येन पिशाचः स्तम्भः स्यात्तदा तस्य स्तम्भस्येव उपलम्भः स्यात्' अर्थात् यदि अभेदरूपसे पिशाच स्तम्भ होता तो पिशाचका स्तम्भके समान उपलम्भ होता । इस प्रकार स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धसे पिशाचका आरोप करनेपर वहाँ पिशाचोपलम्भका तो आरोप हो जाता है और इसीलिये वहाँ पिशाच-भेदका तो प्रत्यक्ष हो जाता है । परन्तु उसी स्तम्भमें पिशाचवत्का भेद प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि 'यदि तादात्म्येन स्तम्भः पिशाचवान् स्यात्तदा पिशाचवत्त्वेन स्तम्भस्योपलम्भः स्यात्' अर्थात् यदि अभेदरूपसे स्तम्भ पिशाचवाला होता तो स्तम्भका पिशाचवत्‌रूपसे उपलम्भ होता । इसप्रकार स्तम्भमें तादात्म्यरूपसे पिशाचवत्ताके आरोप करने पर पिशाचवत्ताके उपलम्भका आरोप सम्भव नहीं होता । क्योंकि पिशाचवत् जो वृक्षादि होते हैं उनमें भी पिशाचवत्ताका उपलम्भ नहीं होता तो फिर स्तम्भमें तो पिशाचवत्ताका भेद कैसे प्रत्यक्ष हो ? इस प्रकार जबकि स्तम्भमें पिशाचभेदके समान पिशाचवत्ताका भेद भी प्रत्यक्ष नहीं होता, तब स्तम्भमें पिशाचात्यंताभावका प्रत्यक्ष तो हो ही कैसे ? इस प्रकार बुद्धिमान अनुभवसे देख लेवें, अर्थात् जहाँ प्रतियोगीके उपलम्भका आरोप सम्भव हो वहीं अभावका प्रत्यक्ष होता है ।

२७ : उपलम्भके आरोप-अनारोपद्वारा अभावकी प्रत्यक्षता-अप्रत्यक्षतामें उदाहरण

इसी प्रकार 'आत्मनि सुखं दुःखं वा स्यात्तदा सुखस्य दुःखस्य च उपलम्भः स्यात्' अर्थात् आत्मामें यदि सुख अथवा दुःख होता तो सुख-

दुःखका उपलम्भ होता, इस रीतिसे आत्मामें सुख-दुःखका आरोप करनेपर नियमसे उनके उपलम्भका आरोप होता है। क्योंकि सुख-दुःख अज्ञात कभी भी नहीं होते किन्तु ज्ञात ही होते हैं, इसलिये आत्मामें सुख-दुःखका आरोप होनेपर नियमसे उनके उपलम्भका आरोप होता है और इसीलिये आत्मवर्ति सुखाभाव-दुःखाभावका प्रत्यक्ष होता है। परन्तु 'आत्मनि यदि धर्मः स्यात् अधर्मो वा स्यात्तदा तस्य उपलम्भः स्यात्' अर्थात् यदि आत्मामें धर्म अथवा अधर्म होते तो उनका उपलम्भ होता, इस रीतिसे धर्माधर्मका आरोप करनेपर उनके उपलम्भका आरोप नहीं होता, क्योंकि प्रत्यक्ष-ज्ञानको उपलम्भ कहते हैं। यद्यपि ज्ञान, प्रतीति और उपलम्भ—ये शब्द पर्याय हैं, इसलिये ज्ञानमात्रका नाम ही उपलम्भ है; तथापि इस प्रसंगमें जिस इन्द्रियसे अभावका प्रत्यक्ष करना हो उस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष-ज्ञानका 'उपलम्भ' शब्दसे ग्रहण करना चाहिये। जैसे सुखाभाव-दुःखाभावका मनसे प्रत्यक्ष होता है, तहाँ सुख-दुःखके आरोपसे सुख-दुःखके उपलम्भका आरोप अर्थात् मानस-प्रत्यक्षका आरोप होता है। तैसे ही जहाँ वायुमें रूपाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, वहाँ रूपके आरोपसे रूपोपलम्भका आरोप अर्थात् चाक्षुष-प्रत्यक्षका आरोप होता है। इसी प्रकार जहाँ जिन-जिन इन्द्रियोंसे अभावका प्रत्यक्ष होता है, वहाँ उन-उन इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष ही 'उपलम्भ' शब्दका अर्थ जानना चाहिये। परन्तु धर्म-अधर्म तो केवल शास्त्रवेद्य ही हैं, इसलिये उनका उपलम्भ अर्थात् इन्द्रियजन्य ज्ञान कभी भी नहीं होता, इसलिये आत्मामें धर्म-अधर्मके आरोपसे उनके उपलम्भका आरोप नहीं होता और इसी-लिये धर्माभाव-अधर्माभावका प्रत्यक्ष भी नहीं होता। इसी प्रकार वायुमें गुरुत्वात्यंताभावका तो प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु रूपात्यंताभावका प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि 'यदि वायुमें गुरुत्व होता तो उसका उपलम्भ होता' इस रीतिसे वायुमें गुरुत्वका आरोप करनेपर गुरुत्वके उपलम्भका आरोप नहीं होता। जबकि जहाँ पृथ्वी व जलमें गुरुत्व है वहाँ भी गुरुत्वका प्रत्यक्षरूप उपलम्भ नहीं होता किन्तु गुरुत्वकी अनुमिति ही होती है, तब

वायुमें तो गुरुत्वका प्रत्यक्ष कैसे हो ? इसलिये वायुमें गुरुत्वाभावका तो प्रत्यक्ष नहीं होता, परन्तु 'यदि वायुमें रूप होता तो घट-रूपकी भाँति वायु-रूपका भी उपलम्भ होता' ऐसा वायुमें रूपोपलम्भका आरोप होता है। बल्कि कहना चाहिये कि केवल रूपका ही उपलम्भ नहीं होता, किन्तु वायुका भी उपलम्भ होता। क्योंकि जिस द्रव्यमें महत्त्व-गुण और उद्भूतरूप होता है वही द्रव्य प्रत्यक्षयोग्य होता है, परन्तु जिस द्रव्यमें महत्त्व नहीं होता उसमें रूप भी प्रत्यक्ष नहीं होता। जैसे परमाणु और द्वयणुकमें तो महत्त्व है ही नहीं, इसलिये महत्त्वशून्य द्वयणुक जलादिमें उनका रूप भी प्रत्यक्ष नहीं होता। त्र्यणुकादिरूप वायुमें यद्यपि महत्त्व तो है, परन्तु यदि उसमें रूप होता तो त्र्यणुकादिरूप वायुका और उसके रूपका चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता। इस प्रकार परमाणु व द्वयणुकरूप वायुको त्यागकर त्र्यणुकादिरूप वायुमें रूपका आरोप करनेपर रूपोपलम्भका आरोप होता है। इसलिये त्र्यणुकादिरूप वायुमें तो रूपाभाव प्रत्यक्ष होता है, परन्तु परमाणु व द्वयणुकरूप वायुमें महत्त्वके अभावसे रूपका आरोप करनेपर भी रूपोपलम्भके आरोपके अभावसे वहाँ रूपाभाव प्रत्यक्ष नहीं होता। इसी प्रकार जलपरमाणुमें पृथ्वीत्वाभाव प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि 'जल-परमाणुमें पृथ्वीत्व हो तो उसका उपलम्भ हो' इस रीतिसे वहाँ पृथ्वीत्वका आरोप करनेपर पृथ्वीत्वोपलम्भका आरोप नहीं होता। क्योंकि यह नियम है कि आश्रय प्रत्यक्ष हो तब उसकी जातिका प्रत्यक्ष होता है, जल-परमाणुमें जबकि आश्रयरूप पृथ्वी ही प्रत्यक्ष नहीं तब पृथ्वीत्व-जाति कैसे प्रत्यक्ष हो ? इसलिये जैसे जल-परमाणुमें जलत्व है और जलत्वका प्रत्यक्ष होता है, तैसे जल-परमाणुमें आरोपित पृथ्वीत्वके उपलम्भका आरोप सम्भव नहीं होता, इसीलिये जल-परमाणुमें पृथ्वीत्वाभाव प्रत्यक्ष नहीं होता। तैसे ही परमाणुमें महत्त्वाभावका प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि यद्यपि परमाणुमें चाक्षुष-प्रत्यक्षकी सामग्री उद्भूत-रूप और त्वाच-प्रत्यक्षकी सामग्री उद्भूत-स्पर्श दोनों हैं, परन्तु उसमें महत्त्व नहीं है। इसीलिये परमाणुका प्रत्यक्ष नहीं होता और

महत्त्वाभावके कारण ही परमाणुके प्रत्यक्षयोग्य रूपादि गुणोंका भी प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि महत्त्ववाले द्रव्यके ही रूपादि गुणोंका प्रत्यक्ष होता है। यदि परमाणुमें महत्त्व होता तो परमाणुका और परमाणुके प्रत्यक्षयोग्य गुणोंका प्रत्यक्ष होता। जैसे घटादिमें महत्त्व-गुण प्रत्यक्ष है, इसलिये वहाँ रूपादिकी भाँति महत्त्व-गुण भी प्रत्यक्ष होता है। तथा जैसे आकाशादिमें महत्त्व तो है परन्तु उद्‌भूत-रूप नहीं, इसलिये वहाँ उद्‌भूत-रूपके अभावसे उनमें महत्त्वका भी प्रत्यक्ष नहीं होता, क्योंकि यह नियम है कि जहाँ महत्त्व और उद्‌भूत-रूप समानाधिकरण हों वहीं महत्त्वका प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार यद्यपि परमाणुमें महत्त्वके सिवा प्रत्यक्षकी अन्य सब सामग्री है भी, परन्तु यदि परमाणुमें महत्त्व भी होता तो उसका और उसके गुणोंका प्रत्यक्ष होता। अतः परमाणुमें महत्त्वका आरोप करनेपर उसके उपलम्भका आरोप सम्भव होता है, केवल महत्त्वोपलम्भका ही आरोप नहीं, किन्तु परमाणुके उपलम्भका और परमाणुमें समवेत जो प्रत्यक्षयोग्य गुणादि, उनके उपलम्भका भी आरोप होता है। जैसे 'यदि परमाणुमें महत्त्व हो तो परमाणुका और परमाणुमें समवेत प्रत्यक्षयोग्य गुण, जाति व क्रियाका भी उपलम्भ हो, परन्तु चूँकि परमाणु और उसमें समवेत जाति, गुण और क्रियादिका प्रत्यक्ष नहीं होता, इसलिये परमाणुमें महत्त्व नहीं'। इस प्रकार परमाणुमें महत्त्वाभाव प्रत्यक्ष है।

इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस अधिकरणमें जिस अभावके प्रतियोगीका आरोप करनेपर उसके उपलम्भका आरोप हो सके, उस अधिकरणमें उस अभावका प्रत्यक्ष होता है।

२८ : जिस इन्द्रियसे उपलम्भका आरोप, उसी इन्द्रियसे उपलम्भारोपद्वारा अभावका प्रत्यक्ष

जिस इन्द्रियसे उपलम्भका आरोप होता है उसी इन्द्रियसे अभावका प्रत्यक्ष होता है, अन्य इन्द्रियसे नहीं। जैसे 'यदि भूतलमें घट हो तो

उसका नेत्रसे ही उपलम्भ होना चाहिये, परन्तु चूँकि नेत्रसे वहाँ घटका उपलम्भ नहीं होता, इसलिये भूतलमें घट नहीं' इस प्रकार जहाँ नेत्रजन्य उपलम्भका आरोप हो, वहाँ घटाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है। इसी प्रकार 'यदि भूतलमें घट हो तो उसका त्वक्-इन्द्रियसे उपलम्भ होना चाहिये' ऐसा जहाँ अन्धकारमें अथवा अन्धको त्वाचजन्य उपलम्भका आरोप हो, वहाँ घटाभावका त्वाच-प्रत्यक्ष होता है। इस रीतिसे जिस इन्द्रियसे उपलम्भका आरोप हो उसी इन्द्रियसे अभावका प्रत्यक्ष होता है। इसीलिये वायुमें रूपाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, त्वाच-प्रत्यक्ष नहीं, क्योंकि 'यदि वायुमें रूप होता तो रूपका नेत्र-इन्द्रियजन्य उपलम्भ होता, परन्तु चूँकि ऐसा उपलम्भ होता नहीं है इसलिये वायुमें रूप नहीं' इस प्रकार वायुमें नेत्र-इन्द्रियजन्य रूपोपलम्भका ही आरोप होता है। परन्तु 'वायुमें रूप होता तो रूपका त्वक्से उपलम्भ होता' ऐसा त्वक्-इन्द्रियजन्य रूपोपलम्भ नहीं होता, क्योंकि रूप-साक्षात्कारका हेतु केवल नेत्र है, त्वक् नहीं। तैसे ही रूपोपलम्भका आरोप रसनादि-इन्द्रियजन्य भी नहीं होता, इसलिये रूपाभावका केवल चाक्षुष-प्रत्यक्ष ही होता है। इसी प्रकार मधुर द्रव्यमें तिक्त-रसाभावका रासन-प्रत्यक्ष ही होता है। क्योंकि 'यदि सितामें तिक्त-रस होता तो उसका रसन-इन्द्रियसे उपलम्भ होता, परन्तु चूँकि ऐसा उपलम्भ होता नहीं, इसलिये सितामें तिक्त-रस नहीं' इस प्रकार सितामें तिक्त-रसका आरोप करनेपर तिक्त-रसोपलम्भका रसनजन्य ही आरोप होता है, अन्य इन्द्रियजन्य नहीं, इसलिये रसाभावका रसनजन्य ही प्रत्यक्ष होता है। तैसे ही स्पर्शाभावका त्वक्जन्य ही प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि यदि अग्निमें शीत-स्पर्श होता तो उसका त्वक्-इन्द्रियसे उपलम्भ होता। परन्तु चूँकि अग्निमें त्वक्से शीत-स्पर्शका उपलम्भ नहीं होता, इसलिये अग्निमें शीत-स्पर्शके आरोपसे त्वक्जन्य उपलम्भारोप होता है, इसी कारण स्पर्शाभावका प्रत्यक्ष केवल त्वक्जन्य ही होता है। इसी प्रकार परमाणुमें महत्त्वाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष ही होता है। यद्यपि परिमाण-गुणका ज्ञान चक्षु और त्वचा दोनोंसे

होता है, यह अनुभवसिद्ध है। जैसे घटका छोटापन-बड़ापन नेत्र व त्वचा दोनोंसे जाना जाता है, इसलिये महत्त्व दोनों इन्द्रियोंका विषय है। तथापि अपकृष्टतम महत्त्वका यदि त्वचासे ज्ञान होता हो तो त्र्यणुकके महत्त्वका भी त्वचासे ज्ञान होना चाहिये, परन्तु होता नहीं। इसलिये अपकृष्टतम महत्त्वका केवल नेत्रसे ही ज्ञान होता है और परमाणुमें अपकृष्टतम महत्त्वका ही आरोप किया जाता है। इसलिये उस अपकृष्टतम महत्त्वका त्वाच-प्रत्यक्ष नहीं होता, किन्तु चाक्षुष-प्रत्यक्ष ही होता है। इसलिये परमाणुमें महत्त्वका आरोप करनेपर उसका नेत्रजन्य उपलम्भका ही आरोप होनेसे परमाणुमें महत्त्वाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष ही होता है, त्वाच-प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि 'यदि परमाणु में महत्त्व होता तो त्र्यणुक-महत्त्वके समान उसका नेत्रसे उपलम्भ होता' इस प्रकार चाक्षुष-उपलम्भका ही आरोप होता है, त्वाचका नहीं। तैसे ही आत्मामें सुखाभावादिका मानस-प्रत्यक्ष ही होता है। क्योंकि 'यदि आत्मामें सुख होता तो उसका मनसे उपलम्भ होता, चूँकि इस कालमें सुखका उपलम्भ नहीं हो रहा इसलिये इस कालमें मेरेमें सुख नहीं है।' इस प्रकार आत्मामें सुखका आरोप करनेपर उसका उपलम्भारोप मानस ही होता है। इसलिये सुखाभाव, दुःखाभाव, इच्छाभाव और द्वेषाभावादि मानस-प्रत्यक्ष ही होते हैं। परन्तु अपने ही सुखाभावादिका मानस प्रत्यक्ष होता है, पराये सुखाभावादिका नहीं, किन्तु उनका तो शब्दादिसे परोक्ष-ज्ञान ही होता है। क्योंकि एकके सुखादिका उपलम्भ दूसरेको नहीं होता, इसलिये 'अन्यमें सुख होता तो उसका मेरेको उपलम्भ होता' इस प्रकार अन्यवर्ति सुखादिका अपनेमें उपलम्भारोप नहीं होता और इसीलिये अन्यवर्ति सुखादिका अभाव प्रत्यक्ष नहीं होता।

इस प्रकार जहाँ प्रतियोगीके आरोपसे उपलम्भका आरोप होता हो, वह अभाव प्रत्यक्ष होता है और ऐसे उपलम्भके अभावरूप अनुपलम्भको ही योग्यानुपलम्भ कहते हैं। अथवा प्रतियोगी के आरोपसे जिस उपलम्भका आरोप होता हो और वह उपलम्भ जिसका प्रतियोगी हो, उसको

योग्यानुपलम्भ कहते हैं, इस अर्थमें कोई दोष नहीं। इससे यह सिद्ध हुआ कि जिस अधिकरणमें जिस पदार्थका जिस इन्द्रियजन्य आरोपित उपलम्भ सम्भव हो, उस अधिकरणमें उस पदार्थके अभावका उस इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष होता है, यह लक्षण निर्दोष है। यदि उपर्युक्त लक्षणमें 'जिस अधिकरणमें' ऐसा न कहकर केवल इतना ही कहा जाता कि 'जिस पदार्थका जिस इन्द्रियजन्य आरोपित उपलम्भ सम्भव हो उस पदार्थके अभावका उस इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है' तो जैसे पिशाचका स्तम्भमें आरोपित उपलम्भजन्य भेद प्रत्यक्ष होता है, तैसे परमाणुमें भी पिशाचका भेद इसी प्रकारसे प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु स्तम्भरूप अधिकरणमें तो पिशाचोपलम्भका आरोप सम्भव होता है, इसलिये वहाँ तो पिशाच-भेद प्रत्यक्ष हो जाता है और परमाणुमें पिशाचोपलम्भका आरोप सम्भव नहीं होता, इसलिये वहाँ पिशाच-भेद भी प्रत्यक्ष नहीं होता। क्योंकि यदि परमाणुमें तादात्म्य-सम्बन्धसे पिशाच हो तब भी परमाणुकी भाँति उसका उपलम्भ असम्भव है और फिर उसका उप-लम्भारोप भी असम्भव है। इसलिये इस अव्याप्ति-दोषकी निवृत्तिके लिये उपर्युक्त लक्षणमें 'जिस अधिकरणमें' इस वाक्यकी योजनाकी गई। यदि उपर्युक्त लक्षणमें 'जिस पदार्थका' ऐसा न कहकर 'जिस अधिकरण-में जिस इन्द्रियजन्य आरोपित उपलम्भ सम्भव हो उस अधिकरणमें अभावका प्रत्यक्ष होता है' इतना ही कहा जाता तो जैसे वायुमें रूपका नेत्रजन्य आरोपित उपलम्भ सम्भव होता है और वहाँ रूपाभावका प्रत्यक्ष होता है, तैसे ही वायुमें गुरुत्वाभाव भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। इसलिये इस अव्याप्ति-दोषकी निवृत्तिके लिये लक्षणमें 'जिस पदार्थका' इस वाक्यकी भी योजना की गई। तथा यदि लक्षणमें 'जिस इन्द्रिय-जन्य' ऐसा न कहकर 'जिस अधिकरणमें जिस पदार्थका आरोपित उप-लम्भ सम्भव हो उस अधिकरणमें उस पदार्थके अभावका प्रत्यक्ष होता है' इतना ही कहा जाता तो जिस प्रकार वायुमें रूपोपलम्भका आरोप केवल चाक्षुष ही होता है और रूपाभावका केवल चाक्षुष-प्रत्यक्ष ही होता

है, उसी प्रकार वायुमें रूपाभावका त्वाच-प्रत्यक्ष भी होना चाहिये। इसलिये इस अव्याप्ति-दोषकी निवृत्तिके लिये लक्षणमें 'जिस इन्द्रिय-जन्य' इस वाक्यकी योजना की गई।

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जिस अधिकरणमें, जिस प्रतियोगीका, जिस इन्द्रियजन्य, आरोपित उपलम्भ सम्भव हो, उसी अधिकरणमें, उसी अभावका, उसी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष होता है और जहाँ उक्त रीतिसे उपलम्भ सम्भव न हो वहाँ अभावका परोक्ष-ज्ञान ही होता है।

उक्त रीतिसे अभावके प्रत्यक्षमें इन्द्रिय तो प्रमाणरूप करण है और इन्द्रियका अभावसे विशेषणता अथवा इन्द्रियसम्बद्ध-विशेषणतारूप जो सम्बन्ध है वह व्यापार है तथा अभावका प्रत्यक्ष-ज्ञानरूप प्रमा फल है एवं योग्यानुपलम्भ इन्द्रियका सहकारी कारण है, ऐसा नैयायिकोंका मत है।

२९ : न्याय-मतमें सामग्रीसहित अभावके प्रमाणका कथन

जैसे घटादिके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें आलोकसंयोग सहकारी कारण है और नेत्र-इन्द्रिय करण है, तैसे ही अभावके प्रत्यक्षमें योग्यानुपलम्भ तो सहकारी है, परन्तु अभावके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें आलोकसंयोग सहकारी नहीं। यद्यपि अन्धकारमें भी घटाभावका त्वाच-प्रत्यक्ष तो होता है, परन्तु चाक्षुष-प्रत्यक्ष नहीं होता और आलोकमें घटाभावका चाक्षुष-प्रत्यक्ष भी होता है, इस-लिये इस अन्वय-व्यतिरेकसे अभावके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें आलोक-संयोग भी सहकारी मानना चाहिये। तथापि आलोकसंयोग अभावके चाक्षुष-प्रत्यक्षमें घटमें कुलाल-पिताके समान अन्यथा-सिद्ध ही होता है। जैसे घटके कारण कुलालकी सिद्धिमें कुलाल-पिता कारण-सामग्रीसे बाहर रहता है और वह घटका कारण नहीं कहलाता, किन्तु वह घटके कारणका कारण होता है; तैसे ही अभावके प्रत्यक्षका सहकारी कारण तो योग्यानुपलम्भ ही है, परन्तु उसकी सिद्धिका हेतु होनेसे आलोकसंयोग भी अभाव-प्रत्यक्षकी कारण-सामग्रीसे बाह्य ही रहता है। क्योंकि अनुपलम्भका प्रतियोगी जो

उपलम्भ, उसका जहाँ आरोप सम्भव हो वहीं योग्यानुपलम्भ कहा गया है और चूँकि घटके चाक्षुष-उपलम्भका आरोप आलोकमें ही होता है, अन्धकारमें नहीं; इसलिये घटाभावके चाक्षुष-प्रत्यक्षका सहकारी कारण जो योग्यानुपलम्भ उसका साधक आलोक है। इसीलिये घटाभावके चाक्षुष-प्रत्यक्षका साक्षात्कारण न होनेसे वह कारण-सामग्रीसे बाह्य कहा गया है और इसीलिये वह कुलाल-पिताके समान अन्यथासिद्ध माना गया है। अर्थात् जैसे कुलाल-पिता घटका कारण नहीं, तैसे आलोक-संयोग भी अभावके चाक्षुष-प्रत्यक्षका कारण नहीं, किन्तु उक्त रीतिसे चाक्षुष-प्रत्यक्षके कारण योग्यानुपलम्भका साधक है। प्राचीन न्याय-ग्रन्थोंमें तो योग्यानुपलम्भ इस प्रकार कहा गया है—

जहाँ प्रतियोगीके सिवा प्रतियोगीके उपलम्भकी और सकल सामग्री तो हो परन्तु केवल प्रतियोगीका उपलम्भ न हो वहाँ योग्यानुपलम्भ होता है, जैसे जहाँ आलोकमें घट न हो वहाँ योग्यानुपलम्भ है। क्योंकि वहाँ केवल घटाभावका प्रतियोगी घट नहीं है, उसके सिवा आलोक-संयोग और द्रष्टाके नेत्ररूप घटके चाक्षुष-उपलम्भकी सकल सामग्री होनेसे वह योग्यानुपलम्भ बनता है। परन्तु जहाँ अन्धकारमें घट नहीं वहाँ योग्यानुपलम्भ भी नहीं, क्योंकि प्रतियोगीके चाक्षुष-उपलम्भकी सामग्रीमें आलोकसंयोग शामिल है और उसका वहाँ अभाव है। इसी प्रकार जो स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धसे रहता हो उसके उपलम्भकी सामग्री स्तम्भवर्ति उद्भूत-रूप और महत्त्व हैं, वह तो वहाँ है, परन्तु पिशाचमें उद्भूत-रूप और महत्त्वके अभावसे प्रतियोगीका उपलम्भ न होनेसे स्तम्भमें तादात्म्य-सम्बन्धसे पिशाचका अनुपलम्भ योग्य है। तथा जो संयोग-सम्बन्धसे स्तम्भवर्ति हो उसके उपलम्भकी सामग्री स्तम्भके उद्भूत-रूप व महत्त्व नहीं हैं, किन्तु संयोग-सम्बन्धसे रहनेवालेके उद्भूत-रूप व महत्त्व हैं, वह पिशाचमें नहीं हैं। इसलिये संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न पिशाचात्यंताभावका प्रतियोगी जो पिशाच उसके उपलम्भकी सामग्री पिशाचवर्ति उद्भूत-रूप व महत्त्वके अभावसे पिशाचका संयोग-सम्बन्धसे अनुपलम्भ योग्य नहीं

आशय यह कि पहले तादात्म्य-सम्बन्धवाले अनुपलम्भमें उपलम्भकी सामग्री तो थी, केवल प्रतियोगीका उपलम्भ नहीं था इसलिये वह योग्यानुपलम्भ सिद्ध हुआ परन्तु दूसरे संयोग-सम्बन्धवाले अनुपलम्भमें उपलम्भकी सामग्रीका ही अभाव रहा इसलिये वह योग्यानुपलम्भ सिद्ध न हुआ। इस प्रकार केवल प्रतियोगीके सिवा प्रतियोगीके उपलम्भकी और सकल सामग्री होते हुए भी जो उपलम्भ न हो, वह योग्यानुपलम्भ अभावके प्रत्यक्षका सहकारी कारण होता है।

इस प्रकार जहाँ योग्यानुपलम्भ हो और इन्द्रियका अभावसे सम्बन्ध हो, वहाँ अभावकी इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष-प्रमा होती है। परन्तु जहाँ योग्यानुपलम्भ न हो, वहाँ अभावका प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता, किन्तु अनुमानादिसे परोक्ष-ज्ञान ही होता है। इस रीतिसे न्याय-मतानुसार अभावके प्रत्यक्षमें योग्यानुपलम्भ सहकारी और इन्द्रिय करण है।

३० : भट्ट और वेदान्त-मतमें अभाव-प्रमाकी सामग्री विषय न्याय-मतसे विलक्षणता

इसके विपरीत भट्ट और वेदान्त-मतमें अभावके ज्ञानमें योग्यानुपलम्भ ही प्रमाण व करण है, इन्द्रिय नहीं। इसलिये इन दोनों मतोंमें अभाव-ज्ञानका हेतु 'अनुपलब्धि' नाम भिन्न प्रमाण माना गया है और अनुप-लम्भका नाम ही अनुपलब्धि है। नैयायिकोंने जिस प्रकारके योग्या-नुपलम्भको इन्द्रियका सहकारी माना है, भट्ट और वेदान्त-मतमें उसी प्रकारका योग्यानुपलम्भ अभाव-प्रमाका प्रमाण व करण होता है। नैयायिकमतमें अभाव-प्रत्यक्षके कारण इन्द्रिय और योग्यानुपलम्भ दोनों हैं, उनमें इन्द्रिय तो अभाव-प्रमाका करणरूप प्रमाण और अनुपलम्भ उसका सहकारी कारण माना गया है। परन्तु इन दोनों मतोंमें तो अनुपलब्धि ही प्रमाण माना गया है। यद्यपि अभाव-प्रमाकी उत्पत्तिमें अनुपलब्धिका कोई व्यापार सम्भव नहीं होता और प्रमाके व्यापारवाले कारणको ही प्रमाण कहा जाता है, इसलिये अनुपलब्धिमें प्रमाणता

सम्भव नहीं होती; तथापि 'प्रमाका व्यापारवाला कारण ही प्रमाण होता है' यह नियम न्याय-मतमें ही है। इसके विपरीत इन दोनों मतोंमें तो सभी प्रमाणोंके भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं, उनमेंसे किसी प्रमाणमें तो व्यापारका प्रवेश होता है और किसीमें नहीं। जैसे प्रत्यक्ष-प्रमाका व्यापारवाला असाधारण कारण प्रत्यक्ष-प्रमाण, अनुमितिप्रमाका व्यापारवत् असाधारण कारण अनुमान-प्रमाण और शाब्दी-प्रमाका व्यापारवत् असाधारण कारण शब्द-प्रमाण कहलाते हैं। इस प्रकार इन तीन प्रमाणोंके लक्षणमें तो व्यापारका प्रवेश है, और इन तीनों प्रमाणोंके निरूपणमें तीनों स्थानोंमें व्यापारका सम्भव भी कथन कर आये हैं, परन्तु इन दोनों मतोंके अनुसार उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि इन तीनोंके लक्षणमें व्यापारका प्रवेश नहीं है। उपमिति-प्रमाका असाधारण कारण उपमान-प्रमाण, उपपादक कल्पनाका असाधारण हेतु उपपाद्यकी अनुपपत्तिका ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाण और अभाव-प्रमाका असाधारण कारण अनुपलब्धि-प्रमाण कहे जाते हैं। यद्यपि अनुमानादिसे अभावका परोक्ष-ज्ञान भी होता है, यह पूर्व कहा जा चुका है, इसलिये अभाव-ज्ञानके जनक अनुमानादिमें भी अनुपलब्धिके लक्षणकी अतिव्याप्ति होती है; तथापि अनुमानादि-प्रमाण भाव-प्रमा एवं अभाव-प्रमा दोनोंके साधारण कारण हैं, अभाव-प्रमाके ही असाधारण कारण नहीं। परन्तु अनुपलब्धि-प्रमाणसे तो केवल अभावका ही ज्ञान होता है, इसलिये अभाव-प्रमाका वही असाधारण कारण है, अन्य कोई प्रमाण नहीं। इस प्रकार इन तीनों प्रमाणोंके लक्षणोंमें न तो व्यापारका प्रवेश ही है और न व्यापारकी अपेक्षा ही है। इसके साथ ही अनुपलब्धिप्रमाणसे जो अभावका ज्ञान होता है वह तो प्रत्यक्ष ही होता है, परन्तु अनुमान और शब्द-प्रमाणसे अभावका जो ज्ञान होता है वह परोक्ष ही होता है। आशय यह कि जहाँ नैयायिक अभावका ज्ञान इन्द्रियजन्य मानते हैं, वहाँ भट्ट और वेदान्त अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य मानते हैं। भेद इतना ही है कि नैयायिक भी अनुपलब्धिको अभाव-प्रमाका सहकारी कारण तो मानते हैं, परन्तु

जिस प्रकारकी योग्यानुपलब्धिको वे इन्द्रियका सहकारी मानते हैं, भट्ट और वेदान्त उसी प्रकारकी योग्यानुपलब्धिको स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं। अर्थात् न्याय-मतमें तो अभावका प्रमाण इन्द्रिय है और इन दोनों मतोंमें प्रमाण अनुपलब्धि है तथा वेदान्तमतमें भी नैयायिकोंकी भाँति अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभाव-ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है, परोक्ष नहीं।

३१ : वेदान्त-रीतिसे इन्द्रियजन्य प्रत्यक्षके लक्षणका निर्णय

यहाँ भट्ट और वेदांत-मतमें ऐसी शंका उपस्थित होती है—

इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, फिर अभाव-ज्ञानमें इन्द्रिय-जन्यताका निषेध करके उसे प्रत्यक्ष कहना नहीं बन पड़ता।

(समाधान)—इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, ऐसा नियम नहीं है। यदि ऐसा नियम माना जाय तो ईश्वरका ज्ञान भी प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये। क्योंकि न्याय-मतमें तो ईश्वरका ज्ञान नित्य है, इसलिये वह इन्द्रियजन्य नहीं बन पड़ता और वेदान्त-मतमें ईश्वरका ज्ञान मायाकी वृत्तिरूप है, इसलिये वह इन्द्रियजन्य नहीं हो सकता। अन्य ग्रन्थोंमें भी इन्द्रियजन्य ज्ञानको ही प्रत्यक्ष माननेमें अनेक दूषण लिखे गये हैं। इसलिये इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष हो, यह नियम नहीं है; किन्तु जहाँ विषय-चेतनसे प्रमाण-चेतनका अभेद हो वहीं ज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् जहाँ विषय सम्मुख हो वहाँ तो इन्द्रिय और विषयके सम्बन्धसे अन्तःकरणकी वृत्ति इन्द्रियद्वारा विषय-देशमें जाती है और विषयके समानाकार होकर वृत्तिका विषयसे अभेद होता है। वहाँ वृत्ति-अवच्छिन्नचेतन तो प्रमाण-चेतन कहा जाता है और विषय-देशमें आया हुआ चेतन विषय-चेतन। वास्तवमें तो प्रमाण-चेतन और विषय-चेतन स्वरूपसे सदा एक ही हैं, केवल उपाधि-भेदसे ही चेतनका भेद प्रतीत होता है। यदि उपाधि भिन्न देशमें हो तो उपहितका भेद प्रतीत होता है, परन्तु यदि उपाधि एक देशमें ही हो तो उपहितका भेद

नहीं रहता । जैसे जहाँ घट और घटका रूप एक देशमें रहते हैं वहाँ घटोपहित और घटरूपोपहित आकाश एक ही होता है और जहाँ मठके अन्दर घट हो वहाँ भी घटोपहित आकाश मठोपहित आकाशसे भिन्न नहीं होता। यद्यपि मठाकाश तो घटाकाशसे भिन्न भी होता है, क्योंकि घटशून्य देशमें भी मठ तो है ही; तथापि मठशून्य देशमें घट नहीं इसलिये मठाकाशसे तो घटाकाश भिन्न नहीं। इस प्रकार जबतक वृत्ति व विषय भिन्न देशमें रहते हैं तबतक तो वृत्ति-उपहित और विषय-उपहित चेतन भिन्न-भिन्न होते हैं, परन्तु जब वृत्ति विषय-देशमें पहुँच जाती है तब वृत्ति-चेतन भी विषय-चेतन ही होता है, इसलिये वृत्ति-चेतनका विषय-चेतनसे कोई भेद नहीं रहता किन्तु एकता ही होती है । जब वृत्ति विषय-देशमें जाती है, तब द्रष्टाके शरीरके अन्दर अन्तःकरणसे लेकर विषयपर्यन्त वृत्तिका आकार होता है, इसलिये विषय-देशसे बाहर भी वृत्तिका स्वरूप होनेसे यद्यपि वृत्ति-चेतन विषय-चेतनसे भिन्न भी है; तथापि उस कालमें वृत्तिसे भिन्न देशमें विषय नहीं । इसीलिये विषय-चेतनका वृत्ति-चेतनसे अभेद कहा गया है। जहाँ कहीं दोनोंका परस्पर अभेद कहा गया है, वहाँ उसका अभिप्राय यही है कि जितना वृत्ति-भाग विषय-देशमें है उतना वृत्ति-भागसे उपहित-चेतन विषय-चेतनसे पृथक् नहीं ।

इस प्रकार जहाँ वृत्ति-चेतनका विषय-चेतनसे अभेद हो, वहाँ ज्ञान प्रत्यक्ष है ।

३२ : प्रत्यभिज्ञा एवं अभिज्ञा-प्रत्यक्ष-ज्ञानों तथा स्मृति आदि परोक्ष-ज्ञानोंका सामग्रीसहित निर्णय

जहाँ वृत्ति-चेतनका विषय-चेतनसे अभेद नहीं होता, वहाँ ज्ञान परोक्ष कहलाता है । संस्कारजन्य स्मरणरूप अन्तःकरणकी वृत्ति शरीरके अन्तर ही होती है और उसका विषय देशान्तरमें होता है अथवा नष्ट हो जाता है, इसलिये वृत्ति-चेतनका विषय-चेतनसे अभेद न हो सकनेसे

स्मृति-ज्ञान भी परोक्ष ही है। जिस पदार्थके पूर्वानुभवके संस्कार हृदयमें हों और इन्द्रियका उससे संयोग भी हो जाय, वहाँ 'सोऽयम्' अर्थात् 'वही यह है' ऐसा ज्ञान होता है, इसको 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं। यहाँ चूँकि इन्द्रियजन्य वृत्ति विषय-देशमें जाती है, इसलिये वृत्ति-चेतनका विषय-चेतनसे अभेद होनेसे प्रत्यभिज्ञा-ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है। जहाँ केवल इन्द्रियजन्य वृत्ति ही हो और पूर्वानुभवके संस्कार न हों, वहाँ केवल 'अयम्' अर्थात् 'यह' ऐसा ही प्रत्यक्ष होता है और इसको 'अभिज्ञा-प्रत्यक्ष' कहते हैं। मुख्य सिद्धांतमें तो 'सोऽयम्' यह ज्ञान भी तत्ताअंशमें स्मृतिरूप होनेसे परोक्ष और अयम्-अंशमें इन्द्रियजन्य होनेसे अपरोक्ष है। इसलिये 'सोऽयम्' इस ज्ञानमें केवल प्रत्यक्षत्व ही नहीं, किन्तु अंशभेदसे परोक्षत्व एवं प्रत्यक्षत्व दो धर्म होते हैं।

जहाँ केवल संस्कारजन्य वृत्ति हो, उसका 'सः' अर्थात् 'वह' ऐसा आकार होता है और उसको स्मृति कहते हैं। पूर्व जिस पदार्थका इन्द्रिय अथवा अनुमानादिसे ज्ञान हुआ हो, उसीकी स्मृति होती है। इसलिये स्मृति-ज्ञानमें पूर्वानुभव तो करण है और अनुभवजन्य संस्कार व्यापार हैं; क्योंकि जिस पदार्थका पूर्व अनुभव हुआ हो, उसकी स्मृति वर्षके अन्तरायसे भी होती है। वहाँ स्मृतिके अव्यवहित पूर्व कालमें अनुभव तो है नहीं और जो अव्यवहित पूर्व कालमें हो वही हेतु होता है, यह नियम है। इसलिये पूर्वानुभव स्मृतिका साक्षात् कारण तो सम्भव नहीं होता, वह किसीके द्वारा ही कारण कहा जाना चाहिये। इसलिये ऐसा मानना योग्य है—

जिस पदार्थका पूर्व अनुभव नहीं हुआ, उसकी तो कभी स्मृति होती ही नहीं। इसलिये यदि पूर्वानुभवको स्मृतिका कारण न माना जाय तो जिसका पूर्व अनुभव न हुआ हो, उसकी भी स्मृति होनी चाहिये, परन्तु होती नहीं। इस प्रकार पूर्वानुभवसे स्मृतिका अन्वय-व्यतिरेक है, अर्थात् पूर्व अनुभव होनेसे ही स्मृति होती है, यह तो अन्वय है और पूर्व अनुभव न होवे तो स्मृति भी नहीं होती, यह व्यतिरेक है। एकके होनेसे अपर-

का होना 'अन्वय' और एकके न होनेसे अपरका न होना 'व्यतिरेक' कहलाता है। इस प्रकारके अन्वय व्यतिरेकसे ही कारण-कार्यभाव जाना जाता है। इस रीतिसे स्मृतिके अन्वय-व्यतिरेकमें पूर्वानुभव दिखलाई पड़नेसे पूर्वानुभव और स्मृतिका कारण-कार्यभाव तो अवश्य मानना पड़ता है। परन्तु स्मृतिके अव्यवहित पूर्वकालमें पूर्वानुभव मिलता नहीं है, इसलिये स्मृतिकी उत्पत्तिमें पूर्वानुभवका कोई अव्यवहित रूप व्यापार मानना चाहिये। जहाँ प्रमाण-बलसे कारणताका निश्चय तो हो जाता हो, परन्तु जहाँ कार्यसे अव्यवहित पूर्वकालमें कारणकी सत्ताका सम्भव न होता हो, वहाँ व्यापारकी कल्पना होती है। जैसे शास्त्र-प्रमाणसे यागमें स्वर्गकी साधनताका निश्चय होता है और अंत्य आहुतिको याग कहते हैं। तथा उस यागके नाश हो जानेपर बहुत कालके अन्तरायसे स्वर्ग प्राप्त होता है, परन्तु उस यागके अभावसे स्वर्गके अव्यवहित पूर्व कालमें यागमें कारणता सम्भव नहीं होती। इसलिये शास्त्र-निर्णीत-कारणताके निर्वाहके लिये अपूर्व यागका व्यापार माना जाता है। इस प्रकार जब अपूर्व अंगीकार कर लिया जाय तब कोई दोष नहीं, क्योंकि कार्यसे अव्यवहित पूर्वकालमें कारण अथवा व्यापार एक रहना चाहिये। यद्यपि कहीं दोनों भी होते हैं, परन्तु एक तो अवश्य ही चाहिये। जिसको धर्म कहते हैं वह यागजन्य अपूर्व ही है। अपूर्व यागसे उत्पन्न होता है और यागजन्य जो स्वर्ग उसका जनक होता है, इसलिये वह व्यापार है। जिस प्रकार स्वर्ग-साधनताके निर्वाहके लिये यागका अपूर्व व्यापार माना गया है और वह अपूर्व सदा परोक्ष ही रहता है, उसी प्रकार स्मृतिकी कारणतामें अन्वय-व्यतिरेकबलसे सिद्ध जो पूर्वानुभव, उसके निर्वाहके लिये संस्कारको व्यापाररूपसे माना जाता है और वह संस्कार सदा परोक्ष ही रहता है। जिस अन्तःकरणमें पूर्वानुभव हो और जिसमें स्मृतिकी उत्पत्ति हो, संस्कार उस अन्तःकरणका धर्म है। नैयायिक-मतमें अनुभव, संस्कार एवं स्मृति आत्माके धर्म हैं और वे अनुभवजन्य संस्कारोंको भावना कहते हैं। इस प्रकार वे संस्कार पूर्वानुभव-जन्य हैं और पूर्वानुभवजन्य जो

स्मृति उसके जनक हैं, इसलिये वे व्यापार कहे जाते हैं। इस रीतिसे पूर्वानुभव तो स्मृतिका करण है और संस्कार व्यापार हैं। यद्यपि स्मृतिकी उत्पत्तिसे अव्यवहित पूर्व कालमें पूर्वानुभवका अभाव है; तथापि उसका व्यापाररूप संस्कार विद्यमान है, इसीलिये पूर्वानुभवके नाश हो जानेपर भी स्मृतिकी उत्पत्ति होती है।

इस प्रकारका संस्कार प्रत्यक्ष तो होता नहीं है, किन्तु अनुमान अथवा अर्थापत्तिसे उसकी सिद्धि होती है। इसलिये जितने समयतक पूर्वानुभूतकी स्मृति होती रहे, उतने समयतक संस्कार रहता है और जिस स्मृतिसे उत्तर फिर वह स्मृति न हो वह चरम स्मृति कही जाती है। ऐसी चरम स्मृतिमें चूँकि संस्कारका नाश हो जाता है, इसलिये फिर उस पदार्थकी स्मृति नहीं होती। इस प्रकार पूर्वानुभवजन्य संस्कारसे अनेक सजातीय स्मृति होती रहती हैं और जहाँतक चरम स्मृति हो वहाँतक एक ही संस्कार रहता है। स्मृतिमें चरमता कार्यसे जानी जाती है, अर्थात् जिस स्मृतिके होनेके पश्चात् फिर अन्य सजातीय स्मृति न हो उस स्मृतिमें अनुमानसे चरमताका ज्ञान होता है और अंत्यको 'चरम' कहते हैं। इसके विपरीत कोई ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि पूर्वानुभवजन्य संस्कारसे प्रथम स्मृति होती है और प्रथम स्मृतिको उत्पन्न करके वह अनुभव-जन्य संस्कार नष्ट हो जाता है। उस प्रथम स्मृतिसे अन्य संस्कार उत्पन्न होता है और उससे फिर दूसरी सजातीय स्मृति उपजती है। उस दूसरी स्मृतिसे स्वजनक संस्कारका नाश हो जाता है और उससे फिर अन्य संस्कार उत्पन्न होता है, जिससे तृतीय स्मृति होती है। इस प्रकार अनुभवसे ही नहीं, किन्तु स्मृतिसे भी संस्कारकी उत्पत्ति होती है और जिस स्मृतिसे उत्तर सजातीय स्मृति न हो वह स्मृति संस्कारका हेतु नहीं रहती। इस मतमें स्मृति-ज्ञान भी संस्कारद्वारा उत्तर स्मृतिका कारण होता है और पूर्वानुभव प्रथम स्मृतिका ही कारण माना गया है। दोनों स्थानोंमें संस्कारको व्यापार माना गया है, प्रथम मतमें स्मृति-ज्ञानका करण स्मृति नहीं, किन्तु पूर्वानुभवसे एक ही संस्कार चरम स्मृतिपर्यन्त

रहता है, इसलिये पूर्वानुभव ही स्मृतिका करण है और वह पूर्वानुभव-जन्य संस्कार ही सभी सजातीय स्मृतियोंमें व्यापार बनता है। दोनोंही पक्षोंमें स्मृति-ज्ञान प्रमा नहीं माना गया है, क्योंकि प्रथम पक्षमें तो स्मृति-ज्ञानका करण पूर्वानुभव है जो षट्प्रमाणोंसे न्यारा है और चूँकि प्रमाण-जन्य ज्ञानको ही प्रमा कहते हैं, परन्तु पूर्वानुभव कोई प्रमाण नहीं। द्वितीय पक्षमें प्रथम स्मृतिका करण तो पूर्वानुभव है और द्वितीयादि स्मृतियोंका करण पूर्व-पूर्व स्मृति हैं, वह स्मृति भी षट्प्रमाणोंमें शामिल नहीं है। इस प्रकार यद्यपि स्मृतिको प्रमा नहीं माना गया है; तथापि स्मृति यथार्थ और अयथार्थके भेदसे दो प्रकारकी होती है। उनमें भ्रमरूप अनुभवके संस्कारोंसे उत्पन्न होनेवालीको अयथार्थ और प्रमारूप अनुभव-जन्य संस्कारोंसे होनेवालीको यथार्थ कहते हैं। इस प्रकार स्मृतिके विषयमें ग्रन्थोंमें दो पक्ष हैं, उनमें दूषण-भूषण तो अनेक हैं, परन्तु ग्रन्थविस्तार-भयसे उपराम होकर हमने यहाँ प्रसंगमात्र दिखला दिया है। सारांश, पूर्वानुभवजन्य स्मृति-ज्ञान परोक्ष है।

इसी प्रकार अनुमानादिजन्य ज्ञान भी परोक्ष ही होता है। क्योंकि जैसे स्मृतिका विषय वृत्तिसे व्यवहित होता है, तैसे ही अनुमानादिजन्य ज्ञानोंका विषय भी वृत्तिदेशमें न होकर व्यवहित पर्वतादिदेशोंमें ही होता है और इसीलिये अतीत, वर्तमान एवं अनागत पदार्थोंका अनुमानादि से अनुमित्यादिरूप ही ज्ञान होता है। इसीलिये अनुमित्यादिके विषय जो पदार्थ होते हैं वे अनुमित्यादि ज्ञानोंके देश-कालमें न रहकर उन ज्ञानोंसे भिन्न देश-कालमें ही पाये जाते है।

३३ : इन्द्रियजन्यताके नियमसे रहित प्रत्यक्ष—ज्ञानका अनुसंधान

इन्द्रियजन्य ज्ञानके विषय जो पदार्थ होते हैं वे तो अपने ज्ञानसे भिन्न देशकालमें नहीं होते, किन्तु अपने ज्ञानके देशकालमें ही होते हैं, इसलिये सभी इन्द्रियजन्य ज्ञान तो प्रत्यक्ष ही होते हैं। अद्वैत-मतमें अन्तः-

करणकी परिणामरूप वृत्तिको ही 'ज्ञान' कहते हैं, इसलिये 'ज्ञान व विषय एक देशमें होते हैं' अथवा 'वृत्ति व विषय एक देशमें होते हैं' इस कथनका एक ही अर्थ है। तथापि अद्वैत-मतमें इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है, ऐसा नियम नहीं; किन्तु जहाँ अन्य प्रमाणजन्य भी विषय वृत्तिदेशमें हो वहाँ भी प्रत्यक्ष-ज्ञान ही होता है। जैसे 'दशमस्त्वमसि' अर्थात् दशमाँ तू है, इस वाक्यसे उत्पन्न हुई वृत्तिके देशमें ही विषय होता है, इसलिये कहीं शब्दप्रमाणजन्य ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है। महावाक्यजन्य ब्रह्माकारवृत्ति और ब्रह्मात्मा तो दोनों एक देशमें ही होते हैं, इसलिये महावाक्यजन्य ब्रह्मात्म-ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है। इसी प्रकार ईश्वर-ज्ञानके उपादान-कारण मायाके देशमें ही सब पदार्थ होते हैं, इसलिये वह इन्द्रियजन्य नहीं तो भी ईश्वरका ज्ञान प्रत्यक्ष ही है। तैसे ही अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभाव-ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है। क्योंकि जहाँ भूतलमें घटाभावका ज्ञान होता है, वहाँ भूतलसे नेत्रका संयोग होकर अन्तः-करणकी वृत्ति भूतलदेशमें जाती है और वहाँ 'भूतले घटो नास्ति' (भूतलमें घट नहीं है) ऐसा वृत्तिका आकार होता है। यहाँ भूतल-अंशमें तो वृत्ति नेत्रजन्य है और घटाभाव-अंशमें अनुपलब्धिजन्य है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह वृत्ति पर्वत-अंशमें नेत्रजन्य और वह्नि-अंशमें अनुमानजन्य होती है, तैसे ही भूतलमें घटाभाव-स्थलमें भी एक ही वृत्ति अंशभेदसे इन्द्रिय और अनुपलब्धिजन्य दो प्रमाणोंसे उत्पन्न होती है। यहाँ वृत्त्यवच्छिन्न-चेतनका तो भूतलावच्छिन्न-चेतनसे अभेद होता है और चूँकि भूतला-वच्छिन्न ही घटाभावावच्छिन्न-चेतन है, इसलिये वृत्त्यवच्छिन्न-चेतनका घटाभावावच्छिन्न-चेतनसे भी अभेद होता ही है और इसीलिये घटाभावका ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य होता हुआ भी प्रत्यक्ष ही माना गया है। परन्तु जहाँ अभावका अधिकरण प्रत्यक्षयोग्य हो और जहाँ अधिकरणके प्रत्यक्षमें इन्द्रियका व्यापार भी हो, वहीं उक्त रीति सम्भव होती है। इसके विपरीत जहाँ अधिकरणके प्रत्यक्षमें इन्द्रियका व्यापार नहीं होता, वहाँ तो अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभाव-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु

परोक्ष ही होता है। जैसे वायुमें रूपाभावका ज्ञान निमीलितनयनको भी योग्यानुपलब्धिसे होता है और योग्यानुपलब्धिसे परमाणुमें महत्त्वाभावका ज्ञान नेत्रोन्मीलनव्यापारके विना ही होता है। वहाँ चूँकि वृत्ति विषय-देशमें नहीं जाती, इसलिये अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य वायुमें रूपाभाव और परमाणुमें महत्त्वाभावका ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु परोक्ष ही है।

इस प्रकार अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभाव-ज्ञान कहीं तो प्रत्यक्ष और कहीं परोक्ष होता है। वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थोंमें तो अनुपलब्धि-प्रमाण-जन्य अभाव-ज्ञान सर्वत्र प्रत्यक्ष ही लिखा गया है और अनुपलब्धिजन्य परोक्ष-ज्ञानका कोई उदाहरण ही नहीं लिखा गया। यह उन ग्रन्थोंमें न्यूनता है, क्योंकि परोक्ष-ज्ञानका उदाहरण लिखे बिना 'अनुपलब्धिजन्य ज्ञान परोक्ष होता ही नहीं है' ऐसा भ्रम हो जाता है, इसलिये वह अवश्य लिखा जाना चाहिए था।

३४ : अभावज्ञानकी सर्वत्र परोक्षताका निर्णय

यदि सूक्ष्म-दृष्टिसे विचार किया जाय तो अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभाव-ज्ञान सर्वत्र परोक्ष ही होता है, प्रत्यक्ष कहीं भी नहीं। क्योंकि प्रमाण चेतनका विषय-चेतनसे अभेद हो जानेपर भी यदि विषय प्रत्यक्ष-योग्य न हो तो उसका भी परोक्ष ही ज्ञान होता है। जैसे जहाँ शब्दादि प्रमाणसे धर्माधर्मका ज्ञान होता है, वहाँ यद्यपि प्रमाण-चेतनका विषय-चेतनसे भेद नहीं रहता; क्योंकि धर्माधर्म अन्तःकरण-देशमें ही रहते हैं इसलिये अन्तःकरण और धर्माधर्मरूप उपाधि भिन्न देशमें न होनेसे धर्मा-धर्मावच्छिन्न-चेतन प्रमाण-चेतनसे पृथक् नहीं रहता। तथापि चूँकि धर्मा-धर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, इसलिये धर्माधर्मका शब्दादिजन्य ज्ञान कदापि प्रत्यक्ष नहीं होता। विषयमें प्रत्यक्षकी योग्यता-अयोग्यता अनुभवके अनु-सार जानी जाती है। इस प्रकार जैसे धर्माधर्म प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, तैसे ही अभाव-पदार्थ भी प्रत्यक्षयोग्य नहीं है। क्योंकि यदि अभाव-पदार्थ प्रत्यक्षयोग्य होता तो 'हाथ कङ्कनको आरसी क्या ?' की भाँति वादियों-

का इस विषयमें कोई विवाद न होना चाहिये था। परन्तु मीमांसक अभावको अधिकरणरूप मानते हैं, नैयायिक अभावको अधिकरणसे पृथक् मानते हैं, नास्तिक अभावको तुच्छ व अलीक मानते हैं और आस्तिक अभावको पदार्थ मानते हैं। इस रीतिसे अभावके स्वरूपमें तो अनेक विवाद हैं, परन्तु प्रत्यक्षयोग्य जो घटादि हैं उनके स्वरूपमें 'घटादि अधिकरणसे भिन्न हैं वा नहीं' ऐसा विवाद नहीं होता। इसलिये अभाव-पदार्थ प्रत्यक्षयोग्य नहीं और इसीलिये जहाँ भूतलमें घटाभावका ज्ञान होता है, वहाँ यद्यपि प्रमाण-चेतनका घटाभावावच्छिन्न-चेतनसे अभेद भी है; तथापि अभावांशमें यह ज्ञान परोक्ष और भूतलांशमें अपरोक्ष है। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान पर्वतांशमें अपरोक्ष और वह्नि अंशमें परोक्ष होता है। इस प्रकार यदि अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभाव-ज्ञानको सर्वत्र परोक्ष माना जाय तो भट्ट-मतसे भी विरोध नहीं होता, क्योंकि भट्ट-मतमें अनुपलब्धिजन्य अभाव-ज्ञान परोक्ष ही माना गया है।

नैयायिक अभाव-ज्ञानको इन्द्रियजन्य मानकर जो प्रत्यक्ष कहते हैं, वह तो सर्वथा असंगत ही है। वे वायुमें रूपाभाव और परमाणुमें महत्त्वा-भावका जो चाक्षुष-प्रत्यक्ष मानते हैं, वह तो बन ही नहीं सकता। क्योंकि वायुमें रूपाभाव और परमाणुमें महत्त्वाभावके देखनेके लिये कोई भी नेत्रका उन्मीलन-व्यापार नहीं करता, किन्तु निमीलितनेत्रको भी योग्यानुपलब्धिसे वायुमें रूपाभाव और परमाणुमें महत्त्वाभावका ज्ञान होता है, परन्तु निमीलित-नेत्रको घटादिका चाक्षुष-ज्ञान तो कदापि नहीं होता। इसलिये वायुमें रूपाभाव और परमाणुमें महत्त्वाभाव चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो नहीं सकते, किन्तु योग्यानुपलब्धिसे उनका परोक्ष-ज्ञान ही होता है। यदि नैयायिक ऐसा कहें—

'अभाव-ज्ञानमें इन्द्रियका अन्वय-व्यतिरेक दीख पड़नेसे इन्द्रिय अभाव-ज्ञानमें हेतु है।' तथा भेदधिक्कारादि ग्रन्थोंमें इसका जो यह समाधान किया गया है—

'इन्द्रियका अन्वय-व्यतिरेक तो अधिकरणके ज्ञानमें ही चरितार्थ होता है। जैसे जहाँ भूतलमें घटाभावका ज्ञान हो वहाँ नेत्र-इन्द्रियसे तो अभावके अधिकरण भूतलका ही ज्ञान होता है, फिर उस नेत्रसे ज्ञात भूतलमें घटाभावका योग्यानुपलब्धिसे ज्ञान होता है। इस प्रकार घटाभावका अधिकरण जो भूतल, केवल उसके ज्ञानमें ही इन्द्रिय चरितार्थ अर्थात् सफल है, अभाव-ज्ञानमें नहीं।'

इस प्रकार उपर्युक्त शंका और उसका समाधान दोनों ही असंगत हैं। क्योंकि उपर्युक्त रीतिसे परमाणुमें महत्त्वाभाव और वायुमें रूपाभाव-का ज्ञान नेत्रव्यापारके विना ही होता है। इसलिये किसी एक अभाव-ज्ञानमें और केवल अधिकरण-ज्ञानकी चरितार्थतामें इन्द्रियका अन्वय-व्यतिरेक पाया जानेसे इन्द्रियमें करणता सिद्ध नहीं होती। इसके विपरीत सभी अभाव-ज्ञानोंमें तो इन्द्रियका अन्वय-व्यतिरेक असिद्ध ही है। इस प्रकार शिथिलमूल शंकाका समाधान कथन भी असंगत ही है। आशय यह कि नैयायिकका ऐसा कथन—

'घटानुपलब्ध्या इन्द्रियेणाभावं निश्चिनोमि' अर्थात् घटकी अनुप-लब्धिके कारण मैं इन्द्रियसे अभावका निश्चय करता हूँ, ऐसी प्रतीति होती है। इसलिये अनुपलब्धि और इन्द्रिय दोनों घटादिके अभाव-ज्ञानके हेतु हैं।

तथा इसपर भेदधिक्कारवादीका यह समाधान है कि 'यद्यपि घटाभावके अधिकरणका ज्ञान इन्द्रियसे होता है, परन्तु घटाभावका ज्ञान तो अनुपलब्धिसे ही होता है।' अर्थात् उस समाधानीका ऐसा समाधान भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि जहाँ अधिकरण इन्द्रिययोग्य हो वहाँ तो यद्यपि उक्त समाधान सम्भव हो सके, परन्तु जहाँ अधिकरण इन्द्रिययोग्य ही न हो वहाँ उक्त समाधान भी कैसे सम्भव हो सकता है? जैसे 'वायौ रूपानुपलब्ध्या नेत्रेण रूपाभावं निश्चिनोमि' अर्थात् वायुमें रूप न मिलनेसे मैं नेत्रद्वारा रूपाभावका निश्चय करता हूँ, इस प्रकार यदि वायुमें रूपा-भावकी अनुपलब्धिजन्य और नेत्रजन्य प्रतीति मानी जाय तो वहाँ

'वायुकी प्रतीति नेत्रजन्य और रूपाभावकी प्रतीति अनुपलब्धिजन्य है' ऐसा कथन भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि वायुमें मूलसे ही रूपके अभावसे नेत्रकी योग्यता नहीं बनती। इसलिये अभाव-ज्ञानको केवल अनुपलब्धिजन्य ही मानना चाहिये। यदि उभयजन्यताकी प्रतीति माननेसे विरोधकी आशंका होती हो तो इसपर हम अद्वैतवादीका यह समाधान है—

'भूतले अनुपलब्ध्या नेत्रेण घटाभावं निश्चिनोमि' अर्थात् भूतलमें न मिलनेसे मैं नेत्रद्वारा घटाभावका निश्चय करता हूँ, इस कथनका 'अनुपलब्धिसहित नेत्रसे मैं भूतलमें घटाभावके निश्चयवाला हूँ' ऐसा अभिप्राय नहीं है। किन्तु इस वाक्यका 'भूतलमें घटकी इन्द्रियजन्य उपलब्धिके अभावसे मैं घटाभावके निश्चयवाला हूँ' यही तात्पर्य होता है। आशय यह कि अभावके निश्चयका हेतु तो केवल अनुपलब्धि ही है और अनुपलब्धिका प्रतियोगी जो उपलब्धि, केवल उस उपलब्धिमें ही इन्द्रियजन्यता भासती है, अभाव-निश्चयमें नहीं। इस प्रकार प्रथम इन्द्रियजन्यताका उपयोग तो होता है केवल निषेधनीय उपलब्धिमें, परन्तु तदनन्तर अभावका निश्चय तो उपजता है केवल उस उपलब्धिके अभावरूप अनुपलब्धिद्वारा ही, यह सिद्ध हुआ। इसी प्रकार 'वायौ रूपानुपलब्ध्या नेत्रेण रूपाभावं निश्चिनोमि' अर्थात् वायुमें रूपके न मिलनेसे मैं नेत्रद्वारा रूपाभावका निश्चय करता हूँ, इस कथनका भी 'रूपकी अनुपलब्धिसहित नेत्रसे मैं वायुमें रूपाभावके निश्चयवाला हूँ' ऐसा तात्पर्य नहीं है। किन्तु 'नेत्रजन्य रूपकी उपलब्धिके अभावसे मैं वायुमें रूपाभावके निश्चयवाला हूँ' यही तात्पर्य होता है। क्योंकि नेत्रके व्यापारविना भी वायुमें रूपाभावका निश्चय होता ही है। इसलिये जिस उपलब्धिका अभाव अर्थात् रूपाभावके निश्चयका हेतु जो उपलब्धि, केवल उस उपलब्धिमात्रमें नेत्रजन्यता प्रतीत होती है। इस प्रकार सर्वत्र ही अभावनिश्चयका हेतु जो अनुपलब्धि, उसके प्रतियोगीकी उपलब्धिमें तो इन्द्रियजन्यता कही जा सकती है, परन्तु विचारविना अभावनिश्चयमें इन्द्रियजन्यताकी प्रतीति मान ली जाती है। नैयायिकोंकी शंकाका यह

समाधान सर्वत्र व्यापक है। इसके विपरीत भेदधिक्कार और वेदान्त-परिभाषादिका यह समाधान कि 'इन्द्रियजन्यता है तो अधिकरण-ज्ञानमें, परन्तु भासती है अभाव-ज्ञानमें' सर्वत्र व्यापक नहीं। क्योंकि जहाँ प्रत्यक्षयोग्य भूतलादि अभावके अधिकरण हैं, वहाँ तो यह समाधान सम्भव होता है; परन्तु जहाँ प्रत्यक्ष-अयोग्य अभावके अधिकरण वाय्वादि हैं, वहाँ उक्त समाधान सम्भव नहीं होता। इसके साथही 'अनुपलब्ध्या रसनेन्द्रियेणाम्लरसाभावमाम्रे जानामि' अर्थात् प्राप्ति न होनेसे रसनेन्द्रियद्वारा मैं आम्रमें अम्लरसके अभावको जानता हूँ, इस स्थानमें भी अधिकरणका ज्ञान रसनेन्द्रियजन्य सम्भव नहीं होता। क्योंकि अम्लरसाभावका अधिकरण जो आम्रफल है, रसनेन्द्रियमें उसके ज्ञानका सामर्थ्य ही नहीं है; रसनेन्द्रियमें तो केवल रस-ज्ञानका ही सामर्थ्य है, उसमें द्रव्यज्ञानका सामर्थ्य ही नहीं। इसलिये 'रसनेन्द्रियजन्य अम्लरसोपलब्धिके अभावसे आम्रफलमें मैं अम्लरसाभावका निश्चयवाला हूँ' उक्त व्यवहार इसी तात्पर्यसे होता है। यद्यपि उक्त वाक्यके अक्षरमर्यादासे तो उक्त अर्थ क्लिष्ट है; तथापि अन्य गतिके असम्भवसे उक्त अर्थ ही मानना चाहिये।

इस प्रकार नैयायिकोंकी शंकाका अस्मदुक्त समाधान ही संगत है और इस रीतिसे अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य ही अभाव-निश्चय होता है, यह पक्ष निर्दोष है।

३५ : अनुपलब्धि-प्रमाणके अंगीकारमें नैयायिकोंकी शंका और उसका समाधान

यदि नैयायिक ऐसी शंका करें कि अभाव-प्रमाका पृथक् प्रमाण माननेमें गौरव है और घटादिकी प्रत्यक्ष-प्रमामें जो इन्द्रियकी प्रमाणता है, यदि उस निर्णीत प्रमाणसे ही अभावप्रमाकी उत्पत्ति भी मान ली जाय तो लाघव है। इस शंकापर अद्वैतवादका समाधान इस प्रकार है—

इन्द्रियमें प्रमाणता माननेवाले नैयायिक भी अनुपलब्धिको कारण तो मानते ही हैं, परन्तु अनुपलब्धिमें केवल करणता नहीं मानते। इसके विपरीत अद्वैतवादी इन्द्रियको अभावका करण नहीं मानते हैं और इसीलिये अद्वैतवादमें इन्द्रियका अभावसे विशेषणता अथवा स्वसम्बद्धविशेषणता-सम्बन्ध भी नहीं मानना होता है। इस प्रकार नैयायिक-मतमें भी अप्रसिद्ध सम्बन्धकी कल्पनारूप गौरव है। इसके साथ ही नैयायिक भी अनुपलब्धिको सहकारी कारण तो मानते ही हैं, अद्वैतवादी उसीको करणता नाम रखकर प्रमाणता कहते हैं। इसलिये अप्रसिद्ध सम्बन्धकी कल्पनारूप गौरव न्यायमतमें ही है, अद्वैतमतमें नहीं।

वेदान्तपरिभाषाके टीकाकार मूलकारके पुत्र ही हुए हैं, उनको अद्वैत-शास्त्रके संस्कार न्यून और न्याय-शास्त्रके संस्कार अधिक रहे हैं। इसलिये उन्होंने मूल वेदान्तपरिभाषाका व्याख्यान करके न्यायमतका इस रीतिसे उज्जीवन लिखा है--

'अनुपलब्धि-प्रमाण पृथक् नहीं, किन्तु अभावका ज्ञान इन्द्रियसे ही होता है। यदि ऐसा कहा जाय कि 'अभावके साथ इन्द्रियका सम्बन्ध नहीं हो सकता और विषयसे सम्बन्धविना इन्द्रियजन्य ज्ञान होता नहीं है। विशेषणता और स्वसम्बद्ध-विशेषणता-सम्बन्ध जो नैयायिक मानते हैं वे अप्रसिद्ध हैं तथा अप्रसिद्धकी कल्पना न्याय-मतमें गौरव हैं।' यह अद्वैतवादका कथन भी असंगत है, क्योंकि 'घटाभाववद्भूतलम्' (अर्थात् घटाभाववाला भूतल है) ऐसी प्रतीति सर्वसम्मत है। इस प्रतीतिसे ही घटाभावमें आधेयता और भूतलमें अधिकरणता भासती है। परस्पर सम्बन्धविना आधाराधेय भाव नहीं हो सकता, इसलिये भूतलादि अधिकरणमें अभावका सम्बन्ध सर्वको ही इष्ट है। जो अभावको प्रत्यक्ष नहीं मानते हैं उनको भी अभावका अङ्गीकार तो है ही और भूतलादिमें अभावकी अधिकरणताका भी अङ्गीकार है ही, इसलिये अधिकरणसे अभावका सम्बन्ध सर्वको ही इष्ट है। फिर उस सम्बन्धका व्यवहारके निमित्त कोई नाम भी रखना जरूरी होता है, इसलिये अधिकरणमें

अभावके सम्बन्धको विशेषणतासम्बन्ध कहा गया है। इस प्रकार विशेषणता-सम्बन्ध तो अप्रसिद्ध नहीं और जब अभावका अधिकरणसे विशेषणता-सम्वन्ध सर्वसम्मत सिद्ध हुआ, तब इन्द्रिय व अधिकरणके संयोगादि-सम्बन्धसे भी इन्कार नहीं किया जा सकता और वह भी सर्वसम्मत सिद्ध होनेसे स्वसम्बद्ध-विशेषणता-सम्वन्ध भी प्रसिद्ध ही है। इसलिये दोनों सम्बन्ध अप्रसिद्ध नहीं। तथा 'निर्घटं भूतलं पश्यामि' (अर्थात् मैं भूतल को घटशून्य देखता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय भी होता है, इसलिये भूतलादिमें अभाव-ज्ञान नेत्रादिजन्य ही हो सकता है। क्योंकि जहाँ नेत्रजन्य ज्ञान हो वहाँ 'पश्यामि' (मैं देखता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय होता है। परन्तु अद्वैतमतमें भूतलका ज्ञान तो नेत्रजन्य और घटाभावका ज्ञान अनुपलब्धिजन्य माना गया है, यदि ऐसा ही हो तो अनुव्यवसाय-ज्ञानमें अपने विषय व्यवसायकी विलक्षणता भासनी चाहिये। जैसे 'पर्वतो वह्निमान्' यह ज्ञान पर्वतांशमें प्रत्यक्षरूप और वह्न्यंशमें अनुमितिरूप होता है और उसका 'पर्वतं पश्यामि' तथा 'वह्निमनुमिनोमि' (अर्थात् मैं पर्वतको देखता हूँ और अग्निका अनुमान करता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय भी होता है और उसमें व्यवसायकी विलक्षणता भी भासती है। वह विलक्षणता यहाँ नेत्रजन्यत्व और अनुमान-जन्यत्व है। इसी प्रकार यदि अभाव-ज्ञानमें भी नेत्रजन्यत्व और अनुपलब्धिजन्यत्वरूप विलक्षणता हो तो वह अनुव्यवसायमें भी भासनी चाहिये। परन्तु यहाँ तो अनुव्यवसायमें केवल नेत्रजन्यत्व ही भासता है, इसलिये मानना चाहिये कि अभावज्ञान इन्द्रियजन्य ही है, पृथक् प्रमाणजन्य नहीं। यदि अद्वैतवादी अभाव-ज्ञानको इन्द्रियजन्य न माने, फिर भी अनुपलब्धिजन्य मानकर वे उसे प्रत्यक्षरूप कहते हैं, यह भी असंगत है। क्योंकि ऐसा माननेसे 'जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वह इन्द्रिय-जन्य ही होता है' इस नियमका बाध होगा इस प्रकार अभाव-ज्ञान इन्द्रियजन्य ही होता है।'

इस रीतिसे वेदान्तपरिभाषाकी टीकामें जो नैयायिकमतका उज्जीवन

लिखा गया है वह सकल अद्वैत ग्रन्थोंसे विरुद्ध और युक्तिविरुद्ध है। वह इस प्रकार---

(१) प्रथम जो यह कहा गया कि 'अभावका अपने अधिकरणसे सम्बन्ध सर्वको इष्ट है, इसलिये यह अप्रसिद्ध कल्पना नहीं' वह असंगत है। क्योंकि यद्यपि अभाव व अधिकरणका सम्बन्ध तो इष्ट है; तथापि अभाव व अधिकरणमें विशेषणता-सम्बन्ध मानकर फिर उसमें प्रत्यक्ष-ज्ञानकी कारणता मानना, यह अप्रसिद्ध है, जो अभाव-ज्ञानको इन्द्रिय-जन्य मानते हैं, उन्हींके मतमें विशेषणता-सम्बन्ध इन्द्रियजन्य ज्ञानका कारण मानना होता है, अन्य मतमें नहीं। अर्थात् अभाव-ज्ञानको इन्द्रिय-जन्य माननेके लिये ही विशेषणता-सम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ती है, इसलिये नैयायिक मतमें अप्रसिद्ध कल्पनाका परिहार हो नहीं सकता।

(२) जो अभाव-ज्ञानको पृथक् प्रमाणजन्य माननेमें यह दोष दिया गया कि 'निर्घटं भूतलं पश्यामि' (अर्थात् मैं भूतलको घटशून्य देखता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय न होना चाहिये---वह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि 'मैं घटाभावविशिष्ट भूतलके चाक्षुष-ज्ञानवाला हूँ' उक्त वाक्यसे ऐसा ही अनुव्यवसाय होता है और उक्त वाक्यका अर्थ भी यही है। इस अनुव्यवसायमें घटाभाव तो विशेषण है और भूतल विशेष्य। यहाँ चाक्षुष-ज्ञानकी विषयता है तो विशेष्यरूप भूतलमें न कि विशेषणरूप घटाभावमें, फिर भी व्यवहारमें वह विषयता घटाभावविशिष्ट भूतलमें प्रतीत होती है। क्योंकि व्यवहारमें कहीं तो विशेषणमात्रका धर्म, कहीं विशेष्यमात्रका धर्म और कहीं विशेषण-विशेष्य दोनोंके धर्मविशिष्टमें प्रतीत होते हैं, ऐसा नियम है। जैसे 'दण्डी पुरुषः' (अर्थात् दण्डवाला पुरुष) इस ज्ञानमें दण्ड तो विशेषण है और पुरुष विशेष्य, अब जहाँ दण्ड नहीं है और केवल पुरुष ही है वहाँ 'दण्डी पुरुषो नास्ति' (अर्थात् दण्डवाला पुरुष नहीं है) ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रकार यहाँ यद्यपि अभाव तो विशेषणरूप दण्डका है, विशेष्यरूप पुरुषका नहीं; तथापि विशेषणमात्रवर्ति अभाव दण्डविशिष्ट पुरुषमें प्रतीत होता है। जहाँ दण्ड

तो है परन्तु पुरुष नहीं, वहाँ यद्यपि विशेष्यमात्रका अभाव है, परन्तु 'दण्डी पुरुषो नास्ति' इस रीतिसे दण्डविशिष्ट पुरुषमें ही प्रतीत होता है। जहाँ दण्ड भी नहीं, पुरुष भी नहीं, वहाँ तो 'दण्डी पुरुषो नास्ति' इस वाक्यसे विशेषण-विशेष्य दोनोंके ही अभाव विशिष्टमें प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार 'निर्घटं भूतलं पश्यामि' इस वाक्यमें भी चाक्षुष-ज्ञानकी विषयता यद्यपि है तो विशेष्यरूप भूतलमें ही, न कि विशेषणरूप घटा-भावमें; फिर भी वह विषयता घटाभावविशिष्ट भूतलमें प्रतीत होती है। जैसे 'वह्निमन्तं पर्वतं पश्यामि' (अर्थात् मैं पर्वतको अग्निमान् देखता हूँ), इस प्रकार जहाँ पर्वतके प्रत्यक्षका अनुव्यवसाय होता है, वहाँ यद्यपि चाक्षुष-ज्ञानकी विषयता केवल विशेष्यरूप पर्वतमें ही है, विशेषण-रूप वह्निमें नहीं; तथापि वह विषयता वह्निविशिष्ट पर्वतमें ही प्रतीत होती है।

(३) जो यह दोष दिया गया कि 'यदि घटाभाव और भूतल दोनों विजातीय ज्ञानके विषय हों तो जैसे 'पर्वतं पश्यामि, वह्निमनुमिनोमि' (अर्थात् मैं पर्वतको देखता हूँ और अग्निका अनुमान करता हूँ) इस प्रकार विलक्षण व्यवसाय-ज्ञानको विषय करनेवाला विलक्षण अनुव्यवसाय होता है, वैसे ही यहाँ भी अनुव्यवसायकी विलक्षणता होनी चाहिये'—ऐसा कथन भी अद्वैत ग्रन्थोंके शिथिल संस्कारवालोंका ही हो सकता है। क्योंकि 'अभाव-ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य ही है' इस अर्थको जो मानते हैं, उनको 'घटानुपलब्ध्या घटाभावं निश्चिनोमि, नेत्रेण भूतलं पश्यामि' (अर्थात् घट न मिलनेसे मैं घटाभावका निश्चय करता हूँ और नेत्रसे भूतलको देखता हूँ), ऐसा अबाधित अनुव्यवसाय होता है और इससे व्यवसाय-ज्ञानकी विलक्षण विषयता घटाभाव और भूतलमें भासती है।

(४) अद्वैत-वादमें जो यह दोष कहा गया कि 'अद्वैत-वादी अभाव-ज्ञानको अनुपलब्धिजन्य मानकर प्रत्यक्ष मानते हैं और 'जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वह इन्द्रियजन्य ही होता है' अनुपलब्धिवादीके मतमें इस नियमका बाध होगा'—वह भी सिद्धान्तके अज्ञानसे ही है,

इसलिये असंगत है। क्योंकि सिद्धान्तमें अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य सभी अभाव-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं माने गये हैं, किन्तु कोई ज्ञान प्रत्यक्ष और कोई परोक्ष माने गये हैं। जैसे वायुमें रूपाभाव और परमाणुमें महत्त्वाभावके ज्ञान यद्यपि अनुपलब्धिजन्य हैं तथापि वे परोक्ष ही माने गये हैं' अथवा अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य सभी अभाव-ज्ञान परोक्ष ही माने गये हैं। यह विषय विस्तारसे पूर्व अंक ३३ व ३४ में प्रतिपादन किया जा चुका है, इसलिये 'अनुपलब्धिवादी अभाव-ज्ञानको प्रत्यक्ष ही मानते हैं' यह पूर्वपक्षीका कथन सिद्धान्तके अज्ञानसे है। तथा वेदान्तपरिभाषादि ग्रन्थोंमें यदि कहीं अभाव-ज्ञानको प्रत्यक्षरूप कहा भी गया है तो वह प्रौढिवादसे ही कहा गया है। उसका आशय यही है कि 'यदि अभाव-ज्ञानको अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य मानकर प्रत्यक्षरूप भी मान लिया जाय, तब भी वक्ष्यमाण रीतिसे अभाव-ज्ञान इन्द्रियजन्य तो सिद्ध हो नहीं सकता'—ऐसा अद्वैत ग्रन्थकारोंका प्रौढिवाद है। प्रतिवादीकी उक्ति मानकर भी स्वमतमें दोषका परिहार करना, इसको 'प्रौढिवाद' कहते हैं।

(५) 'अभाव-ज्ञानको प्रत्यक्षरूप मानकर यदि उसे इन्द्रियजन्य न माना जाय तो प्रत्यक्ष-ज्ञान इन्द्रियजन्य ही होता है, इस नियमका बाध होगा'—प्रतिवादीका यह कथन भी असंगत है। इस विषयमें प्रतिवादीके प्रति यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होते हैं वे सब इन्द्रियजन्य ही होते हैं, अर्थात् इन्द्रियजन्यसे भिन्न प्रत्यक्ष-ज्ञान होते ही नहीं हैं, ऐसा नियम है? अथवा इन्द्रियजन्य जो ज्ञान होते हैं वे प्रत्यक्ष ही होते हैं, इन्द्रियजन्य ज्ञान प्रत्यक्षके सिवा होते ही नहीं; ऐसा नियम है? इन दोनों पक्षोंमें यदि प्रथम पक्ष कहा जाय तो असंगत है। क्योंकि प्रथम तो ईश्वरका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं, परन्तु प्रत्यक्ष है। न्याय-मतमें ईश्वरका ज्ञान नित्य ही माना गया है इसलिये वह इन्द्रियजन्य नहीं हो सकता और सिद्धान्तमें वह मायाजन्य माना गया है एवं ईश्वरके इन्द्रियोंका अभाव भी है इसलिये वह इन्द्रियजन्य नहीं हो सकता। दूसरे, 'दशमस्त्वमसि' (अर्थात् दशवाँ तू है) इस वाक्यसे उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष तो है,

परन्तु इन्द्रियजन्य नहीं। यदि ऐसा कहा जाय कि 'दशम पुरुषको अपने शरीरमें दशमताका ज्ञान होता है और वह शरीर नेत्रके योग्य है, इसलिये दशमका ज्ञान भी नेत्रेन्द्रियजन्य ही होता है'—यह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि निमीलितनयनको भी इस वाक्यको श्रवण करते ही अपनेमें दशमका ज्ञान होता है। यदि यह ज्ञान नेत्रजन्य ही होता हो तो नेत्र-व्यापारके विना ऐसा ज्ञान न होना चाहिये था, परन्तु होता है। इसलिये दशमका ज्ञान नेत्रजन्य नहीं हो सकता। यदि ऐसा कहा जाय कि 'दशमका ज्ञान मनोजन्य है, इसलिये यह इन्द्रियजन्य है'—वह भी असम्भव है। क्योंकि देवदत्त-यज्ञदत्तादि नाम आत्माके नहीं हैं, किन्तु न्याय-मतमें तो ये नाम शरीरविशिष्ट आत्माके और वेदान्त-मतमें सूक्ष्मविशिष्ट स्थूल शरीरके होते हैं। इसी प्रकार अहं-त्वं यह व्यवहार भी सूक्ष्मविशिष्ट स्थूल शरीरमें ही होता है। उस स्थूल शरीरका ज्ञान मनसे होना असम्भव है, क्योंकि इन्द्रियादिके संयोगविना बाह्य पदार्थोंके ज्ञानकी मनमें सामर्थ्य नहीं हो सकती। यदि ऐसा कहा जाय कि 'जब मनका अवधान होता है तभी इस वाक्यसे दशमका ज्ञान होता है, परन्तु विक्षिप्तमानसको नहीं होता; इसलिये इस अन्वय-व्यतिरेकसे भी दशम-ज्ञानका हेतु मन ही होनेसे दशम-ज्ञान मानस है और इसलिये वह इन्द्रियजन्य है'—ऐसा भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि इस प्रकारके अन्वय-व्यतिरेकसे तो सम्पूर्ण ज्ञानोंका हेतु मन ही है, विक्षिप्तमानसको तो किसी भी प्रमाणसे ज्ञान नहीं होता, किन्तु सावधानमानसको ही सभी ज्ञान होते हैं, इसलिये तब तो सभी ज्ञानोंको मानस कहना चाहिये। यद्यपि मन सर्व ज्ञानोंका साधारण कारण है और प्रत्यक्ष-अनुमानादि सभी प्रमाणोंका सहकारी है; तथापि मन-सहित नेत्रसे जो ज्ञान होते हैं उन चाक्षुष-ज्ञानोंमेंसे मन सहित अनुमान-प्रमाणसे होने वाले ज्ञानोंको अनुमिति-ज्ञान, मनसहित शब्द-प्रमाणसे होने-वालोंको शाब्द-ज्ञान कहा जाता है और अन्य प्रमाणके विना जो केवल मनसे होते हैं उन्हींको मानस-ज्ञान कहा जाता है। वह भी केवल मनसे तो आन्तर पदार्थ सुख-दुःखादिका ही ज्ञान होता है, इसलिये आन्तर

पदार्थोंका ज्ञान ही मानस कहा जाता है। चूँकि इन्द्रिय-अनुमानादिके विना बाह्य पदार्थोंका केवल मनसे ही ज्ञान होना असम्भव है, इसलिये 'दशम-ज्ञान मानस है' ऐसा कथन सम्भव नहीं होता। 'आंतर पदार्थोंका मानस-ज्ञान होता है' यह भी नैयायिकोंकी रीतिको ग्रहण करके ही कहा गया है, परन्तु सिद्धान्तमें तो कोई भी ज्ञान मानस नहीं होता। क्योंकि शुद्धात्मा तो स्वयंप्रकाश है, उसके प्रकाशमें तो किसी भी प्रमाणकी कोई अपेक्षा है ही नहीं, इसलिये आत्म-ज्ञान तो मानस हो ही कैसे ? और सुखादि साक्षीभास्य हैं, अर्थात् जिस कालमें इष्ट पदार्थके संयोगसे अन्तःकरणका परिणाम सुखाकार और अनिष्ट पदार्थके सम्बन्धसे दुःखाकार हो, उसी समय सुख-दुःखको विषय करनेवाली अन्तःकरणके सत्त्वगुणका परिणामरूप सात्त्विक-वृत्ति उत्पन्न होती है और उस वृत्तिमें आरूढ़ साक्षी सुख-दुःखको प्रकाशता है। आशय यह कि सुख-दुःखकी उत्पत्तिमें इष्ट-अनिष्टका सम्बन्ध तो निमित्त है और उस निमित्तसे सुख-दुःखको विषय करनेवाली अन्तःकरणकी वृत्ति होती है, इसलिये उस वृत्तिकी उत्पत्तिमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा होती ही नहीं है और किसी प्रमाणकी अपेक्षा न रहनेसे ही सुख-दुःख साक्षीभास्य कहे जाते हैं। यद्यपि बाह्य घटादिका प्रकाश भी केवल वृत्तिसे ही नहीं होता, किन्तु वृत्तिमें आरूढ़ चेतनसे ही होता है, इसलिये तब तो सभी पदार्थ साक्षीभास्य कहे जाने चाहिये। तथापि जहाँ घटादिके ज्ञानरूप अन्तःकरणकी वृत्ति उत्पन्न होती है, वहाँ तो इन्द्रिय-अनुमानादि प्रमाणोंकी अपेक्षा होती है, परन्तु सुख-दुःखादिके ज्ञानरूप वृत्तिकी उत्पत्तिमें किसी प्रमाणकी अपेक्षा नहीं होती, इतना ही भेद है। आशय यह कि जिस वृत्तिमें आरूढ साक्षी जिस विषयको प्रकाशता है वह वृत्ति जहाँ इन्द्रियानुमानादि प्रमाणोंसे उत्पन्न हो, वहाँ तो उस विषयको साक्षीभास्य न कहकर प्रमाणजन्य ज्ञानका विषय ही कहा जाता है। परन्तु जहाँ किसी प्रमाणके व्यापारविना ही वृत्तिकी उत्पत्ति हो और उस वृत्तिमें आरूढ साक्षी जिस विषयको प्रकाश करे, वह विषय 'साक्षीभास्य' कहलाता है। इस प्रकार सुखादि-

गोचर वृत्ति प्रमाणजन्य नहीं, किन्तु सुखादिके जनक धर्मादि-संस्कारजन्य होती हैं और इसीलिये सुखादि साक्षीभास्य कहे जाते हैं। इस रीतिसे सुखादि और उनके ज्ञान समान सामग्रीसे ही उपजते हैं और सुखादि अज्ञात नहीं किन्तु ज्ञात ही होते हैं तथा सुखादिके प्रत्यक्षमें सुखादि हेतु नहीं बनते। क्योंकि यदि सुखादि अपने ज्ञानसे पूर्व कालमें रहते हों तो वे अपने ज्ञानके हेतु बन सकें, परन्तु सुखादि और उनके ज्ञान समान कालमें और समान सामग्रीसे ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये ज्ञान और विषयका परस्पर कार्य-कारणभाव नहीं हो सकता। इसके विपरीत घटादिके प्रत्यक्ष-ज्ञानमें तो घटादि हेतु बनते हैं, क्योंकि घटादि अपने प्रत्यक्ष-ज्ञानसे पूर्व ही उपजते हैं। परन्तु जहाँ घटादिके भी अनुमित्यादि-ज्ञान होते हैं, उन अनुमित्यादि-ज्ञानोंके भी घटादि हेतु नहीं बनते। क्योंकि अनुमित्यादि-ज्ञानोंके विषय जो पदार्थ हैं, यदि वे भी अपने अनुमित्यादि-ज्ञानोंके कारण बनते हों तो ज्ञान-कालमें विषयके अभावसे अतीत व अनागत पदार्थोंके अनुमित्यादि-ज्ञान न होने चाहिये। परन्तु वे ज्ञान होते हैं, इससे स्पष्ट हुआ कि अनुमिति-शाब्दज्ञानादिमें उनके विषय कारणरूप नहीं बनते, जैसे कि वे इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-ज्ञानोंमें कारणरूप बनते हैं। इसी प्रकार सुख-दुःखादि भी स्वगोचर ज्ञानोंके कारण नहीं होते, क्योंकि वे भी स्वगोचर ज्ञानसे पूर्व नहीं रहते।

सारांश, पूर्व प्रसंग यह है कि सुखादिका ज्ञान मानस नहीं किन्तु सुखादि साक्षीभास्य है, क्योंकि वहाँ मनका कोई असाधारण विषय नहीं मिलता। इसीलिये यद्यपि अन्तःकरण सम्पूर्ण ज्ञानोंका उपादानरूप तो है, परन्तु नैयायिक जो मनरूप इन्द्रियको ज्ञानका स्वतन्त्र करण कहते हैं, उनका यह कथन असंगत है। इस प्रकार दशम-ज्ञान मानस नहीं, किन्तु शब्द-प्रमाणजन्य है और प्रत्यक्ष है। इस रीतिसे यह प्रथम पक्ष कि 'जो प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है वह इन्द्रियजन्य ही होता है' ऐसा नियम सम्भव नहीं होता। जो दूसरा पक्ष कि 'जो इन्द्रियजन्य ज्ञान होते हैं वे

प्रत्यक्ष ही होते हैं, इन्द्रियजन्य कोई भी ज्ञान अप्रत्यक्ष नहीं होते' इस नियममें सिद्धांतकी हानि नहीं। क्योंकि इन्द्रियजन्य ज्ञानको अप्रत्यक्षरूप हम भी नहीं मानते हैं, किन्तु इन्द्रियजन्य ज्ञान तो सर्वत्र प्रत्यक्ष ही होते हैं, परन्तु कहीं शब्दादिसे भी प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है, यह सिद्धांत है।

उपर्युक्त रीतिसे वेदान्तपरिभाषाके व्याख्याता श्रीधर्मराजके पुत्रकी नैयायिकानुसारी यह उक्ति कि 'अनुपलब्धि पृथक् प्रमाण नहीं और अभावका ज्ञान इन्द्रियजन्य ही होता है' सर्वथा असंगत है। वास्तवमें अभाव-ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु योग्यानुपलब्धि नामक पृथक् प्रमाण-जन्य ही है। जहाँ 'यदि प्रतियोगी होता तो उसका उपलम्भ भी होता' इस प्रकार प्रतियोगीके आरोपसे उपलम्भका आरोप हो, वहाँ अभावज्ञान योग्यानुपलब्धिजन्य है, परन्तु जहाँ अन्धकारमें घटाभावका ज्ञान हो वह तो अनुमानादिजन्य ही होता है। क्योंकि अन्धकारमें 'घट होता तो उसका उपलम्भ होता' इस प्रकार घटरूप प्रतियोगीका आरोप करनेपर निश्चितरूपसे घटके उपलम्भका आरोप सम्भव नहीं होता। इस रीतिसे न्याय-मतमें अभावके जितने भी ज्ञान इन्द्रियजन्य माने गये हैं, वेदान्तमतमें वे सब केवल अनुपलब्धिजन्य ही ग्रहण किये गये हैं। न्याय-मतमें तो अभाव-ज्ञानमें इन्द्रिय करण और अनुपलब्धि उसका सहकारी कारण है, इसलिये इन्द्रियमें ही प्रमाणता है अनुपलब्धिमें नहीं। परन्तु वेदान्त-मतमें प्रमाणता तो अनुपलब्धिमें ही है और इन्द्रिय उसका सहकारी कारण है। इस प्रकार अपने स्वरूपसे अनुपलब्धि तो दोनों मतोंमें ही सिद्ध है और जिस प्रकार वेदान्त-मतमें अनुपलब्धिमें प्रमाणता अधिक माननी होती है, उसी प्रकार न्याय-मतमें विशेषणता-सम्बन्धमें ज्ञानकी कारणता अधिक माननी होती है तथा अधिकरण व अभावका स्वरूपसे विशेषणता-सम्बन्ध तो दोनों मतोंमें ही सिद्ध है। इस रीतिसे इधर तो वेदान्तमें अनुपलब्धिमें प्रमाणता अधिक मानना और उधर न्यायमें विशेषणता-सम्बन्धमें ज्ञानकी कारणता अधिक मानना, इस प्रकार यद्यपि लाघव-गौरव किसीमें नहीं कहा जा सकता और दोनोंकी ही

समान कल्पना है; तथापि नैयायिक जो इन्द्रियमें अभाव-ज्ञानकी करणता अधिक मानते हैं यह उनके मतमें गौरव है। इसके साथ ही नैयायिक जो नेत्रव्यापारके विना ही वायुमें रूपाभावके ज्ञानको और परमाणुमें महत्त्वाभावके ज्ञानको चाक्षुष मानते हैं और इसी प्रकार अनेक स्थानोंमें जिस इन्द्रियके व्यापारविना ही जो अभाव-ज्ञान होता है उसको उस इन्द्रियजन्य ही कह डालते हैं, यह सर्वथा अनुभवविरुद्ध है। जिस इन्द्रियके व्यापारविना ही जो ज्ञान होता है फिर भी यदि उस ज्ञानको उस इन्द्रियजन्य ही मान लिया जाय तो सकल ज्ञान सकल इन्द्रियजन्य ही हो जाने चाहिये। इसलिये 'अभाव-ज्ञान इन्द्रियजन्य है' यह न्याय-मत असमीचीन है।

सारांश, यह सिद्ध हुआ कि अभाव-ज्ञान अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य है और अभाव-ज्ञानकी उत्पत्तिमें अनुपलब्धि व्यापारहीन असाधारण कारण है। इसलिये अनुपलब्धि-प्रमाणका लक्षण अभाव-ज्ञानकी असाधारण कारणता ही है।

३६ : अनुपलब्धि-प्रमाणके निरूपणका जिज्ञासुको उपयोग

अनुपलब्धिनिरूपणका जिज्ञासुको यह उपयोग है कि 'नेहनानास्ति किञ्चन' (अर्थात् यहाँ नानात्व कुछ भी नहीं है) इत्यादि श्रुति प्रपञ्चका जैसा त्रैकालिक अभाव कहती हैं, अनुभवसिद्ध प्रपञ्चका वैसा त्रैकालिक निषेध बनता नहीं है। इसलिये प्रपञ्चका अपने स्वरूपसे निषेध नहीं किया जाता है, किन्तु श्रुतिका आशय यही है कि यह प्रपञ्च परमार्थसे नहीं है। इसलिये श्रुति प्रपञ्चका पारमार्थिकत्वविशिष्ट ही त्रैकालिक अभाव कथन करती है। इस प्रकार प्रपञ्चका पारमार्थिकत्वविशिष्ट अभाव श्रुतिसिद्ध है और अनुपलब्धि-प्रमाणसे भी उसकी सिद्धि होती है। अर्थात्—

यदि यह प्रपञ्च परमार्थरूपसे होता तो जैसे इस प्रपञ्चकी अपने कालमें और जाग्रत अवस्थामें उपलब्धि होती है, वैसे ही इसकी अन्य

काल स्वप्न व सुषुप्तिमें भी उपलब्धि होती। परन्तु चूँकि इसकी उपलब्धि तो अपने कालमें ही होती है, परमार्थरूपसे सभी काल और सभी अवस्थाओंमें इसकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिये इस प्रपञ्चका परमार्थरूपसे अभाव है।

इस प्रकार प्रपञ्चाभावका ज्ञान अनुपलब्धिसे होता है। जिज्ञासुको और भी अनेक अभावोंका ज्ञान इष्ट है और वे अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य ही होते हैं ।। ॐ ।।

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें अनुपलब्धि-प्रमाण-निरूपणं नामक
षष्ठ प्रकाश समाप्त हुआ ।।

सप्तम प्रकाश

वृत्तिभेद, अनिर्वचनीयख्याति-मंडन, अन्य ख्यातिखण्डन और स्वतःप्रमात्व-प्रमाणनिरूपण

१ : उपादान (समवायी), असमवायी और निमित्त-कारण तथा संयोगका लक्षण

ग्रन्थके आरम्भमें तीन प्रश्न उपस्थित किये गये थे, उनमें 'वृत्ति किसको कहते हैं ?' इस प्रश्नसे यहाँ तक वृत्तिके लक्षण और भेदका निरूपण किया गया। 'वृत्तिका कारण क्या है ?' यह वृत्तिकी सामग्रीका प्रश्न है, इसका विचार इस प्रकाशमें नीचे किया जाता है। तथा 'वृत्तिका प्रयोजन क्या है ?' इसका निरूपण अष्टम प्रकाशमें किया जायगा।

कारणसमुदायको सामग्री कहते हैं। कारण दो प्रकारका होता है, उनमें एक उपादान-कारण और दूसरा निमित्त-कारण कहा जाता है। जिसके स्वरूपमें कार्यकी स्थिति हो, उसको 'उपादान-कारण' कहते हैं, उपादानको ही 'समवायि-कारण' भी कहा जाता है, जैसे घटका उपादान-कारण कपाल होता है। जो कार्यसे तटस्थ रहकर कार्यका जनक हो, वह 'निमित्त-कारण' कहलाता है, जैसे घटके निमित्त-कारण कुलाल-चक्र-दण्डादि होते हैं। परन्तु न्याय-वैशेषिक मतमें समवायी, असमवायी और निमित्तके भेदसे कारण तीन प्रकारका कहा गया है। कार्यके समवायि-कारणसे सम्बन्ध रखनेवाला होकर जो कार्यका जनक हो, उसको वे 'असमवायि-कारण' कहते हैं। जैसे घटका असमवायि-कारण कपाल-

संयोग और पटका असमवायि-कारण तन्तु-संयोग होता है क्योंकि कपाल-संयोग घटके समवायि-कारण कपालसे सम्बन्धी और घटका जनक होता है। तथा तन्तु-संयोग पटके समवायि-कारण तन्तुसे सम्बन्धी और पटका जनक होता है। न्याय-मतानुसार यदि समवायि-कारणके संयोगको भी कार्यका जनक न माना जाय तो वियुक्त कपालोंसे घटकी और वियुक्त तन्तुओंसे पटकी उत्पत्ति होनी चाहिये। इस प्रकार उनके मतसे द्रव्यकी उत्पत्तिमें अवयवोंका संयोग अवश्य कारणरूप मानना चाहिये। उस अवयव-संयोगमें न समवायि-कारणता ही घटती है और न निमित्त-कारणता ही घटित होती है। क्योंकि अवयव-संयोगमें कार्यकी स्थिति नहीं, किन्तु कार्यद्रव्यकी स्थिति तो अपने अवयवोंमें ही है, इसलिये अवयव-संयोगमें समवायि-कारणताका सम्भव नहीं होता। तथा अवयव-संयोग कार्यसे तटस्थ भी नहीं रहता, किन्तु अपने अवयवमें कार्यद्रव्य और अवयव-संयोग समानाधिकरण ही रहते हैं, इसलिये अवयव-संयोगमें निमित्त-कारणता भी सम्भव नहीं होती। इसीलिये असमवायि-कारण समवायी एवं निमित्त दोनोंसे विलक्षण होनेसे इस मतमें तीन प्रकारके कारण माने गये हैं। जैसे द्रव्यकी उत्पत्तिमें अवयव-संयोग असमवायि-कारण होता है, वैसे ही गुणकी उत्पत्तिमें कहीं तो गुण ही और कहीं क्रिया असमवायि-कारण होते हैं। जैसे नील तन्तुसे नील पटकी ही उत्पत्ति होती है, पीतकी नहीं; इसलिये पटके नीलरूपमें तन्तुका नीलरूप कारण होता है। पटके उस नीलरूपका समवायि-कारण पट ही है, तन्तुका नीलरूप उसका समवायि-कारण नहीं। तैसे ही तन्तुका नीलरूप पटके नीलरूपसे तटस्थ भी नहीं, किन्तु तन्तुका नीलरूप और पटका नीलरूप दोनों तन्तुमें ही रहते हैं, इसलिये दोनों समानाधिकरण होनेसे सम्बन्धी हैं, असम्बन्धी अर्थात् तटस्थ नहीं। यद्यपि पटका नीलरूप समवाय-सम्बन्धसे पटमें ही रहता है; तथापि स्वसमवायिसमवायसम्बन्धसे तो पटका नीलरूप तन्तुमें ही रहता है। 'स्व' अर्थात् पटका नीलरूप, उसका समवायी जो पट, उसका समवाय तन्तुमें रहता है। इस प्रकार पटके नीलरूपसे तन्तुका नीलरूप

समानाधिकरण है और तन्तुका नीलरूप तो साक्षात् सम्बन्धसे तन्तुमें ही रहता है तथा उस तन्तुमें ही पटद्वारा परम्परा सम्बन्धसे पटका नीलरूप भी रहता है। इस रीतिसे पटके नीलरूपसे तन्तुका नीलरूप तटस्थ न होनेसे वह निमित्त-कारण सम्भव नहीं होता, किन्तु चूँकि तन्तुका नीलरूप पटके नीलरूपका समवायि-कारण जो पट उसका सम्बन्धी है और पटके नीलरूपका जनक भी है, इसलिये वह तन्तुका नीलरूप पटके नीलरूपका असमवायि-कारण है। उपर्युक्त रीतिसे जैसे उपादानका रूप कार्यके रूपका असमवायि-कारण होता है, वैसे ही रस, गन्ध और स्पर्शमें भी जान लेना चाहिये। इसके अतिरिक्त क्रिया जिस प्रकार गुणका असमवायि-कारण बनती है, वह न्यायवैशेषिक ग्रन्थोंमें स्पष्ट है, अनुपयोगी जानकर और विस्तारभयसे यहाँ नहीं लिखा गया।

संयोगका प्रसंग अनेक स्थानोंमें आता है, इसलिये गुणकी उत्पत्तिमें क्रियाकी असमवायि-कारणताका उदाहरण कथन करनेके लिये प्रथम संयोगकी उत्पत्तिका निरूपण किया जाता है। संयोग दो प्रकारका होता है, उनमें एक कर्मज-संयोग और दूसरा संयोगज-संयोग कहा जाता है। जिसकी उत्पत्तिमें क्रिया असमयायि-कारण हो, उसको 'कर्मज-संयोग' कहते हैं और जो संयोगरूप असमवायि-कारणसे उत्पन्न हो वह 'संयोगज-संयोग' कहा जाता है। कर्मज-संयोग भी अन्यतरकर्मज और उभय-कर्मजके भेदसे दो प्रकारका होता है। संयोगके आश्रय दो पदार्थ होते हैं, उनमें जहाँ एकको क्रियासे संयोग हो वह 'अन्यतरकर्मज-संयोग' कहलाता है। जैसे जहाँ पक्षीकी क्रियासे वृक्ष-पक्षीका संयोग हो वहाँ अन्यतरकर्मज-संयोग होता है। यहाँ वृक्ष और पक्षी तो उक्त संयोगके समवायि-कारण हैं और इस संयोगका समवायि-कारण जो पक्षी, उसमें उसकी क्रिया समवाय-सम्बन्धसे रहती है, जो पक्षीसम्बन्धिनी है और पक्षी-वृक्षके संयोगकी जनक है। इसलिये वह पक्षीकी क्रिया पक्षी-वृक्षके संयोगका असमवायि-कारण है, यह अन्यतरकर्मज-संयोगका उदाहरण है। परन्तु जहाँ मेषद्वयकी क्रियासे मेषद्वयका संयोग हो, वह 'उभय-

कर्मज-संयोग' कहलाता है। क्योंकि मेषद्वयके संयोगमें दोनों मेषें तो समवायि-कारण होती हैं और उन दोनोंकी क्रिया असमवायि-कारण। जहाँ हस्तकी क्रियासे हस्त-तरुका संयोग होता है, वहाँ 'हस्त-तरु परस्पर संयुक्त हैं' इस व्यवहारकी भाँति 'काय-तरु संयुक्त हैं' ऐसा व्यवहार भी होता है, संयोगवालेको संयुक्त कहते हैं। इस स्थलमें हस्त-तरुके संयोगमें हस्तकी क्रिया तो असमवायि-कारण है ही, इसी भाँति यदि काय अथवा तरुमें भी क्रिया हो तो काय-तरुका संयोग भी क्रियाजन्य सम्भव हो। परन्तु यहाँ तरुकी भाँति कायमें भी क्रिया नहीं है, क्योंकि जहाँ सकल अवयवोंमें क्रिया हो वहीं अवयवीकी क्रिया कही जाती है। यहाँ हस्तसे इतर अन्य सभी अवयवोंके निश्चल रहते हुए कायमें क्रिया-कथन सम्भव नहीं होता। इसलिये काय-तरुके संयोगमें काय-क्रिया असमवायि-कारण है, यह कथन भी सम्भव नहीं होता, किन्तु अन्यतरकर्मज जो हस्त-तरु-संयोग, वही काय-तरु-संयोगका असमवायि-कारण होता है। क्योंकि काय-तरु-संयोगका समवायि-कारण जो काय, उसमें हस्त-तरु-संयोग स्वसमवायिसमवेतत्व-सम्बन्धसे सम्बन्धी है और काय-तरु-संयोगका जनक है, इसलिये वह हस्त-तरु-संयोग काय-तरु-संयोगका असमवायि-कारण है। 'स्व' अर्थात् हस्त-तरु-संयोग, उसका समवायी जो हस्त, उसमें समवेत जो काय, उसका हस्तमें समवेतत्वधर्मरूप ही सम्बन्ध है। इस रीतिसे परम्परा सम्बन्धका सामानाधिकरण्य-सम्बन्धमें पर्यवसान होता है। एक अधिकरणमें वर्तनको 'सामानाधिकरण्य' कहते हैं और जिनकी एक अधिकरणमें वृत्ति हो उनको 'समानाधिकरण' कहा जाता है। यहाँ हस्त-तरु-संयोग समवाय-सम्बन्धसे हस्तमें रहता है और काय भी हस्तमें समवाय-सम्बन्धसे रहती है, इसलिये दोनों ही समानाधिकरण हैं और उनका सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध है। यहाँ काय और उक्त संयोग तो हस्तमें साक्षात्सम्बन्धसे रहते ही हैं इसलिये वे समानाधिकरण हैं, परन्तु जहाँ एक साक्षात्सम्बन्धसे और दूसरा परम्परा-सम्बन्धसे रहे वहाँ भी समाना-धिकरण ही कहा जाता है और उनका सामानाधिकरण्य-सम्बन्ध ही

कहलाता है, यह प्रत्यक्ष-प्रमाणमें कहा जा चुका है। हस्त-तरु-संयोग प्रतीत होनेपर ही काय-तरु-संयोगकी प्रतीति होती है, परन्तु यदि हस्त-तरु-संयोगको न देखा जाय तो काय-तरु-संयोगकी भी प्रतीति नहीं होती, इसलिये काय-तरु-संयोगका हस्त-तरु-संयोग कारण है। यह संयोगज-संयोगका उदाहरण है। इसी संयोगको कारणाकारणसंयोगजन्यकार्याकार्यसंयोग कहते हैं। यहाँ दो संयोग हैं, उनमें हस्त-तरु-संयोग तो हेतु-संयोग और काय-तरु-संयोग फलसंयोग है। इस स्थानमें कारण शब्दसे फलसंयोगके आश्रयके समवायि-कारणका ग्रहण होता है। अर्थात् फल-संयोगके आश्रय काय व तरु दो हैं, उनमें कायका समवायि-कारण हस्त हैं, इसलिये कारण-शब्दसे हस्तका और अकारण-शब्दसे तरुका ग्रहण होता है; क्योंकि तरु एवं कायका तरु समवायि-कारण न होनेसे वह तरु अकारण है। इसी प्रकार हेतुसंयोगके आश्रयसे जो जन्य हो उसका कार्य-शब्दसे ग्रहण होता है और हेतुसंयोगके आश्रयसे अजन्यका अकार्य-शब्दसे ग्रहण होता है। यहाँ हेतुसंयोगके आश्रय हस्त व तरु हैं, उनमें हस्तसंयोगजन्य जो काय वह तो कार्य और हस्त-तरुसे अजन्य जो तरु वह अकार्य है। इस प्रकार कारण जो हस्त और अकारण जो तरु उनके संयोगसे कार्य जो काय और अकार्य जो तरु, उनका संयोग उत्पन्न होता है। इसलिये इस संयोगज-संयोगको कारणाकारणसंयोगजन्यकार्याकार्यसंयोग भी कहते हैं, अन्यथा कर्मज-संयोग ही होता है। जहाँ कपालके कर्मसे कपालद्वयका संयोग होता है और कपाल-संयोगसे कपालाकाशका संयोग होता है, वहाँ भी कर्मज-संयोग ही कहा जाता है, संयोगज-संयोग नहीं। क्योंकि जिस कपालके कर्मसे कपालद्वयका संयोग हुआ है, उसी कपाल-कर्मसे कपालाकाशका संयोग भी उपजा है। चूँकि कपालद्वय-संयोग और कपालाकाश-संयोग दोनों एक क्षणमें ही उपजते हैं, इसलिये उनका परस्पर कारण-कार्यभाव सम्भव नहीं होता। इस प्रकार कपाल-द्वयके संयोगकी भाँति कपालाकाश-संयोग भी कपालकी क्रियासे ही उपजनेसे यह कर्मज-संयोग ही है।

उपर्युक्त प्रकारसे कारणाकारणसंयोगजन्यकार्याकार्यसंयोग, अन्यतर-कर्मज-संयोग और उभयकर्मज-संयोगके भेदसे तीन प्रकारका संयोग माना गया है। कोई ग्रन्थकार चौथा सहज-संयोग भी मानते हैं। जैसे सुवर्णमें पीतरूप और गुरुत्व का आश्रय जो पार्थिवभाग और अग्निसंयोगसे जिसका नाश नहीं होता ऐसा द्रव्यत्वका आश्रय जो तैजस भाग, उन दोनोंका सहज-संयोग है। जो संयोगीके जन्मके साथ उपजे उसको 'सहज-संयोग' कहते हैं। यदि सुवर्णको केवल पार्थिव कहा जाय तो जतु (लाख) आदिक पार्थिव-द्रव्यत्वका अग्नि-संयोगसे नाश हो जानेसे सुवर्णके द्रव्यत्वका भी अग्नि-संयोगसे नाश हो जाना चाहिये और यदि सुवर्णको केवल तैजस माना जाय तो उसके पीतरूप और गुरुत्वका अभाव होना चाहिये। इसलिये सुवर्ण तैजस एवं पार्थिव-भागसंयुक्त है। इसीको मीमांसक नित्य संयोग भी कहते हैं। इस प्रकार द्रव्यकी उत्पत्तिमें तो अवयव-संयोग असमवायिकारण होता है और गुणकी उत्पत्तिमें कहीं गुण, कहीं क्रिया असमवायि-कारण होते हैं। सारांश, समवायि-कारण और निमित्त-कारणके लक्षणोंका असमवायि-कारणमें प्रवेश नहीं है, किन्तु जो समवायि-कारणसे सम्बन्धी और कार्यका जनक हो, ऐसा तीसरा असमवायि-कारण भिन्न है। इस रीतिसे समवायी, असमवायी और निमित्तके भेदसे तीन प्रकारके कारण न्यायवैशेषिकानुसारी ग्रन्थोंमें लिखे गये हैं।

२ : उभय कारणके अंगीकारपूर्वक तीसरे असमवायि-कारणका खण्डन

इसके विपरीत न्याय-वैशेषिकभिन्न मतोंमें तो उपादान और निमित्तके भेदसे दो प्रकारके ही कारण माने गये हैं और जिसको इन दोनों मतोंने असमवायि-कारण कहा है, उसको भी निमित्त-कारण ही माना गया है। त्रिविधकारणवादीने पूर्व जो यह कहा है कि असमवायि-कारणमें निमित्त-कारणका लक्षण प्रविष्ट नहीं होता, उसपर द्विविधकारणवादीका यह समाधान है—

जहाँ त्रिविधकारणवादी 'कार्यसे तटस्थ हो और कार्यका जनक हो' निमित्त-कारणका ऐसा लक्षण करते हैं, वहाँ द्विविधकारणवादी 'उपादान-कारणसे भिन्न जो कारण वह निमित्त-कारण हैं' ऐसा लक्षण करते हैं। वह निमित्त-कारण अनेकविध हैं, उनमेंसे कोई तो कार्यके उपादानमें समवेत होता है; जैसे घटका निमित्त-कारण जो कपाल-संयोग है वह घटके उपादानकारणमें ही समवेत है। कोई निमित्त-कारण कार्यके उपादानके उपादानमें समवेत होता है; जैसे पटके रूपका निमित्त-कारण तन्तुका रूप होता है, वह पट-रूपका उपादान जो पट, उसके उपादान तन्तुमें समवेत है। कोई निमित्त-कारण कर्तारूपसे चेतन होता है वह स्वतन्त्र है; जैसे घटका निमित्त-कारण कुलाल होता है। तैसे ही कोई निमित्त-कारण जड़ होता है जो कर्ताके व्यापारके अधीन होता है; जैसे दण्डादि घटके कारण होते हैं। इस प्रकार निमित्त-कारणके अनेक भेद हैं, यदि किञ्चित् विलक्षणतासे ही असमवायि-कारण पृथक् मान लिया जाय तो एक तो घटके कारण कपाल-संयोगमें और दूसरे घट-रूपके कारण कपाल-रूपमें भी कारणताका भेद मानना चाहिये। क्योंकि घटका कारण कपाल-संयोग तो कार्यके उपादानमें समवेत है और घट-रूपका कारण कपाल-रूप कार्यके उपादानके उपादानमें समवेत है। इसलिये इन दोनोंमें भी कारणकी विलक्षणतासे एक असमवायि-कारण ही न मानकर चतुर्थ कोई और कारण मानना चाहिये। परन्तु कुलाल और दण्डचक्ररूप कारणोंमें चेतन-जड़के भेदसे विलक्षणता होते हुए भी इन दोनोंको एक निमित्त-कारण ही माना जाता है, उनमें भी परस्पर विलक्षणता नहीं मानी जाती। निमित्त-कारणमें और भी अनेक विलक्षणताएँ हैं, अर्थात् कोई कारण तो कार्यके समकालवर्ति होता है और कोई कारण कार्यसे पूर्वकालवर्ति होता है। जैसे जल-पात्रके सन्निधानसे भित्तिमें सूर्यप्रभाका प्रतिबिम्ब होता है, उसमें सन्निहित जल-पाश निमित्त-कारण, है, क्योंकि उसके अपसारणसे प्रतिबिम्बका अभाव हो जाता है। इसलिये सन्निहित जल-पात्र प्रतिबिम्बका कार्य-कालवर्ति

निमित्त-कारण है एवं प्रत्यक्ष-ज्ञानमें जो विषय अपने ज्ञानके निमित्त-कारण वनते हैं वे भी कार्य-कालवर्ति ही होते हैं। परन्तु दण्डादि जो घटके निमित्त-कारण होते हैं वे तो कार्य-कालसे पूर्वकालवर्त्ति निमित्त-कारण होते हैं। इस प्रकार निमित्त-कारणोंमें अनेक भेद होनेसे यदि किञ्चित् भेदके कारण असमवायि-कारण पृथक् माना जाय तो तीन कारण ही नहीं, अनेकों कारण मानने चाहिये। इसलिये समवायि-कारणसे भिन्न सकल कारणोंमें एकविध कारणता ही माननी चाहिये, फिर समवायि-कारणसे भिन्न उस एक कारणका नाम चाहे निमित्त-कारण रखा जाय, चाहे असमवायि-कारण। तव समवायि-कारणसे सम्वन्धित्व-असम्वन्धित्वरूप अवांतर भेद वनाकर पृथक् संज्ञाकरण निष्प्रयोजन ही है। इस प्रकार समवायि-कारण और निमित्त-कारणके भेदसे कारण दो प्रकारका ही होता है। यदि ऐसी शंका की जाय––

'सिद्धांती जिस प्रकार असमवायि-कारण और निमित्त-कारणकी पृथक् संज्ञाको निष्प्रयोजन कहते हैं, उसी प्रकार समवायि-कारण और निमित्त-कारणकी भी परस्पर विलक्षणता मानना निष्प्रयोजन ही हो सकता है। क्योंकि इस विलक्षणता के माननेसे भी कोई पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होती और लोकमें भी कारणतामात्र ही प्रसिद्ध है, समवायि-कारणता और निमित्त-कारणता कोई प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये लोक-व्यवहारमें भी द्विविध-कारणता-निरूपणका कुछ भी प्रयोजन नहीं है, किन्तु लोकमें तो केवल कारण-कार्यभावका ही व्यवहार होता है। अतः 'जिसके होनेसे कार्यकी उत्पत्ति हो और जिसके न होनेसे कार्यकी उत्पत्ति न हो, ऐसा जो कार्यसे अव्यवहित पूर्वकालवर्ति हो वह कारण कहा जाता है'। इस प्रकारसे कारणका साधारण लक्षण ही करना चाहिये, फिर उसके भेदद्वयका निरूपण भी निष्प्रयोजन ही है।' इस शंकाका समाधान इस प्रकार है––

यद्यपि कारणके भेदद्वयके निरूपणसे पुरुषार्थसिद्धि अथवा लोक-व्यवहार-सिद्धिरूप कोई प्रयोजन नहीं है; तथापि पुरुषार्थका हेतु जो अद्वैत-ज्ञान है, उसमें द्विविध-कारणनिरूपण उपयोगी है। वह इस प्रकार

कि सर्व जगतका कारण ब्रह्म है और कार्य सदैव कारणसे अभिन्न ही होता है यह सिद्धान्त है, इसलिये सर्व जगत् ब्रह्मस्वरूप ही है, उससे पृथक् नहीं । इस बातको सुनकर जिज्ञासुको ऐसी शंका होती है कि यदि कार्य अपने कारणसे पृथक् न हो तो दण्ड-कुलालादिसे घट भी पृथक् न होना चाहिये । इस शंकापर यह समाधान करना पड़ता है—

'उपादान और निमित्तके भेदसे कारण दो प्रकारका होता है, उनमेंसे कार्य अपने उपादान-कारणसे तो अभिन्न होता है, परन्तु निमित्त-कारणसे अभिन्न नहीं किन्तु निमित्तसे तो भिन्न ही होता है । जैसे घट मृत्पिण्डसे तो अभिन्न है, परन्तु दण्ड-कुलालादिसे अभिन्न नहीं । तैसे ही कटक-कुण्डलादि सुवर्णसे और नखतिक्‌ंतन व क्षुरादि लोहसे अभिन्न ही होते हैं । इसी प्रकार चूँकि सर्व जगतका उपादान-कारण ब्रह्म है, इसलिये सर्व जगत् ब्रह्मसे भिन्न नहीं किन्तु ब्रह्मरूप ही है ।'

इस प्रकार कारणके भेदद्वयका निरूपण अद्वैत-ज्ञानमें तो उपयोगी है, परन्तु अन्य प्रकारसे कारणकी परस्पर विलक्षणताका निरूपण निष्फल ही है । इसलिये तत्त्व-ज्ञानमें उपयोगी पदार्थ-निरूपणके लिये कारणका तृतीय भेद निरूपण करना असंगत है । न्याय-वैशेषिकानुसारी ग्रन्थोंमें प्रथम तो तत्त्वज्ञानोपयोगी पदार्थ-निरूपणकी प्रतिज्ञा की गई और फिर तत्त्वज्ञानमें अत्यंत अनुपयोगी पदार्थोंका विस्तारसे निरूपण किया गया, जिससे उनकी प्रतिज्ञाका भंग होता है । इसपर यदि तार्किक इस प्रकार कहें—

'तत्त्व-ज्ञानका हेतु मनन है । अर्थात् 'आत्मा इतरपदार्थभिन्नः आत्मत्वात्, यो न इतरभिन्नः किन्तु इतरः स नात्मा यथा घटः' (आत्मा आत्मत्वके कारण इतर पदार्थोंसे भिन्न है, जो इतरभिन्न नहीं किन्तु इतर है वह आत्मा नहीं है, जैसे घट आत्मा नहीं होता) इस व्यतिरेकी अनुमानसे आत्मामें इतरभेदका जो अनुमिति-ज्ञान हो, वह मनन कहा जाता है । तथा इतर पदार्थोंके ज्ञानके विना आत्मामें इतरभेदका ज्ञान

सम्भव नहीं होता, क्योंकि प्रतियोगीके ज्ञानविना भेदज्ञान होता नहीं है। इसलिये आत्मामें इतरभेदकी अनुमितिरूप जो मनन, उसमें इतर पदार्थोंका निरूपण भी तत्त्व-ज्ञानका उपयोगी है।'

तार्किकका ऐसा कथन भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि श्रवण किये हुए अर्थके निश्चयके अनुकूल और प्रमेयगत सन्देहके निवृत्त करनेवाली युक्तियोंके चिन्तनका नाम ही मनन कहा गया है। इसके विपरीत भेदज्ञानसे तो अनर्थकी ही उत्पत्ति होती है। इसीलिये 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' (यह सब निश्चय-पूर्वक ब्रह्म ही है), 'द्वितीयाद्वै भयं भवति', (द्वैतसे अवश्य भय ही होता है) और 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' (जो यहाँ नानात्व ही देखता है वह मृत्यु-से-मृत्युको पाता ही रहता है), इत्यादि वाक्योंसे सभी वेदोंका तात्पर्य भेदज्ञानकी निन्दा और अभेदकी महिमामें ही है। इसलिये भेदज्ञानमें साक्षात् अथवा तत्त्व-ज्ञान-द्वारा पुरुषार्थजनकता सम्भव नहीं होती। 'मनन' पदसे भी आत्मासे इतर भेदकी प्रतीति नहीं होती किन्तु 'मनन' पदका अर्थ चिन्तनमात्र ही है, जिसका वाक्यान्तरके अनुरोधसे भेदमें नहीं किन्तु अभेद-चिन्तनमें ही पर्यवसान होता है। इसके अतिरिक्त आत्मासे इतर भेद-चिन्तन 'मनन' शब्दका अर्थ किसी भी प्रकार सम्भव नहीं होता। यदि इतर पदार्थोंके ज्ञानसे ही पुरुषार्थसाध्यरूप तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति होती हो तो सभी पुरुषोंको तत्त्व-ज्ञानकी प्राप्ति हो जानी चाहिये, अथवा किसीको भी न होनी चाहिये। वह इस प्रकार कि यदि इतर पदार्थोंका सामान्य भेदज्ञान तत्त्व-ज्ञानमें अपेक्षित हो तो वह सामान्य ज्ञान तो सभी पुरुषोंको है, इसलिये सामान्य इतर-भेद-ज्ञानसे सभीको तत्त्व-ज्ञान होना चाहिए। यदि तत्त्व-ज्ञानमें सर्व पदार्थोंका असाधारण-धर्मरूप विशेषरूपसे इतर-ज्ञान अपेक्षित हो, तब तो सर्वज्ञ ईश्वरके विना असाधारण-धर्मरूप सकल इतरोंका किसीको भी ज्ञान होना असम्भव है। इसलिये ऐसे इतर-ज्ञानके असम्भवसे तथा ऐसे इतर-भेद-ज्ञानके अभावसे किसीको भी तत्त्व-ज्ञान न होना चाहिये। इस प्रकार प्रमाणादिके निरूपणके सिवा अन्य बहुत पदार्थोंका निरूपण निष्प्रयोजन

होनेसे कारणोंमें असमवायीरूप तृतीय भेदका निरूपण अनपेक्षित ही है। यदि तार्किक ऐसे कहें—

'भावरूप कार्यकी उत्पत्ति तो त्रिविध कारणोंसे ही होती है और अभाव पञ्चविध हैं। उनमें प्रागभाव तो अनादि-सांत है, इसलिये उसका नाश तो होता है परन्तु उत्पत्ति नहीं होती। अन्योऽन्याभाव और अत्यंताभाव अनादि-अनन्त हैं, इसलिये उनकी भी उत्पत्ति नहीं होती। सामयिकाभाव सादि-सांत है, इसलिये उसके उत्पत्ति-नाश दोनों होते हैं। प्रध्वंसाभाव सादि-अनन्त है, इसलिये उसकी उत्पत्ति तो होती है, परन्तु नाश नहीं होता। इस प्रकार सामयिकाभाव और प्रध्वंसाभाव इन दोनों अभावोंकी ही उत्पत्ति होती है, इसलिये ये दोनों कार्य हैं। परन्तु इन दोनोंके समवायि-कारण अथवा असमवायि-कारण तो सम्भव हो नहीं सकते, क्योंकि जिसमें कार्य समवाय-सम्बन्धसे उपजे उसको समवायि-कारण कहा जाता है, परन्तु चूँकि अभाव तो किसीमें समवाय-सम्बन्धसे रहता ही नहीं है, इसलिये अभावका समवायि-कारण भी सम्भव नहीं होता। तथा समवायि-कारणसे सम्बन्धी जो कार्यका जनक हो उसे असमवायि-कारण कहा जाता है, परन्तु जब अभावके समवायि-कारणका ही असम्भव हुआ, तब अभावके समवायि-कारणसे सम्बन्धी और जनकका तो स्वतः ही असम्भव होनेसे उसका असमवायि-कारण भी सम्भव नहीं होता। इसलिये ये दोनों अभाव केवल निमित्त-कारणसे ही उत्पन्न होते हैं। अर्थात् भूतलादि-देशमें घटके सामयिकाभावका तो भूतलादि-देशसे घटका अपसारण निमित्त-कारण बनता है और घटके प्रध्वंसाभावका निमित्त-कारण घट तथा घटसे मुद्गरादिका संयोग होता है। इस प्रकार अभावरूप कार्य तो निमित्त-कारणमात्र जन्य ही होता है, परन्तु यावत् भावरूप कार्य तो त्रिविध-कारणजन्य ही होते हैं, यह नियम है।' इसका समाधान इस प्रकार है—

सर्गके आदिकालमें जहाँ ईश्वरकी चिकीर्षा से परमाणुमें जो क्रिया होती है, वहाँ तार्किकके इस वचनका व्यभिचार पाया जाता है। क्योंकि

वहाँ परमाणुमें क्रियाका केवल परमाणु ही समवायि-कारण होता है और ईश्वरेच्छादि निमित्त-कारण बनते हैं। वहाँ यदि कोई परमाणुसे सम्बन्धी और परमाणुकी क्रियाका जनक हो तो उसे असमवायि-कारण कहा जाय, परन्तु वहाँ तो परमाणुसे सम्बन्धी उस क्रियाका जनक कोई होता ही नहीं है। इसलिये सर्गारम्भमें परमाणुकी क्रिया कारणद्वयजन्य ही होती है, न कि कारणत्रयजन्य। इस प्रकार वहाँ तार्किकका उक्त नियम सम्भव नहीं होता और खण्डित हो जाता है। परन्तु सिद्धान्त-मतमें तो यावत् भावरूप कार्य उपादान-निमित्त कारणद्वयजन्य ही होते हैं, यह नियम है और इसका कहीं भी व्यभिचार नहीं। किन्तु जहाँ कारणत्रयजन्य कार्य कहे गये हैं, वहाँ तार्किकोंका माना हुआ असमवायि-कारण भी वास्तवमें निमित्त-कारण ही होता है, इसलिये सभी भाव-कार्य द्विविध-कारणजन्य ही होते हैं।

इस प्रकार उपादान और निमित्तके भेदसे कारण दो प्रकारका ही होता है। उनमें साधारण-असाधारणके भेदसे कारणके दो भेद कहे गये हैं, अर्थात् ईश्वरादि नव तो साधारण कारण और कपालादि घटादिके असाधारण कारण होते हैं। उन साधारण-असाधारणमें भी कोई तो उपादान और कोई निमित्त-कारण ही होते हैं। सारांश, उपादान-निमित्त-से भिन्न कारणता अलीक है।

३ : वृत्ति-ज्ञानका उपादान व निमित्त-कारण और उसका सामान्य लक्षण

अन्तःकरणकी ज्ञानाकार वृत्तिका उपादान-कारण तो अन्तःकरण और निमित्त-कारण प्रत्यक्षादि प्रमाण तथा इन्द्रिय-संयोगादि व्यापार होते हैं। ईश्वरकी ज्ञानरूप वृत्तिका उपादान माया और अदृष्टादि निमित्त-कारण होते हैं। भ्रमरूप वृत्तिका उपादान-कारण अविद्या और निमित्त-कारण दोष होता है, यह वार्ता ख्याति-निरूपणमें स्पष्ट की जायगी। इस प्रकार वृत्तिके कारण जानने चाहिये। वृत्तिका लक्षण ग्रन्थके आरम्भमें

कहा गया है, अर्थात् विषय-प्रकाशका हेतु अन्तःकरण व अविद्याका परिणाम वृत्ति कहा जाता है। कितने ही ग्रन्थोंमें अज्ञाननाशक परिणाम-को वृत्ति कहा गया है। यद्यपि विषयचेतनस्थ अज्ञानका नाश तो अपरोक्ष-ज्ञानके विना नहीं होता और प्रमातृचेतनस्थ अज्ञानका नाश परोक्ष-ज्ञानसे भी होता है तथा परोक्ष-ज्ञानसे असत्वापादक अज्ञानांशका नाश भी होता ही है, इसलिये परोक्ष-ज्ञानमें भी उक्त लक्षण की अव्याप्ति नहीं होती। तथापि सुख-दुःखाकार वृत्ति, ईश्वरकी मायारूप वृत्ति तथा शुक्ति-रजतादिगोचर अविद्याकी भ्रमरूप वृत्तिमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति अवश्य होती है। क्योंकि यदि प्रथम अज्ञात सुखादि उत्पन्न होते हों और पश्चात् उनका ज्ञान होता हो तो सुखादिके ज्ञानसे उनके अज्ञानका नाश सम्भव हो। परन्तु अज्ञात सुखादि कदाचित् उत्पन्न नहीं होते, किन्तु सुखादि और उनके ज्ञान समकालीन ही उत्पन्न होते हैं, इसलिये अज्ञात सुखादिके अभावसे सुखादिगोचर वृत्तिद्वारा अज्ञानका नाश सम्भव नहीं होता। तैसे ही ईश्वरको सभी पदार्थ असाधारणरूपसे सदा ही प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं, इसलिये वहाँ तो अज्ञानके अभावसे ही मायाकी वृत्तिरूप ज्ञानद्वारा अज्ञानका नाश सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार शुक्ति-रजतादि भ्रमरूप पदार्थोंकी और उनके ज्ञानोंकी भी एककालमें ही उत्पत्ति होती है, इसलिये उस भ्रम-वृत्तिसे भी अज्ञानका नाश सम्भव नहीं होता। तैसे ही जहाँ धारावाहिक वृत्ति हो वहाँ भी द्वितीयादि वृत्तियोंमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होती है, क्योंकि जहाँ ज्ञानधारा हो वहाँ प्रथम ज्ञानसे अज्ञानका नाश हो जानेपर द्वितीयादि ज्ञानोंका अज्ञाननाशक प्रयोजन सम्भव नहीं होता। इसलिये यह मानना चाहिये कि अज्ञाननाशक परिणाम नहीं, किन्तु विषय-प्रकाशक परिणामको ही वृत्ति कहते हैं। इसका आशय यही होता है कि अस्ति-व्यवहारका हेतु जो अविद्या व अन्तःकरणका परिणाम, उसको 'वृत्ति' कहते हैं। क्योंकि जहाँ प्रकाशक परिणामको वृत्ति कहा जायगा, वहाँ भी वृत्तिकी प्रका-शकता अज्ञात पदार्थगोचर ही होगी, ज्ञातगोचर तो वृत्तिकी प्रकाशकता

सम्भव हो नहीं सकती। वास्तवमें तो अनावृत्त-चेतनके सम्बन्धसे ही विषय-प्रकाशका सम्भव होता है, फिर वृत्तिमें विषय-प्रकाशकताकी कल्पना अयोग्य है। इसलिये अज्ञाननाशकताके सिवा वृत्तिमें अन्यविध प्रकाशकताका असम्भव होनेसे वृत्तिके उपर्युक्त प्रथम लक्षणकी भी द्वितीय लक्षणकी भाँति सुखादिगोचर वृत्तिमें अव्याप्ति ही होगी। इस प्रकार अस्ति-व्यवहारका हेतु जो अविद्या व अन्तःकरणका परिणाम, उसको 'वृत्ति' कहते हैं, क्योंकि परोक्ष-वृत्तिमें भी अस्ति-व्यवहारकी हेतुता स्पष्ट है ही। इस रीतिसे घटादिगोचर अन्तःकरणकी वृत्तिको ही घटादि-ज्ञान कहा जाता है। यद्यपि अद्वैत सिद्धान्तमें वृत्यवच्छिन्नचेतनको ही ज्ञान कहा गया है, उसमें से अबाधित विषयगोचर वृत्यवच्छिन्नचेतनका नाम प्रमा-ज्ञान और बाधित जो रज्जुमें सर्पादि, तद्गोचर वृत्यवच्छिन्नचेतनका नाम अप्रमा-ज्ञान कहा जाता है। तथापि चेतनमें 'ज्ञान' शब्दका, 'प्रमा' शब्दका और 'अप्रमा' शब्दका प्रयोग केवल वृत्ति-सम्बन्धसे ही होता है, इसी-लिये बहुत स्थानोंमें वृत्तिको भी 'ज्ञान' शब्दसे बोला जाता है।

इस प्रकार प्रमा-अप्रमाके भेदसे दो प्रकारकी वृत्ति कही गई।

४ : प्रत्यक्षके लक्षणसहित प्रमा-अप्रमारूप वृत्ति-ज्ञानका भेद

परोक्ष-अपरोक्षरूप प्रमा-वृत्तिका सामान्य निरूपण किया गया। अप्रमा भी यथार्थ-अयथार्थके भेदसे दो प्रकार की कही गई है, उनमें ईश्वर-ज्ञान और सुखादिगोचर ज्ञान तो यथार्थ अप्रमा हैं तथा शुक्ति-रजतादि-भ्रम अयथार्थ अप्रमा। प्रमाणजन्य जो यथार्थ ज्ञान हो उसे प्रमा कहते हैं, चूँकि ईश्वर-ज्ञान और सुखादिगोचर ज्ञान किसी प्रमाणजन्य नहीं, इसलिये वे प्रमा नहीं और दोषजन्य नहीं इसलिये भ्रम भी नहीं। अनेक ग्रन्थोंमें तो प्रमाका अन्य ही लक्षण किया गया है, उसके अनुसार तो ईश्वर-ज्ञानादि भी यथार्थ और प्रमा-ज्ञान ही हैं। परन्तु यथार्थ-अयथार्थभेदसे स्मृति दो प्रकारकी होती है और वे दोनों ही प्रमा

नहीं हैं । उन ग्रन्थकारोंके मतमें प्रमाका यह लक्षण किया गया है, अर्थात् 'अबाधित अर्थको विषय करनेवाला और स्मृतिसे भिन्न जो ज्ञान, वह 'प्रमा' है ।' क्योंकि शुक्ति-रजतादि-ज्ञान स्मृतिसे भिन्न हैं और वे अबाधित अर्थको भी विषय नहीं करते, किन्तु बाधित अर्थको ही विषय करते हैं, इसलिये वे प्रमा नहीं । अबाधित अर्थको विषय करनेवाला तो स्मृति-ज्ञान भी है, परन्तु स्मृति-ज्ञानमें प्रमा-व्यवहार नहीं होता, इसलिये स्मृतिभिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञानको प्रमा कहा गया । यद्यपि अन्य यथार्थ ज्ञानोंके समान यथार्थ स्मृति भी संवादी-प्रवृत्तिकी ही जनक होनेसे प्रमाका लक्षण स्मृतिसाधारण ही करना चाहिये; तथापि संवादी-प्रवृत्तिका उपयोगी प्रमात्व स्मृत्तिमें भले ही हो, फिर भी उस प्रवृत्तिका उपयोगी प्रमात्व तो अबाधित अर्थगोचरत्वमें ही निहित है, स्मृत्तिमें प्रमा-व्यवहार-का उपयोगी प्रमात्व नहीं होता । क्योंकि लौकिक और शास्त्रीय भेदसे व्यवहारके दो भेद होते हैं । उनमें शास्त्रसे बाह्य लोक जो शब्दप्रयोग करें, उसे लौकिक-व्यवहार कहते हैं और शास्त्र-परिभाषाके अनुसार जो शब्द-प्रयोग हो, उसे शास्त्रीय-व्यवहार कहा जाता है । शास्त्रसे बाह्य लौकिक-व्यवहारमें कोई भी स्मृतिमें प्रमा-व्यवहार नहीं करते हैं और शास्त्र-परिभाषाके अनुसार शास्त्रीय-व्यवहारमें भी स्मृतिमें प्रमा-व्यवहार नहीं किया जाता; जैसा कि प्राचीन ग्रन्थकारोंने स्मृतिसे भिन्न यथार्थ ज्ञानमें ही प्रमा-व्यवहार किया है । इसलिये प्रमाका लक्षण स्मृतिसे व्यावृत्त ही करना चाहिये । इसीलिये प्राचीन आचार्योंने 'यथार्थानुभवः प्रमा' अर्थात् यथार्थ अनुभवको 'प्रमा' कहते हैं, ऐसा प्रमाका लक्षण किया है । क्योंकि स्मृतिभिन्न ज्ञानको ही 'अनुभव' कहा जाता है स्मृतिको नहीं, इसलिये स्मृतिमें प्रमा-व्यवहार भी इष्ट नहीं । इसके साथ ही स्मृति-ज्ञान प्रत्यक्षादि-ज्ञानोंसे विलक्षण ही होता है, क्योंकि प्रत्यक्षादि सभी प्रमा-ज्ञानोंमें जो अनुभवत्व है वह स्मृतिमें नहीं है । इसलिये अनुभवत्वके सत्त्व-असत्त्वसे प्रत्यक्षादि-प्रमा और स्मृति विजातीय ही हैं । जैसे प्रत्यक्ष, अनुमिति और शाब्दादि प्रमारूप ज्ञानोंमें प्रत्यक्षत्व, अनु-

मितित्व और शाब्दत्वादिक विलक्षण धर्म होनेसे वे प्रत्यक्षादि-प्रमा परस्पर विजातीय हैं और उन विजातीय प्रमाके करणरूप प्रमाण भी प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्दादिके भेदसे परस्पर भिन्न हैं, तैसे ही स्मृति भी सभी अनुभवरूप प्रमासे विजातीय ही है। उस स्मृतिका कारण जो अनुभव होता है चूँकि वह किसी प्रमाका करण नहीं होता, इसलिये वह प्रमाण भी नहीं बनता और इसीलिये किसी प्रमाणजन्यताके अभावसे स्मृति प्रमा नहीं होती। यद्यपि व्याप्तिका प्रत्यक्ष अनुमितिका करण होनेसे वह व्याप्ति अनुभवजन्य है, इसी प्रकार पदका प्रत्यक्ष शाब्दी-प्रमा, गवयमें गोसादृश्यका प्रत्यक्ष उपमिति-प्रमा भी अनुभवजन्य ही हैं और प्रत्यक्ष-ज्ञान भी अनुभवका ही विशेष है, इसलिये 'अनुभव कोई प्रमाण नहीं' यह कथन असंगत है। तथापि व्याप्ति-ज्ञानत्वरूपसे व्याप्ति-ज्ञान अनुमितिका हेतु होता है। अनुभवत्वरूपसे व्याप्ति-ज्ञान अनुमितिका हेतु नहीं होता। इसी प्रकार पदका प्रत्यक्ष और सादृश्य-ज्ञान भी अनुभवत्वरूपसे शाब्दी-प्रमा और उपमिति-प्रमाके हेतु नहीं होते। परन्तु स्मृति-ज्ञानमें तो अनुभवत्वरूपसे पूर्वानुभव ही स्मृतिका हेतु होता है वर्तमान अनुभव नहीं, इसलिये वह प्रमाण नहीं हो सकता। यदि स्मृति-ज्ञानको भी प्रमा कहा जाय तो विजातीय प्रमाका करण कोई पृथक् प्रमाण ही हुआ करता है, इसलिये न्याय-शास्त्रमें तो अनुभव नामक पञ्चम प्रमाण और भट्ट व वेदान्त-मतमें सप्तम प्रमाण कहा जाना चाहिये। इसीलिये सभी ग्रन्थकारोंको स्मृतिमें प्रमा-व्यवहार इष्ट नहीं है।

यदि कोई यथार्थ ज्ञानमात्रसे ही स्मृतिमें प्रमा-व्यवहार मानते हों तो उनके अनुसार प्रमाके लक्षणमें 'स्मृतिभिन्न' ऐसा निवेश नहीं करना चाहिये, किन्तु 'अबाधित अर्थको विषय करनेवाला ज्ञान प्रमा कहलाता है' ऐसा ही प्रमाका लक्षण करना चाहिये। वहाँ चूँकि भ्रमरूप अनुभव-जन्य अयथार्थ स्मृति तो बाधित अर्थको विषय करती है, इसलिये उसमें अतिव्याप्ति नहीं होती और यथार्थ अनुभवजन्य स्मृतिमें तो प्रमा-व्यवहार इष्ट है ही, इसलिये वहाँ भी उक्त लक्षणकी अव्याप्ति नहीं

होती। क्योंकि यदि लक्षण अलक्ष्यमें घटित हो जाय तो अतिव्याप्ति हो, परन्तु यहाँ तो यथार्थ स्मृति भी लक्ष्य है इसलिये उसमें अव्याप्ति नहीं होती। इस मतके अनुसार यथार्थ-अयथार्थभेदसे वृत्ति दो प्रकारकी होती हैं, उनमें यथार्थको प्रमा और अयथार्थको अप्रमा कहा जाता है, इस मतके अनुसार प्रमाके सप्त भेद होते हैं, अर्थात् (१) प्रत्यक्ष, (२) अनुमिति, (३) शाब्दी, (४) उपमिति, (५) अर्थापत्ति,(६) अनुपलब्धि—ये षट् भेद तो हैं ही, तैसे यथार्थ स्मृति भी प्रमाका सप्तम भेद होगा। परन्तु सभी ग्रन्थोंकी मर्यादा तो यही है कि स्मृतिमें प्रमा-व्यवहार नहीं है। इसलिये प्रत्यक्षादिके भेदसे प्रमारूप वृत्ति षड्विध ही मानी गई है। उनमें प्रत्यक्ष प्रमा बाह्य व आंतरभेदसे दो प्रकारकी होती है, अर्थात् अबाधित बाह्य पदार्थगोचर वृत्ति तो बाह्य-प्रत्यक्ष-प्रमा कहलाती है। उसमेंसे पञ्चविध तो पञ्च इन्द्रियजन्य बाह्य-प्रत्यक्ष-प्रमा होती ही है और कहीं शब्दसे भी छठी बाह्यगोचर अपरोक्ष-वृत्ति होती है। जैसे 'दशमस्त्वमसि' (दशवाँ तू है) इस वाक्यसे स्थूल शरीरका अपरोक्ष-ज्ञान होता है। इस प्रकार करणभेदसे बाह्य-प्रत्यक्ष-प्रमाके षट् भेद हैं। इसके साथ ही कई ग्रन्थकार अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभावगोचर वृत्तिको भी अपरोक्ष-वृत्ति कहते हैं। उनके मतमें श्रोत्रादि पञ्च इन्द्रियाँ, शब्द और अनुपलब्धि——ये सप्त बाह्य-प्रत्यक्ष-प्रमाके करण हैं, इसलिये उनके मतसे बाह्य-प्रत्यक्ष-प्रमा सप्तविध है। परन्तु यह अर्थ पूर्व स्पष्ट किया जा चुका है कि धर्माधर्मकी भाँति अभावमें प्रत्यक्षयोग्यता नहीं है। इसलिये वृत्यावच्छिन्न चेतनका अभावावच्छिन्न चेतनसे अभेद होते हुए भी अभावगोचर वृत्ति अपरोक्ष नहीं होती, किन्तु अनुमित्यादिके समान अनुपलब्धि-प्रमाणजन्य अभावगोचर वृत्ति प्रत्यक्ष-वृत्तिसे विलक्षण ही होती है, इसलिये बाह्य-प्रत्यक्ष-प्रमाके षट् भेद ही हैं सप्त नहीं।

आन्तर-प्रत्यक्ष-प्रमा भी दो प्रकारकी होती है, एक आत्मगोचर और दूसरी अनात्मगोचर। उनमें आत्मगोचर भी दो प्रकारकी होती है, एक शुद्धात्मगोचर और दूसरी विशिष्टात्मगोचर। शुद्धात्मगोचर भी दो

प्रकारकी होती है, एक ब्रह्मगोचर और दूसरी ब्रह्मागोचर। जैसे त्वं-पदार्थबोधक वेदान्त-वाक्यसे जहाँ 'शुद्धः प्रकाशोऽहम्' (मैं शुद्ध प्रकाश हूँ) ऐसी अन्तःकरणकी वृत्ति होती है, वहाँ यद्यपि वृत्ति-देशमें ही अन्तःकरणोपहित शुद्ध चेतन है इसलिये वृत्यावच्छिन्न चेतन और विषयावच्छिन्न चेतनाका अभेद होनेसे वह वृत्ति अपरोक्ष भी है और यद्यपि उस वृत्तिके विषय शुद्ध चेतनमें ब्रह्मता भी है; तथापि वह वृत्ति अवान्तर-वाक्यसे होनेके कारण आत्माकार ही होकर वह वृत्ति ब्रह्माकार नहीं होती। यदि महावाक्यसे वह वृत्ति हुई होती तो अवश्य ब्रह्माकार होती; क्योंकि शब्दजन्य ज्ञानका यह स्वभाव होता है कि सन्निहित पदार्थ-को शब्द जिस रूपसे बोधन करे उसी रूपसे वह उसे विषय करता है, परन्तु जिस रूपसे शब्द उसे बोधन न करे उस रूपसे सन्निहित पदार्थका भी ज्ञान नहीं होता। जैसे दशम पुरुषको जहाँ शब्द 'दशमोस्ति' (दशमा है) इस रूपसे बोधन करे, वहाँ श्रोताको दशमका अपना-आपा होते हुये भी 'दशमोहम्' (मैं दशमा हूँ) इस रूपसे ज्ञान नहीं होता। यहाँ यद्यपि दशममें आत्मता है भी; तथापि आत्मता-बोधक शब्दाभावके कारण दशमको आत्मताका ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार यद्यपि आत्मामें ब्रह्मता सदा है भी, परन्तु ब्रह्मता-बोधक शब्दाभावसे आत्माको ब्रह्मताका ज्ञान नहीं होता। इसलिये उक्त वृत्ति ब्रह्मागोचर, शुद्धात्मगोचर, आन्तर-प्रत्यक्ष-प्रमा है।

सिद्धान्तमें 'इन्द्रियजन्य ज्ञान ही प्रत्यक्ष होता है' ऐसा तो अंगीकार किया नहीं गया, किन्तु वृत्यवच्छिन्न चेतनका विषयावच्छिन्न चेतनसे अभेद ही ज्ञानकी प्रत्यक्षताका हेतु माना गया है। जहाँ इन्द्रियसम्बन्धी घटादि हों वहाँ तो अन्तःकरणकी वृत्ति इन्द्रियद्वारा विषयदेशमें जाकर और विषयके समानाकार होकर विषयसे सम्बन्धवती होती है। इसलिये वहाँ तो वृत्तिचेतन और विषयचेतनकी उपाधि एक देशमें होनेसे दोनों उपहित चेतनोंका भी अभेद होता है। तैसे ही सुखादिका ज्ञान यद्यपि इन्द्रियजन्य नहीं और शुद्धात्म-ज्ञान भी यद्यपि इन्द्रियजन्य नहीं किन्तु

शब्दजन्य ही है; तथापि इन दोनों स्थानोंमें भी विषयचेतन और वृत्ति-चेतनका भेद नहीं रहता। क्योंकि सुखाद्याकार वृत्ति तो अन्तःकरणदेशमें ही होती है और सुखादि भी अन्तःकरणमें ही होते हैं, इसलिये वहाँ वृत्त्युपहित चेतन और विषयोपहित चेतनका अभेद ही रहता है। इसी प्रकार आत्माकार वृत्तिका उपादान-कारण भी अन्तःकरण ही होता है और वह वृत्ति अन्तःकरणोपहित चेतनके अभिमुख ही हुई होती है, इस-लिये आत्माकार वृत्ति भी अन्तःकरण देशमें ही होती है और अन्तःकरण ही शुद्धात्माकी उपाधि है। इस रीतिसे यहाँ भी दोनों उपाधि एक देशमें होनेसे वृत्तिचेतन और विषयचेतनका अभेद ही रहता है। इसलिये उभय चेतनोंका अभेद होनेसे सुखादि-ज्ञान और शुद्धात्म-ज्ञान भी प्रत्यक्षरूप ही होते हैं। यहाँ निष्कर्ष यही है कि जहाँ प्रमाताका विषयसे वृत्तिद्वारा अथवा साक्षात् सम्बन्ध हो, वहीं उस विषयका ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान कहलाता है और वहीं वह विषय भी प्रत्यक्ष कहा जाता है; जैसे जब घटका प्रत्यक्ष-ज्ञान हो तब 'घट प्रत्यक्ष है' ऐसा व्यवहार होता है। सारांश, बाह्य पदार्थोंसे तो प्रमाताका वृत्तिद्वारा सम्बन्ध होता है और सुखादिसे साक्षात् सम्बन्ध होता है। परन्तु अतीत सुखादिका प्रमातासे वर्तमान सम्बन्ध नहीं होता, इसीलिये अतीत सुखादिका ज्ञान स्मृतिरूप ही होता है प्रत्यक्षरूप नहीं। यद्यपि अतीत सुखादिका भी प्रमातासे सम्बन्ध तो हुआ था; तथापि प्रत्यक्षके लक्षणमें वर्तमानका ही निवेश है। इसीलिये प्रमातासे वर्तमानसम्बन्धी योग्य विषय तो प्रत्यक्ष-विषय कहलाता है और प्रमातासे वर्तमान सम्बन्धी योग्य विषयका ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान कहा जाता है, सिद्धान्तमें यही प्रत्यक्षका लक्षण किया गया है। यदि उक्त लक्षणमें 'योग्य' पद न जोड़ा जाय तो धर्मादि सदा ही प्रमाताके सम्बन्धी हैं, इसलिये वे सदा ही प्रत्यक्ष कहे जाने चाहिये और शब्दादिसे उनका जो ज्ञान होता है वह भी प्रत्यक्ष-ज्ञान ही कहलाना चाहिये। परन्तु चूँकि धर्मादि प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं, इसलिये वे प्रमाता के वर्तमानसम्बन्धी होते हुए भी उनका ज्ञान नहीं होता, इसलिये लक्षणमें 'योग्य' पदका

निवेश किया गया। वहाँ योग्यता-अयोग्यता अनुभवके अनुसार अनुमेय ही होते हैं, अर्थात् जिस वस्तुमें प्रत्यक्षताका अनुभव हो उसमें योग्यता और जिसमें प्रत्यक्षताका अनुभव न हो उसमें अयोग्यताका ज्ञान अनुमान अथवा अर्थापत्तिसे होता है। इस प्रकारकी योग्यता-अयोग्यता नैयायिकोंको भी माननी चाहिये। क्योंकि उनके मतमें भी सुखादि और धर्मादि यद्यपि आत्माके धर्म हैं और उन सबसे मनका मनसंयुक्तसमवाय सम्बन्ध भी है; तथापि योग्यता होनेसे सुखादिका तो मानससाक्षात्कार हो जाता है परन्तु योग्यताके अभावसे धर्मादि का साक्षात्कार नहीं होता। इसलिये प्रत्यक्षमें योग्यता-अयोग्यता सभी मतोंमें अंगीकरणीय है। इस प्रकार जहाँ प्रत्यक्षयोग्य वस्तुका प्रमातासे वर्तमान सम्बन्ध हो, वहाँ प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। इस अर्थमें यह शंका होती है—

(शंका)—'यदि प्रत्यक्ष-ज्ञानका यही लक्षण किया जाय तो ब्रह्मगोचर ज्ञान कदापि परोक्ष होना ही नहीं चाहिये। क्योंकि यदि प्रमाताका ब्रह्मसे कभी असम्बन्ध हो तो बाह्य ज्ञानोंके समान ब्रह्म-ज्ञान भी परोक्ष हो। परन्तु जब अवान्तर वाक्यसे 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान व अनन्तस्वरूप हैं' (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म) ऐसी वृत्ति होती है, उस कालमें भी प्रमाताका ब्रह्मसे सम्बन्ध ही है, इसलिये अवान्तर वाक्यजन्य ब्रह्म-ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही होना चाहिये। परन्तु सिद्धान्तमें तो अवान्तर वाक्यजन्य ब्रह्म-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं किन्तु परोक्ष ही माना गया है, वह उक्त रीतिसे सम्भव नहीं होता।'

(समाधान)—प्रत्यक्षके लक्षणमें जैसे विषयका 'योग्यता' विशेषण कहा गया है, तैसे 'योग्यप्रमाणजन्यता' ज्ञानका विशेषण है। इसलिये 'प्रमातासे वर्तमानसम्बन्धी योग्यविषयका योग्यप्रमाणजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान कहा जाता है।' ऐसा लक्षण करनेपर उक्त दोष नहीं रहता। क्योंकि वाक्यका यह स्वभाव है कि जहाँ श्रोताके स्वरूपबोधक पदघटित वाक्य हो वहाँ तो अपरोक्ष-ज्ञान ही होता है, परन्तु जहाँ श्रोताके स्वरूप-बोधक पदरहित वाक्य हो वहाँ परोक्ष-ज्ञान ही होता है। चाहे विषय

सन्निहित भी हो और वह प्रत्यक्षयोग्य भी हो, तब भी स्वरूपबोधक पदरहित वाक्यसे अपरोक्ष-ज्ञान नहीं होता। जैसे दशमके बोधक द्विविध वाक्य होते हैं, एक तो 'दशमोऽस्ति' (दशमा है) ऐसा वाक्य और दूसरा 'दशमस्त्वमसि' (दशमा तू है) ऐसा वाक्य होता है। उनमें प्रथम वाक्य श्रोताके स्वरूपबोधक पदरहित और दूसरा श्रोताके स्वरूपबोधक पदघटित है, इसलिये प्रथम वाक्यसे श्रोताको दशमका परोक्ष-ज्ञान ही होता है। वास्तवमें वाक्यजन्य ज्ञानका विषय जो दशम पुरुष है, वह तो दोनों स्थानोंमें श्रोताका आपा होनेसे अतिसन्निहित है और प्रत्यक्षयोग्य भी है। यदि वह प्रत्यक्षयोग्य न होता तो द्वितीय वाक्यसे भी उस दशमका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिये था, परन्तु द्वितीय वाक्यसे तो उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान होता ही है, इसलिये वह प्रत्यक्षयोग्य तो है ही। जो स्वरूपसे भिन्न हो और सम्बन्धी हो उसे 'सन्निहित' कहते हैं, परन्तु दशम तो श्रोताके स्वरूपसे भिन्न नहीं, किन्तु श्रोताका स्वरूप ही है इसलिये अति-सन्निहित है। इस प्रकार अतिसन्निहित और प्रत्यक्षयोग्य दशमका यदि वाक्यसे प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता है तो उसमें वाक्यरूप शब्द-प्रमाणकी अयोग्यता ही हेतु हो सकती है। इसके विपरीत द्वितीय वाक्यसे तो उसी दशमका तत्काल अपरोक्ष-ज्ञान हो जाता है, इसलिये द्वितीय वाक्य योग्य-प्रमाण है। यहाँ इन वाक्यों की योग्यता-अयोग्यतामें और तो कोई हेतु नहीं होता है, किन्तु केवल स्वरूपबोधक पदघटितत्व और स्वरूप-बोधक पदरहितत्व ही योग्यता-अयोग्यताके सम्पादक हैं। इस प्रकार 'दशमस्त्वमसि' (दशमा तू है) यह वाक्य तो योग्य-प्रमाण है और उससे 'दशमोऽहम्' (दशमा मैं हूँ) ऐसा प्रत्यक्ष-ज्ञान होता है। तैसे 'दशमोऽस्ति' (दशमा है) यह वाक्य अयोग्य-प्रमाण है और उससे 'दशमः कुत्रचिदस्ति' (दशमा कहीं है) ऐसा दशमका उत्पन्न हुआ ज्ञान वह परोक्ष है।

इसी प्रकार ब्रह्मबोधक वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं। एक तो 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तस्वरूप है) इस प्रकारके अवान्तर वाक्य होते हैं और दूसरे 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू ही

है) इस रूपसे महावाक्य होते हैं। क्योंकि अवान्तर वाक्योंमें श्रोताके स्वरूपबोधक पद नहीं हैं, इसलिये वे अवान्तर वाक्य श्रोताके स्वरूपका प्रत्यक्ष-ज्ञान करानेके योग्य नहीं हैं, परन्तु महावाक्योंमें श्रोताके स्वरूप-बोधक तत्वमादि पद हैं, इसलिये महावाक्य प्रत्यक्ष-ज्ञान करानेमें योग्य हैं। इस प्रकार महावाक्योंमें योग्य प्रमाणता है और उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान प्रत्यक्ष ही होता है, परन्तु अवान्तर वाक्योंमें अयोग्य प्रमाणता होनेसे उनसे उत्पन्न हुआ ज्ञान परोक्ष ही होता है प्रत्यक्ष नहीं। अवान्तर वाक्य भी दो प्रकारके होते हैं, एक तत्पदार्थके बोधक होते हैं और दूसरे त्वं-पदार्थके बोधक। उनमें तत्पदार्थबोधक अवान्तर वाक्य तो अयोग्य ही होते हैं, परन्तु 'य एष हृद्यंतर्ज्योतिः पुरुषः' (जो यह हृदयके अन्दर ही ज्योति पुरुष है) इत्यादि त्वं-पदार्थबोधक अवान्तर वाक्य भी महावाक्यकी भाँति योग्य ही हैं, अयोग्य नहीं। क्योंकि उनमें भी श्रोताके स्वरूपबोधक पद हैं, इसलिये उन त्वं-पदार्थबोधक अवान्तर वाक्योंसे भी अपरोक्ष-ज्ञान तो हो जाता है, परन्तु ऐसा अपरोक्ष-ज्ञान ब्रह्माभेदगोचर नहीं हो सकता। इसलिये वह स्वयं तो परम पुरुषार्थका साधक नहीं होता, किन्तु परम पुरुषार्थका साधक जो अभेद-ज्ञान उसमें पदार्थशोधन-द्वारा वह अवश्य उपयोगी होता है। इस प्रकार यद्यपि ब्रह्म प्रमातासे सम्बन्धित भी है और प्रत्यक्षयोग्य भी है; तथापि अयोग्य-प्रमाणरूप अवान्तर वाक्योंसे उसका परोक्ष-ज्ञान ही सम्भव होता है। इस स्थलपर अन्य शंका उपस्थित होती है—

(शंका)—प्रमातासे वर्तमानसम्बन्धी योग्यविषयका योग्यप्रमाणजन्य-ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान कहा गया है। परन्तु इस कथनसे सुखादिके प्रत्यक्षमें उक्त लक्षणका अभाव रहता है, क्योंकि सुखादिके प्रत्यक्षमें तो प्रमाण-जन्यताका ही अभाव रहनेसे योग्यप्रमाणजन्यताका तो सर्वथा असम्भव ही होता है। इसलिये सुखादिके ज्ञानोंमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होती है।

(समाधान)—प्रत्यक्षके लक्षणमें योग्यप्रमाणजन्यताका प्रवेश नहीं, किन्तु 'अयोग्य-प्रमाण-अजन्यता' का प्रवेश है। ऐसा करनेपर अव्याप्ति-

दोष नहीं रहता, क्योंकि प्रमातासे वर्तमान सम्बन्धवाला जो योग्य विषय, उसका अयोग्य प्रमाणसे अजन्य जो ज्ञान, उसको प्रत्यक्ष-ज्ञान कहा गया है। ऐसा लक्षण करनेपर अवान्तर वाक्यजन्य ब्रह्म-ज्ञानकी तो इस लक्षणमें व्यावृत्ति हो जाती है, क्योंकि उक्त रीतिसे अवान्तर वाक्य श्रोताके स्वरूपबोधक नहीं, किन्तु ब्रह्ममात्रके बोधक होनेसे वे अयोग्य प्रमाणरूप ही होते हैं और 'ब्रह्मास्ति' (ब्रह्म है) ऐसा उनसे परोक्ष-ज्ञान ही होता है। इसलिये उक्त अपरोक्ष-लक्षणकी इस परोक्ष-ज्ञानमें तो अतिव्याप्ति हो नहीं सकती और सुखादिगोचर ज्ञानमें इस लक्षणका संग्रह हो जाता है, क्योंकि सुखादिगोचर ज्ञान किसी प्रमाणसे जन्य न होनेसे वे अयोग्य प्रमाणसे अजन्य तो हैं ही। इसके साथ ही इन्द्रियजन्य घटादि-ज्ञान और महावाक्यजन्य ब्रह्म-ज्ञान भी योग्य-प्रमाणजन्य होनेसे अयोग्य-प्रमाणसे अजन्य ही हैं। इस प्रकार प्रत्यक्ष-ज्ञानका उक्त लक्षण निर्दोष है।

पूर्व प्रसंग यह है कि शुद्धात्मगोचर प्रत्यक्ष-प्रमा दो प्रकारकी होती है, एक ब्रह्मागोचर और दूसरी ब्रह्मगोचर। उनमें ब्रह्मागोचरका निरूपण किया गया, अब दूसरी ब्रह्मगोचरका निरूपण किया जाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) इस महावाक्यद्वारा जो आत्माको ब्रह्मसे अभिन्न विषय करे, वह 'ब्रह्मगोचर-शुद्धात्मगोचर-प्रत्यक्ष-प्रमा' कही जाती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानको श्रीवाचस्पति मनोजन्य कहते हैं, परन्तु अन्य मतोंमें यह ज्ञान वाक्यजन्य है। इसमें भी इतना भेद है कि संक्षेपशारीरकका तो यह सिद्धान्त है कि महावाक्यसे ब्रह्मका प्रत्यक्ष-ज्ञान ही होता है, परोक्ष कदापि नहीं। परन्तु अन्य ग्रन्थकारोंका यह मत है कि विचारसहित महावाक्यसे ही ब्रह्मका अपरोक्ष-ज्ञान होता है और विचाररहित महावाक्यसे भी केवल परोक्ष-ज्ञान ही होता है अपरोक्ष नहीं। तथापि सभी मतोंमें 'अहं ब्रह्मास्मि' यह ज्ञान शुद्धात्मगोचर, ब्रह्मगोचर और प्रत्यक्ष है, इस अर्थमें तो किसीका भी विवाद नहीं है। इस प्रकार ऊपर शुद्धात्मगोचर प्रत्यक्ष-प्रमाके दो भेद कहे गये।

विशिष्टात्मगोचर आन्तर-प्रत्यक्ष-प्रमाके तो अनन्त भेद हैं, जैसे 'अहमज्ञः' 'अहं कर्ता' 'अहं सुखी' 'अहं दुःखी' और 'अहं मनुष्यः' (मैं अज्ञ, मैं कर्ता, मैं सुखी, मैं दुखी और मैं मनुष्य हूँ) इत्यादि। यद्यपि जो ज्ञान अबाधित अर्थको विषय करे वह प्रमा कहा जाता है, परन्तु 'अहं कर्ता' इत्यादि ज्ञानोंका 'अहं न कर्ता' इत्यादि ज्ञानोंसे बाध हो जाता है, इसलिये इन उपर्युक्त ज्ञानोंको प्रमारूप कहना सम्भव नहीं होता। तथापि संसार-दशामें जो ज्ञान अबाधित अर्थको विषय करे उसीको प्रमा कहा जाता है, चूँकि संसार-दशामें उक्त ज्ञानोंका बाध नहीं होता, इसलिये ये ज्ञान प्रमा ही हैं। इस प्रकार विशिष्टात्मगोचर आन्तर-प्रत्यक्ष-प्रमाके भेद संक्षेपसे कहे गये। इसके अतिरिक्त 'मयि सुखं' 'मयि दुःखं' (मुझमें सुख, मुझमें दुःख है) इत्यादि सुखादिगोचर ज्ञान भी यद्यपि विशिष्टात्मगोचर प्रत्यक्ष-प्रमा ही हैं, परन्तु 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्यादि प्रमामें तो 'अहं' पदका अर्थ जो आत्मा, वह तो विशेष्य है और सुख-दुःखादि विशेषण हैं। इसके विपरीत 'मयि सुखं, मयि दुःखं' इत्यादि प्रमामें सुख, दुःखादि तो विशेष्य होते हैं और आत्मा विशेषण। इसीलिये 'मयि सुखं, मयि दुःखं' इत्यादि ज्ञानोंको आत्मगोचर प्रत्यक्ष-प्रमा नहीं कहा जाता, किन्तु सुखादि विशेष्य होनेसे इन्हें अनात्मगोचर आन्तर-प्रत्यक्ष-प्रमा कहते हैं। श्रीवाचस्पतिके मतमें तो विशिष्टात्म-ज्ञान और सुखादि-ज्ञान मनोजन्य हैं, परन्तु सिद्धान्तमें अन्तःकरण-विशिष्ट आत्मामें जो अन्तःकरण-भाग है, वह तो साक्षीभास्य है और चेतन-भाग स्वयं प्रकाश है। इसी प्रकार सिद्धान्तमें सुखादि भी साक्षीभास्य ही हैं और कोई भी ज्ञान मनोजन्य नहीं है, इसलिये मन इन्द्रिय भी नहीं है। इस रीतिसे स्मृतिसे भिन्न यथार्थ वृत्तिको प्रमा कहते हैं और यहाँतक उसके भेद कहे गये।

स्मृतिरूप अन्तःकरणकी वृत्ति भी यथार्थ-अयथार्थके भेदसे दो प्रकारकी होती है। उनमें यथार्थ स्मृतिके दो प्रकार होते हैं, एक आत्म-स्मृति और दूसरी अनात्म-स्मृति। तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य अनुभवके

संस्कारोंसे जो आत्म-ज्ञानकी स्मृति होती है, उसको 'यथार्थ-आत्म-स्मृति' कहते हैं। परन्तु जहाँ व्यावहारिक प्रपञ्चका मिथ्यात्व अनुभव होकर उसके संस्कारोंसे मिथ्यात्वरूपसे प्रपञ्चकी जो स्मृति होती है, उसको यथार्थ-अनात्म-स्मृति कहते हैं। इसी प्रकार अयथार्थ-स्मृति भी दो प्रकारकी होती है, एक आत्मगोचर अयथार्थ-स्मृति और दूसरी अनात्मगोचर अयथार्थ-स्मृति। अहंकारादिमें आत्मत्वके भ्रमरूप अनुभवके संस्कारोंसे अहंकारादिमें जो आत्मत्वकी स्मृति, उसे आत्मगोचर अयथार्थ-स्मृति कहते हैं। इसी प्रकार आत्मामें कर्तृत्व-भ्रमके अनुभवजन्य संस्कारोंसे 'आत्मा कर्ता है' जो ऐसी स्मृति होती है, उसको भी आत्मगोचर अयथार्थ-स्मृति ही कहते हैं। परन्तु प्रपञ्चमें सत्यत्व-भ्रमके संस्कारोंसे 'प्रपञ्च सत्य है' जो ऐसी स्मृति होती है, उसको अनात्मगोचर अयथार्थ-स्मृति कहते हैं।

इस प्रकार यथार्थ-अयथार्थके भेदसे दो प्रकारकी वृत्ति कही गई। उनमें स्मृतिभिन्न यथार्थ-वृत्ति तो प्रमारूप और दूसरी यथार्थ-वृत्ति यथार्थ-अनुभवजन्य स्मृतिरूप कही गई। अनुभवमें यथार्थता अबाधित अर्थकृत कथन की गई, अर्थात् अबाधित अर्थविषयक अनुभव ही यथार्थ कहा गया और उसीको प्रमा कहा गया। इस प्रकार अनुभवमें यथार्थता तो अबाधित अर्थके अधीन और स्मृतिमें यथार्थता यथार्थ अनुभवके अधीन होती है। चूँकि स्मृतिसे भिन्नको अनुभव कहा गया है और वह भी यथार्थ-अयथार्थके भेदसे दो प्रकारका होता है, उनमेंसे यहाँतक यथार्थ अनुभवका निरूपण किया गया। अब अयथार्थ-वृत्तिमें अयथार्थ अनुभवका निरूपण विस्तारपूर्वक नीचे किया जाता है, अयथार्थ-वृत्तिमें अयथार्थ-स्मृतिका निरूपण तो पूर्व किया ही जा चुका है, वह भी अनुभवके अयथार्थताके अधीन है। इसलिये अब अयथार्थ अनुभवका निरूपण करना चाहिये।

५ : संशयरूप भ्रमका लक्षण और उसका भेद

अयथार्थानुभव दो प्रकारका होता है, एक संशयरूप और दूसरा निश्चयरूप। क्योंकि अयथार्थ-ज्ञानको ही भ्रम कहते हैं, इसलिये संशय-

ज्ञान भी भ्रमरूप ही होता है और स्वाभावाधिकरणमें अवभासका नाम 'भ्रम' कहा गया है। संशय-ज्ञान भी परस्पर विरुद्ध उभयविषयक होता है और उन दोनोंमें एकका अभाव होता है, इसलिये संशयमें भ्रमका लक्षण घटता है। एक विशेष्यमें परस्पर विरुद्ध दो विशेषणोंका ज्ञान 'संशय' कहा जाता है। जैसे जहाँ स्थाणुका 'स्थाणुर्न वा' (स्थाणु है या नहीं) ऐसा ज्ञान हो, अथवा 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' (स्थाणु है या पुरुष है) ऐसा ज्ञान हो, वहाँ इन दोनों ज्ञानोंको ही संशय कहते हैं। यहाँ प्रथम ज्ञानमें तो स्थाणु विशेष्य है और स्थाणुत्व व स्थाणुत्वाभाव दोनों विशेषण एवं दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, दोनों एक अधिकरणमें साथ नहीं रह सकते। इसलिये स्थाणुरूप एक विशेष्यमें स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभावरूप विरुद्ध उभय विशेषणोंका ज्ञान होनेसे प्रथम संशयमें भ्रमका लक्षण घटता है। इसी प्रकार दूसरे संशयमें भी भ्रमका लक्षण घटता है, क्योंकि स्थाणुरूप एक विशेष्यमें स्थाणुत्व और पुरुषत्वरूप विरुद्ध उभय विशेषणोंका ज्ञान होता है। जैसे स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभावका परस्पर विरोध है, वैसे ही एक विशेष्यमें स्थाणुत्व और पुरुषत्वका विरोध भी अनुभवसिद्ध है। इस प्रकार प्रथम संशय तो परस्पर विरुद्ध भाव व अभावगोचर है और दूसरा संशय उभयविरुद्ध भावगोचर है। नैयायिक ग्रन्थोंमें तो ऐसा लिखा है कि संशय-ज्ञान नियमसे भाव-अभावगोचर ही होता है, केवल भावगोचर संशय होता ही नहीं। क्योंकि जहाँ 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' ऐसा संशय होता है, वहाँ भी स्थाणुत्व व स्थाणुत्वाभावरूप और पुरुषत्व व पुरुषत्वाभावरूप ये चार कोटि होती हैं। इसलिये द्विकोटिक अथवा चतुष्कोटिक दो प्रकारका संशय होता है। इनमें 'स्थाणुर्न वा' यह तो द्विकोटिक और 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' यह चतुष्कोटिक संशय कहलाता है। इस प्रकार न्याय-मतमें केवल भावगोचर संशय अप्रसिद्ध है। एक धर्मीमें प्रतीत होनेवाले धर्मको 'कोटि' कहते हैं। सारांश, सर्व प्रकारसे संशय-ज्ञान भ्रमरूप ही होता है, क्योंकि चाहे भावरूप हो चाहे अभावरूप परन्तु एक विशेष्यमें दो विरुद्ध विशेषणोंका रहना असम्भव है, उनमेंसे

किसी एकका अभाव रहना ही चाहिये। जैसे स्थाणुमें स्थाणुत्व तो है और स्थाणुत्वका अभाव नहीं है, इसलिये स्थाणुत्वाभावरहित स्थाणुमें स्थाणुत्वका अभावज्ञान भ्रमरूप ही होता है। परन्तु संशय-ज्ञान एक अंशमें भ्रमरूप होता है, सर्व अंशमें नहीं। जहाँ स्थाणुमें 'स्थाणुर्न वा' ऐसा संशय होता है, वहाँ तो स्थाणुत्वाभावरूप अभाव-अंशमें ही भ्रमरूप होता है। परन्तु जहाँ पुरुषमें 'स्थाणुर्न वा' ऐसा संशय हो, वहाँ स्थाणुत्व और स्थाणुत्वाभाव इन दो अंशोंमेंसे पुरुषमें स्थाणुत्वाभाव तो है इसलिये अभाव-अंशमें तो भ्रम नहीं, किन्तु पुरुषमें स्थाणुत्व नहीं है, इसलिये स्थाणुत्वरूप भाव-अंशमें ही यह भ्रम है। इस प्रकार जहाँ भाव-अभाव-गोचर संशय होता है, वहाँ संशय-ज्ञानमें एक अंश अवश्य रहकर अन्य अंशमें भ्रम होता है। परन्तु यदि सिद्धान्तके अनुसार उभय विरोधी भावगोचर भी संशय माना जाय तो उस संशयके सकल अंशमें भी भ्रमत्वका सम्भव होता है। जैसे 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस संशयको न्यायमतानुसार यदि चतुष्कोटिक न मानकर उभय कोटिक ही माना जाय और स्थाणु तथा पुरुषसे भिन्न किसी अन्य पदार्थमें ही 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' ऐसा संशय हो तो वहाँ संशयके धर्मीमें स्थाणुत्व और पुरुषत्व दोनों नहीं हैं, इसलिये वहाँ दोनोंका ही ज्ञान भ्रमरूप होता है। संशयमें जो विशेष्य हो वह धर्मी और जो विशेषण हो वह धर्म कहा जाता है। इसलिये 'एक धर्मीमें नाना विरुद्ध धर्मोंका ज्ञान 'संशय' कहा जाता है—' संशयका ऐसा लक्षण भी किया गया है। यद्यपि इस लक्षणका पूर्वोक्त लक्षणसे विरोध नहीं; तथापि इतना भेद अवश्य है कि पूर्वोक्त लक्षणमें तो 'उभय' पद है, इसलिये पूर्वोक्त लक्षणकी चतुष्कोटिक संशयमें अव्याप्ति होती है, क्योंकि चतुष्कोटिक संशयमें तो एक विशेष्यमें चार विशेषणोंकी प्रतीति होती है उभयकी ही नहीं। यद्यपि जहाँ चार होते हैं, वहाँ तो तीन, दो और एक भी होता है; तथापि अधिक संख्यासे न्यून संख्याका बाध हो जाता है। इसीलिये जहाँ पाँच ब्राह्मणोंके रहते हुए कोई चार ब्राह्मण कहे तो उसे मिथ्यावादी ही कहा जाता है। इस

प्रकार यद्यपि न्यून संख्या अधिक संख्याके अन्तर्भूत ही है; तथापि उस न्यून संख्याका व्यवहार नहीं होता और इसीलिये 'उभय' पद घटित पूर्वोक्त लक्षणकी चतुष्कोटिक संशयमें अव्याप्ति होनेसे इस लक्षणमें उभयके स्थानपर 'नाना' पद कहा गया है। क्योंकि एकसे भिन्नको नाना कहते हैं, इसलिये द्विकोटिक संशयकी भाँति चतुष्कोटिक संशय भी चार धर्मगोचर होनेसे नाना धर्मोंके अन्तर्भूत आ जाता है, इस हेतुसे यहाँ अव्याप्ति नहीं होती। इस प्रकार संशयको भ्रमरूप कथन किया गया—

संशयरूप भ्रमके भेदनिरूपणके पश्चात् निश्चयरूप भ्रमका विस्तारसे लक्षण किया जायगा। क्योंकि संशयरूप अथवा निश्चयरूप दोनों भ्रम ही अनर्थके हेतु होते हैं, इसलिये जिज्ञासुके लिये दोनों ही निवर्त्तनीय हैं। संशयरूप भ्रम दो प्रकारका होता है, एक प्रमाण-संशय और दूसरा प्रमेय-संशय। प्रमाणगोचर संदेहको 'प्रमाण-संशय' कहते हैं और इसीको 'प्रमाणगत असम्भावना' भी कहा जाता है। 'वेदान्त-वाक्य अद्वितीय ब्रह्मके बोधक हैं अथवा अन्य अर्थके बोधक हैं ?' यह प्रमाण-संशयका स्वरूप है और इसकी निवृत्ति शारीरकके प्रथमाध्यायके पठन वा श्रवणसे होती है। प्रमेय-संशय आत्मसंशय और अनात्मसंशयके भेदसे दो प्रकारका होता है, इनमें अनात्मसंशय तो अनेकविध है और उसके कथनका कुछ उपयोग भी नहीं है। आत्मसंशय भी अनेक प्रकारका होता है, अर्थात्—

आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है अथवा भिन्न है ? अभिन्न हो तो सर्वदा अभिन्न है अथवा मोक्ष-कालमें ही अभिन्न होता है ? यदि आत्मा सर्वदा अभिन्न हो तो वह आनन्दादि ऐश्वर्यवान् है अथवा आनन्दादि रहित है ? यदि वह आनन्दादि ऐश्वर्यवान् हो तो वे आनन्दादि उसके गुण हैं अथवा उसके स्वरूप हैं ?

इससे आदि लेकर तत् व त्वं-पदार्थविषयक अनेक प्रकारके संशय होते हैं। इसी प्रकार केवल त्वं-पदार्थगोचर संशय भी आत्मगोचर संशय ही है और वह भी अनेकविध होता है, अर्थात्—

आत्मा देहादिसे भिन्न है वा अभिन्न है? भिन्न है तो अणुरूप है वा मध्यम-परिमाण है वा विभु-परिमाण है? यदि विभु है तो कर्ता है अथवा अकर्ता है? यदि अकर्ता है तो परस्पर भिन्नरूप वे अनेक हैं अथवा वह एक है?

इस प्रकार त्वं-पदार्थगोचर अनेक संशय होते हैं, तैसे ही केवल तत्पदार्थगोचर भी अनेक प्रकारके संशय होते हैं, अर्थात्—

वैकुण्ठादि लोकविशेषवासी ईश्वर हस्त-पादादि अवयवसहित परिच्छिन्नरूप शरीरी है अथवा शरीररहित विभु है? यदि शरीररहित विभु है तो जगत्का कर्ता परमाणु आदि सापेक्ष है अथवा निरपेक्ष कर्ता है? यदि परमाणुनिरपेक्ष कर्ता है तो केवल कर्ता है अथवा अभिन्न-निमित्तोपादानरूप कर्ता है? यदि अभिन्ननिमित्तोपादान है तो प्राणिकर्म-निरपेक्ष कर्ता होनेसे विषमकारितादि दोषवान् है, अथवा प्राणिकर्म-सापेक्ष कर्ता होनेसे विषमकारितादि दोषरहित है?

इस प्रकार केवल तत्पदार्थगोचर संशय भी अनेक प्रकारके होते हैं। ये तत् तथा त्वं-पदार्थगोचर सभी संशय प्रमेय-संशय कहे जाते हैं। इनकी निवृत्ति मननसे होती है और शारीरकके द्वितीयाध्यायके अध्ययन व श्रवणसे मनन सिद्ध होता है।

ज्ञानके साधन तथा मोक्षके साधनका संशय भी प्रमेयसंशयके अन्तर्गत ही है। क्योंकि प्रमाके विषयको प्रमेय कहा जाता है और ज्ञानसाधन व मोक्षसाधन भी प्रमाके विषय होनेसे प्रमेय ही हैं, इसलिये ज्ञानसाधन व मोक्षसाधनके संशय भी प्रमेय-संशय ही हो सकते हैं। शारीरकके तृतीय अध्यायके श्रवण-मननसे इन संशयोंकी निवृत्ति होती है। इसी प्रकार मोक्षके स्वरूपका संशय भी प्रमेय-संशय ही है और शारीरकके चतुर्थ अध्यायके श्रवण-मननसे इसकी निवृत्ति होती है। यद्यपि शारीरकके चतुर्थाध्यायमें प्रथम तो साधनका विचार किया गया है और उसके बाद मोक्षरूप फलका विचार किया गया है; तथापि चतुर्थाध्यायके जितने अंशमें साधनका विचार किया गया है, तृतीयाध्यायसहित चतुर्थाध्यायके

उतने अंशसे तो साधनसंशयकी निवृत्ति होती है और शेष चतुर्थाध्यायसे मोक्षरूप फलसंशयकी निवृत्ति होती है ।

६ : निश्चयरूप भ्रमज्ञानका लक्षण

संशय-निश्चयके भेदसे भ्रमज्ञान दो प्रकारका कहा गया, उनमें संशयरूप भ्रमका निरूपण तो ऊपर किया जा चुका है, अब निश्चयरूप भ्रमका निरूपण किया जाता है । संशयसे भिन्न जो ज्ञान वह निश्चय कहा जाता है । शुक्तिका शुक्तित्वरूपसे जो यथार्थ-ज्ञान और शुक्तिका रजतत्वरूपसे जो अयथार्थज्ञान दोनों संशयसे भिन्न ज्ञान होनेसे निश्चयरूप तो होते ही हैं। उनमेंसे बाधित अर्थविषयक और संशयसे भिन्न जो ज्ञान होता है, वह निश्चयरूप भ्रम कहा जाता है । जैसे शुक्तिमें रजतत्वनिश्चयका विषय जो रजत है वह बाधित है, क्योंकि शुक्तिके ज्ञानसे संसारदशामें ही रजतका बाध हो जाता है । अर्थात् ब्रह्म-ज्ञानविना जिसका बाध न हो वह तो 'अबाधित' और ब्रह्म-ज्ञानके बिना शुक्ति आदिके ज्ञानसे ही जिसका बाध हो जाय वह 'बाधित' कहा जाता है । अथवा प्रमाताके बाधविना जिसका बाध न हो वह तो 'अबाधित' और प्रमाताके होते हुए ही जिसका बाध हो जाय वह 'बाधित' कहा जाता है । अबाधित दो प्रकारका होता है, एक तो सर्वदा अबाधित और दूसरा व्यावहारिक अबाधित होता है । उनमें जिसका सर्वदा बाध नहीं होता, ऐसा तो चेतन ही है और जिसका केवल व्यवहारदशामें ही बाध नहीं होता, ऐसा अज्ञान, महाभूत और भौतिक प्रपञ्च है । ज्ञानसमकालीन होनेसे यद्यपि सुखादि प्रातिभासिक हैं; तथापि सुखादिका ब्रह्म-ज्ञानविना बाध नहीं होता, इसलिये वे भी अबाधित ही हैं और उनका ज्ञान भी भ्रमरूप नहीं है । इसी प्रकार बाधित अर्थ भी दो प्रकारका होता है, उनमें एक तो व्यावहारिक पदार्थावच्छिन्न चेतनका विवर्त होता है और दूसरा प्रातिभासिक पदार्थावच्छिन्न चेतनका विवर्त । जैसे शुक्तिमें जो रजत वह व्यावहारिक पदार्थावच्छिन्न चेतनका विवर्त होती है, क्योंकि शुक्तिमें

रजतका अधिष्ठान शुक्त्यवच्छिन्न चेतन है और वह शुक्ति व्यावहारिक है। परन्तु यदि स्वप्नमें शुक्तिकी प्रतीति होकर उसमें रजतका भ्रम हो तो उस रजतका स्वप्नमें ही उस शुक्ति-ज्ञानसे बाध हो जाता है और उस रजतका अधिष्ठान स्वप्नशुक्त्यवच्छिन्न चेतन होता है और वह स्वप्नशुक्ति प्रातिभासिक है। इस प्रकार बाधित पदार्थ दो प्रकारके होते हैं और उनका निश्चय भ्रमरूप निश्चय कहलाता है।

७ : अध्यासका लक्षण और भेद

भ्रम-ज्ञानके विषयमें शास्त्रकारोंके वाद अनेक प्रकारके हैं, परन्तु श्रीभाष्यकारने तो उन सब मतोंसे विलक्षण भ्रमका असाधारण लक्षण ही कथन किया है। अन्य शास्त्रकार भ्रमका जैसा स्वरूप मानते हैं, उनसे यह वक्ष्यमाण लक्षण जुदा ही है, इसलिये यह असाधारण है। अर्थात् दूसरे मतोंसे असाधारण लक्षण कथन करके श्रीभाष्यकारने दूसरोंके माने हुए भ्रमके स्वरूपसे अस्वरस दर्शाया है। श्रीभाष्यकारके मतसे 'अधिष्ठानसे विषम सत्तावाले अवभासको 'अध्यास' कहते हैं।' जैसे जहाँ शुक्तिमें रजत-भ्रम हो वहाँ शुक्तिदेशमें ही रजत उत्पन्न होती है, तहाँ तात्कालिक रजत और उसका ज्ञान, इन दोनोंको सिद्धान्तमें अवभास अथवा अध्यास कहा गया है। परन्तु अन्य शास्त्रकार शुक्तिदेशमें रजतकी उत्पत्ति नहीं मानते, यही इसमें सर्व मतोंसे विलक्षणता है। केवल सत्-ख्यातिवादमें रजतकी उत्पत्ति तो मानी गई है, परन्तु इस मतसे भी जो विलक्षणता है वह आगे कथन करेंगे। व्याकरणकी रीतिसे भी 'अध्यास' पद और 'अवभास' पदके वाच्य ज्ञान और विषय दोनों होते हैं। इसीलिये अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यासके भेदसे सिद्धान्तमें अध्यास दो प्रकारका माना गया है। उन दोनोंमेंसे अर्थाध्यास तो अनेक प्रकारका होता है, अर्थात् कहीं तो केवल सम्बन्ध मात्रका अध्यास, कहीं सम्बन्धविशिष्ट सम्बन्धीका अध्यास, कहीं केवल धर्मका अध्यास, कहीं धर्मविशिष्ट धर्मीका अध्यास, कहीं अन्योऽन्याध्यास और कहीं अन्यतराध्यास होता है। अन्यतराध्यास भी दो

प्रकारका होता है, उनमें एक तो आत्मामें अनात्म-अध्यास और दूसरा अनात्मामें आत्माध्यास। इस प्रकार यद्यपि अर्थाध्यास अनेकविध होता है; तथापि पूर्वोक्त अध्यासलक्षणका सर्वत्र ही समन्वय है। अर्थात् मुख्य सिद्धान्तमें तो सभी अध्यासोंका अधिष्ठान केवल चेतन ही है और जहाँ रज्जुमें सर्पाध्यास होता है, वहाँ भी इदमाकारवृत्त्यवच्छिन्न चेतनसे अभिन्न जो रज्ज्वच्छिन्न चेतन, वही सर्पका अधिष्ठान होता है, रज्जु नहीं। यह अर्थ विचारसागरमें स्पष्ट किया जा चुका है। इस स्थलमें चेतनकी परमार्थ-सत्ता है, अथवा उस चेतनकी उपाधि जो रज्जु उसकी व्यावहारिक-सत्ता होनेसे रज्ज्वच्छिन्न चेतनकी भी व्यावहारिक-सत्ता है। दोनों ही प्रकारसे जबकि सर्प और सर्प-ज्ञानकी प्रातिभासिक-सत्ता है, तब सर्प और उसका ज्ञान दोनों ही अधिष्ठानकी सत्तासे विषम सत्तावाले अवभास हैं। इसलिये ये दोनों ज्ञान व विषय अध्यासरूप व अवभासरूप कहे जाते हैं, क्योंकि भ्रमरूप ज्ञान और उसका विषय दोनोंको ही अवभास कहते हैं।

इस प्रकार यदि सर्वत्र ही अध्यासका अधिष्ठान चेतन माना जाय, तब तो अधिष्ठानकी परमार्थ-सत्ता और अध्यस्तकी प्रातिभासिक-सत्ता होनेसे अधिष्ठानसे विषम सत्तावाला अवभास स्पष्ट ही है। सर्पका अधिष्ठान रज्जु है, ऐसा व्यवहार तो लोकमें प्रसिद्ध ही है, इसलिये चेतनके अवच्छेदकतासम्बन्धसे रज्जु भी सर्पका आश्रय तो है ही, क्योंकि चेतनमें सर्पका अधिष्ठानताका अवच्छेदक रज्जु होनेसे रज्जुमें अवच्छेदकतासम्बन्ध है। इस प्रकार यदि अवच्छेदकतासम्बन्धसे भी रज्जुको सर्पका अधिष्ठान कहा जाय, तब भी रज्जुकी व्यावहारिक और सर्पकी प्रातिभासिक-सत्ता होनेसे अधिष्ठानसे अध्यस्तकी विषम सत्ता ही है। इस प्रकार सभी अध्यासोंमें अध्यस्तसे अधिष्ठानकी विषम सत्ता ही होती है। जिस पदार्थमें आधारता प्रतीत हो वह 'अधिष्ठान' कहा जाता है, फिर यह आधारता चाहे परमार्थसे हो अथवा व्यावहारिक हो। परमार्थसे आधार हो वही अधिष्ठान होता है, ऐसा

इस प्रसंगमें आग्रह नहीं है। क्योंकि जैसे आत्मामें अनात्माका अध्यास होता है, वैसे ही अनात्मामें आत्माका अध्यास भी होता है और अनात्मामें परमार्थसे आत्माकी आधारता है नहीं, किन्तु वह आधारता आरोपित ही होती है, इसीलिये इस प्रसंगमें आधारमात्रको ही अधिष्ठान कहा गया है। जहाँ अनात्मामें आत्माका अध्यास होता है वहाँ अनात्मा अधिष्ठान होता है, और उसकी तो व्यावहारिक-सत्ता तथा आत्माकी पारमार्थिक-सत्ता होती है। इसलिये भी अधिष्ठानसे विषम सत्तावाला ही अवभास होता है।

८ : अन्योऽन्याध्यासमें शंका-समाधान

यद्यपि 'आत्माका अधिष्ठान अनात्मा है' इस कथनसे 'आत्मा आरोपित है' ऐसा ही सिद्ध होता है और जो आरोपित होता है वह कल्पित ही होता है, यह नियम है। इसलिये आत्मा भी कल्पित होगा; अतः 'अनात्मामें आत्माका अध्यास होता है' यह कथन सम्भव नहीं होता। तथापि श्रीभाष्यकारने शारीरकके आरम्भमें आत्मा-अनात्माका अन्योऽन्याध्यास कथन किया है, इसलिये अनात्मामें आत्माके अध्यासका निषेध तो बन नहीं सकता और परस्पर अध्यासको ही अन्योऽन्याध्यास कहा जाता है। अतः अनात्मामें आत्माका अध्यास मानकर ही उक्त शंकाका समाधान करना चाहिये। वह समाधान इस प्रकार है—

अध्यास दो प्रकारका होता है, एक स्वरूपाध्यास और दूसरा संसर्गाध्यास। जिस पदार्थका स्वरूप सत्-असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय उपजे उसको 'स्वरूपाध्यास' कहते हैं। जैसे रज्जुमें सर्पका और आत्मामें अनात्मस्वरूप अहंकारादिका स्वरूपाध्यास होता है। तैसे ही जिस पदार्थका स्वरूप तो प्रथम सिद्ध हो, फिर चाहे वह स्वरूप व्यावहारिक हो अथवा पारमार्थिक, परन्तु उसमें जो अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजे उसे 'संसर्गाध्यास' कहते हैं। जैसे यद्यपि मुखका दर्पणसे कोई सम्बन्ध नहीं है और यद्यपि वे दोनों ही पदार्थ व्यावहारिक हैं; तथापि दर्पणमें मुखका

सम्बन्ध तो प्रतीत होता ही है, इसलिये वह सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रक्त वस्त्रमें 'रक्तः पटः' (रक्त रूपवाला पट है) ऐसी प्रतीति होती है और इस प्रतीतिसे रक्त रूपवाले पदार्थका पटमें तादात्म्य-सम्बन्ध भी भासता है। परन्तु रक्त रूपवाला तो कुसुंभ द्रव्य है, न कि पट और इसलिये रक्त रूपका तादात्म्य-सम्बन्ध भी कुसुंभ-द्रव्यमें ही है, नकि पटमें। इस रीतिसे यद्यपि रक्तरूपवत् कुसुंभ-द्रव्य और पट दोनों व्यावहारिक हैं; तथापि उन दोनोंका तादात्म्य-सम्बन्ध तो अनिर्वचनीय ही उपजता है। इसी प्रकार 'लोहितः स्फटिकः' (स्फटिक लाल है) इस प्रतीतिसे भी यद्यपि लोहितका तादात्म्य-सम्बन्ध स्फटिकमें भासता है, परन्तु वस्तुतः लोहितका तादात्म्य तो पुष्पमें है न कि स्फटिकमें, क्योंकि रक्त रूपवाला तो पुष्प है न कि स्फटिक। इसलिये स्फटिकमें लोहितका तादात्म्य-सम्बन्ध अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। इस प्रकार अनेक स्थानोंमें यद्यपि सम्बन्धी तो व्यावहारिक हैं, परन्तु उनके सम्बन्धोंके ज्ञान अनिर्वचनीय ही उपजते हैं और उनको संसर्गाध्यास कहा जाता है। उपर्युक्त दृष्टान्तोंके अनुसार यद्यपि चेतनका अहंकारमें अध्यास सम्भव नहीं होता, क्योंकि चेतन तो पारमार्थिक है; तथापि चेतनके सम्बन्धका अहंकारमें अध्यास सम्भव होता है। अर्थात् आत्मता है तो चेतनमें परन्तु अहंकारमें उसकी प्रतीति होती है, इसी-लिये चेतनस्थ आत्मताका तादात्म्य अहंकारमें प्रतीत होता है और इसी लिये चेतनस्थित आत्मताका तादात्म्य अहंकारमें अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है। अथवा यों कहिये कि आत्मचेतनवर्ति तादात्म्यका अहंकारमें अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजता है, इसलिये चेतन तो कल्पित नहीं किन्तु चेतनका अहंकारमें तादात्म्य-सम्बन्ध कल्पित है, अथवा आत्मचेतनके तादात्म्यका सम्बन्ध कल्पित है। इस प्रकार यद्यपि अद्वैत ग्रन्थोंमें भी उक्त उदाहरणोंमें अन्यथाख्यातिका अङ्गीकार किया गया है; तथापि ब्रह्मविद्याभरणमें तो उक्त रीतिसे सर्वत्र ही अनिर्वचनीय ख्याति मानकर ही निर्वाह किया गया है। विचारसागरमें और इस ग्रन्थमें भी पूर्व जो

यह लिख आये हैं कि जहाँ अधिष्ठानसे आरोप्यका सम्बन्ध हो वहाँ अन्यथाख्याति होती है, वह तो ग्रन्थान्तरकी रीतिसे ही लिखा गया है। यदि जहाँ अधिष्ठान-आरोप्यका सम्बन्ध हो वहाँ अन्यथाख्यातिका ही आग्रह हो तो, 'अहंकारमें चेतनका तादात्म्य अन्यथाख्यातिसे प्रतीत होता है' इस कथनमें भी कोई बाधा नहीं है। सारांश, पारमार्थिक पदार्थका अभाव होते हुए जहाँ उसकी प्रतीति होती हो, वहाँ तो पारमार्थिक पदार्थका व्यावहारिक पदार्थमें अनिर्वचनीय सम्बन्ध और उसका अनिर्वचनीय ज्ञान ही उत्पन्न होता है। परन्तु व्यावहारिक पदार्थका अभाव होते हुए जहाँ उसकी प्रतीति होती हो, वहाँ तो अनिर्वचनीय सम्बन्ध ही नहीं किन्तु अनिर्वचनीय सम्बन्धी और सम्बन्धीका अनिर्वचनीय ज्ञान उत्पन्न होता है तथा कहीं सम्बन्धमात्रका अनिर्वचनीय ज्ञान उपजता है।

इस प्रकार सर्वत्र अधिष्ठान-अध्यस्तकी विषम सत्ता ही होती है। अर्थात् जहाँ आत्माका अनात्मामें अध्यास हो वहाँ भी अध्यस्तरूप आत्मा पारमार्थिक और अधिष्ठानरूप अनात्मा व्यावहारिक होनेसे विषम सत्तावाले होते हैं और जहाँ आत्मा तो अध्यस्त नहीं होता किन्तु आत्माका सम्बन्ध अनात्मामें अध्यस्त होता है वहाँ भी विषम सत्ता ही होती है।

८ : अनात्मामें अध्यस्त आत्माकी परमार्थ-सत्ताविषय तात्पर्य

ऊपर जो यह कहा गया है कि 'जहाँ अनात्मामें आत्माध्यास हो वहाँ अध्यस्तकी परमार्थ सत्ता होनेसे विषम सत्ता होती है और ब्रह्म-विद्याभरणमें भी उक्त स्थलमें अध्यस्तकी परमार्थ-सत्ता ही मानी गई है। उसका तात्पर्य यह है—

शुद्ध पदार्थसे विशिष्ट पदार्थ पृथक् ही होता है, यह नियम है। इस-लिये जहाँ अनात्मामें आत्माके सम्बन्धका अध्यास कहा गया है, वहाँ सम्बन्धविशिष्ट आत्माका ही अध्यास जानना चाहिये, आत्माके स्वरूपका नहीं। क्योंकि आत्मा तो अपने स्वरूपसे सत्य है और इसीलिये ऊपर

अध्यस्तरूप आत्माकी पारमार्थिक सत्ता उसके स्वरूपकी दृष्टिसे ही कही गई है। यद्यपि अध्यस्त तो कल्पित ही होता है; तथापि यदि कल्पित आत्मसम्बन्धविशिष्ट हो तो भी तद्गत शुद्धस्वरूप आत्मा कल्पित नहीं होता। क्योंकि विशिष्टसे शुद्ध पृथक् होनेसे विशिष्टकी कल्पितता शुद्धमें स्पर्श नहीं करती। इस प्रकार केवल आत्मसम्बन्धका अध्यास कथन करनेसे सम्बन्धविशिष्ट आत्माका अध्यास कहना और अध्यस्तकी परमार्थ सत्ता कहना ही श्रेष्ठ है। क्योंकि यदि केवल आत्माके सम्बन्धका ही अध्यास कहा जाय तो अधिष्ठान-आरोप्यकी विषम सत्ता सम्भव नहीं होती। वह इस प्रकार कि इधर तो आत्माका सम्बन्ध अहंकारमें अध्यस्त है और उधर स्फुरणरूप चेतनका तादात्म्य-सम्बन्ध घटादिमें अध्यस्त है, इसलिये 'घटः स्फुरति' (घट फुरता है) ऐसा व्यवहार घटमें स्फुरणरूप चेतनके सम्बन्धसे ही प्रतीत होता है। इन दोनों स्थलोंमें आत्म-चेतनके सम्बन्धके अधिष्ठान जो अहंकार और घटादि हैं वे दोनों व्यावहारिक हैं और उनमें चेतनका सम्बन्ध भी व्यावहारिक ही है, न कि प्रातिभासिक। क्योंकि यदि चेतनका सम्बन्ध प्रातिभासिक होता हो तो ब्रह्म-ज्ञानके विना ही उसका वाध हो जाना चाहिये, परन्तु होता नहीं। इस प्रकार आत्माका सम्बन्ध और अधिष्ठानरूप अनात्मा दोनों की एक व्यावहारिक सत्ता ही होनेसे विषम सत्ताका अभाव रहता है और तब अध्यासका लक्षण भी सम्भव नहीं होता। इसलिये केवल सम्बन्धका अध्यास न मानकर सम्बन्धविशिष्ट आत्माका ही अनात्मामें अध्यास मानना चाहिये। जिससे अध्यस्तके विशेष्यभागकी परमार्थ सत्ता होनेसे सम्बन्ध-विशिष्ट आत्मचेतनकी तो परमार्थ सत्ता और अधिष्ठानरूप अनात्माकी व्यावहारिक सत्ता हो जाती है और इस प्रकार दोनोंकी विषम सत्ता होनेसे अध्यासका लक्षण घटित हो जाता है। स्वप्नका अधिष्ठान जो साक्षी है उसकी तो स्वरूपसे ही परमार्थ-सत्ता और स्वप्न-पदार्थोंकी प्रातिभासिक सत्ता होनेसे तथा इस प्रकार अधिष्ठान-अध्यस्तकी विषम सत्ता होनेसे वहाँ भी अध्यासका लक्षण सम्भव होता है।

यद्यपि सत्तास्वरूप तो चेतन ही है और उसका भेदकथन सम्भव नहीं होता; तथापि चेतनस्वरूप सत्तासे 'सत्ता' नामक एक भिन्न पदार्थ है, उसमें उत्कर्ष-अपकर्षका भेद सम्भव है और उसीके पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिकरूपसे तीन भेद किये गये हैं। प्रातिभासिकमें भी उत्कर्षापकर्ष होते हैं, जैसे स्वप्नमें कितने ही ऐसे पदार्थ प्रतीत होते हैं जिनका स्वप्नमें ही बाध हो जाता है। परन्तु स्वप्नवाले जिन पदार्थोंका जाग्रतमें ही बाध होता है उनकी अपेक्षा स्वप्नमें बाधित पदार्थोंकी अपकृष्ट सत्ता है। इस प्रकार चेतनस्वरूप सत्तासे पृथक् सत्ताका स्वरूप श्रुतिमें भी लिखा गया है, जैसे 'सत्यस्य सत्यं प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यमिति'। अर्थात् व्यावहारिक सत्य पदार्थोंसे प्राण सत्य हैं और उनसे भी यह आत्मा सत्य है। इधर रजतकी सत्तासे तो शुक्तिकी सत्ता उत्कृष्ट है ही, यह तो सबके ही अनुभवसिद्ध है। इस प्रकार उत्कर्षापकर्षरूप सत्ता चेतनसे पृथक् होती है। इस रीतिसे अध्यासका लक्षण कहा गया।

१० : अध्यासका अन्य लक्षण

अब अध्यासका अन्य लक्षण कहा जाता है। अर्थात् अपने अभावके अधिकरणमें अवभासको 'अध्यास' कहते हैं। जैसे शुक्तिमें रजतका पारमार्थिक और व्यावहारिक अभाव रहता है और रजत अनिर्वचनीय होती है, इसलिये रजताभावका अधिकरण जो शुक्ति उसमें रजत और रजत-ज्ञान होनेसे वहाँ रजतावभास होता है। इस प्रकार कल्पितके अधिकरणमें कल्पितका अभाव होनेसे यह अध्यास-लक्षण सर्वत्र घटित होता है।

११ : एक अधिकरणमें भाव व अभावके विरोधकी शंका और उसका समाधान

यद्यपि एक अधिकरणमें भाव और अभावका विरोध ही होता है। हाँ, यद्यपि एक अधिकरणमें तरुसे संयोग और उसका अभाव भी मूलादि

देशके भेदसे रहते हैं परन्तु एक ही देशमें नहीं। इसलिये एक अधिकरणमें भाव व अभावका रहना असम्भव है। तथापि पदार्थोंका विरोध अनुभवके अनुसार ही कहा जा सकता है, केवल भाव व अभावको लेकर ही नहीं कहा जा सकता। जैसे यद्यपि घटत्व और पटत्व दोनों भावरूप तो हैं; तथापि वे दोनों एक अधिकरणमें नहीं रह सकते और उनका परस्पर विरोध रहता है, परन्तु द्रव्यत्व व घटत्वका विरोध नहीं और वे दोनों एक अधिकरणमें रह सकते हैं। तैसे ही वर्तमान घटके अधिकरण भूतलमें अतीतकालविशिष्ट घटका अभाव रहता है और उनका विरोध नहीं, इसलिये यद्यपि शुद्ध घटाभावसे तो घटका विरोध है परन्तु विशिष्ट-घटाभावसे घटका विरोध नहीं होता। इसी प्रकार संयोग-सम्बन्धसे घटवाले भूतलमें समवायसम्बन्धावच्छिन्न घटाभाव रहता है और उससे घटका विरोध नहीं। तैसे ही यद्यपि समान-सत्तावाले प्रतियोगी और अभाव तो एक अधिकरणमें नहीं रह सकते और उनका विरोध है; तथापि विषम सत्तावाले प्रतियोगीका अभावसे विरोध नहीं है। क्योंकि कल्पित-के अभावकी तो पारमार्थिक अथवा व्यावहारिक सत्ता होती है और कल्पितकी प्रातिभासिक, इसलिये उनका विरोध नहीं होता। जैसे जहाँ शुक्ति रजतभ्रम हो वहाँ रजत व्यावहारिक तो है नहीं इसलिये वहाँ रजतका व्यावहारिक अभाव ही है और पारमार्थिक रजत तो कहीं होती ही नहीं, इसलिये रजतका पारमार्थिक अभाव तो केवलान्वयी ही है, अतः शुक्तिमें रजतका पारमार्थिक अभाव भी है। इस प्रकार चूंकि शुक्तिमें अनिर्वचनीय रजत और उसका अनिर्वचनीय ज्ञान समकालीन उत्पन्न होते हैं और समकालीन ही नष्ट होते हैं, इसलिये वहाँ रजत प्रातिभासिक ही है। जिसकी सत्ता प्रतीति कालमें ही हो और प्रतीति-शून्य कालमें न हो उसको 'प्रातिभासिक' कहते हैं। इस प्रकार यद्यपि भ्रम-ज्ञान और उसका विषय अनिर्वचनीय ही उत्पन्न होता है तथा सत्-असत्से विलक्षणको अनिर्वचनीय कहते हैं, तथापि उसका अभाव व्याव-हारिक होता है। इस प्रकार विषम सत्तावाले प्रतियोगी और अभावका

परस्पर विरोध नहीं होता, यद्यपि व्यावहारिक अभावका व्यावहारिक प्रतियोगीसे विरोध होता भी है।

१२ : अध्यासके प्रसंगमें चार शंका

इस प्रसंगमें चार शंकाएँ उपस्थित होती हैं, वे इस प्रकार—

(१) 'स्वप्नप्रपञ्चका अधिष्ठान साक्षी है' यह पूर्व कहा गया, वह सम्भव नहीं होता। क्योंकि अपने अधिष्ठानमें जो आरोपित होता है वह अपने अधिष्ठानसे सम्बद्ध ही प्रतीत होता है। जैसे शुक्तिमें आरोपित जो रजत है वह 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकार अपने अधिष्ठान शुक्तिकी इदंतासे सम्बद्ध ही प्रतीत होती है और आत्मामें जो कर्तृत्वादि आरोपित हैं वे 'अहं कर्ता' (मैं कर्ता हूँ) इस रीतिसे अपने अधिष्ठान आत्मासे सम्बद्ध ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार यदि स्वप्नके गजादि साक्षीमें आरोपित हों तो 'अहं गजः' अथवा 'मयि गजः' (मैं हाथी हूँ, या मेरेमें हाथी है) इस प्रकार स्वप्न-गजादि साक्षीसे सम्बद्ध ही प्रतीत होने चाहिये, परन्तु होते नहीं।

(२) 'शुक्तिमें रजताभाव व्यावहारिक है अथवा पारमार्थिक है' यह पूर्व कहा गया, वह सम्भव नहीं होता। क्योंकि अद्वैतवादमें केवल चेतनको ही पारमार्थिक माना गया है, यदि उससे भिन्न किसी अन्यको भी पारमार्थिक माना जाय तो अद्वैतवादकी हानि होगी। हाँ, 'शुक्तिमें रजत पारमार्थिक नहीं है, इसलिये वहाँ पारमार्थिक रजतका अभाव है' ऐसा कथन तो सम्भव हो सकता है, परन्तु 'शुक्तिमें रजताभाव पारमार्थिक है' ऐसा कथन सम्भव नहीं होता।

(३) 'शुक्तिमें अनिर्वचनीय रजतके उत्पत्ति-नाश होते हैं' ऐसा पूर्व कहा गया, वह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि यदि 'शुक्तिमें रजतके उत्पत्ति-नाश होते हों तो घटके उत्पत्ति-नाशकी भाँति रजतके उत्पत्ति-नाश भी प्रतीत होने चाहिये। जैसे जब घट उत्पन्न होता है, तब 'घट उत्पन्न हुआ है' और जब घटका नाश होता है, तब 'घट नष्ट

हुआ है' इस प्रकार घटके उत्पत्ति-नाशोंकी प्रतीति होती है। उसी प्रकार शुक्तिमें जब रजतकी उत्पत्ति हो, तब तो 'अब रजत उत्पन्न हुई है' और जब शुक्ति-ज्ञानसे रजतका नाश हो, तब 'अब रजत नष्ट हुई है' इस प्रकार शुक्तिमें रजतके उत्पत्ति-नाश प्रतीत होने चाहिये। परन्तु वास्तवमें शुक्तिमें तो केवल रजत की ही प्रतीति होती है, उसके उत्पत्ति-नाशों की नहीं। इसलिये शास्त्रान्तरकी रीतिसे अन्यथाख्याति आदि ही समीचीन जान पड़ती हैं और अनिर्वचनीयख्यातिका असम्भव ही जान पड़ता है।

(४) 'भ्रमस्थलमें सत्-असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय रजतादि उत्पन्न होते हैं' ऐसा जो पूर्व कथन किया गया, वह तो सर्वथा असंगत ही है। क्योंकि सत्से विलक्षण तो असत् होता है और असत्से विलक्षण सत् ही हुआ करता है। परन्तु यहाँ सत्से विलक्षणता तो है और वह असत् नहीं तथा असत्से विलक्षणता तो है, परन्तु वह सत् नहीं। इस प्रकार ये दोनों कथन विरुद्ध ही प्रतीत होते हैं।

इस प्रकार ये चार शंकाएँ उपस्थित होती हैं।

१३ : उपर्युक्त चारों शंकाओंके समाधान

क्रमपूर्वक उक्त चारों शंकाओं के समाधान इस प्रकार हैं—

(१) 'साक्षीमें स्वप्नाध्यास हो तो 'अहं गजः' 'मयि गजः' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये' इस शंकाका समाधान इस प्रकार है—

अध्यास सदैव पूर्वानुभवजनित संस्कारोंसे ही हुआ करता है। अर्थात् जैसा पूर्व अनुभव हुआ हो वैसा ही संस्कार होता है और फिर उस संस्कारके समान ही अध्यास होता है। सभी अध्यासोंका उपादान-कारण जो अविद्या है वह तो सर्वत्र समान ही होती है, परन्तु निमित्त-कारण जो पूर्वानुभवजन्य संस्कार होते हैं वे विलक्षण होते हैं। अर्थात् जैसा-जैसा पूर्वानुभवजन्य संस्कारोंका उद्बोध हो, वैसा-वैसा ही अविद्याका परिणाम होता है। जिस पदार्थका अहमाकार ज्ञानजन्य संस्कारके सहित

अविद्याका परिणाम हो, उस पदार्थका अहमाकाररूप अध्यास होता है। जिस पदार्थका ममताकार ज्ञानजन्य संस्कारके सहित अविद्याका परिणाम हो, उस पदार्थका ममताकाररूप अध्यास होता है। जिस पदार्थका इदमाकार अनुभवजन्य संस्कारके सहित अविद्याका परिणाम हो, उस पदार्थका इदमाकाररूप अध्यास होता है। इस स्थलमें स्वप्नके गजादिका पूर्वानुभव इदमाकार ही हुआ है, अहमाकारादि अनुभव कभी हुआ नहीं, इसलिये गजादिगोचर अनुभवजन्य संस्कार भी इदमाकार ही हुए हैं और इसीलिये 'अयं गजः' (यह हाथी है) ऐसी ही प्रतीति होती है, 'अहं गजः' अथवा 'मयि गजः' ऐसी कदापि नहीं। संस्कार अनुमेय होते हैं अर्थात् कार्यके अनुकूल संस्कारकी अनुमिति होती है। यहाँ संस्कारका जनक जो पूर्वानुभव वह अध्यासरूप है और उस पूर्वानुभवका जनक जो अन्य संस्कार वह भी इदमाकार ही होता है। इस प्रकार चूँकि अध्यास-प्रवाह अनादि चला आता है, इसलिये 'प्रथम अनुभवकी इदमाकारतामें कोई हेतु नहीं है' ऐसी शंकाका सम्भव नहीं हो सकता। क्योंकि अनादि-पक्षमें कोई भी अनुभव प्रथम नहीं कहा जा सकता, किन्तु सभी अनुभव पूर्व-पूर्वसे उत्तर-उत्तर ही होते हैं।

(२) 'यदि रजताभावको पारमार्थिक माना जाय तो अद्वैतकी हानि होगी' इस द्वितीय शंकाका समाधान इस प्रकार है—

'सिद्धांतमें सभी पदार्थ कल्पित हैं, परन्तु उनका अभाव पारमार्थिक है और वह ब्रह्मरूप ही है' ऐसा श्रीभाष्यकारका मत है। इसमें युक्ति आगे चलकर कथन करेंगे, इसलिये ऐसा माननेसे अद्वैतकी हानि नहीं होती।

(३) 'यदि शुक्तिमें रजतकी उत्पत्ति मानी जाय तो उसकी प्रतीति होनी चाहिये' इस तृतीय शंकाका समाधान इस प्रकार है—

शुक्तिमें रजत और रजतमें शुक्तिकी इदंता दोनों परस्पर तादात्म्य-सम्बन्धसे अध्यस्त हैं, इसीलिये 'इदं रजतम्' (यह रजत है) इस प्रकार शुक्तिमें रजतकी प्रतीति होती है। जैसे रजतमें शुक्तिकी इदंताका

सम्बन्ध अध्यस्त है तैसे ही शुक्तिका प्राक्सिद्धत्व-धर्म भी उसमें अध्यस्त है। रजतप्रतीतिकालसे प्रथमसिद्धको 'प्राक्सिद्ध' कहते हैं। रजतप्रतीतिकालसे प्रथमसिद्ध शुक्ति है, इसलिये उसमें ही प्राक्सिद्धत्व-धर्म रहता है। इस प्रकार शुक्तिकी इदंताके साथ-साथ शुक्तिके प्राक्सिद्धत्व-धर्मका अध्यास भी रजतमें होता है और इसीलिये 'इदानीं रजतं जातम्' (अब रजत उत्पन्न हुई है) ऐसी प्रतीति न होकर 'प्राग्जातं रजतं पश्यामि' (प्राग्जात रजतको देखता हूँ) ऐसी प्रतीति होती है। इस प्रतीतिका विषय जो प्राग्जातत्व है वह रजतमें तो है नहीं, किन्तु शुक्तिमें है और रजतमें तो इदानींजातत्व ही है, परन्तु रजतमें प्राग्जातत्वकी प्रतीति होती अवश्य है। इस स्थलमें यदि रजतमें अनिर्वचनीय प्राग्जातत्वकी उत्पत्ति मानी जाय तो गौरव होता है, यदि शुक्तिके प्राग्जातत्वकी रजतमें प्रतीति मानी जाय तो अन्यथाख्याति माननी होती है और यद्यपि ऐसे स्थलोंमें सिद्धान्तमें भी अन्यथाख्याति मान ली जाती है; तथापि शुक्तिके प्राक्सिद्धत्व-धर्मका रजतमें अनिर्वचनीय-सम्बन्ध उत्पन्न होता है, यह पक्ष ही समीचीन है। इस प्रकार रजतमें शुक्तिके प्राक्सिद्धत्व-धर्मके सम्बन्धकी प्रतीतिसे रजतकी उत्पत्तिकी प्रतीतिका प्रतिबन्ध हो जाता है, क्योंकि प्राक्सिद्धता और वर्तमानउत्पत्ति दोनों परस्पर विरोधी हैं। जहाँ प्राक्सिद्धता हो वहाँ वर्तमानउत्पत्ति नहीं होती और जहाँ वर्तमानउत्पत्ति हो वहाँ प्राक्सिद्धता नहीं होती। इस प्रकार शुक्तिवर्ति प्राक्सिद्धत्व-धर्मके सम्बन्धकी प्रतीतिसे उत्पत्तिप्रतीतिका प्रतिबन्ध हो जानेसे रजतकी उत्पत्ति होते हुए भी उसकी उत्पत्तिकी प्रतीति नहीं होती। इस शंकाका कि 'यदि रजतका नाश होता हो तो उसके नाशकी प्रतीति होनी चाहिये' समाधान यह है—

जब शुक्तिरूप अधिष्ठानका ज्ञान हो जाता है तभी रजतका नाश होता है और उस अधिष्ठान-ज्ञानसे रजतका बाधरूप निश्चय ही होता है। अर्थात् शुक्तिमें कालत्रयमें भी रजत नहीं है, इस निश्चयको बाध कहा जाता है और ऐसा निश्चय नाशप्रतीतिका भी विरोधी है। क्योंकि

नाशमें तो प्रतियोगी निमित्त होता है, परन्तु बाधमें तो प्रतियोगीका सर्वदा अभाव ही भासता है और जिसका 'सर्वदा अभाव है' ऐसा ज्ञान हो जाय उसकी नाशबुद्धि सम्भव नहीं होती। किंवा जैसे घटादिका मुद्गरादिसे चूर्णीभावरूप नाश हो जाता है, वैसा कल्पितका नाश नहीं होता। किन्तु अधिष्ठान-ज्ञानसे अज्ञानरूप उपादानके सहित कल्पितकी निवृत्ति ही होती है और अधिष्ठानमात्रका अवशेष ही अज्ञानसहित कल्पितकी निवृत्ति कहलाती है। यहाँ वह अधिष्ठान शुक्ति है और रजतका नाश शुक्तिका अवशेषरूप है, यह अनुभवसिद्ध है। अतः रजतके नाशकी प्रतीति ही नहीं होती, यह कथन साहससे है।

(४) 'सत्-असत्से विलक्षण कहना विरुद्ध है' इस चतुर्थ शंकाका यह समाधान है—

यदि स्वरूपरहितको सद्विलक्षण और विद्यमानस्वरूपको असद्विलक्षण कहा गया हो तो अवश्य विरोध हो, क्योंकि एक ही पदार्थमें स्वरूप-राहित्य और स्वरूपसाहित्य सम्भव नहीं होते। इसलिये यहाँ सत्-असत्-विलक्षणका उक्त अर्थ नहीं है, किन्तु कालत्रयमें जिसका बाध न हो उसको 'सत्' कहते हैं, परन्तु जिसका बाध हो जाय वह 'सद्विलक्षण' कहा जाता है। तथा शशश्रृंग एवं वन्ध्यापुत्रके समान जो स्वरूपहीन हो उसको 'असत्' कहते हैं, परन्तु उससे विलक्षण जो स्वरूपवान् हो वह 'असद्विलक्षण' कहा जाता है। इस प्रकार बाधके योग्य परन्तु स्वरूपवान् 'सत्-असत्-विलक्षण' शब्दका अर्थ है। अर्थात् 'सद्विलक्षण' शब्दका तो बाधयोग्य और 'असद्विलक्षण' शब्दका स्वरूपवान् अर्थ होता है।

१४ : पूर्वोक्त अध्यासके भेदका अनुवाद और उसमें उदाहरण

इस प्रकार जहाँ भ्रम-ज्ञान होता है वहाँ सर्वत्र ही अनिर्वचनीय पदार्थकी उत्पत्ति होती है, फिर कहीं तो सम्बन्धीकी और कहीं सम्बन्धकी उत्पत्ति होती है। जैसे शुक्तिमें तो रजतरूप सम्बन्धीकी और रजतमें

शुक्तिवर्ति तादात्म्य-सम्बन्धकी उत्पत्ति होती है तथा रजतमें शुक्तिवर्ति प्राक्सिद्धत्व-धर्मके अनिर्वचनीय सम्बन्धकी भी उत्पत्ति होती है। इसके विपरीत रजतमें न तो शुक्तिवर्ति तादात्म्यकी अन्यथाख्याति ही है और न शुक्तिके प्राग्जाततत्वकी ही अन्यथाख्याति है। इस प्रकार यह अन्योऽन्याध्यासका उदाहरण कहा गया। वह अन्योऽन्याध्यास दो प्रकारका होता है, एक तो सम्बन्धाध्यास और दूसरा स्वरूपाध्यास होता है इसीको सम्बन्धी-अध्यास भी कहते हैं। जहाँ अन्योऽन्याध्यास होता है वहाँ अधिष्ठान और अध्यस्त दोनोंका परस्पर स्वरूपसे अध्यास नहीं हुआ करता, किन्तु आरोपितका तो अपने अधिष्ठानमें स्वरूपसे ही अध्यास हुआ करता है, परन्तु अधिष्ठानका आरोपितमें स्वरूपसे नहीं किन्तु अधिष्ठानका धर्म व सम्बन्ध ही अध्यस्त हुआ करता है। जैसे रजतत्वधर्मविशिष्ट रजतका जो शुक्तिमें अध्यास होता है वह तो स्वरूपसे ही अध्यास है, इसलिये शुक्तिमें रजतका स्वरूपाध्यास कहा जाता है। परन्तु रजतमें शुक्तिका स्वरूपसे अध्यास नहीं, किन्तु शुक्तिवर्ति इदन्तारूप धर्मके सम्बन्धका ही अध्यास होता है, इसलिये इसको सम्बन्धाध्यास कहा जाता है। सम्बन्धाध्यास भी दो प्रकारका होता है, उनमें एक तो धर्मके सम्बन्धका अध्यास, जैसा ऊपर शुक्तिके इदन्तारूप धर्मका अध्यास कहा गया और दूसरा धर्मीके सम्बन्धका अध्यास, जैसे दर्पणमें मुखरूप धर्मीके सम्बन्धका अध्यास होता है। इसी प्रकार आत्मामें अन्तःकरणका तो स्वरूपसे ही अध्यास होनेसे स्वरूपाध्यास होता है, परन्तु आत्माका अन्तःकरणमें स्वरूपाध्यास नहीं, किन्तु आत्मसम्बन्धका ही अध्यास होनेसे अन्तःकरणमें आत्माका सम्बन्धाध्यास होता है और इसीको संसर्गाध्यास भी कहते हैं। अर्थात् ज्ञानस्वरूप तो केवल आत्मा ही है अन्तःकरण नहीं, परन्तु आत्मस्थ ज्ञानका सम्बन्ध अन्तःकरणमें प्रतीत होता है, इसलिये आत्माका अन्तःकरणमें सम्बन्धाध्यास ही है स्वरूपाध्यास नहीं। इसी प्रकार 'घटः स्फुरति' 'पटः स्फुरति' (घट तथा पट फुरते हैं) इस रीतिसे आत्माका स्फुरणरूप सम्बन्ध सभी व्यावहारिक जड़ पदार्थोंमें प्रतीत होता है, इसलिये निखिल

पदार्थोंमें आत्मस्थ स्फुरणका सम्बन्धाध्यास होता है। तैसे ही काणत्व-वधिरत्वादि इन्द्रियोंके धर्म आत्मामें प्रतीत होते हैं, इसलिये इन इन्द्रिय-धर्मोंका तो आत्मामें धर्माध्यास होता है, परन्तु धर्मीरूप इन्द्रियोंका आत्मामें तादात्म्याध्यास नहीं होता। क्योंकि 'अहं काणः अहं बधिरः' (मैं काणा, मैं बहरा हूँ) ऐसी प्रतीति तो होती है, परन्तु 'अहं नेत्रम् अहं श्रोत्रम्' (मैं आँख, मैं कान हूँ) ऐसी प्रतीति कदापि नहीं होती। यद्यपि नेत्रादि निखिल प्रपञ्चका ही आत्मामें अध्यास है; तथापि निखिल प्रपञ्चका अध्यास तो ब्रह्मचेतनमें ही हो सकता है, त्वंपदार्थ आत्मामें नहीं। अविद्याकी कुछ ऐसी अद्भुत महिमा है कि एक ही पदार्थके एक धर्मविशिष्टका तो अध्यास हो जाता है, परन्तु अपर धर्मविशिष्टका नहीं होता। जैसे ब्राह्मणत्वादि धर्मविशिष्ट शरीरका तो आत्मामें तादात्म्याध्यास होता है, परन्तु शरीरत्वविशिष्ट शरीरका आत्मामें अध्यास नहीं होता। इसीलिये विवेकी भी 'ब्राह्मणोऽहम्-मनुष्योऽहम्' (मैं ब्राह्मण हूँ, मैं मनुष्य हूँ) ऐसा व्यवहार तो करते हैं, परन्तु 'शरीरमहम्' (मैं शरीर हूँ) ऐसा व्यवहार कदापि नहीं करते। इसीलिये अविद्याकी ऐसी अद्भुत महिमा होनेसे आत्मामें इन्द्रियोंके अध्यासके बिना ही काणत्वादि इन्द्रिय-धर्मोंका अध्यास हो जाता है। यह धर्माध्यासका उदाहरण कहा गया। अन्याश्रित हो और स्वतन्त्र न हो उसको 'धर्म' कहते हैं, इस प्रकार सम्बन्ध भी स्वतन्त्र न रहनेसे धर्म ही है और सम्बन्धका अध्यास भी धर्माध्यास ही है, पृथक् नहीं। परन्तु धर्म दो प्रकारका होता है, उनमें एक धर्म तो अनुयोगी-प्रतियोगीकी प्रतीतिके अधीन प्रतीतिका विषय होता है और दूसरा अनुयोगीमात्रकी प्रतीतिके अधीन प्रतीतिका विषय होता है। परन्तु कदाचित अनुयोगीकी प्रतीतिके विना भी केवल धर्मकी ही प्रतीति होती है। जैसे घटत्वादिकी प्रतीतिमें तो अनुयोगी-मात्रकी प्रतीतिकी अपेक्षा रहती है, परन्तु 'घटत्व नित्य है' इत्यादि वाक्यजन्य प्रतीतिमें तो अनुयोगीकी प्रतीतिकी भी अपेक्षा नहीं रहती। उपर्युक्त रीतिसे दो प्रकारका धर्म कहा गया, उनमेंसे अनुयोगी-प्रतियोगी-

की प्रतीतिके विना जिस धर्मकी प्रतीति नहीं होती उस धर्मको ही सम्बन्ध कहते हैं और घटत्वादिको केवल धर्म ही कहते हैं, सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार सम्बन्धाध्यास भी धर्माध्यास ही है।

उपर्युक्त रीतिसे अन्योऽन्याध्यास, सम्बन्धाध्यास, स्वरूपाध्यास, धर्माध्यास एवं धर्मी-अध्यासके लक्षण और उदाहरणोंका वर्णन किया गया। ये सभी अध्यास फिर अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यासके भेदसे दो प्रकारके होते हैं। इनमें अनिर्वचनीय वस्तुकी प्रतीतिको तो 'ज्ञानाध्यास' और उस ज्ञानके विषय अनिर्वचनीय पदार्थको 'अर्थाध्यास' कहा जाता है। इस प्रकार सभी भ्रमोंमें अध्यासके उपर्युक्त दोनों लक्षण, अर्थात् 'अधिष्ठानसे विषम सत्तावाला अवभास अध्यास कहा जाता है' अथवा 'स्वाभावाधिकरण-में अवभास अध्यास कहलाता है' घटित होते हैं। इस प्रकार चूँकि भ्रम-काल और भ्रमस्थलमें अनिर्वचनीय विषय और उसका ज्ञान एक साथ उत्पन्न होते हैं, इसलिये सर्वत्र इन दोनों अध्यास-लक्षणोंका संभव होना स्वाभाविक ही है। परन्तु परोक्ष-अपरोक्षके भेदसे भ्रम दो प्रकारका होता है, उनमें अपरोक्ष-भ्रमके उदाहरण कहे गये। जहाँ वह्निशून्य देशमें वह्निका अनुमिति-ज्ञान हो वह परोक्ष-भ्रम कहलाता है। उसकी रीति इस प्रकार है कि वास्तवमें तो महानसत्व वह्निका व्याप्य नहीं है, किन्तु धूम ही है। परन्तु महानसमें बारम्बार वह्निदर्शनके अध्याससे यदि महानसत्वमें वह्नि-की व्याप्यताका भ्रम हो जाय और वह्निशून्य महानसमें भी ऐसा अनु-मान हो—'इदं महानसं वह्निमत्, महानसत्वात्, पूर्वदृष्टमहानसवत्' (पूर्व-दृष्ट महानसके समान यह महानस महानसत्व के कारण अग्निवान् है), तब महानसमें वह्निका अनुमितिरूप परोक्ष-भ्रम होता है। तथा विप्र-लम्भक-वाक्यसे वह्निका शाब्दी परोक्ष-भ्रम भी होता है। परन्तु जहाँ परोक्ष-भ्रम होता है वहाँ अनिर्वचनीय विषयकी उत्पत्ति नहीं मानी जाती, किन्तु उस देशमें असत् वह्निकी प्रतीति ही होती है। यद्यपि अध्यासका लक्ष्य तो परोक्ष-भ्रम नहीं किन्तु अपरोक्ष-भ्रम ही है; तथापि वह्निके अभावाधिकरणमें वह्निकी प्रतीति होने से स्वाभावाधिकरणमें अवभास तो

है ही, क्योंकि विषय और ज्ञानको ही अवभास कहते हैं। इस प्रकार यद्यपि वह्निके अभावाधिकरणमें वह्निका परोक्ष-ज्ञानरूप अवभास होनेसे उपर्युक्त अध्यास-लक्षणकी परोक्ष-भ्रममें अतिव्याप्ति होती है; तथापि उक्त लक्षणमें 'अवभास' पदसे अपरोक्ष-ज्ञानका ही ग्रहण होता है, परोक्ष-ज्ञानका नहीं। इसलिये उक्त लक्षणकी परोक्ष-भ्रममें अतिव्याप्ति नहीं हो सकती, किन्तु जहाँ परोक्ष-भ्रम हो वहाँ तो जिस प्रकार नैयायिकादि अन्यथाख्यातिसे निर्वाह करते हैं उससे विलक्षण कहनेमें अद्वैतवादका भी आग्रह नहीं है। किन्तु अद्वैतवाद तो अपरोक्ष-भ्रमरूप प्रातिभासिक अध्यासमें ही विलक्षणता ग्रहण करता है, क्योंकि कर्तृत्वादि जो अनर्थरूप भ्रम है वह अपरोक्ष ही है और अपने आत्मस्वरूपके ज्ञानद्वारा उस भ्रमकी निवृत्तिके लिये ही अध्यासका निरूपण किया जाता है। अतः अध्यासके प्रतिपादनमें दृष्टान्तके लिये अपरोक्ष-भ्रमको ही ग्रहण करनेमें अद्वैतवादका आग्रह है, परोक्ष-भ्रममें शास्त्रान्तरसे विलक्षणता कहनेमें न आग्रह है और न प्रयोजन ही है।

१५ : सिद्धान्तसम्मत अनिर्वचनीयख्यातिकी रीति

सिद्धान्तमें अनिर्वचनीयख्यातिका अंगीकार किया गया है, उसकी यह रीति है—

जहाँ रज्ज्वादिमें सर्पादि भ्रम होते हैं, वहाँ अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान और विशेष अज्ञान अध्यासका हेतु होता है। इसलिये दोषसहित नेत्ररूप प्रमाणसे रज्जुका इदमाकार सामान्य ज्ञान ही होता है, विशेष नहीं। उस दोषसहित नेत्रका रज्जुसे सम्बन्ध होनेपर अन्तःकरणकी इदमाकार वृत्ति जो रज्जुदेशमें गई, उससे प्रमातृचेतनका इदंपदार्थावच्छिन्न चेतनसे भेद नहीं रहता। इससे रज्जुका सामान्य इदंरूप तो प्रत्यक्ष हो जाता है और उस प्रत्यक्षविषयका इदमाकार ज्ञान भी प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि प्रमातृचेतनका जिस विषयसे अभेद होता है वह विषय प्रत्यक्ष और उसका ज्ञान भी प्रत्यक्ष कहलाता है, यह नियम है। अथवा यों कहिये

कि प्रमाणचेतनका विषयचेतनसे अभेद ही ज्ञानके प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक है। इस स्थलमें चूँकि प्रमातृचेतनका विषयचेतनसे अभेद वृत्तिद्वारा ही हुआ है, इसलिये वृत्तिरूप प्रमाणचेतनका विषयचेतनसे अभेद भी अबाधित है। जैसे जहाँ तडागजलका केदारजलसे कुलीद्वारा अभेद होता है। वहाँ कुलीजलका भी केदारजलसे अभेद ही रहता है। यहाँ तडागजलके समान प्रमातृचेतन, कुलीसमान वृत्ति, कुलीजलसमान वृत्तिचेतन, केदारके समान विषय और केदारस्थ जलके समान विषयचेतन है। इस दृष्टान्तसे यद्यपि प्रमातृचेतनका तो विषयचेतनसे अभेद सम्भव होता है, परन्तु प्रमातृचेतनका घटादि विषयों-से अभेद सम्भव नहीं होता। जैसे कुलीद्वारा तडागजलका केदारजलसे तो अभेद हो जाता है, परन्तु पार्थिव केदारसे उसका अभेद नहीं होता। इसलिये यद्यपि घटादि विषयोंके प्रत्यक्षमें जो प्रमातृचेतनका घटादि विषयोंसे अभेद हेतु कहा गया है वह सम्भव नहीं होता; तथापि 'प्रमातृचेतनका विषयसे अभेद विषयके प्रत्यक्षत्वका हेतु है' इस कथनसे प्रमातृचेतन और विषयकी एकता विवक्षित नहीं है, किन्तु प्रमातृचेतनकी सत्तासे विषयकी सत्ता पृथक् नहीं रहती, अर्थात् 'प्रमातृचेतनकी सत्ता ही जिस विषयकी सत्ता हो जाय, उस विषयका प्रत्यक्ष होता है, यही अर्थ विवक्षित है। घटका अधिष्ठान घटावच्छिन्न चेतन और रज्जुका अधिष्ठान रज्ज्वच्छिन्न चेतन है। इस प्रकार सभी विषयोंका अधिष्ठान विषयावच्छिन्न चेतन ही होता है और भ्रमस्थलमें भी अध्यस्तकी सत्ता अधिष्ठानकी सत्तासे पृथक् नहीं हुआ करती, किन्तु अधिष्ठानकी सत्ता ही अध्यस्तकी सत्ता हुआ करती है। इस प्रकार विषयावच्छिन्न चेतनकी सत्तासे विषयकी सत्ता पृथक् नहीं होती और जहाँ अन्तःकरणकी वृत्तिद्वारा प्रमातृचेतनका विषयचेतनसे अभेद होता है वहाँ प्रमातृचेतन भी विषयचेतनसे अभिन्न हुआ विषयका अधिष्ठान होता है। इसलिये अपरोक्ष वृत्तिके विषयका अधिष्ठान जो प्रमातृचेतन, उसकी सत्तासे विषयकी भिन्न सत्ताका अभाव ही प्रमातृचेतनसे विषयका अभेद कहलाता है। वह उक्त रीतिसे सम्भव होता है और इसीलिये अपरोक्षस्थलमें वृत्तिका विषयदेशमें निर्गमन माना

गया है। जिस प्रकार कुलीके सम्बन्धविना तडागजलकी केदारजलसे एकता नहीं हो सकती, उसी प्रकार वृत्तिके सम्बन्धविना प्रमातृचेतन और विषयचेतनकी एकता असम्भव है। इसलिये जैसे परोक्षस्थलमें प्रमातृचेतन और विषयचेतनके अभेदाभावसे विषय प्रमातृचेतनसे अभिन्नसत्तावाला नहीं होता है, तैसे ही वृत्तिके निर्गमनविना अपरोक्षस्थलमें भी विषय प्रमातृ-चेतनसे भिन्न सत्तावाला ही होगा, इसी आपत्तिके परिहारार्थ विषयदेशमें वृत्तिका निर्गमन माना गया है।

इस प्रकार जहाँ 'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' (यह सर्प है, यह रजत है) इत्यादि अपरोक्ष भ्रम-ज्ञानोंकी उत्पत्ति होती है, वहाँ भ्रमसे अव्यवहित पूर्वकालमें भ्रमका हेतु जो अधिष्ठानका सामान्य ज्ञान होता है वह तो प्रत्यक्षरूप प्रमा ही होती है और उससे जो सर्पादि विषय और उनके ज्ञान उपजते हैं वे भ्रमरूप होते हैं, ऐसा साम्प्रदायिक मत है।

१६ : उक्त अनिर्वचनीयख्यातिरूप अर्थमें शंका और संक्षेपशारीरकका समाधान

यहाँ ऐसी शंका होती हैं—

अपरोक्ष-प्रमासे नियमपूर्वक अज्ञानकी निवृत्ति होती है, यह वार्ता विस्तारपूर्वक अष्टम प्रकाशमें प्रतिपादन की जायगी। इसलिये रज्जु-शुक्त्यादिकी इदमाकार अपरोक्ष-प्रमासे भी विषय-चेतनस्थ अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेसे अज्ञानरूप उपादानके अभावसे सर्पादि और उनके ज्ञानकी उत्पत्तिका सम्भव नहीं रहता।

संक्षेपशारीरकानुसारी इस शंकाका इस प्रकार समाधान करते हैं—

इदमाकार वृत्तिसे विषयके इदं-अंशके अज्ञानकी तो निवृत्ति होती है, परन्तु रज्जुत्व-शुक्तित्वादि विशेष अंशके अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। तथा रज्जुत्व-शुक्तित्वादि विशेष अंशके ज्ञानसे ही अध्यासनिवृत्तिका सम्भव होनेसे उनके विशेष अंशका अज्ञान ही अध्यासका हेतु होता है, सामान्य अंशका अज्ञान अध्यासका हेतु नहीं होता। यदि सामान्य अंशका

अज्ञान भी अध्यासका हेतु होता हो तो इदमाकार सामान्यज्ञानसे ही अध्यासकी निवृत्ति हो जानी चाहिये, क्योंकि जिसके अज्ञानसे भ्रम होता है उसीके ज्ञानसे भ्रम नष्ट होता है, यह नियम है। इसलिये इदं-अंशके अज्ञानकी अध्यासमें अपेक्षा नहीं, प्रत्युत इदमाकार नेत्रज-प्रमाकी तो अपरोक्ष अध्यासमें अपेक्षा है। क्योंकि यदि दोषसहित नेत्रका रज्ज्वादिसे संयोग हो तभी सर्पादिका अपरोक्ष-भ्रम होता है, नेत्रसंयोगविना नहीं। इसीलिये नेत्रजन्य अपरोक्ष प्रमारूप अधिष्ठानका सामान्यज्ञान ही अध्यासका हेतु हुआ करता है। तहाँ सामान्यज्ञानका अध्यासमें अन्य प्रकारसे तो उपयोग सम्भव नहीं होता, किन्तु वह सामान्यज्ञान अध्यासका उपादानरूप जो अज्ञान, उसमें क्षोभ उत्पन्न करता है, ऐसा मानना चाहिये।

इस प्रकार अधिष्ठानका सामान्यज्ञान तो अध्यासमें साधकरूप होनेसे इदं-अंशका ज्ञान अध्यासका बाधक नहीं होता।

१७ : श्रीकवितार्किकचक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्यायके मतका अनुवाद और उसका अनादर

श्रीकवितार्किकचक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्यायने अध्यासमें अधिष्ठानके सामान्यज्ञानकी हेतुताका निषेध किया है। अर्थात् 'अधिष्ठानसे नेत्रसंयोग हो तो सर्पादि अध्यास होता है और नेत्रसंयोग न हो तो सर्पादि अध्यास नहीं होता' इस प्रकार इन्द्रिय-अधिष्ठानके संयोगके अन्वय-व्यतिरेकसे जिस सामान्यज्ञानकी अध्यासमें हेतुता पूर्व कही गई है, उस अन्वय-व्यतिरेकसे ही वे सामान्यज्ञानको छोड़कर केवल इन्द्रिय-अधिष्ठानके संयोगको ही अध्यासमें कारणरूप मानते हैं। क्योंकि कारणताका निश्चय अन्वय-व्यतिरेकसे ही होता है, इसलिये जहाँ साक्षात् कारणता सम्भव होती हो फिर वहाँ परम्परासे कारणताकी कल्पना करना अयोग्य है, ऐसा उनका कथन है। इसलिये अधिष्ठानसे इन्द्रियसंयोगके अन्वय-व्यतिरेकसे अध्यासमें इन्द्रिय-अधिष्ठानके संयोगको ही साक्षात् कारणरूप मानना उचित है, अधिष्ठान-इन्द्रियके संयोगद्वारा सामान्यज्ञानको कारण-

रूप मानना उचित नहीं और जिस प्रकार अधिष्ठानके सामान्यज्ञानसे अविद्यामें क्षोभ माना गया है, उसी प्रकार अधिष्ठान-इन्द्रियके संयोगसे ही क्षोभ मानना चाहिये । इस प्रकार यदि अधिष्ठानके सामान्यज्ञानको अध्यासमें हेतु न माना जाय तो जैसा ऊपर अंक १६ में अध्याससे पूर्व इदमाकार अपरोक्ष-प्रमा होनेसे अज्ञाननिवृत्तिकी शंका और उसका समाधान लिखा गया है, वह स्वतः ही निर्मूल हो जाता है । यह भी इसमें अनुकूल लाघव है ।

इस प्रकार श्रीकवितार्किकचक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्यायने अध्यासमें अधिष्ठानके सामान्यज्ञानकी कारणताका निषेध किया है । यद्यपि वे भी अद्वैतवादी ही हैं; तथापि उनकी उक्ति साम्प्रदायिक वचनसे विरुद्ध है । इसलिये उनकी उक्तिका इसी प्रसंगमें विस्तारसे आगे खण्डन करेंगे ।

सारांश, अधिष्ठानका सामान्यज्ञान अध्यासका हेतु होनेसे इदंता-अंशके अज्ञानकी अध्यासमें अपेक्षा नहीं है और इसीलिये संक्षेपशारीरकमें अधिष्ठान-आधारका भेद कथन किया गया है । आशय यह कि सविलास अर्थात् कार्यसहित अज्ञानका जो विषय, वह 'अधिष्ठान' कहलाता है । जैसे सर्पादि कार्यसहित अज्ञानके विषय रज्ज्वादि विशेषरूप होते हैं, इसलिये वे तो सर्पादिके अधिष्ठान होते हैं और अध्यस्तसे अभिन्न होकर जिसका स्फुरण हो वह 'आधार' कहलाता है । जैसे 'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' (यह सर्प है, यह रजत है) इत्यादि भ्रम-प्रतीतियोंमें अध्यस्तरूप सर्प-रजतादिसे सामान्यरूप इदं-अंश अभिन्न होकर स्फुरण होता है, इसलिये वह सामान्यरूप इदं-अंश आधार होता है । इस मतमें 'अधिष्ठान-अध्यस्त एक ज्ञानके विषय होते हैं' इस नियमके स्थानपर 'आधार-अध्यस्त एक ज्ञानके विषय होते हैं' यही नियम है । यदि अधिष्ठान-अध्यस्तको एक ज्ञानकी विषयता मानी जाय तो रज्जु-शुक्त्यादि विशेषरूप ही अधिष्ठान होनेसे 'रज्जुः सर्पः' 'शुक्ति रूप्यम्' (रज्जु सर्प है और शुक्ति चाँदी है) ऐसा भ्रम होना चाहिये । परन्तु चूँकि एक ज्ञानके विषय आधार-अध्यस्त ही होते हैं, इसीलिये

सामान्य इदं-अंश ही आधार होनेसे 'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' ऐसा ही भ्रमका आकार होता है। इसलिये विशेष अंशका अज्ञान ही अध्यासका हेतु होता है और इस प्रकार इस मतमें आधार-अध्यस्त ही एक ज्ञानके विषय माने जाते हैं।

१८ : अध्यासकी कारणतामें पंचपादिका विवरणकारका मत

पंचपादिका विवरणकारके मतमें तो ऐसा कथन किया गया है—

आवरण और विक्षेपके भेदसे अज्ञानकी दो शक्तियाँ हैं। उनमेंसे आवरणरूप शक्तिविशिष्ट अज्ञानांशका तो ज्ञानसे विरोध है, इसलिये ज्ञानसे उस अज्ञानांशका नाश हो जाता है। परन्तु विक्षेपरूप शक्ति-विशिष्ट अज्ञानांशका ज्ञानसे विरोध नहीं है, इसलिये उसका ज्ञानसे नाश नहीं होता। यह वार्ता अवश्य अंगीकरणीय है, अन्यथा जहाँ जल-प्रतिबिम्बित वृक्षके ऊर्ध्व भागमें अधोदेशस्थत्वका भ्रम होता है, वहाँ वृक्षका विशेषरूपसे ज्ञान हो जानेपर भी ऊर्ध्व भागमें जो अधोदेशस्थत्व-दर्शनकी निवृत्ति नहीं होती, वह हो जानी चाहिये। अर्थात् वृक्षके ऊर्ध्व भागमें अधोदेशस्थत्व-अध्यास तो निवृत्त हो जाता है, परन्तु अधोदेश-स्थत्व-दर्शन विशेषज्ञान हो जानेपर भी निवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार जीवन्मुक्त विद्वानको अपने ब्रह्मात्मस्वरूपका विशेषरूपसे ज्ञान हो जाने पर भी अन्तःकरणादिरूप विक्षेपकी निवृत्ति नहीं होती। इस स्थलमें जीवन्मुक्त विद्वानको सामान्य रूपसे ज्ञान और विशेषरूपसे अज्ञान है, ऐसा कहना तो सम्भव नहीं होता। किन्तु ब्रह्मात्मैक्य अपरोक्ष-ज्ञानसे उसके आवरण-शक्तिविशिष्ट अज्ञानांशकी ही निवृत्ति हुई है और विक्षेप-शक्तिविशिष्ट अज्ञानांशकी निवृत्ति नहीं हुई, यही समाधान हो सकता है। इसी प्रकार रज्जु-शुक्ति आदिके सामान्यज्ञानसे उनके इदमंशके आवरणका हेतु अज्ञानांश तो नष्ट हो जाता है, परन्तु सर्प-रजतादि विक्षेपहेतु अज्ञानांशका नाश नहीं होता। इसीलिये उनके इदमाकार

सामान्यज्ञानसे इदमंशके आवरणशक्तिरूप अज्ञानांशका नाश हो जानेपर भी सर्पादि विक्षेपहेतु इदमंशका विक्षेपशक्तिरूप अज्ञान भी सम्भव होता है। इस प्रकार रज्ज्वादिके सामान्य अंशके आवरणशक्तिरूप अज्ञानांशको नाश करनेवाला इदमाकार सामान्यज्ञान हो जानेपर भी, विक्षेपशक्तिके सद्भावसे रज्ज्वादिका वह सामान्य अंश ही सविलास अज्ञानका विषय हो सकता है। इसलिये इदमंशमें ही अधिष्ठानताका सम्भव होनेसे 'अधिष्ठान-अध्यस्त एक ज्ञानके विषय होते हैं' ऐसा जो सम्प्रदायसे प्राप्त है उसका विरोध भी नहीं होता।

१९ : पंचपादिका और संक्षेपशारीरकके मतकी विलक्षणता और उसमें रहस्य

उपर्युक्त प्रकारसे प्रथम संक्षेपशारीरकके मतसे तो अधिष्ठानता विशेष अंशमें है, सामान्य अंशमें नहीं और आधारता सामान्य अंशमें है, विशेषमें नहीं। परन्तु दूसरे पंचपादिके मतसे सामान्य अंशमें ही अधिष्ठानता है, विशेष अंशमें आधारताका अभाव तो इस मतमें भी समान ही है। क्योंकि जो अध्यस्तसे अभिन्न होकर प्रतीत हो वही आधार कहा जाता है; फिर यदि 'रज्जुः सर्पः' (रज्जु सर्प है) इस रीतिसे प्रतीति होती हो तभी विशेष अंश अध्यस्तसे अभिन्न होकर प्रतीत कहा जाय। परन्तु इस प्रकार प्रतीति होती नहीं है, इसलिये रज्ज्वादि विशेषरूपसे आधारभूत नहीं कहे जा सकते। इसी प्रकार प्रथम पक्षमें रज्जु-शुक्त्यादिमें इदंत्वरूपसे तो प्रमाणजन्य ज्ञानकी प्रमेयता है, परन्तु रज्जुत्व-शुक्तित्वरूपसे प्रमेयताके अभावसे और उनका विशेष रूप अज्ञात रहनेसे उनके विशेष रूपमें सर्प-रजतकी अधिष्ठानता है। दूसरे पक्षमें यद्यपि अज्ञानकी आवरणशक्तिकी विरोधी जो प्रमाकी विषयतारूप प्रमेयता वह इदंत्वरूपमें है; तथापि विक्षेपशक्तिवाले अज्ञानकी विषयता ज्ञातमें भी सम्भव होती है, इसलिये उस इदंत्वरूपमें ही रजतादिकी अधिष्ठानता भी है। इस स्थानमें रहस्य यह है—

अज्ञानकी विषयता अर्थात् अज्ञानकृत आवरण चेतनमें ही होता है, परन्तु अपने स्वभावसे ही आवृत जो जड़ पदार्थ, उसमें जन्मान्धके समान अज्ञानकृत आवरण अंगीकार नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार प्रमाणजन्य ज्ञानकी विषयता अर्थात् आवरणभंगरूप प्रमेयता भी चेतनमें ही होती है। यदि घटादि जड़ पदार्थोंमें आवरण हो तो उसकी निवृत्तिके लिये उनमें प्रमेयताका अंगीकार हो, परन्तु वे तो स्वयं आवरणरूप ही हैं, इसलिये चेतनमें ही अज्ञानकी विषयतारूप अज्ञातता होनेसे चेतनमें ही ज्ञातता व प्रमेयता होती है। इसी प्रकार सभी अध्यासोंका अधिष्ठान चेतनमात्र ही होता है, जड़ पदार्थ जबकि स्वयं अध्यस्थ हैं तब वे किसी अन्यके अधिष्ठान कैसे सम्भव हो सकते हैं? इसलिये रज्जु-शुक्त्यादिमें अज्ञातता, ज्ञातता अथवा अधिष्ठानता किसी भी प्रकारसे सम्भव नहीं होती, किन्तु मूलाज्ञानकी विषयतारूप अज्ञातता तो निरवयवावच्छिन्न विभु चेतनमें और तूलाज्ञानकी विषयतारूप अज्ञातता तत्तद्विषयावच्छिन्न चेतनमें होती है। इस अर्थका स्पष्टीकरण अष्टम प्रकाशमें किया जायगा। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानकी विषयतारूप ज्ञातता तो निरवयवावच्छिन्न चेतनमें और घटादिज्ञानकी विषयतारूप ज्ञातता घटाद्यवच्छिन्न चेतनमें होती है। तैसे ही अज्ञानकी अधिष्ठानता तो निरवयवावच्छिन्न विभु चेतनमें और भूत-भौतिक प्रपञ्चकी अधिष्ठानता अज्ञानावच्छिन्न चेतनमें तथा प्रातिभासिक सर्प-रजतादिकी अधिष्ठानता रज्जु-शुक्त्यवच्छिन्न चेतनमें होती है। इस प्रकार चेतनमें अज्ञातता, ज्ञातता और अधिष्ठानतादिके अवच्छेदक वे जड़ पदार्थ होते हैं और इसीलिये अवच्छेदकता-सम्बन्धसे उन जड़ पदार्थोंमें भी अज्ञाततादिका सम्भव होनेसे 'रज्जु अज्ञात है, ज्ञात है और वह सर्पका अधिष्ठान है' ऐसे व्यवहारका सम्भव हो जाता है। इस प्रकार सर्पादि-भ्रमके हेतु रज्ज्वादिसे इन्द्रिय-का संयोग होनेपर अन्तःकरणकी सामान्यज्ञानरूप इदमाकार प्रमावृत्ति होती है। उस सामान्य-ज्ञानसे क्षोभवती अविद्याका सर्पादि विषय और सर्पादिज्ञानरूप परिणाम होता है। अथवा रज्ज्वादि-विषयोपहित-चेतनस्थ-

अविद्यांशका तो सर्पादिविषयाकार परिणाम होता है और इदमाकार-वृत्त्युपहित-चेतनस्थअविद्यांशका ज्ञानाकार परिणाम होता है। तथा रज्ज्वच्छिन्न चेतन तो सर्पका और इदमाकार-वृत्त्यवच्छिन्न चेतन सर्पज्ञानका अधिष्ठान होता है।

२० : विषयोपहित और वृत्त्युपहित चेतनके अभेदमें शंका-समाधान

यहाँ ऐसी शंका होती है—

'जहाँ इदमाकार प्रत्यक्ष-वृत्ति होती है, वहाँ विषयोपहित चेतन और वृत्त्युपहित चेतनका अभेद ही होता है, इसलिये उपर्युक्त रीतिसे विषय व ज्ञानके उपादान और अधिष्ठानका भेद कथन करना सम्भव नहीं होता। यदि सर्पादि विषयके अधिष्ठानसे उसके ज्ञानके अधिष्ठानको पृथक् माना जायगा तो सर्पादिके अधिष्ठान-ज्ञानसे सर्पादिके ज्ञानकी निवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि अपने-अपने अधिष्ठानके ज्ञानसे ही अध्यस्तकी निवृत्ति होती है। यदि अन्यके अधिष्ठान-ज्ञानसे भी अध्यस्तकी निवृत्ति होती हो तो सर्पके अधिष्ठान रूप रज्जुके ज्ञानसे अध्यस्तरूप संसारकी भी निवृत्ति हो जानी चाहिये। परन्तु चूँकि एक अधिष्ठानके ज्ञानसे ही सर्पादि विषय और उनका ज्ञान दोनोंकी निवृत्ति अनुभवसिद्ध है, इसलिये इन दोनोंका कोई एक ही अधिष्ठान मानना योग्य है।' इस शंकाका समाधान यह है—

जहाँ एक वस्तुका उपाधिकृत भेद हो वहाँ उपाधिकी निवृत्तिसे उस वस्तुका अभेद हो जाता है और जहाँ दो उपाधि एक देशमें हों वहाँ भी उपहितका अभेद रहता है। परन्तु दो उपाधियोंके एकदेशस्थत्वसे जहाँ उपहितका अभेद होता है, वहाँ एकही उपहितरूप धर्मीमें तत्तत् उपहितत्वरूप दो धर्म रहते हैं। जैसे एक ही आकाशका जहाँ घट व मठरूप उपाधिके भेदसे भेद होता है, वहाँ घट-मठरूप उपाधिके नाशसे उस आकाशका अभेद हो जाता है और मठदेशमें घटके स्थापनसे भी घटाकाशका मठा-

काशसे भेद नहीं रहता। तथापि घटाकाशमें तो घटोपहितत्व और मठाकाशमें मठोपहितत्व दो धर्म रहते हैं और धर्मी एक आकाश ही रहता है, एवं जितने कालतक घट-मठ दोनों रहें उतने कालतक घटाकाश-मठाकाश ये दोनों व्यवहार भी रहते हैं। इसी प्रकार रज्ज्वादि विषय-देशमें वृत्तिके निर्गमनकालमें यद्यपि वृत्त्युपहित चेतनका विषयोपहित चेतनसे अभेद हो जाता है; तथापि वृत्ति और विषयरूप दोनों उपाधियोंके सद्भावसे चेतनमें वृत्त्युपहितत्व और रज्जूपहितत्व दो धर्म रहते हैं। उनमें सर्पादि विषयकी अधिष्ठानताका अवच्छेदक धर्म तो रज्जूपहितत्व है और सर्पादि ज्ञानकी अधिष्ठानताका अवच्छेदक धर्म वृत्त्युपहितत्व है। इसी प्रकार चेतनमें सर्पादि विषयोंके उपादानरूप अज्ञानांशकी अधिकरणताका अवच्छेदक तो रज्जूपहितत्व और सर्पादि ज्ञानोंके उपादानरूप अज्ञानांशकी अधिकरणताका अवच्छेदक वृत्त्युपहितत्व है। सारांश, इस प्रकार एक देशमें दो उपाधिके होनेपर उपहितका अभेद होते हुए भी उसके धर्मोंका भेद रहता है। इसीलिए वृत्त्युपहितत्वावच्छिन्न-चेतनस्थ-अज्ञानांशमें तो भ्रमज्ञानकी उपादानता और रज्ज्वादि विषयोपहितत्वावच्छिन्न उसी चेतनस्थ अज्ञानांशमें भ्रमरूप विषयकी उपादानता रहती है। तैसे ही वृत्त्युपहितत्वावच्छिन्न चेतनमें तो भ्रम-ज्ञानकी अधिष्ठानता और रज्ज्वादि विषयोपहितत्वावच्छिन्न उसी चेतनमें सर्पादि विषयकी अधिष्ठानता होती है। इस प्रकार उपाधिके सद्भाव कालमें एक देशस्थ दो उपाधियोंके होनेसे उपहितका अभेद रहते हुए भी उपाधिपुरस्कारसे भेदव्यवहार भी होता है। यदि उपाधि भिन्नदेशमें हों तब तो केवल भेदव्यवहार ही होता है और उपाधिके निवृत्ति हो जानेपर वह भेदव्यवहार भी नहीं रहता, केवल अभेदव्यवहार ही होता है। इस प्रकार जहाँ वृत्ति व विषय दोनों एकदेशस्थ हों, वहाँ चेतनका अभेद होते हुए भी उपाधिपुरस्कारसे पूर्वोक्त उपादान और अधिष्ठानका भेदकथन असंगत नहीं है और स्वरूपसे उपहितका अभेद तो है ही। इसलिये एक अधिष्ठानके ज्ञानसे सर्पादि विषय और उनके ज्ञानोंकी निवृत्ति भी सम्भव होती है।

२१ : रज्ज्वादिकी इदमाकार प्रमासे जहाँ सर्पादिका भ्रमज्ञान होता है, उसमें दो पक्ष

जहाँ रज्ज्वादिकी इदमाकार प्रमासे सर्पादिका भ्रमज्ञान होता है, वहाँ दो पक्ष इस प्रकार हैं—

(१) एक पक्ष तो ऐसा कहता है कि 'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' (यह सर्प है, यह रजत है) इस प्रकार अधिष्ठानगत इदंता और सर्प-रजतादिमें उसके सम्बन्धको विषय करता हुआ ही सर्प-रजतादिगोचर भ्रम होता है। अधिष्ठानकी इदंता और सर्प-रजतादिमें उस इदंताके सम्बन्धको त्यागकर केवल सर्परजतादिगोचर अपरोक्ष-भ्रम नहीं होता। यदि केवल अध्यस्तगोचर ही भ्रम होता हो तो 'सर्पः' 'रजतम्' ऐसा ही भ्रमका आकार होना चाहिये, परन्तु 'इमं सर्पं जानामि' 'इदं रजतं जानामि' (मैं इस सर्प और इस रजतको जानता हूँ) ऐसा भ्रमका अनुव्यवसाय भी इदंपदार्थसे तादात्म्यापन्न सर्प-रजतादिगोचर व्यवसायको ही विषय करता है। तहाँ कल्पित सर्पादिमें तो इदंता है नहीं, क्योंकि वर्तमान काल और पुरोदेशके सम्बन्धको ही 'इदंता' कहते हैं। परन्तु व्यावहारिक देश-कालका प्रातिभासिक देश-कालसे व्यावहारिक सम्बन्ध तो सम्भव होता नहीं है और जबकि अधिष्ठानगत इदंताकी कल्पितमें प्रतीतिसे व्यवहारका निर्वाह हो जाता है, तब कल्पितमें इदंताका अंगीकार करना निष्फल भी है। इस प्रकार यदि अन्यथाख्यातिसे ही विद्वेष हो तो अधिष्ठानगत इदंताका कल्पितमें अनिर्वचनीय सम्बन्ध तो माना जा सकता है, परन्तु कल्पितमें अपनी इदंता अंगीकार नहीं की जा सकती। क्योंकि जिस प्रकार सम्बन्धीको त्यागकर केवल सम्बन्धका ज्ञान नहीं हुआ करता, इसी प्रकार अधिष्ठानगत इदंताको त्यागकर केवल अध्यस्तगोचर इदंताका अपरोक्ष-भ्रम नहीं हो सकता। इस प्रकार इदंपदार्थकी प्रतीति द्विधा होती है; उनमें एक तो इन्द्रिय-अधिष्ठानके संयोगसे अन्तःकरणकी इदमाकार प्रमारूप वृत्ति होती है और दूसरी जो इदमाकार वृत्युपहित-

चेतनस्थ-अविद्याका परिणाम सर्प-रजतादिगोचर भ्रमरूप वृत्ति होती है वह भी अध्यस्तमें इदंपदार्थके तादात्म्यको विषय करती हुई इदंगोचर होती है। इस प्रकार सर्वत्र ही अपरोक्ष-भ्रम इदमाकार हुए अध्यस्ताकार होते हैं।

(२) दूसरे पक्षमें बहुत ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि अधिष्ठान-इन्द्रियके संयोगसे जो अन्तःकरणकी इदमाकार प्रमारूप वृत्ति होती है, उससे क्षोभवती अविद्याका केवल अध्यस्ताकार परिणाम ही होता है, परन्तु अविद्याका इदमाकार परिणाम नहीं होता क्योंकि अविद्याका व्यावहारिक पदार्थाकार परिणाम सम्भव नहीं, किन्तु अविद्याका तो केवल प्रातिभासिक पदार्थाकार एवं भ्रमज्ञानरूप परिणाम ही सम्भव हो सकता है। इस-लिये भ्रमज्ञानकी विषयता तो अधिष्ठानकी इदंतामें नहीं, किन्तु केवल अध्यस्तमें ही होती है। प्रथम पक्षमें जो ऐसा कथन किया गया है--

'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' ऐसा भ्रमका आकार होता है और 'अयं सर्पः जानाम्मि इदं रजतं जानामि' ऐसा ही भ्रमका अनुव्यवसाय होता है। यदि अध्यस्तमात्रगोचर भ्रम होता हो तो 'सर्पः' 'रजतम्' ऐसा ही भ्रमका आकार और 'सर्पं जानामि' 'रजतं जानामि' ऐसा ही अनुव्यवसाय होना चाहिये।' इस शंकाका दूसरे पक्षमें यह समाधान है--

जिस प्रकार प्रथम पक्षमें सर्पादिके अधिष्ठानगत इदंताका सर्पादि अध्यस्तोंमें भान माना गया है, अथवा सर्पादि अध्यस्तोंमें उनके अधिष्ठानगत इदंताके अनिर्वचनीय सम्बन्धकी उत्पत्ति मानी गई हैं; इसी प्रकार द्वितीय पक्षमें सर्पादि भ्रमज्ञानोंका अधिष्ठान जो इदमाकार प्रमावृत्ति है और उस प्रमावृत्तिमें जो इदंपदार्थ विषयकत्व है, उसीकी सर्पादि भ्रमोंमें प्रतीति होती है। अथवा इदमाकार प्रमावृत्तिरूप अधिष्ठानमें जो इदंपदार्थ विषयकत्व है उसीका सर्पादि भ्रमोंमें अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजता है और इसीलिये इदमाकारत्वशून्य भ्रमज्ञानोंमें इदमाकारत्वकी प्रतीति होती है। यद्वा इदमाकार-वृत्त्युपहितचेतन ही सर्पादि भ्रमज्ञानोंका अधिष्ठान है। इसके विपरीत यदि इदमाकार वृत्त्युपलक्षित अधिष्ठान माना

जाय तो उक्त वृत्तिसे दो-चार घटिकाका व्यवधान होनेपर भी सर्पादिभ्रम होना चाहिये। क्योंकि उपलक्षणवालेको उपलक्षित कहा जाता है और उपलक्षणमें वर्तमानत्वकी अपेक्षा नहीं होती, इस अर्थको आगे स्पष्ट किया जायगा। इस प्रकार वक्ष्यमाण रीतिसे उपाधिमें वर्तमानत्वकी ही अपेक्षा है और इदमाकार वृत्ति जिसकी उपाधि हो उसे ही 'इदमाकार-वृत्त्युपहित' कहा जाता है। इसीलिये जिस कालमें सर्प-रजतादिका भ्रमज्ञान हो उस कालमें अन्तःकरणकी इदमाकार-वृत्ति भी रहती है, यह अवश्य मानना चाहिये। क्योंकि अधिष्ठानकी सत्ताकालसे अतिरिक्तकालमें अध्यस्त नहीं हुआ करता, इसलिये भ्रमज्ञानके समय वृत्त्युपहितचेतनकी अधिष्ठानताकी उपयोगिनी अन्तःकरणकी तो इदमाकार वृत्ति और अविद्याकी सर्पाद्याकार वृत्ति होती है। इस प्रकार भ्रमस्थलमें 'अयं सर्पं' ये दो ज्ञान होते हैं, उनमें इदमाकार तो प्रमावृत्ति और सर्पाकार भ्रमवृत्ति होती है। अवच्छेदकतासम्बन्धसे इदमाकार प्रमावृत्ति भ्रमवृत्तिका अधिष्ठान है और अधिष्ठानसे अध्यस्तका अभेद सम्बन्ध होता ही है। जैसे ब्रह्म और प्रपञ्चका 'सर्वमिदं ब्रह्म' (यह सब ब्रह्म है) इस प्रतीतिका विषय अभेद होता है, तैसे ही 'अयं सर्पं' इस रूपसे उभय वृत्तिका अभेद प्रतीत होता है। यद्यपि उक्त रीतिसे यदि वृत्तिद्वय मानी जाएँ तो 'अधिष्ठान-अध्यस्त दोनों एक ज्ञानके विषय होते हैं' यह प्राचीन वचन असंगत होगा; तथापि 'दोनों एक ज्ञानके विषय होते हैं' इस वाक्यका यह अर्थ नहीं कि एक वृत्तिके विषय होते हैं। किन्तु उसका अर्थ यही है कि दोनों एक साक्षीके विषय होते हैं, यही प्राचीन वचनका अर्थ है। चूँकि रज्जु-शुक्त्यादि देशमें ही सर्प-रजतादि होते हैं और इदमाकार वृत्ति भी रज्जुशुक्त्यादि देशमें ही जाती है, इसलिये इदमाकार-वृत्त्युपहितसाक्षीके अधिष्ठान व अध्यस्त दोनों विषय होते हैं और इसी प्रकार अधिष्ठान-अध्यस्त एक ज्ञानके विषय हैं। इस प्राचीन वचनमें 'ज्ञान' पदका अर्थ साक्षी ही है, वृत्ति नहीं।

इस प्रकार भ्रम-वृत्तिको अध्यस्तमात्रगोचरता माननेमें बहुत आचार्योंकी सम्मति है।

२२ : श्रीकवितार्किक चक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्यायका मत

श्रीकवितार्किक चक्रवर्ती नृसिंह भट्टोपाध्याय ऐसा कहते हैं—

भ्रान्ति-ज्ञानके अतिरिक्त इदमाकार प्रमारूप ज्ञान भ्रमका हेतु नहीं हुआ करता, किन्तु केवल भ्रान्ति-ज्ञान ही भ्रमका हेतु हुआ करता है और 'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' इस रूपसे भ्रमरूप एक ही ज्ञान हुआ करता है, दो नहीं। यदि भ्रमसे पूर्व रज्जु-शुक्त्यादिका इदमाकार प्रमारूप सामान्यज्ञान माना जाय तो उनके प्रति यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनुभवके अनुसारसे ज्ञानद्वयका अंगीकार करते हो ? अथवा अन्यथा भ्रमरूप कार्यकी अनुपपत्ति मानकर भ्रमभिन्न सामान्यज्ञानका अंगीकार करते हो ? इसके उत्तरमें यदि अनुभवके अनुसार ज्ञानद्वयका अंगीकार कहा जाय तो असम्भव है। क्योंकि उपर्युक्त दो पक्षोंमेंसे प्रथम पक्षमें तो इदंपदार्थको विषय करनेवाली दो वृत्तियाँ मानी गई हैं, उनमें एक तो अन्तःकरणकी इदमाकार प्रमावृत्ति और दूसरी अविद्याकी भ्रमवृत्ति जो इदंपदार्थको विषय करती हुई अध्यस्तगोचर होती है। इस प्रथम पक्षमें तो जो इदंपदार्थकी द्विधा प्रतीति कही गई, वह किसीके भी अनुभवमें आरूढ नहीं होती। क्योंकि सर्प-रजतादिगोचर और इदंगोचर एक ही ज्ञान सभीके अनुभवसिद्ध है, इसलिये प्रथम पक्ष तो अनुभवानुसारी नहीं है। द्वितीय पक्षमें यद्यपि इदंपदार्थके दो ज्ञान तो नहीं माने गये; तथापि 'अयं' और 'सर्पः' तथा 'इदं' और 'रजतम्' इस रूपसे प्रत्येक भ्रमके दो-दो ज्ञान माने गये हैं। उनमें इदमाकार तो प्रमारूप और सर्प-रजतादिगोचर भ्रमरूप दो ज्ञान माने गये हैं, वह भी अनुभवविरुद्ध है। क्योंकि रज्जु-शुक्ति के ज्ञानसे जब सर्प-रजतादिका बाध हो जाय, तब यदि उन महाशयसे ऐसा प्रश्न किया जाय कि 'महाशयजी ! आपको कैसा भ्रम हुआ था ?' तब उत्तर यही मिलता है कि 'यह सर्प है, यह रजत है ऐसा ही मुझे भ्रम हुआ था।' इसके विपरीत 'इदमाकार तो प्रमा हुई थी और सर्प-रजताकार भ्रम हुआ था' ऐसा उत्तर कोई भी नहीं देता। इसलिये द्वितीय मतकी रीतिसे भी ज्ञानद्वयका अंगीकार अनुभवविरुद्ध है।

इस प्रकार 'इन्द्रियजन्य अन्तःकरणकी इदमाकार प्रमारूप वृत्ति होती है और इदमाकार ज्ञानजन्य इदंपदार्थको विषय करती हुई सर्प-रजतादिगोचर अविद्यावृत्ति होती हैं' अथवा 'अन्तःकरणकी इदमाकार प्रमावृत्ति और इदंपदार्थ अविषयक अविद्याकी भ्रमरूप वृत्ति होती हैं'– इस प्रकार दोनों पक्षोंमें ज्ञानद्वयका अंगीकार किसी प्रकार अनुभवानुसारी नहीं बनता।

२३ : उपाध्याय-मतमें सामान्यज्ञानवादी (धर्मिज्ञानवादी) की शंका और उपाध्यायद्वारा उनका समाधान

इस प्रसंगमें अध्यासके हेतु सामान्यज्ञानको माननेवाले सामान्यज्ञानवादी (धर्मिज्ञानवादी) तो पूर्वपक्षी हैं और उस सामान्यज्ञानका अपलाप करनेवाले उपाध्याय सिद्धांती हैं। अब यदि सामान्यज्ञानवादी ऐसे कहें—

(शंका)—'रज्ज्वादिसे इन्द्रियसंयोग होता है तब तो सर्पादि अध्यास होता है और इन्द्रिय-संयोग न हो तो अध्यास भी नहीं होता' इस प्रकारके अन्वय-व्यतिरेकसे अधिष्ठान-इन्द्रियका संयोग ही अध्यासका कारण सिद्ध होता है और अधिष्ठान-इन्द्रियका संयोग अधिष्ठानके सामान्यज्ञानद्वारा ही कारण बन सकता है। अन्य प्रकारसे तो अधिष्ठान-इन्द्रियका संयोग अध्यासमें उपयुक्त सम्भव हो ही नहीं सकता।

(समाधान)—ऐसी सामान्यज्ञानवादीकी उक्ति समीचीन नहीं, क्योंकि अधिष्ठान-इन्द्रियके संयोग विना भी अहंकारादि अध्यास होते हैं। इसलिये 'अध्यासमात्रमें अधिष्ठानका सामान्यज्ञान हेतु होता है।' ऐसा कथन सम्भव नहीं होता। इसपर यदि ऐसी शंका की जाय—

(शंका)—यद्यपि अहंकारादि अध्यासका अधिष्ठान तो प्रत्यक्स्वरूप आत्मा ही है और वह स्वयंप्रकाश है, इसलिये वहाँ अधिष्ठान-इन्द्रियका संयोग सम्भव नहीं होता; तथापि सर्पादि अध्यासके अधिष्ठान और इन्द्रिय-संयोगसे तो सामान्यज्ञान होता ही है। इस प्रकार अध्यासमें

निजप्रकाशशून्य अधिष्ठानसे इन्द्रिय-संयोगका सामान्यज्ञानद्वारा ही उपयोग हो सकता है, साक्षात् नहीं और इस प्रकार अधिष्ठानका सामान्यज्ञान ही अध्यासका कारण होता है। क्योंकि अध्यास कार्य है, जहाँ कार्यकी प्रतीति हो परंतु कारणकी प्रतीति न हो, वहाँ कार्यकी अन्यथा अनुपपत्तिसे कारणकी अर्थापत्ति की जाती है। यहाँ भ्रमस्थलमें यद्यपि इदमाकार प्रमा अनुभवसिद्ध नहीं है; तथापि सामान्यज्ञानरूप कारणके विना भ्रमरूप कार्यकी अन्यथा अनुपपत्ति होनेसे सामान्यज्ञानकी ही कल्पना की जा सकती है।

(समाधान)—धर्मिज्ञानवादीका यह कथन भी असमीचीन है। क्योंकि यदि सामान्यज्ञानविना कोई भी अध्यास न होता हो तो सामान्यज्ञानमें अध्यासकी कारणता सम्भव हो, परन्तु अधिष्ठानके सामान्यज्ञानविना तो घटादि अध्यास भी होते हैं। इसलिये अध्यासमात्रमें तो अधिष्ठानके सामान्यज्ञानकी कारणता मानी नहीं जा सकती। अब यदि धर्मिज्ञानवादी घटादि-अध्याससे पूर्व भी सामान्यज्ञान मानें तो उनके प्रति यह प्रश्न खड़ा होता है कि अधिष्ठानसे नेत्रसंयोगजन्य जो अन्तःकरणकी वृत्तिरूप सामान्य-ज्ञान है वही अध्यासका हेतु है, अथवा चेतनस्वरूप प्रकाश ही सामान्य-ज्ञान है और वह अध्यासका हेतु है? यदि प्रथम पक्ष कहा जाय तो असम्भव है, क्योंकि घटादि-अध्यासका अधिष्ठान जो अज्ञानावच्छिन्न ब्रह्म है वह तो नीरूप है, इसलिये अन्तःकरणकी चाक्षुषवृत्ति तो ब्रह्मगोचर असम्भव ही है। यदि द्वितीय पक्ष कहा जाय तब चेतनस्वरूप प्रकाश तो आवृत है और यदि आवृत प्रकाशरूप सामान्यज्ञानको भी अध्यासका हेतु माना जाय तो रज्ज्वादिसे इन्द्रियसंयोगविना भी सर्पादि-अध्यास होना चाहिये अतः आवृतप्रकाशरूप सामान्यज्ञान भी अध्यासका हेतु नहीं हो सकता। इस प्रकार घटादि-अध्याससे पूर्व सामान्यज्ञानके अभावसे और अध्यासमात्रमें सामान्यज्ञानकी कारणताके अभावसे भी अध्यासरूप कार्यकी उत्पत्ति होनेसे अध्यासमें सामान्यज्ञानरूप इदमाकार वृत्तिकी कल्पना समीचीन नहीं। अब यदि धर्मिज्ञानवादी ऐसे कहे।

(शंका)—यदि हम सकल अध्यासोंमें अनावृतप्रकाशरूप सामान्यज्ञानको हेतु मानते हों तब तो आपका घटादि-अध्यासोंमें सामान्यज्ञानका व्यभिचारकथन संभव हो। परन्तु हम अध्यासमात्रमें तो आवृत अथवा अनावृत साधारण प्रकाशको हेतु मानते हैं और प्रातिभासिक अध्यासोंमें केवल अनावृत प्रकाशको ही हेतु मानते हैं। जैसे आपके (उपाध्यायके) मतमें सर्पादि-अध्यासका हेतु तो अधिष्ठानसे इन्द्रियसंयोग माना गया है, परन्तु घटादि-अध्यासका हेतु अधिष्ठानसे इन्द्रियसंयोग नहीं माना गया और वह सम्भव भी नहीं। इसीलिये अधिष्ठानसे इन्द्रियसंयोगके अभावकालमें सर्पादि-अध्यास नहीं होते, परन्तु घटादि-अध्यास तो इन्द्रियसंयोगविना भी होते हैं, यही व्यवस्था आपके मतमें सम्भव होती है। तैसे ही हमारे मतमें भी प्रातिभासिक सर्पादि-अध्यासोंका हेतु तो अनावृतप्रकाश ही है, इसलिये इनमें तो सर्पादि-अध्यासोंसे पूर्व आवरण-भंगके लिये इदमाकार सामान्यज्ञानरूप प्रमाकी अपेक्षा होती है; परन्तु घटादि-अध्यासका हेतु तो साधारण प्रकाश ही है, इसलिये उनमें अनावृतप्रकाशके सद्भावके लिये सामान्यज्ञानरूप वृत्तिकी अपेक्षा नहीं रहती। इस प्रकार सामान्यज्ञानरूप वृत्तिके अभावकालमें सर्पादि प्रातिभासिक अध्यास तो नहीं होते, परन्तु घटादि-अध्यास सामान्यज्ञान-रूप वृत्तिके विना भी होते हैं। ऐसी व्यवस्था हमारे मतमें भी सम्भव है।

(समाधान)—धर्मिज्ञानवादिका ऐसा कथन भी असंगत है। क्योंकि प्रातिभासिक अध्यासोंसे पूर्व अन्तःकरणकी इन्द्रियजन्य सामान्यज्ञानरूप प्रमावृत्ति नियमसे होती है, इसका भी शंखके पीतमाध्यास और कूपजलके नीलताध्यासमें व्यभिचार है। क्योंकि ब्रह्मज्ञानविना ही जिसका बाध हो जाय वह प्रातिभासिक अध्यास कहलाता है और चूंकि ब्रह्मज्ञानसे पूर्व ही शंखश्वेतताज्ञानसे शंखमें पीतमाका और जलश्वेतताज्ञानसे कूपजलमें नीलताका बाध हो जाता है, इसलिये ये भी प्रातिभासिक अध्यास ही हैं। इस स्थलमें धर्मज्ञानवादीकी प्रक्रियाके अनुसार प्रातिभासिक अध्यासोंमें अनावृतप्रकाशकी नियमपूर्वक कारणता होनेसे शंख और जलसे नेत्रसंयोग

होकर अन्तःकरणकी इदमाकार सामान्यज्ञानरूप प्रमावृत्तिसे अभिव्यक्त शंखावच्छिन्न और जलावच्छिन्न चेतनमें पीतरूप और नीलरूपका अध्यास होता है । परन्तु हमारे (उपाध्याय) मतमें तो शंख और जलसे नेत्र-संयोग होकर ही पीतरूप एवं नीलरूपका अध्यास हो जाता है, इदमाकार वृत्तिकी अपेक्षा नहीं रहती । अब धर्मिज्ञानवादीके प्रति यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यहाँ इदमाकार वृत्तिका विषय 'रूप' छोड़कर केवल शंखादि 'द्रव्य' ही हैं, अथवा रूपविशिष्ट शंख और जल इदमाकार वृत्तिके विषय हैं ? यदि रूपको त्यागकर वे केवल द्रव्यको वृत्तिका विषय कहें तो असम्भव है, क्योंकि नेत्रजन्य वृत्तिका यह स्वभाव है कि वह रूप और रूपविशिष्ट द्रव्यको विषय करती है, केवल द्रव्यको नहीं । यदि चाक्षुष-वृत्ति रूपको त्यागकर केवल द्रव्यको विषय करती हो तो घटके चाक्षुषज्ञान-वालेको घटके नीलतादि रूपोंमें सन्देह होना चाहिये और रूपरहित पवनादि द्रव्योंका भी चाक्षुष-ज्ञान होना चाहिये । इसलिये शंखादिका केवल द्रव्यगोचर इदमाकार चाक्षुष-वृत्तिरूप सामान्यज्ञान तो सम्भव हो नहीं सकता । यदि रूपविशिष्ट शंखगोचर तथा जलगोचर सामान्य-ज्ञानरूप वृत्ति कही जाय, तब उनके प्रति फिर यह प्रश्न खड़ा होता है कि वह चाक्षुष-वृत्ति शुक्लरूपविशिष्ट शंख और जलको विषय करती है, अथवा पीतरूपविशिष्ट शंख और नीलरूपविशिष्ट जलको विषय करती है ? यदि उत्तरमें प्रथम पक्ष कहा जाय तो जबकि उनका यथार्थस्वरूप जो शुक्लरूप ही है, उस यथार्थ शुक्लरूपको विषय करती हुई इदमाकार वृत्ति हो गई, तब उत्तर कालमें पूर्व यथार्थ वृत्तिका विरोधी पीतता एवं नीलताभ्रम असम्भव ही होगा । इस प्रकार पीतभ्रम और नीलभ्रमसे पूर्व शंख एवं जलका शुक्लरूपविशिष्ट इदमाकार ज्ञान तो सम्भव हो नहीं सकता । यदि दूसरा पक्ष, अर्थात् शंखकी पीतरूपविशिष्ट और जलकी नीलरूपविशिष्ट इदमाकार वृत्ति कही जाय तो शंखमें पीतरूप एवं जलमें नीलरूप ही अध्यस्त है और तद्विशिष्ट ज्ञान ही भ्रम है, फिर उसीमें भ्रमकी हेतुता कही जाय तो आत्माश्रय दोष लागू होनेसे वह भी

सम्भव नहीं होता। अर्थात् जिसको सामान्यज्ञान कहा गया है वही भ्रम-ज्ञान है, फिर 'प्रमारूप सामान्यज्ञान अध्यासका हेतु है' धर्मिज्ञानवादिका यह मत स्वतः ही भंग हो जाता है। इस प्रकार शंखमें पीतताभ्रम और जलमें नीलताभ्रमसे पूर्व अधिष्ठानका सामान्यज्ञान सम्भव नहीं होता, परन्तु अधिष्ठान-इन्द्रियका संयोग ही सम्भव होता है। इसलिये प्राति-भासिक अध्यासोंमेंभी सामान्यज्ञानका व्यभिचार और अधिष्ठान-इन्द्रिय-संयोगका अव्यभिचार होनेसे अधिष्ठानसे इन्द्रियका संयोग ही अध्यासका हेतु सिद्ध होता है, सामान्यज्ञान नहीं।

२४ : प्राचीन आचार्य धर्मिज्ञानवादीका मत

प्राचीन आचार्य जो धर्मिज्ञानवादी हैं, वे शंख पीतमादि अध्यासोंमें सामान्यज्ञानका जो व्यभिचार श्री उपाध्यायने ऊपर कथन किया है, उसका समाधान इस प्रकार करते हैं—

हम अध्यासमात्रमें सामान्यज्ञानको हेतु नहीं मानते, किन्तु अध्यास-विशेषमें सादृश्यज्ञानत्वरूपसे सामान्यज्ञानको कारणता मानते हैं और प्रातिभासिक अध्यास को दो भागों में विभक्त करते हैं। उनमें एक तो धर्मीके विशेषज्ञानसे प्रतिबद्धच और दूसरा धर्मीके विशेषज्ञानसे अप्रतिबद्धच होता है। जैसे शुक्तिके नीलपृष्ठता और त्रिकोणतादि विशेष धर्मका ज्ञान हो जानेपर रजताध्यास नहीं होता, इसलिये रजताध्यास तो धर्मीके विशेषज्ञानसे प्रतिवद्धच है, इसी प्रकार सर्पाध्यास भी जानना चाहिये। परन्तु श्वेततारूप विशेषधर्मोंका ज्ञान हो जानेपर भी शंखमें पीतता और जलमें नीलताका अध्यास होता रहता है, इसलिये उक्त अध्यास धर्मीके विशेषज्ञानसे अप्रतिबद्धच हैं। इसी प्रकार रूपराहित्य विशेषधर्मका ज्ञान हो जानेपर भी आकाशमें नीलताध्यास और सितामें कटुताध्यास विशेष-ज्ञानसे अप्रतिबद्धच हैं। क्योंकि 'आकाश नीरूप है और सिता मधुररूप है' अनेक बार ऐसे निश्चयवालेको भी आकाशमें नीलता और पित्तदोषसे सितामें कटुताका अध्यास होता रहता है। इस प्रकार द्विविध प्रातिभा-

सिक अध्यास होते हैं, उनमें से अन्त्य अर्थात् विशेषज्ञानसे अप्रतिबद्धच अध्यास तो अधिष्ठान-अध्यस्तके सादृश्यज्ञानके विना ही होता है, क्योंकि जहाँ अधिष्ठान-अध्यस्तमें विरोधी धर्म रहे वहाँ सादृश्यता सम्भव नहीं होती। इसलिये यहाँ शंखमें श्वेतता व पीतता, जलमें श्वेतता व नीलता, आकाशमें नीरूपता व नीलता और सितामें मधुरता व कटुतारूप परस्पर वैधर्म्य होते हुए भी उक्त अध्यास होते हैं और इसीलिये उन अध्यासोंमें भ्रमरूप सादृश्यज्ञान भी हेतुरूप नहीं होता। परन्तु विशेषज्ञानसे जिनका प्रतिबन्ध हो जाता है, ऐसे सर्प-रजतादि अध्यासोंमें तो अधिष्ठानका अध्यस्तसे सादृश्यज्ञान ही हेतु होता है। यदि विशेषज्ञानसे प्रतिबद्धच अध्यासोंको भी सादृश्यज्ञानजन्य न माना जाय और केवल दुष्टइन्द्रियसंयोगजन्य ही माना जाय तो शुक्ति में रजताध्यासके समान दुष्टइन्द्रियसंयोगसे इंगाल (अग्निदग्ध नीलकाष्ठ) में भी रजताध्यास और रज्जुमें सर्पाध्यासके समान घटमें भी सर्पाध्यास होना चाहिये। परन्तु चूँकि शुक्तिमें रजतका सादृश्य है और इंगालमें रजतका सादृश्य नहीं तथा रज्जुमें ही सर्पका सादृश्य है घटमें नहीं, इसलिये विशेषज्ञानसे जिनका प्रतिबन्ध हो जाता है ऐसे प्रातिभासिक अध्यासोंमें तो सादृश्यज्ञान ही अध्यासका हेतु होता है और वह सादृश्यज्ञान भी सामान्य-ज्ञानरूप धर्मिज्ञान ही होता है। जैसे शुक्ति-रूप्यमें चाकचिक्यरूप सादृश्य, रज्जु-सर्पमें भूमिसम्बन्ध दीर्घत्वरूप सादृश्य और पुरुषस्थाणुमें उच्चैस्त्वरूप सादृश्य होता है। इस प्रकार अधिष्ठान-अध्यस्तमें जो समान धर्मरूप सादृश्य पदार्थ है, उसके ज्ञानको ही सामान्यज्ञान एवं धर्मिज्ञान कहना सम्भव होता है।

इस प्रकार विशेषज्ञानसे प्रतिबद्धच जो प्रातिभासिक अध्यास होते हैं उनमें सादृश्यज्ञानरूप सामान्यज्ञान ही अध्यासका हेतु होता है और दुष्ट-इन्द्रियसंयोगका भी सादृश्यज्ञानद्वारा ही उक्त अध्यासमें उपयोग होता है, केवल इदमाकार वृत्तिरूप सामान्यज्ञान ही अध्यासका हेतु नहीं होता।

२५ : धर्मिज्ञानवादी (सामान्यज्ञानवादी) के मतमें श्रीउपाध्यायकी शंका और धर्मिज्ञानवादी द्वारा उसका समाधान

(धर्मिज्ञानवादीके प्रति श्रीउपाध्यायकी शंका)——ऊपर आपने कथन किया है कि 'विशेषज्ञानप्रतिबद्धच अध्यासोंमें अधिष्ठान-अध्यस्तका सादृश्य-ज्ञान ही हेतु होता है। यदि इस सादृश्यताको हेतु न माना जाय और दुष्ट-इन्द्रियसंयोग ही हेतु माना जाय तो जैसे शुक्तिमें रजताध्यास होता है तैसे इंगालमें भी रजताध्यास होना चाहिये।' इसपर हमारा कथन यह है कि इंगालमें रजताध्यासकी आपत्तिके परिहारके लिये ही विशेष-ज्ञान-प्रतिवद्धच अध्यासोंमें सादृश्यज्ञानरूप धर्मिज्ञानको हेतु मानना निष्फल है। क्योंकि प्रमातृदोष, प्रमाणदोष और प्रमेयदोषसे भी विशेषज्ञानप्रतिबद्धच अध्यासोंकी सिद्धि होती है। अर्थात् यदि आप सादृश्यताके ज्ञानको उक्त अध्यासका हेतु मानते हों तो ज्ञान प्रमाताका धर्म होता है और वह प्रमा-तृदोष हुआ उक्त अध्यासका हेतु बन सकता है। यदि केवल सादृश्यताको ही आप उक्त अध्यासका हेतु मानें तो वह प्रमेयदोष (विषय-दोष) हुआ हेतु बन सकता है। अतः प्रमातृ-प्रमेयदोष मान लेनेसे इंगालमें रजता-ध्यासकी आपत्तिका परिहार हो जाता है। इस प्रकार विशेषज्ञानप्रति-बद्धच अध्यासोंमें भी सादृश्यज्ञानको हेतु न मानकर सादृश्यज्ञानकी सामग्री प्रमातृदोषादिको ही हेतु मानना चाहिये, क्योंकि प्रमातृदोषादि विशेषज्ञान-अप्रतिबद्धच अध्यासोंमें भी हेतुरूप वनते हैं।

(श्रीउपाध्यायकी उपर्युक्त शंकापर धर्मिज्ञानवादीका समाधान)—जहाँ दूरदेशके समुद्रके जलमें नीलशिलाका भ्रम होता है, वहाँ भी विशेषज्ञान प्रतिवद्धच अध्यास ही होता है। क्योंकि जलके शुक्लरूप और जलत्वके ज्ञानसे नीलशिलाके भ्रमका प्रतिबंध हो जाता है। यहाँ यद्यपि जलमें तो नीलशिलाका सादृश्य नहीं है, किन्तु समुद्रके जलमें नीलरूपका भ्रम होकर पश्चात् नीलशिलाका भ्रम होता है और वहाँ नीलरूपका ज्ञान भी भ्रम-

रूप सादृश्यज्ञान ही है । इसलिये यह मानना चाहिये कि चाहे भ्रमरूप हो चाहे प्रमारूप अर्थात् भ्रम-प्रमासाधारण सादृश्यज्ञान ही विशेषज्ञानप्रतिबद्धच अध्यासोंका हेतु होता है, केवल सादृश्य ही स्वरूपसे हेतु नहीं होता। इसके अतिरिक्त श्रीउपाध्याय जो ऐसा मत प्रकट करे, अर्थात्—

'इंगलादिमें रजतादि-अध्यासोंकी आपत्तिके परिहारके लिये विशेषज्ञानप्रतिबद्धच अध्यासमें भी सादृश्यज्ञानकी प्रमातृप्रमेयदोषादि सामग्रीको ही हेतु मानना चाहिये और अधिष्ठानअध्यस्तमें समानधर्मरूप जो सादृश्य है उससे इन्द्रियका स्वसंयुक्त-तादात्म्यरूप सम्बन्ध ही सादृश्यज्ञानकी सामग्री है। समुद्रजलमें नीलशिलाके अध्यासका हेतु जो भ्रमरूप सादृश्यज्ञान है, उसकी सामग्री भी दोषवत् इन्द्रियका जलसे संयोग ही है। इस रीतिसे सादृश्यज्ञानकी जो सामग्री वही उक्त अध्यासकी हेतु माननी योग्य है। यदि सादृश्यज्ञानको अध्यासका हेतु माना जाय, तब भी सादृश्यज्ञानमें इन्द्रियसम्बन्धको अवश्य कारणता माननी होती है। इसलिये सादृश्यज्ञानके कारणको ही उक्त अध्यासमें कारणता माननी उचित है। उन दोनों कारण-कार्योंके बीचमें (अर्थात् इन्द्रियसंयोग और अध्यासके बीचमें) सादृश्यज्ञानका अंगीकार निष्फल है। तथा विशेषज्ञान-अप्रतिबद्धचरूप शंखपीतादि अध्यासोंमें तो केवल दुष्टइन्द्रियसंयोग ही हेतु बनता है, उस स्थानमें तो सादृश्यज्ञानका सम्भव ही नहीं होता। इसलिये जहाँ सादृश्यज्ञानकी अपेक्षा है वहाँ भी सादृश्यज्ञानकी सामग्रीको अध्यासका हेतु बन सकती है। इस सादृश्यज्ञानकी सामग्रीको अध्यासका हेतु मान लेनेसे सर्वत्र ही अध्यासोंमें एकमात्र इन्द्रियसंयोग ही हेतुरूप सिद्ध हो जानेसे लाघव है। इसके विपरीत सादृश्यज्ञानको हेतु माननेसे विरूप (विशेषज्ञान-अप्रतिबद्धच) अध्यासोंमें तो इन्द्रियसंयोगको हेतु मानने और सादृश्य (विशेषज्ञान प्रतिबद्धच) अध्यासोंमें सादृश्यज्ञानको हेतु माननेमें अध्यासके कारणद्वय कल्पनरूप गौरव होता है। इसलिये जहाँ सादृश्यज्ञान हेतु माना जाता है वहाँ भी सादृश्यज्ञानकी सामग्रीरूप इन्द्रियसम्बन्ध ही अध्यासका हेतु मानना योग्य है।'

धर्मिज्ञानवादीकी ओरसे इस शंकाका समाधान इस प्रकार है—

इन्द्रियसम्बन्धसे तो केवल ज्ञानकी ही उत्पत्ति देखी जाती है, इसलिये इन्द्रियसम्बन्धसे रजतादि विषयकी उत्पत्ति असम्भव है। तथा सादृश्य-ज्ञानको अध्यासका हेतु माननेमें कारणद्वयकल्पनरूप जो गौरव हमारे मतमें कहा गया वह भी असंगत है। क्योंकि जैसे हम (धर्मिज्ञानवादी) को कारणद्वयके कल्पनमें द्वित्व संख्याकी कल्पना करनी पड़ती है, वैसे ही श्रीउपाध्यायके मतमें सादृश्यज्ञानकी सामग्रीको अध्यासका हेतु माननेसे कारणका अधिक शरीर कल्पना करना होता है। अर्थात् सादृश्यज्ञानकी सामग्रीके स्वरूपमें सादृश्यज्ञान तो अंतर्भूत होता ही है, इसलिये श्रीउपा-ध्यायके मतमें सादृश्यज्ञानकी सामग्री अधिक शरीरवती हुई अध्यासका हेतु माननी पड़ती है। इस प्रकार लाघव-गौरव तो दोनों मतोंमें समान है, परन्तु 'ज्ञानकी सामग्रीसे विषयकी उत्पत्तिका असम्भव होता है' इस युक्तिका जो विरोध, वह उपाध्यायमतमें अधिक दोष है। इसलिये सादृश्यज्ञान ही उक्त अध्यासका हेतु मानना चाहिये, सादृश्यज्ञानकी सामग्री नहीं।

२६ : श्रीउपाध्यायद्वारा अध्यासकी कारणतामें सादृश्यज्ञानका खण्डन

उपर्युक्त रीतिसे धर्मिज्ञानवादीने जो विशेषज्ञानप्रतिबद्धच अध्यासोंमें सादृश्यज्ञानत्वरूपसे सामान्यज्ञानको अध्यासहेतु कथन किया, इस पर श्रीउपाध्यायमतमें इस प्रकार समाधान किया जाता है—

विरूप (विशेषज्ञान-अप्रतिबद्धच) में भी अध्यास होनेसे सकल अध्यासोंमें तो सादृश्यज्ञानकी कारणता ग्रहण की नहीं जा सकती, किन्तु केवल इंगालादिमें रूप्यादि अध्यासकी आपत्तिके परिहारके लिये ही विशेषज्ञानप्रतिबद्धच अध्यासोंमें सादृश्यज्ञानको हेतुरूप मानना होता है। वहाँ रूप्यादि अध्यासोंमें भी जैसे शुक्तिके नीलपृष्ठ एवं त्रिकोणतादि विशेषधर्मोंका ज्ञान अध्यासका प्रतिबन्धक होता है, तैसे

ही विशेषधर्मके ज्ञानकी सामग्री भी अध्यासका प्रतिबन्धक होती है इसलिये इंगालादिमें तो रूप्यादि अध्यासकी आपत्ति ही नहीं हो सकती, फिर इसीलिये सादृश्यज्ञानको अध्यासहेतु मानना निष्फल ही है। तथा जिस पदार्थका ज्ञान जिसमें प्रतिबन्धक होता है, उस पदार्थके ज्ञानकी सामग्री भी उसका प्रतिबन्धक होती है, यह नियम है। जैसे पर्वतमें वह्निकी अनुमितिका प्रतिबन्धक वह्निका अभावज्ञान है और उसकी सामग्री वह्नि-अभावके व्याप्यका ज्ञान है, क्योंकि व्याप्यके ज्ञानसे व्यापकका ज्ञान होता है। जैसे वह्निका व्याप्य धूम है और व्याप्य धूमज्ञानसे व्यापक वह्निका ज्ञान होता है, तैसे वह्नि-अभावके व्याप्य जलादि हैं और उनके ज्ञानसे वह्निके अभावका ज्ञान होता है। इसलिये वह्नि-अभावके ज्ञानकी सामग्री वह्नि-अभावके व्याप्यका ज्ञान ही है और वह्निकी अनुमितिका प्रतिबन्धक वह्निका अभावज्ञान है। इस प्रकार वह्निके अभावज्ञानकी सामग्री जो वह्नि-अभावके व्याप्यका ज्ञान, वह भी वह्नि-अनुमितिका प्रतिवंधक है। इस रीतिसे प्रतिबन्धकज्ञानकी सामग्री भी प्रतिबन्धक होती है। यद्यपि प्रतिबन्धककी सामग्रीको भी यदि प्रतिबन्धक कहा जाय तो दाहका प्रतिबन्धक जो मणि, उसकी सामग्री भी दाहका प्रतिबन्धक होनी चाहिये, परन्तु होती नहीं। इसलिये उसमें इस नियमका व्यभिचार है; तथापि प्रतिबन्धकज्ञानकी सामग्रीको प्रतिबन्धकता माननेमें व्यभिचार नहीं। इस प्रकार अध्यासका प्रतिवन्धक जो विशेषज्ञान, उसकी सामग्री भी अध्यास-का प्रतिबन्धक होती है। जैसे शुक्तिमें रूप्याध्यासका प्रतिबन्धक नीलता-रूप विशेषधर्मका ज्ञान है और उसकी सामग्री जो नीलभागव्यापी नेत्र-संयोग है, वह भी रूप्याध्यासका प्रतिबन्धक है। क्योंकि शुक्तिके नीलभागसे नेत्रसंयोग होनेपर शुक्तिज्ञान ही होता है, रूप्यभ्रम नहीं। किन्तु शुक्तिकी नीलतासे भिन्नभाग जो चाकचिक्यदेश, उसीसे नेत्रसंयोग होनेपर रूप्यभ्रम होता है। इस प्रकार नीलरूपवत् धर्मीका ज्ञान रूप्या-ध्यासका प्रतिबन्धक है और नीलरूपके आश्रय से नेत्रका संयोगसम्बन्ध,

तैसे नीलरूपसे नेत्रका संयुक्ततादात्म्यसम्बन्ध प्रतिबन्धक ज्ञानकी सामग्री है और वह भी रूप्याध्यासका प्रतिबन्धक है। इस प्रकार चूँकि इंगालसे जब कभी नेत्रसंयोग होता है, तब केवल नीलरूपविशिष्टसे ही होता है; इसलिये इंगालसे नेत्रसंयोग और उसके नीलरूपसे नेत्रसंयुक्ततादात्म्य-सम्बन्ध रहते हुए तथा प्रतिबन्धकज्ञानकी सामग्री होते हुए इंगालमें तो रूप्याध्यासकी प्राप्ति ही असम्भव है। फिर केवल उसीके परिहारार्थ सादृश्य ज्ञानको अध्यास हेतु मानना निष्फल है।

२७ : धर्मिज्ञानवादीद्वारा उपाध्यायमतमें दोष और उपाध्यायद्वारा उसका परिहार

यदि धर्मिज्ञानवादी उपाध्यायमतमें ऐसा दोष दें कि 'पुण्डरीकाकार कर्तित पटमें ही पुण्डरीकभ्रम हो सकता है, विस्तृत पटमें नहीं। इसलिये सादृश्यज्ञान अध्यासका हेतु होता है।' इस शंकाका समाधान भी अध्यासप्रतिबन्धक जो विशेषज्ञानकी सामग्री, उसीको अध्यासप्रतिबन्धक माननेसे सहज ही हो जाता है। अर्थात् विस्तारविशिष्ट पटसे नेत्रका सम्बन्ध पटके विशेषज्ञानकी सामग्री है। इसलिये जहाँ विस्तृत पटसे नेत्रका सम्बन्ध हो जाय, वहाँ तो पुण्डरीकाध्यास नहीं हो सकता; परन्तु जहाँ पुण्डरीकाकार पटसे नेत्रका सम्बन्ध रहे, वहाँ पटके विशेषज्ञानकी सामग्रीका अभाव रहता है, इसीलिये वहाँ पुण्डरीकाध्यासकी प्राप्ति होती है।

यद्यपि समुद्रजलके समुदायमें जहाँ नीलशिलातलका अध्यास होता है, वहाँ विशेषज्ञानकी सामग्री है। अर्थात् प्रथम तो जलके शुक्लगुणसे नेत्रका संयुक्ततादात्म्यसम्बन्ध विशेषज्ञानका हेतु है। दूसरे, चाक्षुषज्ञानका हेतु जलसे आलोकसंयोग भी है। तीसरे, जलराशित्व रूपविशेषका व्यञ्जक तरंगादिका प्रत्यक्ष भी होता है। इस प्रकार समुद्रके जल-समुदायके विशेषज्ञानकी सामग्रीमें उक्त तीनों पदार्थोंके रहते हुए भी उसमें नीलशिलातलका भ्रम होता है। इसलिये विशेषज्ञानकी सामग्रीको

अध्यासका प्रतिबन्धक माननेमें व्यभिचार पाया जाता है। तथापि प्रतिबन्धकरहित विशेषज्ञानकी सामग्री ही अध्यासका प्रतिबन्धक माननी चाहिये, प्रतिबन्धकसहित विशेषज्ञानकी सामग्री भी अध्यासका प्रतिबन्धक नहीं हो सकती। जहाँ समुद्रके जलसमुदायमें नीलशिलातलका अध्यास होता है, वहाँ समुद्रजलमें नीलरूपका भ्रम होकर ही नीलशिलाका अध्यास होता है और नीलरूपका भ्रमज्ञान रहते हुए शुक्लरूपका ज्ञान असम्भव है। इसलिये प्रथम तो जलका विशेषधर्म जो शुक्लरूप, उसके ज्ञानका प्रतिबन्धक नीलरूपका भ्रम है। दूसरे, दूरत्वदोषसे जलराशित्वका व्यञ्जक तरंगादिका प्रत्यक्ष असम्भव है, इसलिये जलराशित्वरूप विशेषज्ञानका प्रतिबन्धक दूरत्वदोष है। इस प्रकार यहाँ प्रतिबन्धकसहित विशेषज्ञानकी सामग्री ही है, प्रतिबन्धक रहित नहीं। परन्तु प्रतिबन्धकरहित विशेषज्ञानकी सामग्री ही अध्यासविरोधी होनेसे और यहाँ उसके अभावसे समुद्रके जलसमुदायमें नीलशिलातलका अध्यास होता है। बहुत क्या कहा जाय, प्रतिबन्धकरहित ही सकल कारणों से अपने-अपने कार्योंकी उत्पत्ति होती है, प्रतिबन्धकसहित किसी भी कारणसे कार्योत्पत्ति असम्भव है। इसीलिये सकल कार्योंके प्रति जो ईश्वरेच्छादि साधारण [१] कारण माने गये हैं और यावत् कार्योंकी उत्पत्ति जिनकी सहायतासे होती है, उनमें प्रतिबन्धकाभावको भी ग्रहण किया गया है। इसीलिये नेत्रसंयोगादि रूपज्ञानकी सभी असाधारण कारणकी सामग्रीके सद्भावमें भी प्रतिबन्धक रहते हुए विशेषज्ञान नहीं होता। क्योंकि सभी कारणोंसहित कारणको सामग्री कहते हैं, जहाँ अनेक कारण हों परन्तु उनमेंसे कोई एक न हो वहाँ सामग्री नहीं होती। इस प्रकार समुद्रजलके शुक्लरूपके ज्ञानमें तो नीलताभ्रम और जलराशित्वज्ञानमें दूरत्वदोष प्रति-

१. यावत् कार्योंके प्रति जो कारण हों वे साधारण कारण कहे जाते हैं। वह नव इस प्रकार हैं—(१) ईश्वर, (२) उसकी इच्छा, (३) उसका ज्ञान, (४) उसका प्रयत्न, (५) काल, (६) दिशा, (७) अदृष्ट, (८) प्रागभाव और (९) प्रतिवंधका भाव।

बन्धक हैं। उन प्रतिबन्धकोंके रहते हुए और प्रतिबन्धकाभावघटित विशेषज्ञानकी सामग्रीके अभावसे नीलशिलातलका भ्रम सम्भव होता है।

यहाँ यह अर्थ ज्ञातव्य है कि समीपस्थ पुरुषके आलोकवाले देशमें निर्मल तडागादिके जलसमुदायसे नेत्रसंयोग होनेपर भी नीलरूपका ही भ्रम होता है। इसलिये जलमें नीलरूपके भ्रमका विशेषज्ञानसे अथवा उसकी सामग्रीसे प्रतिबन्ध नहीं होता और वह विशेषज्ञानसे अप्रतिबद्धच होनेके कारण जलके शुक्लरूपसे नेत्रका संयुक्ततादात्म्यसम्बन्ध होते हुए भी उसमें नीलरूपका भ्रम होता ही रहता है। धर्मिज्ञानवादीके मतमें तो समुद्रजलमें नीलशिलातलका उक्त भ्रम सादृश्यज्ञानत्व व सामान्यज्ञानत्वरूपसे अध्यासका हेतु होता है। इसके विपरीत श्रीउपाध्यायके मतमें दूरादि दोषत्वरूपसे विशेषज्ञानके प्रतिबन्धकद्वारा अथवा प्रतिबन्धकाभावरहित विशेषज्ञानकी सामग्रीके अभावसम्पादनद्वारा उक्त अध्यासका हेतु होता है। इस प्रकार उपाध्यायमतमें सामान्यज्ञानरूप धर्मिज्ञान अध्यासका हेतु नहीं हो सकता और इंगालादिमें तो रूप्यादिका अध्यास असम्भव ही है। इसलिये अध्यासमें धर्मिज्ञानकी कारणताके अभावसे धर्मिज्ञानरूप इदमाकार प्रमावृत्तिका सम्भव नहीं होता। इस प्रकार क्या अनुभवानुसारसे और क्या कार्यानुपपत्तिसे अध्यासमें इदमाकार प्रमावृत्तिका निषेध किया गया।

२८ : उपाध्यायमतमें धर्मिज्ञानवादीकी शंका और श्रीउपाध्यायद्वारा उसका समाधान

(धर्मिज्ञानवादीकी शंका)—अन्तःकरणकी विषयाकार वृत्तिका हेतु इन्द्रियका विषयसे सम्बन्ध ही हुआ करता है, फिर जबकि नेत्रका शुक्ति आदि विषयसे सम्बन्ध अनिवार्य है, तब इदमाकार वृत्ति क्योंकर न होगी ? यदि मनका अन्यत्र व्यासंग [1] हो, तो विषयसे इन्द्रियसंयोग

१. मनकी किसी अन्य विषयसे आसक्ति, अर्थात् मन किसी अन्य विषयके साथ संलग्न हो रहा हो।

होनेपर भी उस विषयकी ज्ञानरूप वृत्ति न भी हो। परन्तु जबकि इसका अन्यत्र व्यासंग नहीं है, तब उस विषयसे इन्द्रियसंयोग होनेपर वृत्तिका विषयाकार होना निश्चित है। इस प्रकार अन्यत्र व्यासंगरूप प्रतिबन्धका भावसहित नेत्रसंयोगसे अन्तःकरणकी इदमाकार वृत्ति रज्जुशुक्त्यादिको विषय करती हुई अवश्य होती है और वह वृत्ति नेत्रादि प्रमाणजन्य होनेसे तथा शुक्त्यादिकी अबाधित इदंतागोचर होनेसे प्रमारूप ही होती है। इस प्रकार कारणके सद्भावसे इदमाकार प्रमाकी कल्पना अवश्य करनी पड़ती है।

(श्रीउपाध्यायका समाधान)—–यद्यपि नेत्रसंयोगादिसे इदमाकार वृत्ति तो होती है परन्तु वह दोषसहित नेत्रजन्य ही होती है और 'इदं रजतम्' इस प्रकारसे अपने कालमें उत्पन्न हुए मिथ्या रजतको विषय करती हुई ही होती है। इसलिये वह वृत्ति भ्रमरूप ही होती है, प्रमा नहीं। हमारे मतका निष्कर्ष यह है कि दोषसहित इन्द्रियके सम्बन्धसे विषयचेतनस्थ अविद्यामें कार्यके अभिमुखतारूप क्षोभ होकर उस अविद्याका सर्परजतादिरूप परिणाम होता है। अर्थात् दुष्ट नेत्रसंयोगसे उत्तर क्षणमें तो उस अविद्यामें क्षोभ और उससे उत्तर क्षणमें अविद्याका सर्प-रजतादि परिणाम होता है। जिस क्षणमें उस अविद्या का सर्प-रजतादि परिणाम होता है, उसी क्षणमें उन सर्प-रजतादिको विषय करनेवाला अन्तःकरणका 'इदं रजतम्' इस रूपसे वृत्तिरूप ज्ञान भी होता है। जिस दुष्ट नेत्रसंयोगसे उस अविद्यामें क्षोभद्वारा सर्प-रजतादिकी उत्पत्ति होती है, उसी दुष्ट नेत्रसंयोगसे अन्तःकरणके परिणामरूप सर्प-रजतादिज्ञानकी भी उत्पत्ति होती है।

यद्यपि नेत्रसंयोगसे अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही ज्ञानकी उत्पत्ति मानी जाती है, किसी व्यवधानसे नहीं। परन्तु यहाँ दुष्ट नेत्रसंयोगसे उत्तर क्षणमें तो अविद्यामें क्षोभ और उसके एक क्षणके व्यवधानसे सर्प-रजता-दिकी उत्पत्ति कथन की गई है। इससे अविद्याके क्षोभकालमें ही वृत्ति-ज्ञानकी उत्पत्ति जानी जाती है। फिर उससे उत्तर क्षणमें भावी सर्प-रजतादिकी उत्पत्ति कथन करने से विरोध प्रतीत होता है, क्योंकि ज्ञान

पहले और विषय पीछे, यह असम्भव है। तथापि विरोध नहीं है, क्योंकि कार्यके अभिमुख अविद्याकी अवस्थाका नाम ही क्षोभ है। ज्यों ही अविद्या कार्यके अभिमुख होकर अपने कार्य सर्प-रजतादिको रचती है, त्यों ही अन्तःकरण भी नेत्रसंयोगसे ज्ञानरूप कार्यके अभिमुख होकर ज्ञानको रचता है। इस प्रकार स्व-स्वकार्याभिमुख अविद्या और अन्तःकरणकी क्षोभाकार अवस्थाका नेत्रसंयोगसे अव्यवहित उत्तर क्षण एक ही है। उससे द्वितीय क्षणमें इधर तो अविद्या सर्प-रजतादि परिणामको प्राप्त होती है और उधर उसी क्षणमें अन्तःकरण ज्ञानाकार परिणामको प्राप्त होता है। ऊपर नेत्रसंयोगसे जो अव्यवहित उत्तर क्षणमें ज्ञानकी उत्पत्ति कही गई, उसका आशय यही है कि क्षणकाल अति सूक्ष्म है, इसलिये कार्याभिमुख अवस्थाका क्षण और कार्योत्पत्ति क्षण एक ही काल कहा जा सकता है, इसी अभिप्रायसे ऐसा कहा गया है। इस प्रकार रज्जु-शुक्त्यादिसे दुष्ट इन्द्रियका संयोग होनेपर अन्तःकरणका ज्ञानाकार परिणाम और विषयावच्छिन्न-चेतनस्थ-अविद्याका विषयाकार परिणाम एक कालमें ही होता है और उनका परस्पर विषयी-विषयभाव भी बनता है। इस प्रकार चूँकि अन्तःकरणका परिणामरूप वृत्तिज्ञान भी दुष्टइन्द्रिय-संयोगजन्य ही होता है और वह मिथ्या पदार्थगोचर ही होता है, इसलिये वह भ्रम है प्रमा नहीं।

इसके विपरीत धर्मिज्ञानवादीके मतमें अविद्यामें क्षोभका हेतु सामान्यज्ञान है, इसलिये उनके मतमें इदमाकार वृत्तिसे उत्तर कालमें क्षोभवती अविद्याके सर्प-रजतादि परिणाम होते हैं। परन्तु चूँकि उत्तरकालभावी पदार्थ प्रत्यक्ष-ज्ञानके विषय सम्भव नहीं होते, इसलिये उनके मतमें इदमाकार वृत्तिके विषय मिथ्या सर्प-रजतादि नहीं किन्तु रज्जु-शुक्त्यादि होनेसे इदमाकार वृत्तिप्रमा मानी गई है और उससे उत्तर सर्प रजतादिको विषय करनेवाली अविद्याका परिणामरूप भ्रमवृत्ति मानी गई है। इसलिये धर्मिज्ञानवादीके मतमें भ्रमवृत्तिऐन्द्रियक नहीं होती; किन्तु भ्रमवृत्तिका अधिष्ठान जो इदमाकार वृत्ति, उसकी उत्पत्तिद्वारा इन्द्रियसंयोगका

भ्रमवृत्तिमें परम्परासे उपयोग माना गया है, साक्षात् नहीं। साक्षात् इन्द्रियसंयोगसे जो ज्ञान होता है उसे वे 'ऐन्द्रियक' कहते हैं।

उपाध्यायमतमें सर्प-रजतादिका उपादानभूत अविद्यामें क्षोभका निमित्त केवल दोषवत् इन्द्रियसंयोग ही है। इसलिये एकमात्र दुष्टइन्द्रिय-संयोगसे इधर तो अविद्याका परिणाम सर्प-रजतादि और उधर उनको विषय करनेवाली अन्तःकरणका परिणामरूप इदमाकार वृत्ति दोनों सम-कालीन होते हैं। इस प्रकार उपाध्यायमतमें इदमाकार वृत्ति तो होती है और वह साक्षात् इन्द्रियसंयोगसे ही उत्पन्न होती है, इसलिये यद्यपि वह ऐन्द्रियक भी कही जाती है, परन्तु वह होती भ्रमरूप ही है। इस रीतिसे दुष्टइन्द्रियसंयोगसे जो इदमाकार वृत्ति होती है, वह अपने कालमें उत्पन्न सर्प-रजतादिको विषय करती हुई ही होती है, इसलिये वह वृत्ति 'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' ऐसी रूपवती ही होती है, केवल इदं पदार्थगोचर नहीं होती।

२९ : उपाध्यायमतमें शंका और उसका समाधान

(उपाध्यायमतमें शंका)—जिस पदार्थसे इन्द्रियका सम्बन्ध होता है, तद्गोचर ही वृत्ति होती है, ऐसा नियम है। यदि इन्द्रियका अन्यसे सम्बन्ध होनेपर तदन्यगोचर वृत्ति होती हो तो इन्द्रियका घटसे सम्बन्ध होनेपर पटगोचर भी वृत्ति होनी चाहिये। बहुत क्या कहा जाय, फिर तो एक पदार्थसे इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर सकल पदार्थगोचर भी वृत्तिकी आपत्ति होनेसे सकल पुरुष अनायास ही सर्वज्ञ हो जाने चाहिये। इसलिये किसी एक पदार्थसे इन्द्रियका सम्बन्ध होनेपर अन्यगोचर वृत्ति सम्भव नहीं होती, किन्तु जिससे इन्द्रियका सम्बन्ध हो तद्गोचर ही वृत्ति होती है। परन्तु उपाध्यायमतमें नेत्रसंयोग तो रज्जु-शुक्त्यादिसे और वृत्ति मानी गई सर्प-रजतादिगोचर, यह असम्भव है।

(श्रीउपाध्यायका समाधान)—वृत्तिके विषयसे अथवा वृत्तिके विषयके तादात्म्यवालेसे इन्द्रियसंयोग होनेपर तद्गोचर वृत्ति होती है। अर्थात्

जिस पदार्थको विषय करनेवाली वृत्ति हो, उस पदार्थसे अथवा उस पदार्थके तादात्म्यवालेसे इन्द्रियसंयोग अवश्य चाहिये। यहाँ भ्रमवृत्तिके विषय सर्प-रजतादि हैं, तहाँ यद्यपि उस वृत्तिके विषयसे तो नेत्रसंयोग नहीं हुआ है; तथापि उन सर्प-रजतादिके तादात्म्यवाले जो रज्जु-शुक्त्यादि हैं उनसे अवश्य नेत्रसंयोग हुआ है। क्योंकि अधिष्ठान-अध्यस्तका तादात्म्य-सम्बन्ध होता ही है और सर्प-रजतादिकी अधिष्ठानताके अवच्छेदक होनेसे रज्जु-शुक्त्यादि भी सर्प-रजतादिके अधिष्ठान कहे जाते हैं। इसलिये सर्प-रजतादिके तादात्म्यवाले रज्जु-शुक्त्यादिके नेत्रसंयोगसे उत्पन्न हुई भ्रम-वृत्तिके सर्प-रजतादि भी विषय हो सकते हैं। परन्तु घटमें पटका तादात्म्य नहीं, इसलिये घटाकार इन्द्रियसंयोगसे उत्पन्न हुई वृत्ति पटगोचर नहीं हो सकती और इसी प्रकार एक पदार्थके संयोगसे उत्पन्न हुई वृत्ति सकल पदार्थगोचर भी नहीं हो सकती। क्योंकि ब्रह्मसे भिन्न किसी एक पदार्थमें सकल पदार्थोंका तादात्म्य नहीं हो सकता, केवल ब्रह्ममें ही सबका तादात्म्य है, परन्तु ब्रह्म असंग है, इसलिये उससे इन्द्रियसंयोग सम्भव हो ही नहीं सकता। अतः एक पदार्थके इन्द्रियसंयोगसे सर्वज्ञताकी आपत्ति भी नहीं रहती। धर्मिज्ञानवादीके मतमें सर्प-रजतादि ज्ञेय और उनके ज्ञान दोनों अविद्याके परिणाम हैं। परन्तु उपाध्यायमतमें सर्प-रजतादि तो अविद्याके और उनके ज्ञान अन्तःकरणके परिणाम हैं तथा अन्तःकरणका वह परिणाम चूँकि इन्द्रियसंयोगसे उपजता है इसलिये वह ऐन्द्रियक भी है। इस प्रकार सर्प-रजतादिसे नेत्रसंयोगका अभाव रहते हुए भी रज्जु-शुक्त्यादिके दुष्टनेत्रसंयोगजन्य चाक्षुष-भ्रमवृत्तिके विषय सर्प-रजतादि होते हैं। 'चक्षुषा सर्पं पश्यामि' 'चक्षुषा रजतं पश्यामि' (मैं आँखसे सर्प-रजतको देखता हूँ) इस अनुव्यवसायसे भी भ्रमरूप चाक्षुष-वृत्ति सर्प-रजतादिगोचर ही सिद्ध होती है। परन्तु धर्मिज्ञानवादी तो रज्जु-शुक्त्यादिगोचर इदमाकार प्रमावृत्तिमें अभिव्यक्त जो साक्षी, उसका विषय सर्प-रजतादिको मानते हैं, इसलिये उनके मतमें उक्त अनुव्यवसायका विरोध है।

३० : धर्मिज्ञानवादीद्वारा नेत्रका अध्यासमें परम्परासे उपयोग और श्रीउपाध्यायद्वारा शंखपीतताध्यासमें साक्षात् उपयोग

(धर्मिज्ञानवादी)––यद्यपि सर्प-रजतादिका प्रकाश तो साक्षीसे होता है; तथापि अभिव्यक्त साक्षीसे ही उनका प्रकाश सम्भव है। इसलिये साक्षीकी अभिव्यञ्जक जो इदमाकार वृत्ति वह नेत्रजन्य होनेसे सर्परजतादिके साक्षीरूप प्रकाशमें भी नेत्रका परम्परासे उपयोग है ही और इसीलिये सर्प-रजतादिके भ्रम-ज्ञानमें चाक्षुषत्व-व्यवहार भी होता है। इस प्रकार हमारे मतमें सर्प-रजतादिको साक्षिभास्य माननेपर भी उक्त अनुव्यवसायका (अर्थात् मैं आँखसे सर्प-रजतादिको देखता हूँ) विरोध नहीं होता।

(श्रीउपाध्याय)––आपका यह कथन भी असंगत है। क्योंकि यद्यपि उक्त स्थलमें तो नेत्रका परम्परासे उपयोग मानकर चाक्षुषत्व-व्यवहारका निर्वाह मान भी लिया जाय; तथापि जहाँ शंखमें पीतभ्रम होता है वहाँ तो नेत्रका परम्परासे भी उपयोग सम्भव नहीं होता। क्योंकि रूपको छोड़कर केवल शंखमें तो नेत्रकी योग्यता ही नहीं होती, इसलिये यदि रूपविशिष्टमें नेत्रकी योग्यता कही जाय और नेत्रसे शुक्लरूपका ग्रहण माना जाय, तब तो पीतताध्यासकी प्राप्ति ही नहीं होती। इसलिये अध्यस्त पीतरूपविशिष्टमें ही नेत्रकी योग्यता माननी होगी, वह आपके मतसे सम्भव नहीं, क्योंकि अध्यस्तपदार्थमें ऐन्द्रियकत्व आपके मतमें स्वीकृत नहीं है। इस प्रकार रूपको छोड़कर केवल शंख-ज्ञानमें अथवा शुक्लरूपविशिष्ट शंख-ज्ञानमें तो नेत्रका उपयोग सम्भव ही नहीं होता। परन्तु हमारे मतमें तो दुष्ट नेत्रका शंखसे संयोग ही पीतरूपाध्यासका हेतु है, वह नेत्रसंयोग रूपरहित केवल शंखसे अथवा शुक्लरूपविशिष्टसे सम्भव नहीं होता।

३१ : धर्मिज्ञानवादीद्वारा शंखपीतताका अनध्यास और श्रीउपाध्यायद्वारा उसका अनुवाद तथा उसमें दोष

(धर्मिज्ञानवादी)—जहाँ शंखमें पीतरूपका अध्यास होता है, वहाँ सर्प-रजतादिके समान पीतिमाका स्वरूपसे अध्यास नहीं होता। किन्तु जैसे स्फटिकमें जपा-कुसुमवर्ति लौहित्यके संसर्गका अध्यास होता है, वैसे ही नेत्रवर्ति पित्तसम्बन्धी पीतिमाके सम्बन्धका शंखमें अध्यास होता है और पीतपित्तके ज्ञानविना उसके सम्बन्धका अध्यास भी सम्भव नहीं होता। इसलिये पीतपित्तके ज्ञानमें नेत्रका उपयोग होनेसे शंखके पीतमाध्यासमें भी नेत्रका परम्परासे उपयोग है और इसीलिये 'पीतशंखं चक्षुषा पश्यामि' (मैं पीले शंखको आँखसे देखता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय सम्भव होता है। इसके साथ ही शंखमें पीतरूपका अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजता है, इसलिये अन्यथाख्यातिकी आपत्ति भी नहीं होती।

(श्रीउपाध्याय)—आपकी उक्तिको ग्रहण करके भी आपके प्रति यह प्रश्न होता है कि शंखमें पीतरूपके संसर्गाध्यासका हेतु जो पित्तपीतताका ज्ञान होता है, वह नयन देशस्थ ही उस पित्तपीतताका प्रत्यक्ष होता है, अथवा शंखदेशमें पीतद्रव्य प्राप्त होकर? अब यदि प्रथम पक्ष कहा जाय तो नयनस्थ अञ्जनके समान नयनस्थ पीतद्रव्यसे तो नेत्रसंयोग असम्भव ही होता है, फिर उसका चाक्षुष-प्रत्यक्ष तो सम्भव हो ही कैसे? इसलिये नयनस्थ पीत-पित्तगोचर परोक्ष वृत्ति ही माननी होगी और फिर उस परोक्ष-वृत्तिस्थ साक्षीसे शंखकी पीतताका अपरोक्ष प्रकाश न हो सकेगा। यदि किसी प्रकार नयनस्थ पित्त-पीततागोचर अपरोक्ष वृत्ति मान भी ली जाय तो उस वृत्तिमें अभिव्यक्ति साक्षीसे नयनदेशस्थ पित्तपीततामात्रका ही सम्बन्ध है, शंखसे और शंखमें पीतताके सम्बन्धसे तो साक्षीका सम्बन्ध ही नहीं। इसलिये उस वृत्तिके अभावके कारण शंखसे और शंखमें पीतिमाके सम्बन्धसे साक्षीका असम्बन्ध होनेके कारण साक्षिद्वारा उनका प्रकाश ही न होना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जहाँ जपाकुसुमसम्बन्धी रक्तताके

अनिर्वचनीय सम्बन्धकी स्फटिकमें उत्पत्ति होती है, वहाँ तो रक्तता, स्फटिक और उसमें रक्तताका सम्बन्ध, ये तीनों पदार्थ पुरोदेशमें होते हैं। इसलिये वे तीनों एकही वृत्ति में अभिव्यक्त साक्षीके विषय हो जाते हैं। परन्तु शंखपीतताध्यासमें पीतिमा तो नयनदेशमें है और पीतिमाके सम्बन्धसहित शंख पुरोदेशमें है, इसलिये एक वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे उक्त तीनोंका प्रकाश सम्भव नहीं होता। इस प्रकार 'नयनदेशस्थ पित्तपीतिमाके ज्ञानमें नेत्रका उपयोग है' यह प्रथम पक्ष तो संभव नहीं होता।

इस प्रकार प्रथम पक्षकी असम्भवताके कारण द्वितीय पक्ष ही मानना होगा। अर्थात् शंखदेशमें प्राप्त हुए पित्तद्रव्यकी पीतताका तो नेत्रसे अपरोक्ष-ज्ञान होता है और शंखमें उस पीतताके अनिर्वचनीय सम्बन्धकी उत्पत्ति होती है। जैसे जहाँ कुसुंभके सम्बन्धी पटमें कुसुंभद्रव्यके रूपकी प्रतीति होती है, वहाँ एक वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे कुसुंभ, रक्तरूप और तत्सम्बन्धी पटका प्रकाश होता है। तथा जैसे जहाँ स्फटिकमें लौहित्यभ्रम होता है, वहाँ भी एक वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे ही निखिल का प्रकाश होता है। उसी प्रकार शंखपीतताध्यासमें भी नयनदेशसे विनिसृत पीतपित्त भी शंखदेशमें प्राप्त होता है और उसके अनिर्वचनीय सम्बन्धकी शंखमें उत्पत्ति होती है। ऐसा द्वितीय पक्ष मान लेनेपर पूर्वोक्त दोष नहीं रहता। क्योंकि पीतपित्त और शंख एकदेशस्थ होनेसे पीतपित्तगोचर चाक्षुष-वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे शंख और शंखमें पीतताके संसर्गका प्रकाश माननेमें कोई भी बाधा नहीं है। इस रीतिसे शंखदेशमें प्राप्त जो पीतपित्त, उसकी पीतताके अनिर्वचनीय संसर्गकी शंखमें उत्पत्ति होती है और उस शंखदेशस्थ पीतपित्तका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है एवं शंखमें उसका संसर्गाध्यास होता है। इस प्रकार शंख पीतताध्यासमें भी नेत्रका परम्परासे उपयोग होनेसे चाक्षुषत्वप्रतीतिका सम्भव कहा जा सकता है।

परन्तु धर्मिज्ञानवादीकी यह उक्ति अर्थात् उनका यह दूसरा पक्ष भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि यदि पीतरूपवाले पित्तका शंखदेशमें

निर्गमन होता हो तो सकल द्रष्टाओंको शंखमें उस पीतिमाकी प्रतीति होनी चाहिये।

३२ : धर्मिज्ञानवादीद्वारा उक्त दोषका दो बार समाधान और श्रीउपाध्यायद्वारा उसमें दो बार दोष

(धर्मिज्ञानवादी)—जो पुरुष अपने दोषवत् नेत्रसे निकलते हुए पित्तको देखता है, उसीको शंखलिप्त पीतिमाकी प्रतीति होती है। परन्तु जिसके नेत्रमें पित्तदोष ही न हो उसको नेत्रसे निकलता हुआ पित्त भी नहीं दीख पड़ता, इसलिये उसको शंखमें पित्तपीतताकी प्रतीति भी नहीं होती। जैसे जो पुरुष भूमिमें उद्‌गमनकर्ता पक्षीकी आदि उद्‌गमन क्रियाको और मध्य क्रियाको देखे, उसीको अति ऊर्ध्वदेशमें पक्षीकी प्रतीति होती है। परन्तु जिसने अधोदेशमें उद्‌गमनकर्ता पक्षीको नहीं देखा, उसको अति ऊर्ध्वदेशगत पक्षीकी प्रतीति भी नहीं होती। तैसे ही जिसके नेत्रसे पीतपित्त निकले, उसीको निकलते हुए पित्तकी शंखदेशमें प्रतीति हो सकती है, अन्यको नहीं।

(श्रीउपाध्याय)—इस दृष्टांतसे जो आपने शंखमें अन्य पुरुषोंको पीतिमाप्रतीतिकी आपत्तिका परिहार कथन किया वह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि जिसको ऊर्ध्वदेशगत पक्षी दिखलाई पड़ता हो, यदि वह अन्य पुरुषोंको इस भाँति बोधन करे कि 'मेरे नेत्रके समीप करके अपने नेत्रसे देख' और इसके साथ ही अँगुलीसे निर्देश भी करे तो अन्य पुरुषों-को भी ऊर्ध्वदेशगत पक्षीकी प्रतीति हो जाती है। परन्तु शंखलिप्त पित्तकी पीतिमाकी प्रतीति तो अन्यको किसी प्रकार भी सम्भव नहीं होती, इसलिये आपका यह दृष्टांत विषम है और इससे शंखदेशमें पित्तका निर्गमन सम्भव नहीं होता। यदि धर्मिज्ञानवादी इसके उपरान्त भी ऐसा ही आग्रह करे—

'दोषवत् नेत्रसे निकले हुए पित्तपीतिमाका दोषवत् नेत्रसे ही अपरोक्ष होता है, इसलिये अन्य पुरुषोंको शंखमें पीतिमाध्यास नहीं होता। इस

प्रकार शंखदेशस्थ पीतिमाका नेत्रसे अपरोक्षानुभव होता है और नेत्रसे अनुभूत पीतिमाका शंखमें जो अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजता है, उसको साक्षी प्रकाश करता है। इसलिये शंखमें पीतिमासम्बन्धकी प्रतीतिमें नेत्रका परम्परासे उपयोग होनेसे चाक्षुषत्व व्यवहार भी सम्भव होता है।'

धर्मिज्ञानवादीका उक्त समाधान भी अनुभूयमानारोपमें ही सम्भव होता है, स्मर्यमाणारोपमें नहीं। अन्यत्र अनुभूतकी अन्यत्र प्रतीतिको 'अनुभूयमानारोप' कहते हैं। जैसे नेत्रदेशस्थ नेत्रके पित्तमें अनुभूत जो पीतिमा, उसका सम्बन्ध जो शंखमें प्रतीत होता है, यह अनुभूयमानका आरोप है। इसी प्रकार जहाँ सन्निहित पदार्थके धर्मकी अन्यत्र प्रतीति हो, वहाँ सर्वत्र अनुभूयमानारोप कहलाता है। अथवा प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए विषयका जहाँ आरोप हो अर्थात् जिस सन्निहित उपाधिमें उस प्रत्यक्षानुभवकी विषयता हो, वह अनुभूयमानारोप कहा जाता है। परन्तु जहाँ जलमें नीलताका अध्यास हो वहाँ तो 'स्मर्यमाणारोप' कहलाता है, अर्थात् स्मृतिके विषयको स्मर्यमाण कहते हैं। जहाँ जलाधार भूमि नील हो, अथवा नीलमृत्तिकामिश्रित जल हो, वहाँ तो जलमें नीलताध्यास अनुभूयमानारोपरूप ही सम्भव होता है। परन्तु धवलभूमिस्थ निर्मल जलमें और आकाशमें नीलता तो स्मर्यमाणारोपरूप ही होती है। इन दोनों स्थलोंमें नीलरूपसंसर्गी अधिष्ठानगोचर चाक्षुष-वृत्तिका अनंगीकार होनेसे वहाँ नेत्रका परम्परासे भी उपयोग सम्भव नहीं होता। इसलिये आकाशनीलतादि उक्त अध्यासोंमें चाक्षुषत्व-प्रतीति तो धर्मिज्ञानवादीके मतमें भी सम्भव नहीं होती, क्योंकि अध्यस्त पदार्थको धर्मिज्ञानवादीके मतमें साक्षिभास्य माना गया है। परन्तु चूँकि उपाध्यायमतमें अध्यस्त पदार्थको ऐन्द्रियकत्व माना गया है, इसलिये इस मतमें आकाशनीलतादि अध्यासोंमें भी चाक्षुषत्व-प्रतीति सम्भव होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ स्तनके मधुर दुग्धमें बालकको तिक्तरसाध्यास होता है, वहाँ मधुर दुग्ध अधिष्ठान होता है। इस स्थलमें रसनेन्द्रियकी द्रव्यग्रहणमें अयोग्यताके कारण मधुर दुग्धके ज्ञानमें

तो रसनेन्द्रियका उपयोग सम्भव नहीं होता और धर्मिज्ञानवादमें तिक्तरसरूप अध्यस्तगोचर ऐन्द्रियकवृत्तिका अंगीकार किया नहीं गया। इसलिये धर्मिज्ञानवादमें मधुर दुग्ध में तिक्तरसाध्यास रासनत्व नहीं कहा जाना चाहिये। परन्तु उपाध्यायमतमें तो तिक्ततागोचर दोषवत् रासनवृत्ति हो सकती है, इसलिये तिक्तरसाध्यासमें भी रासनत्व-व्यवहार सम्भव होता है।

३३ : मधुरदुग्धमें तिक्तरसाध्यासकी रसनगोचरतापूर्वक उपाध्यायके मतका निष्कर्ष

उपाध्यायमतानुसार तिक्तरसाध्यासमें इतना भेद है कि सर्प-रजतादि अध्यासोंमें तो अधिष्ठानके साथ नेत्रके संयोगसे अधिष्ठान-गोचर चाक्षुषवृत्ति होती है। और उस वृत्तिके समकाल उपजे सर्प-रजतादि भी उसी वृत्तिके विषय होते हैं। परन्तु जहाँ मधुरदुग्धमें तिक्तरसाध्यास होता है, वहाँ द्रव्यग्रहणकी अयोग्यताके कारण दुग्धाकार तो रासनवृत्ति सम्भव हो नहीं सकती, किन्तु शरीरव्यापी जो त्वक् है वह रसनव्यापी भी है इसलिये त्वाचवृत्ति ही दुग्धाकार होती है और उसीसे दुग्धका प्रकाश होता है। जिस कालमें त्वचाका दुग्धसे संयोग होता है, उसी कालमें दोषदूषित रसनाका दुग्धरससे संयोग होता है। रसनसंयोगसे दुग्धावच्छिन्न-चेतनस्थ-अविद्यामें क्षोभ होकर अविद्याका तो तिक्तरसाकार परिणाम और अन्तःकरणकी तिक्तरसगोचर रासनवृत्ति, दोनों समकालीन होते हैं। इस प्रकार जहाँ मधुरदुग्धमें तिक्तरसाध्यास होता है, वहाँ द्रव्यका प्रकाश तो त्वाचवृत्त्यवच्छिन्नचेतनसे होता है और तिक्तरसाकार रासनवृत्ति होती है, इसलिये रासनवृत्त्यवच्छिन्नचेतनसे तिक्तरसका प्रकाश होता है। चूँकि त्वाचवृत्ति और रासनवृत्ति दोनों दुग्धदेशमें जाती हैं, इसलिये दोनों एकदेशस्थ होनेसे उभयवृत्त्युपहित-चेतनका भेद नहीं रहता और इसलिये अधिष्ठान-अध्यस्त दोनों एक ज्ञानके विषय भी सम्भव होते हैं। इसके विपरीत यदि तिक्तरसगोचर

रासनवृत्ति न मानी जाय, किन्तु त्वाचवृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे ही तिक्तरसका प्रकाश माना जाय तो तिक्तरसके ज्ञानमें रासनत्वप्रतीति भी न होनी चाहिये। परन्तु चूँकि रासनत्वप्रतीति होती है, इसलिये बलात्कारसे तिक्तरस रासनगोचर ही मानना पड़ता है।

धर्मिज्ञानवादीके मतमें यद्यपि सर्प-रजतादि अध्यासोंमें तो अध्यासके हेतु अधिष्ठानके सामान्यज्ञानमें नेत्रका उपयोग होनेसे परम्परासे अध्यस्तज्ञानमें भी नेत्रजन्यता हो सकती है, परन्तु तिक्तरसाध्यासमें तो अधिष्ठान मधुरदुग्ध है, जो द्रव्यरूप होनेसे उसके ज्ञानमें रसनेन्द्रियके अनुपयोगसे तिक्तरसज्ञानमें परम्परासे भी रासनजन्यता सम्भव नहीं होती। इसलिये अन्य किसी उपायके विना धर्मिज्ञानवादीको भी तिक्तरसाध्यासमें रासनत्वप्रतीतिके निर्वाहके लिये अवश्य रासनवृत्ति ही माननी पड़ती है। फिर जैसे तिक्तरसाध्यासमें अध्यस्तगोचर रासनवृत्ति मानी गई, तैसे सर्प-रजतादि अध्यासोंमें भी अध्यस्तगोचर ऐन्द्रियक वृत्ति ही माननी चाहिये, उसके विपरीत अध्यस्तगोचर अविद्याका परिणामरूप अनिर्वचनीय वृत्तिकी कल्पना करना निष्फल ही है। परन्तु उपाध्यायमतमें तो अविद्याका परिणाम केवल विषयाकार ही होता है और उस अनिर्वचनीय विषयकी ज्ञानाकार वृत्ति अन्तःकरणकी ही होती है तथा चूँकि दुष्ट इन्द्रियसंयोगसे वह वृत्ति होती है, इसलिये वह भ्रमरूप ही होती है। इसके साथ अधिष्ठानसे दुष्ट इन्द्रियका संयोग ही अविद्यामें क्षोभद्वारा अध्यासका हेतु होता है, अधिष्ठानका सामान्य-ज्ञान अध्यासका हेतु नहीं होता।

३४ : आचार्योक्ति और युक्तिसे उपाध्यायमतकी विरुद्धता और धर्मिज्ञानवादिके मतमें उक्त दोषका समाधान

ऐसा जो श्रीउपाध्यायका मत है वह सकल प्राचीन आचार्योंकी उक्तिसे विरुद्ध है। अर्थात् 'अधिष्ठानका सामान्यज्ञानरूप दोष और

पूर्वानुभवजन्य संस्कारोंसे ही अध्यास होता है' ऐसा प्राचीन मत है। इसके विपरीत उपाध्यायमतमें तो अधिष्ठानसे दुष्ट इन्द्रियका संयोग ही अध्यासका हेतु माना गया है, इसलिये यह प्राचीन वचनसे विरुद्ध है। अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यासके भेदसे अध्यास दो प्रकारका माना गया है, ऐसा सभी अद्वैतवादी मानते हैं, परन्तु उपाध्यायमतमें तो ज्ञानाध्यास अप्रसिद्ध ही हो जाता है। क्योंकि अनिर्वचनीय सर्प-रजतादिगोचर अविद्याके परिणामको 'ज्ञानाध्यास' कहते हैं, परन्तु उपाध्यायमतमें ऐन्द्रियक भ्रमवृत्ति मानकर उसका लोप है। इस प्रकार यह प्राचीन वचनसे विरुद्ध है और वक्ष्यमाण रीतिसे युक्तिविरुद्ध भी है। अर्थात् उपाध्यायमतके अनुसार यदि सभी अध्यासोंमें अधिष्ठान-इन्द्रियके संयोगको ही अध्यासहेतु माना जाय तो अहंकारादि अध्यासोंकी अनुपपत्ति होगी। क्योंकि अहंकारादिका अधिष्ठान ब्रह्मचेतन अथवा साक्षिचेतन है, जो नीरूप है और उससे तो भ्रमहेतु इन्द्रियसंयोगका सम्भव हो ही नहीं सकता। यदि वे प्रातिभासिक अध्यासोंमें ही इन्द्रियसंयोगको अध्यासहेतु मानते हों तो अहंकारादिका अध्यास भी प्रातिभासिक ही है, इसलिये इस स्थलमें इन्द्रियसंयोगके अभावसे अहंकारादि अध्यासोंकी अनुपपत्ति ही होगी। यदि ऐसा कहा जाय कि अहंकारादिके अध्यास व्यावहारिक होनेसे प्रातिभासिक अध्यासोंसे विलक्षण हैं, तो फिर स्वप्नाध्यासोंकी अनुपपत्ति होगी। क्योंकि स्वप्नाध्यास तो सभी मतोंमें प्रातिभासिक ही हैं और उनका अधिष्ठान साक्षिचेतन ही है, जिससे इन्द्रियसंयोग असम्भव ही है। इस प्रकार प्रातिभासिक अध्यासोंमें भी अधिष्ठान-इन्द्रियसंयोगको अध्यासहेतु कहना सम्भव नहीं होता, इसलिये उपाध्यायमत समीचीन नहीं है। धर्मिज्ञानवादमें श्रीउपाध्यायने जो यह दोष दिया, अर्थात्—

'यदि इन्द्रियसंयोगका उपयोग अधिष्ठानके सामान्यज्ञानमें माना जाय तो जहाँ शंखमें पीतिमाध्यास होता है वहाँ रूपविना केवल शंखका चाक्षुष-ज्ञान मानना चाहिये और यदि रूपके विना केवल शंखका ही

चाक्षुष-ज्ञान माना जाय, तब तो नीरूप वायुका भी चाक्षुष-प्रत्यक्ष होना चाहिये । यदि शुक्लरूपविशिष्ट शंखका चाक्षुष माना जाय तो वह पीतरूपके ज्ञानका विरोधी होनेसे पीतरूपका अध्यास नहीं होना चाहिये ।'

श्रीउपाध्यायका ऐसा कथन भी अविचारसे ही है । क्योंकि यद्यपि रूपवान् द्रव्यका ही चाक्षुष-प्रत्यक्ष होता है, यह नियम है; तथापि दोष-बलसे कहीं रूपभागको त्यागकर केवल आश्रयका भी चाक्षुष-ज्ञान हो जाता है । परन्तु निर्दोष नयनसे तो रूपविशिष्टका ही चाक्षुष-ज्ञान होता है, नीरूपका चाक्षुष नहीं होता, इसलिये नीरूप वायुके चाक्षुष-ज्ञानकी आपत्ति नहीं हो सकती । अतः दुष्टनेत्रसे रूपवान् शंखके रूपभागको त्यागकर चाक्षुष-प्रत्यक्ष बन सकता है । अथवा यों कहा जा सकता है कि यद्यपि शुक्लरूपविशिष्ट शंखका ही चाक्षुष होता है; तथापि शुक्लरूपमें शुक्लत्व-ज्ञानका प्रतिबंधक नयनदोष है, इससे पीतिमाध्यास भी सम्भव होता है । क्योंकि शुक्लत्वविशिष्ट शुक्लरूपका ज्ञान ही पीतरूपके ज्ञान-का विरोधी होता है, केवल शुक्लरूप व्यक्तिका ज्ञान रूपान्तर ज्ञानका विरोधी नहीं होता । यह वार्ता 'प्रतिबध्य-प्रतिबन्धकभावनिर्णायक' ग्रन्थमें प्रसिद्ध है । इस प्रकार धर्मिज्ञानवादमें शंखके पीतिमाध्यासका हेतु शंख-रूप अधिष्ठानका इदमाकार चाक्षुष-ज्ञान सम्भव हो सकता है जो केवल शंखगोचर होता है, अथवा जो दोषबलसे शुक्लत्वको त्यागकर शुक्ल-रूपविशिष्ट शंखगोचर होता है । इसलिये इस मतके अनुसार पीतिमा-ध्यासमें नेत्रका परम्परासे उपयोग होनेसे चाक्षुषत्वप्रतीतिका निर्वाह भी हो सकता है । जहाँ मधुरदुग्धमें तिक्तरसाध्यास हो, वहाँ श्रीउपाध्यायने धर्मिज्ञानवादमें जो रासनवृत्तिकी अनिवार्यता इस प्रकार कथन की, अर्थात्—

'तिक्तरसका अधिष्ठान जो मधुरदुग्ध, उसकी सामान्यज्ञानरूप रासन-वृत्ति तो सम्भव हो नहीं सकती, किन्तु अधिष्ठानगोचर त्वाचवृत्ति ही हो सकती है । यदि उस त्वाचवृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे तिक्तरसका प्रकाश माना जाय तो तिक्तरसकी प्रतीतिमें रासनत्व-व्यवहार असम्भव

होगा। परन्तु चूँकि इस स्थलमें रासनत्व-व्यवहार होता है, इसलिये धर्मिज्ञानवादी को भी तिक्तरसकी भ्रमरूप प्रतीति रसनजन्य ही माननी पड़ती है। इसी प्रकार रजतादि भ्रमज्ञान भी दुष्ट इन्द्रियजन्य ही मानने चाहिये।'

यदि धर्मिज्ञानवादमें मधुररसवान् दुग्धरूप द्रव्य तिक्तरसाध्यासका अधिष्ठान माना गया हो, तब तो श्रीउपाध्यायके उक्त वचन संगत हो सकते हैं। परन्तु इस मतमें तो तिक्तरसाध्यासका अधिष्ठान दुग्धका मधुररसमात्र माना गया है, द्रव्य नहीं। उस रसनज्ञानमें रसनाका उपयोग होनेसे तिक्तरसकी प्रतीतिमें रासनत्व-व्यवहार सम्भव होता है। यद्यपि मधुररसका ज्ञान हो जानेपर उससे विरोधी तिक्तरसका अध्यास सम्भव नहीं होता; तथापि मधुरत्व-धर्मविशिष्ट मधुररसका ज्ञान ही तिक्तरसाध्यासका विरोधी होता है। मधुरत्व-धर्मको त्यागकर केवल मधुर-रस-व्यक्तिका सामान्यज्ञान तिक्तरसाध्यासका विरोधी नहीं होता। जैसे शुक्तित्वरूपसे शुक्तिका ज्ञान तो रजताध्यासका विरोधी होता है, परन्तु शुक्तिका सामान्यज्ञान रजताध्यासका विरोधी नहीं होता, बल्कि वह तो उलटा रजताध्यासका साधक होता है। इसी प्रकार मधुररसका सामान्य-ज्ञान भी तिक्तरसाध्यासका हेतु होता है। इस प्रकार धर्मिज्ञानवादमें भी तिक्तरसका अधिष्ठान जो मधुररस, उसका रसनासे सामान्यज्ञान होकर तिक्तरसका अध्यास होता है और परम्परासे तिक्तरसाध्यासमें भी रसनेन्द्रियका उपयोग बन सकता है तथा तिक्तरसकी प्रतीतिमें रासनत्व-व्यवहार भी सम्भव होता है।

३५ : तिक्तरसाध्यासमें किसी अन्यकी उक्ति और उसका खण्डन

तिक्तरसाध्यासके सम्बन्धमें कोई ऐसा भी कहते हैं कि यदि तिक्त-रसाध्यासका अधिष्ठान मधुरदुग्ध भी मान लिया जाय, तब भी तिक्त-रसाध्यासमें रसनकी अपेक्षा नहीं है। किन्तु दुग्धगोचर जो त्वाचवृत्ति

होती है वह यद्यपि तिक्तरसाकार नहीं भी है; तथापि उस त्वाचवृत्तिमें अभिव्यक्त जो साक्षी वह निरावृत्त है। इसलिये उसीके सम्बन्धसे तिक्त-रसका प्रकाश हो जाता है और इसलिये तिक्तरसाध्यासमें रासनत्व-व्यवहार अप्रामाणिक है। इस पक्षमें तिक्तरसाध्यास केवल अर्थाध्यासरूप ही है, इसलिये अविद्याकी तिक्तरसाकार वृत्ति निष्फल मानी गई। इस प्रकार कोई ग्रन्थकार मधुरदुग्धको तिक्तरसाध्यासका अधिष्ठान मानकर मधुरदुग्धगोचर त्वाचवृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे ही तिक्तरसका प्रकाश मानते हैं और तिक्तरसगोचर वृत्तिका अभाव मानते हैं।

परन्तु यह लेख असंगत है। क्योंकि स्वाकारवृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे स्वसम्बन्धी विषयका ही प्रकाश होता है, यह नियम है। यदि अन्याकार वृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे स्वसम्बन्धी विषयका भी प्रकाश माना जाय तो रूपवत् घटाकारवृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे घटगत परिमाण-संख्यादि की भी प्रतीति हो जानी चाहिये। परन्तु 'रूपवान् घटः' (घट रूपवाला है) ऐसा ज्ञान होनेपर भी जबकि घटके स्थूलतादिका ज्ञान नहीं होता, तब मधुरदुग्धाकार त्वाचवृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे तिक्तरसका प्रकाश कैसे सम्भव हो सकता है? तथापि दोषकी महिमा अद्भुत है, इसलिये यदि दोषदुष्ट-इन्द्रियजन्य-वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे वृत्तिके अगोचरका भी प्रकाश मान लिया जाय तो यथाकथञ्चित् उक्त लेख भी सम्भव हो सकता है। परन्तु रूपवत् घटाकारवृत्ति तो दोषजन्य नहीं होती, इसलिये उस वृत्तिके अगोचर परिमाणादिका उस वृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे प्रकाश नहीं होता।

३६ : मुख्य सिद्धांतका कथन

मुख्य सिद्धांत तो यह है कि जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें यद्यपि सकल पदार्थ साक्षिभास्य ही होते हैं, तथापि उनमें चाक्षुषत्व-रासनत्वादिकी प्रतीति होती है; उसी प्रकार अनिर्वचनीय पदार्थ सर्प-रजतादि भी साक्षिभास्य ही होते हैं और उनमें चाक्षुषत्वादिकी प्रतीति भ्रमरूप ही

होती हैं। केवल सर्प-रजतादि ही साक्षिभास्य नहीं होते, किन्तु यावत् अनात्म पदार्थ साक्षिभास्य होते हैं और स्वप्नसमान घटादि प्रमेय, नेत्रादि प्रमाण और नेत्रादि का घटादिसे सम्बन्ध, सभी त्रिपुटी समकालीन उत्पन्न होती हैं। इसलिये वस्तुतः तो इनका प्रमाण-प्रमेयभाव सम्भव नहीं होता, परन्तु चूँकि प्रमाण-प्रमेयभावकी प्रतीति होती है, अतः ये सब अनिर्वचनीय हैं, यही सिद्धान्त है। उस व्यावहारिक प्रपञ्चमें मिथ्यात्व-सिद्धिके उपयोगी और साक्षिभास्यताके साधक ये मिथ्या सर्प-रजतादि दृष्टान्तरूप होते हैं। इसलिये उन मिथ्या सर्प-रजतादिको ऐन्द्रियकत्व मान लेनेपर सिद्धान्तका साधक दृष्टान्त प्रतिकूल हो जाता है। इसलिये उपाध्यायमत सिद्धान्तविरुद्ध है।

दूसरे पक्षमें यदि अध्यस्त पदार्थको ऐन्द्रियकत्व न माना जाय तो आकाशमें नीलताध्यासकी अनुपपत्ति होती है—अब धर्मिज्ञानवादमें यह दोष निराकरणीय रहता है। क्योंकि आकाश नीरूप है, इसलिये आकाशका नेत्रसे सामान्यज्ञान तो सम्भव हो नहीं सकता। यदि आकाशका सामान्य-ज्ञान सम्भव होता तो नीलताध्यास भी बन सकता था। परन्तु उपाध्याय-मतमें तो नेत्रका आकाशसे संयोग होनेपर इधर तो आकाशावच्छिन्न-चेतनस्थअविद्यामें क्षोभ होकर नीलरूपकी उत्पत्ति और उधर नेत्रसंयोगजन्य अन्तःकरणकी आकाशगोचर नीलरूपविशिष्ट चाक्षुष-वृत्ति दोनों समकालीन होती हैं। इसलिये इस मतमें आकाशमें नीलताध्यास सम्भव होता है।

३७ : धर्मिज्ञानवादमें आकाशमें नीलताध्यासका असम्भव-दोष और उसका परिहार

यद्यपि ऐसा है; तथापि धर्मिज्ञानवादमें भी इस अध्यासकी अनुपपत्ति नहीं है। क्योंकि यद्यपि आकाश नीरूप है; तथापि आकाशव्यापी आलोक-द्रव्य तो रूपवान् ही है। इसलिये उस आलोकसे दुष्टनेत्रका संयोग होने-पर आलोकगोचर आलोकव्यापी आकाशाकार प्रमारूप सामान्यज्ञान होता है। उससे अनन्तर आकाशावच्छिन्न-चेतनस्थ-अविद्यामें क्षोभ होकर इधर

तो अविद्याका नीलरूपाकार परिणाम होता है और उधर इदमाकार-वृत्यवच्छिन्न-चेतनस्थ-अविद्याका नीलरूपगोचर ज्ञानाकार परिणाम होता है। चूँकि आकाशगोचर प्रमावृत्ति और नीलरूपगोचर अविद्यावृत्ति एकदेशस्थ होनेसे उभय वृत्त्युपहित साक्षी एक ही होता है, इसलिये अधिष्ठान-अध्यस्तका एक साक्षीसे ही प्रकाश सम्भव होता है। यद्यपि अधिष्ठानका विशेषरूपसे ज्ञान हो जानेपर अध्यासका सम्भव नहीं रहा करता है और यहाँ आकाशाकार प्रमावृत्तिसे अनन्तर अध्यास कहा गया है, इसलिये यदि आकाशत्वरूपसे आकाशका ज्ञान भी अध्यासहेतु कहा जाय तो विशेषरूपका ज्ञान भी अध्यासहेतु प्रतीत होगा और यह असंगत है। तथापि आकाशत्वरूपसे आकाशका ज्ञान भी सामान्यज्ञान ही है विशेष नहीं, किन्तु 'नीरूपमाकाशम्' (आकाश रूपरहित है) इस प्रकारसे नीरूपत्वविशिष्ट आकाशका ज्ञान ही विशेषज्ञान कहा जा सकता है। क्योंकि अध्यासकालमें अप्रतीत अंशको 'विशेष-अंश' कहते हैं और वही 'अधिष्ठान' कहा जाता है तथा अध्यासकालमें प्रतीत अंशको 'सामान्य-अंश' कहते हैं और वह 'आधार' कहा जाता है। भ्रान्तिकालमें 'आकाशं नीलम्' (आकाश नीला है) इस रूपसे तो आकाशकी आकाशत्वरूपसे प्रतीति होती है, परन्तु 'नीरूपमाकाशम्' इस रूपसे आकाशकी नीरूपत्व-धर्मसे प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार आकाशत्वरूपसे आकाशका ज्ञान भी सामान्यज्ञान ही होनेसे उसके अनन्तर नीलरूपका अध्यास सम्भव होता है।

३८ : सर्पादि भ्रमस्थलमें चार मत और चतुर्थ मतमें दोष

इस प्रकार जहाँ सर्प-रजतादि भ्रम होते हैं वहाँ तीन मत कहे गये—(१) उपाध्यायमत, इस मतमें तो अन्तःकरणका परिणामरूप एक ही ज्ञान दुष्ट इन्द्रिय व विषयके सम्बन्धसे होता है। यह ज्ञान अधिष्ठानके सामान्य अंश और अध्यस्तको विषय करता हुआ भ्रमरूप ही होता है। इसके अतिरिक्त इस मतमें अधिष्ठानके सामान्य-अंशमात्रगोचर प्रमाज्ञान का अंगीकार नहीं है। (२) प्रमारूप इदमाकार सामान्यज्ञानके अनन्तर

'अयं सर्पः' 'इदं रजतम्' इस प्रकार जो भ्रमज्ञान होता है, वह अविद्याका परिणामरूप ही होता है और वह अधिष्ठानके सामान्य-अंशको विषय करता हुआ अध्यस्तको विषय करता है। इसलिये वह इदमाकार और अध्यस्ताकार होता है।

(३) जो इदमाकार सामान्यज्ञान अध्यासका हेतु होता है वह तो प्रमारूप होता है और उससे उत्तर क्षणमें जो सर्प-रजतादिगोचर अविद्या का परिणामरूप ज्ञान होता है वह भ्रमरूप होता है। इसलिये वह अधिष्ठानगोचर नहीं होता, किन्तु केवल अध्यस्तगोचर ही होता है। यद्यपि उस भ्रमज्ञानमें इदंपदार्थविषयकत्व नहीं है; तथापि उसके अधिष्ठानज्ञानमें इदंपदार्थविषयकत्व होनेसे भ्रमज्ञानमें उसका अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजता है। इस प्रकार वह भ्रमज्ञान केवल अध्यस्तपदार्थाकार ही होता है। द्वितीय और तृतीय मत धर्मिज्ञानवादमें हैं। उक्त तीनों मतोंमें अन्त्य तृतीय मत ही समीचीन है।

धर्मिज्ञानवादमें ही कोई ग्रन्थकार तृतीय पक्ष मानते हैं। उनका आशय यह है कि अध्यासका हेतु तो अधिष्ठानका सामान्यज्ञान ही होता है, फिर उससे पृथक् सर्प-रजतादिगोचर अविद्याकी वृत्ति मानना निष्फल है। क्योंकि अधिष्ठानगोचर अन्तःकरणकी जो इदमाकार वृत्ति अध्यास का हेतु मानी गई है, उस वृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे ही सर्प-रजतादिका प्रकाश हो जाता है। इसलिये ज्ञेयरूप सर्प-रजतादि तो अविद्याके परिणाम होते हैं, परन्तु ज्ञानरूप परिणाम अविद्याका नहीं होता।

उपाध्यायमतके समान यह मत भी शुक्ति-रजतादिमें केवल अर्थाध्यासरूप ही है, ज्ञानाध्यासका इस मतमें भी अंगीकार नहीं है। यह मत भी उपाध्यायमतके समान सभी आर्यवचनों तथा युक्तिसे विरुद्ध है, क्योंकि इस मतमें भ्रमज्ञानका लोप है। अर्थात् इस मतमें जो इदमाकार ज्ञान होता है, वह तो अधिष्ठान-इन्द्रियके संयोगसे अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ही होता है और अधिष्ठानगोचर ही होता है, इसलिये वह प्रमारूप ही होता है। इस मतमें उससे भिन्न और कोई ज्ञान माना नहीं

गया, इसलिये फिर भ्रमज्ञान तो अप्रसिद्ध ही होगा। यदि ऐसा कहा जाय कि अधिष्ठानगोचर इदमाकार ज्ञान ही सर्प-रजतादिको विषय करता है, इसलिये बाधित पदार्थगोचर होनेसे वह भ्रमरूप भी है। तब ऐसी अवस्थामें उसी ज्ञानको अबाधित अधिष्ठानगोचरता होनेसे प्रमात्व भी कहना चाहिये, इसलिये तब उस एक ही ज्ञानमें प्रमात्व-भ्रमत्वका संकर होगा। यद्यपि जहाँ सन्निहित सत्य-रजतगोचर और शुक्ति-रजतगोचर एक ज्ञान हो, वहाँ प्रमात्व-भ्रमत्वका संकर प्रसिद्ध है तथा जैसे एक पदार्थमें अवच्छेदकताभेदसे संयोग और संयोगका अभावरूप दो विरोधी पदार्थ रहते हैं, वैसे ही एक ज्ञानमें भी अवच्छेदकताभेदसे भ्रमत्व-प्रमात्व दो विरोधी धर्म सम्भव हो सकते हैं। दृष्टांतरूपसे जैसे पक्षी-वृक्षवर्ति संयोगाभावका अवच्छेदक तो मूलदेश है और संयोगका अवच्छेदक शाखादेश है, वैसे ही एक ज्ञानमें बाधितविषयकत्व तो भ्रमत्वका अवच्छेदक धर्म और अबाधितविषयकत्व प्रमात्वका अवच्छेदक धर्म हो सकता है। इसलिये एक ही ज्ञानमें यद्यपि बाधितविषयकत्वावच्छिन्न भ्रमत्व और अबाधितविषयकत्वावच्छिन्न प्रमात्व होनेसे भ्रमत्व-प्रमात्वकी संकरता नहीं रहती। तथापि भ्रमत्व-प्रमात्वके समान बाधितविषयकत्व-अबाधितविषयकत्व भी भावाभावरूप होनेसे परस्पर विरोधी ही होते हैं। इसलिये अवच्छेदकके भेदके बिना उनका एक ही ज्ञानमें समावेश सम्भव नहीं होता और उनका अन्य कोई एक अवच्छेदक उपलब्ध होता नहीं है। यदि अन्य किसी अवच्छेदककी कल्पनाकी भी जाय तो बाधित-अबाधित परस्पर विरोधी धर्म होनेसे उनके अवच्छेदक विरोधी ही मानने होंगे, इसलिये उनका फिर कोई अन्य अवच्छेदक माननेसे अनवस्था दोष ही पल्ले पड़ेगा। इस प्रकार एक ही ज्ञानमें भ्रमत्व-प्रमात्व सम्भव नहीं हो सकते। ऊपर सत्य-रजतगोचर और शुक्ति-रजतगोचर एक ही ज्ञानमें जो प्रमात्व-भ्रमत्वकी संकरता कथनकी गई, वह भी सिद्धान्तके अज्ञानसे ही की गई है। क्योंकि वास्तवमें सत्य-रजतगोचर तो अन्तःकरणकी और शुक्ति-रजतगोचर अविद्याकी भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ

होती हैं, इसलिये सत्य-रजतगोचर और शुक्ति-रजतगोचर दो ज्ञान होते हैं। चूँकि दोनों ज्ञान समकालीन होते हैं और सजातीयगोचर होते हैं, इसलिये यद्यपि उनका परस्पर भेद प्रतीत नहीं होता; तथापि उनमें एकत्व नहीं किन्तु एकत्वका भ्रम होता है। इस प्रकार भ्रमत्व-प्रमात्वकी संकरता अदृष्टगोचर होनेसे इदमाकार प्रमावृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे अध्यस्तका प्रकाश असम्भव है। यदि किसी प्रकार अधिष्ठानगोचर वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे ही अध्यस्तका प्रकाश मानकर अध्यस्तगोचर अविद्याकी वृत्ति न मानी जाय तो अध्यस्त पदार्थकी स्मृति न होनी चाहिये। क्योंकि अनुभवके नाशसे संस्कार और संस्कारोंसे स्मृति होती है। अब यदि अन्यगोचर अनुभवसे अन्यगोचर संस्कार व स्मृति होते हों तो पटगोचर अनुभवसे घटगोचर संस्कार व स्मृति होने चाहिये। इसलिये समानगोचर अनुभवसे ही स्वसंस्कारद्वारा स्मृतिकी उत्पत्ति होती है। ऐसा नियम होनेसे अधिष्ठानगोचर वृत्तिरूप अनुभवसे अध्यस्तगोचर संस्कार होकर स्मृतिकी उत्पत्ति होना असम्भव है। यदि साक्षीरूप अनुभवसे अध्यस्तगोचर संस्कारद्वारा स्मृतिकी उत्पत्ति कही जाय, तब तो सर्वथा असंगत है। क्योंकि अनुभवके नाश होनेपर ही संस्कार होते हैं, परन्तु साक्षी तो नित्य है, इसलिये साक्षीमें अपने नाशद्वारा संस्कारोंकी जनकता सम्भव नहीं होती। यदि ऐसा कहा जाय—

'चेतनकी अभिव्यक्तिद्वारा जिस वृत्तिसे जिस पदार्थका प्रकाश होता है, उस वृत्तिसे उस पदार्थगोचर संस्कारद्वारा ही स्मृति होती है। चूँकि पटगोचर वृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे घटका प्रकाश नहीं होता, इसलिये पटगोचर अनुभवसे घटगोचर संस्कारद्वारा स्मृतिकी आपत्ति भी नहीं होती। परन्तु अधिष्ठानगोचर अन्तःकरणकी इदमाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त चेतनसे तो अध्यस्तका प्रकाश होता है, इसलिये अधिष्ठानगोचर इदमाकार प्रमासे अध्यस्तगोचर संस्कारद्वारा स्मृतिका सम्भव होता है, फिर अध्यस्तगोचर अविद्यावृत्तिका अंगीकार निष्फल ही है।'

ऐसा कथन भी असंगत है। क्योंकि जो अधिष्ठानगोचर इदमाकार

ज्ञानसे अध्यस्तका प्रकाश मानते हैं, उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि जो इदमाकार ज्ञान होता है वह अध्यस्ताकार भी होता है, अथवा नहीं होता ? यदि ऐसा कहा जाय कि अध्यस्ताकार भी होता है, वह तो सम्भव नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष-ज्ञानमें आकार-समर्पणका हेतु विषय ही होता है, अर्थात् विषयके अनुसार ही ज्ञानका आकार होता है। परन्तु इदमाकार ज्ञानसे उत्तर क्षणमें अध्यस्तपदार्थकी उत्पत्ति होनेसे प्रत्यक्षज्ञानमें भाविविषयसे स्वाकारका समर्पण सम्भव ही नहीं होता। इसलिये इदमाकार ज्ञान अध्यस्ताकार हो नहीं सकता। यदि द्वितीय पक्ष कहा जाय तब भी सम्भव नहीं, क्योंकि अन्याकार वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे अन्य विषयका प्रकाश नहीं होता है, यह तो पूर्व कहा जा चुका है। अब यदि इदमाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीके सम्बन्धसे आकारसमर्पणअकर्ताका भी प्रकाश माना जाय तो इदमाकार वृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीका सम्बन्धी जो अधिष्ठानका विशेष-अंश, उसका भी प्रकाश होना चाहिये। इस प्रकार इदमाकार सामान्यज्ञानसे भिन्न अध्यस्ताकार अविद्याका परिणामरूप वृत्तिज्ञान अवश्य अंगीकरणीय है। उसमें भी दो पक्ष हैं, प्रथम पक्षमें तो अधिष्ठानगोचर एवं अध्यस्तगोचर अनिर्वचनीय ज्ञान होता है, यह पक्ष तो समीचीन नहीं है, ऐसा पूर्व कह आये हैं। क्योंकि यदि अनिर्वचनीय मिथ्या ज्ञानको उभयगोचर माना जाय तो वही भ्रमत्व-प्रमात्वका संकर दोष खड़ा होगा। इसलिये इदमाकार सामान्यज्ञानसे उत्तर क्षणमें केवल अध्यस्तगोचर अविद्याकी वृत्ति होती है और जैसे सर्प-रजतादि मिथ्या हैं वैसे ही उनके ज्ञान भी मिथ्या हैं, इसीलिये सर्प-रजतादि के बाधकी भाँति उनके ज्ञानोंका भी बाध होता है, ऐसा मानना चाहिये। यदि इदमाकार प्रमावृत्तिमें अभिव्यक्त साक्षीसे ही अध्यस्तका प्रकाश मान लिया जाय, तब साक्षी तो सदा ही अबाध्य है और इदमाकार वृत्ति भी अन्तःकरणका परिणाम होनेसे घटादिके समान व्यवहारकालमें अबाध्य ही है, फिर ब्रह्मज्ञानविना अध्यस्तके ज्ञानका बाध ही न होना चाहिये।

३९ : अनिर्वचनीयख्यातिमें उक्त चारों मतोंका अनुवाद और उसकी समाप्तिका दोहा

इस प्रकार जहाँ सर्प-रजतादिगोचर भ्रम होता है, वहाँ सिद्धान्तमें अनिर्वचनीयख्यातिका ग्रहण किया है और उसमें चार पक्ष हैं—

कवितार्किक श्रीनृसिंह भट्टोपाध्यायका मत तो यह है कि अधिष्ठानसे दुष्ट इन्द्रियका संयोग ही अध्यासका हेतु है, अधिष्ठानका सामान्यज्ञान हेतु नहीं। अन्य आचार्योंके मतमें अधिष्ठानका सामान्यज्ञान ही अध्यासका हेतु है और सामान्यज्ञानको ही धर्मिज्ञान कहते हैं। उपाध्यायमतसे भिन्न तीनों मतोंमें सामान्यज्ञानको ही अध्यासहेतु माना गया है, इसलिये तीनों मत धर्मिज्ञानवादी ही हैं। उन तीनोंमें भी 'अध्यस्त पदार्थाकार ही अविद्याकी वृत्तिरूप भ्रमज्ञान होता है' यह पक्ष ही समीचीन है। इसके विपरीत 'अधिष्ठानगोचर इदमाकार तथा अध्यस्ताकार अविद्याकी वृत्ति होती है' यह पक्ष और 'अध्यासहेतु इदमाकार वृत्तिरूप जो सामान्यज्ञान, उसीसे निर्वाह होता है अध्यस्तगोचर अविद्यावृत्तिका अंगीकार नहीं' ये दोनों पक्ष समीचीन नहीं। इसी प्रकार श्रीउपाध्यायका अध्यासहेतु सामान्यज्ञानका अनंगीकार पक्ष भी समीचीन नहीं है।

इस प्रकार जैसा प्राचीन ग्रन्थकारोंने लिखा है, उसके अनुसार ही हमने भी दूषण-भूषण स्पष्ट कर दिये हैं। यदि अपने स्वतन्त्र बुद्धिबलसे विचार किया जाय तो इन चारों मतोंमें दूषण-भूषण समान ही हैं। वस्तुतः तो अद्वैतवादका प्रपञ्चके मिथ्यात्वसाधनमें ही अभिनिवेश है, इसके विपरीत अवान्तर भेदके प्रतिपादन अथवा खण्डनमें कोई अभिनिवेश नहीं है। इसलिये यदि किसी जिज्ञासुकी बुद्धिमें खण्डित पक्ष ही आरूढ होता हो तो कोई हानि नहीं है। परन्तु हमने जो एक

ही मतके अनुकूल युक्तियाँ लिखी हैं, वह तो प्राचीन आचार्योंके मार्गसे उत्पथगमनके निरोधार्थ ही लिखी हैं।

निश्चलबिन किन्हु न लिखी, भाषामें यह रीति।
ख्याति अनिर्वचनीयकी, पेखहु सुजन सप्रीति॥

४० : शास्त्रान्तरमें उक्त पाँच ख्यातिके नाम

शास्त्रान्तरोंमें जो भ्रमका लक्षण व स्वरूप कहा गया है, सिद्धान्तमें उनसे विलक्षण ही भ्रमका लक्षण व स्वरूप निरूपण किया गया है। भाष्यमें इस अर्थके बोधनके लिये ही शास्त्रान्तरोंके भ्रमोंके स्वरूपोंका निरूपण और खण्डन भी किया गया है। जहाँ शुक्त्यादिमें रजतादि-भ्रम होते हैं, वहाँ सिद्धांतपक्षको छोड़कर पाँच मत इस प्रकार हैं—

(१) सत्‌ख्याति, (२) असत्‌ख्याति, (३) आत्मख्याति, (४) अन्यथाख्याति और (५) अख्याति।

इस प्रकार भ्रमके पाँच नाम कहे गये हैं।

४१ : सत्‌ख्यातिकी रीति

इनमें सत्ख्यातिवादीका यह सिद्धान्त है—

शुक्तिके अवयवोंके साथ रजतके अवयव सदा रहते हैं। जैसे शुक्तिके अवयव सत्य हैं, तैसे ही रजतके भी अवयव हैं, मिथ्या नहीं। जैसे सिद्धान्तमें दोषसहित नेत्रके सम्बन्धसे अविद्याका परिणामरूप अनिर्वचनीय रजत उत्पन्न होती है, वैसे ही इस मतमें दोषसहित नेत्रसंयोगसे सत्य रजतावयवोंसे सत्य रजत उत्पन्न होती है। तथा जैसे सिद्धान्तमें अधिष्ठानज्ञानसे अनिर्वचनीय रजतकी निवृत्ति मानी गई है, तैसे ही इस मतमें शुक्ति-ज्ञानसे सत्य रजतका अपने अवयवोंमें ध्वंस माना गया है।

४२ : सत्ख्यातिवादका खण्डन

सत्ख्यातिवादका यह मत निराकरणीय है। क्योंकि शुक्ति-रजतके दृष्टांतसे प्रपञ्चमें मिथ्यात्वकी अनुमिति करा देना ही लक्ष्य होता है, परन्तु सत्ख्यातिवादमें तो शुक्तिमें रजत सत्य है, इसलिये उसको दृष्टान्त-रूपसे ग्रहण करके प्रपञ्चमें मिथ्यात्वसिद्धि हो ही नहीं सकती। इस पक्षमें यह दोष है कि शुक्तिज्ञानसे अनन्तर 'कालत्रयेऽपि शुक्तौ रजतं नास्ति' (शुक्तिमें तीनों कालमें भी रजत नहीं है) इस प्रकार शुक्तिमें रजतका त्रिकालाभाव प्रतीत होता है। इस प्रतीतिके अनुसार सिद्धांतमें तो शुक्तिदेशमें केवल मध्यकालमें ही अनिर्वचनीय रजत होती है, परन्तु व्यावहारिक रजताभाव त्रैकालिक है, इसलिये उक्त प्रतीतिसे विरोध नहीं होता। इसके विपरीत सत्ख्यातिवादीके मतानुसार यदी शुक्तिदेशमें व्याव-हारिक सत्य रजत रहती हो तो उसी कालमें व्यावहारिक रजताभाव असम्भव होना चाहिये। इसलिये जबकि शुक्तिज्ञानसे शुक्तिदेशमें त्रैकालिक रजताभावकी प्रतीति होती है, तब वहाँ व्यावहारिक रजत कथन करना विरुद्ध है। इसके साथ ही सिद्धान्तमें तो अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्तिमें किसी प्रसिद्ध सामग्रीकी आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि दोषसहित अविद्या-से ही उसकी उत्पत्तिका सम्भव होता है। परन्तु व्यावहारिक रजतकी उत्पत्ति तो रजतकी प्रसिद्ध सामग्रीके विना असम्भव ही होती है और शुक्तिदेशमें रजतकी कोई प्रसिद्ध सामग्री मिलती नहीं है, इसलिये शुक्ति-देशमें सत्य रजतकी उत्पत्ति अलीक है।

४३ : शुक्तिमें सत्य रजतकी सामग्रीका अंगीकार और उसका खण्डन

यदि ऐसा कहा जाय कि शुक्तिदेशमें जो सत्य रजतके अवयव हैं वे ही सत्य रजतकी सामग्री हैं, तब ऐसा प्रश्न खड़ा होता है कि उन रजतावयवोंका रूप उद्भूत है, अथवा अनुद्भूत ? उत्तरमें यदि उद्भूत

रूप कहा जाय तो रजतकी उत्पत्तिसे पूर्व भी शुक्तिदेशमें उन रजतावयवोंका प्रत्यक्ष होना चाहिये। यदि अनुद्भूत रूप कहा जाय तो उन अनुद्भूत रूपवाले रजतावयवोंसे रजत भी अनुद्भूत रूपवाली ही होगी, फिर रजतका प्रत्यक्ष न होना चाहिये। वास्तवमें तो त्र्यणुकके आरम्भक द्व्यणुकमें तो उद्भूत रूप ही होता है, अनुद्भूत नहीं। हाँ, द्व्यणुकमें महत्त्व नहीं होता, इसलिये उद्भूत रूपके होते हुए भी महत्त्वाभावके कारण उसका प्रत्यक्ष नहीं होता। द्व्यणुकमें ही नहीं, किन्तु नैयायिक तो परमाणुमें भी उद्भूत रूप अंगीकार करते हैं।

यदि ऐसा कहा जाय कि द्व्यणुकके समान रजतावयव भी उद्भूत रूपवाले तो हैं, परन्तु वे महत्त्वशून्य हैं इसलिये उन रजतावयवोंका प्रत्यक्ष नहीं होता। यह भी सम्भव नहीं, क्योंकि महत्परिमाणके चार भेद माने गये हैं। अर्थात् (१) आकाशादिमें तो परममहत्परिमाण माना गया है और परममहत्परिमाणको ही नैयायिक विभु कहते हैं। (२) विभुसे भिन्न पटादिमें अपकृष्टमहत्परिमाण, (३) सर्पपादिमें अपकृष्टतरमहत्परिमाण और (४) त्र्यणुकमें अपकृष्टतममहत्परिमाण माने गये हैं। अब यदि शुक्तिमें रजतावयव भी महत्परिमाणशून्य हों तो द्व्यणुकसे आरब्ध त्र्यणुकके समान उन महत्त्वशून्य रजतावयवोंसे आरब्ध रजत भी त्र्यणुक-जैसी अपकृष्टतममहत्परिमाणवाली ही होनी चाहिये। परन्तु शुक्तिमें रजत तो स्पष्ट भान होती है, इसलिये रजतावयव महत्त्वशून्य हैं, ऐसा कथन सम्भव नहीं होता। यदि रजतावयवोंमें महत्त्वका अभाव कहा जाय तो शायद किसी प्रकार सम्भव हो भी, परन्तु जहाँ वल्मीकमें[१] घटका भ्रम हो वहाँ भी घटावयवरूप कपाल मानने होंगे और जहाँ स्थाणुमें पुरुषका भ्रम हो वहाँ भी स्थाणुमें पुरुषके हस्त-पादादि अवयव मानने होंगे। क्योंकि कपाल और हस्त-पादादि तो महत्त्वशून्य सम्भव नहीं होते, इसलिये उद्भूतरूपवाले होनेसे

१. दीमकोंका बनाया हुआ मिट्टीका ढेर, जिसमें घटका भ्रम हो जाता है।

उनका अपने अधिष्ठानमें प्रत्यक्ष होना चाहिये। यद्यपि रजतत्व-जाति तो अणुसाधारण है, इसलिये रजतके सूक्ष्म अवयवोंमें भी रजतव्यवहार सम्भव होता है, परन्तु घटत्व, कपालत्व, हस्त-पादत्व और पुरुषत्वादि जाति तो महान और अवयवीमात्रवर्ति है, इसलिये उनके सूक्ष्म अवयवों-में कपालत्वादि जातिका सम्भव नहीं होता। इस प्रकार यदि भ्रमके अधिष्ठानदेशमें आरोपितके व्यावहारिक अवयव रहते हों तो उनकी वहाँ प्रतीति होनी चाहिये। इस प्रकार शुक्त्यादिदेशमें व्यावहारिक अवयवोंसे रजतादिकी उत्पत्ति कहना असंगत है।

४४ : सत्ख्यातिवादीद्वारा उक्त दोषका परिहार और उसका खण्डन

यदि सत्ख्यातिवादी इस प्रकार कथन करे—

'शुक्तिदेशमें रजतके साक्षात् अवयव तो नहीं हैं, किन्तु वहाँ अवयवोंके अवयव परममूल द्व्यणुक अथवा परमाणु अवश्य रहते हैं। इसी प्रकार वल्मीकदेशमें घटके और स्थाणुदेशमें पुरुषके साक्षात् अवयवों-के अवयव परममूल द्व्यणुक अथवा परमाणु रहते हैं। दोषसहित नेत्रके संयोगसे वे अवयविधारा झटिति उपजकर रजत, घट और पुरुषकी उत्पत्ति करते हैं। दोषके अद्भुत माहात्म्यसे त्र्यणुकादिकी धारा ऐसे वेगसे उपजती है, जिससे मध्यके अवयवी कपाल और हस्त-पादादि प्रतीत नहीं होते। परन्तु अन्त्य अवयवी जो घटादि, उनकी उत्पत्ति हो जानेपर तो कपालादि कहीं भी प्रतीत नहीं होते। इस प्रकार यद्यपि भ्रमके अधिष्ठानमें आरोपितके अवयवोंकी प्रतीति नहीं होती; तथापि वहाँ आरोपितके व्यावहारिक अवयव होते जरूर हैं। अथवा यों कहिये कि शुक्तिदेशमें रजतके महद्रूप अवयव, वल्मीकदेशमें घटके कपालरूप अवयव और स्थाणुदेशमें पुरुषके हस्त-पादादिरूप अवयव रहते हैं। इस प्रकार भ्रमके अधिष्ठानमें आरोपितके सभी अवयव रहते तो अवश्य हैं, परन्तु अधिष्ठानकी विशेषरूपसे प्रतीति उन अवयवोंकी प्रतीतिकी

प्रतिबन्धक है, इसलिये विद्यमान भी महदादिरूप अवयवोंका प्रत्यक्ष नहीं होता।'

सत्ख्यातिवादीका उक्त समाधान भी समीचीन नहीं है। क्योंकि यदि शुक्तिदेशमें व्यावहारिक रजतकी उत्पत्ति मानी जाय तो अनुभवानुरोधसे शुक्तिज्ञानसे रजतकी निवृत्ति न होनी चाहिये।

४५ : रजतज्ञानकी निवृत्तिसे प्रातिभासिक एवं व्यावहारिक रजतकी निवृत्ति और उसका खण्डन

यदि सत्ख्यातिवादी ऐसे कहें—

'रजतकी निवृत्तिमें शुक्तिज्ञानकी अपेक्षा नहीं, किन्तु रजतज्ञानाभावसे रजतकी निवृत्ति होती है। अर्थात् जितने समयतक रजतका ज्ञान रहे, उतने समयतक रजतभी रहती है और जब रजतज्ञानका अभाव हो जाता है, तब रजत भी निवृत्त हो जाती है। तहाँ रजतज्ञानकी निवृत्तिका हेतु कहीं तो शुक्तिज्ञान होता है और कहीं शुक्तिज्ञानके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंके ज्ञानसे भी रजतज्ञानकी निवृत्ति होती है। उस रजतज्ञानकी निवृत्तिसे उत्तर क्षणमें ही रजतकी निवृत्ति हो जाती है। अथवा जिस साधनसे रजतज्ञानकी निवृत्ति होती है, उसी साधनसे रजतज्ञानके निवृत्तिक्षणमें ही रजतकी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार केवल अपने ज्ञानकालमें ही स्थिति होनेसे यद्यपि रजतादि प्रातिभासिक ही हैं; तथापि अनिर्वचनीय नहीं किन्तु व्यावहारिक सत्य हैं। जैसे सिद्धान्तमें सुखादि ज्ञान-सापेक्ष होनेसे प्रातिभासिक होते हुए भी स्वप्नसुखादिसे विलक्षण व्यावहारिक सत्य माने गये हैं तथा जैसे न्यायमतमें द्वित्वादि[1] प्रातिभासिक मानकर भी व्यावहारिक सत्य माने गये हैं,

---

१. न्यायमतमें एकमात्र परमाणु तो नित्य और सत्य है, परन्तु द्व्यणुकादि परमाणुसंयोग अनित्य और प्रातिभासिक है। इस मतमें द्व्यणुकादिको प्रातिभासिक मानकर भी व्यावहारिक सत्य माना गया है।

तैसे ही शुक्तिमें रजतादि प्रातिभासिक होते हुए भी व्यावहारिक सत्य होते हैं । इस प्रकार रजतज्ञानकी निवृत्तिसे उत्तर क्षणमें रजतकी निवृत्ति होती है, अथवा रजतज्ञानकी निवृत्तिका हेतु जो शुक्तिज्ञान वा पदार्थान्तरज्ञान उसीसे रजतज्ञानके निवृत्तिक्षणमें ही रजतकी निवृत्ति हो जाती है । शुक्तिज्ञानसे ही रजतकी निवृत्ति हो, ऐसा नियम नहीं है ।'

सत्ख्यातिवादीका ऐसा कथन लोकानुभवसे विरुद्ध, सकल शास्त्रोंसे विरुद्ध, सिद्धान्तविरुद्ध और युक्तिविरुद्ध ही होगा । क्योंकि केवल शुक्ति-ज्ञानसे ही रजतभ्रमकी निवृत्ति होती है, यह तो सर्वलोकप्रसिद्ध और सभी शास्त्रोंमें प्रसिद्ध है । फिर सत्ख्यातिवादीका भी यही सिद्धान्त है कि शुक्तिका विशेषरूपसे ज्ञान रजतावयवोंके ज्ञानका प्रतिबन्धक है, इससे शुक्तिका ज्ञान ही रजतावयवोंके ज्ञानका विरोधी निर्णीत होता है । अर्थात् रजतावयवोंकी प्रतीतिका विरोधी जो शुक्तिका ज्ञान है, उसे ही रजतज्ञानका विरोधी मानने में क्लृप्त (निर्णीत) कल्पना होती है । यदि शुक्तिज्ञानके सिवा अन्यसे भी रजतज्ञानकी निवृत्ति मानी जाय तो अक्लृप्त कल्पना होगी, अतः क्लृप्त कल्पना ही योग्य है । इस प्रकार युक्तिसे भी विरोध होगा, इसलिये शुक्तिज्ञानसे ही रजत और रजतज्ञान की निवृत्ति मानना योग्य है ।

४६ : सत्ख्यातिवादमें प्रबल दोष

पूर्वोक्त रीतिसे यदि रजतज्ञानाभावसे रजतकी निवृत्ति मानी जाय और रजतज्ञानाभावके शुक्तिज्ञानके सिवा अन्य अनेक साधन माने जायें, तब भी वक्ष्यमाण दोषसे सत्ख्यातिवादीका उद्धार नहीं हो सकता । अर्थात् जहाँ शुक्तिमें जिस क्षण रजतभ्रम हो, यदि उसी क्षणमें शुक्तिसे अग्निका संयोग होकर उससे उत्तर क्षणमें ही शुक्तिका ध्वंस होकर भस्म शेष रह जाय, तब वहाँ रजतज्ञानकी निवृत्तिका तो कोई साधन नहीं बना । इसलिये शुक्तिध्वंस और भस्मोत्पत्तिसे रजतकी निवृत्ति न हो सकने से भस्मदेशमें रजतका लाभ होना चाहिये । क्योंकि रजतद्रव्य

तैजस है, इसलिये गन्धादिके संयोगके विना उसका ध्वंस नहीं हो सकता। इस प्रकार 'भ्रमस्थलमें व्यावहारिक रजतरूप सत्पदार्थकी ख्याति होती है' ऐसा सत्ख्यातिवाद सर्वथा असंगत है। इसके अतिरिक्त जहाँ एक रज्जुमें दश पुरुषोंको भिन्न-भिन्न पदार्थोंका भ्रम हो, अर्थात् रज्जुदेशमें किसीको दण्ड, किसीको माला, किसीको सर्प और किसीको जलधारा इत्यादि पदार्थोंकी प्रतीति होती हो, वहाँ स्वल्प रज्जुदेशमें इन सब पदार्थोंके अवयवोंका सम्भव तो हो नहीं सकता, क्योंकि मूर्तद्रव्य स्थानका निरोध करते हैं। इसलिये स्वल्प रज्जुदेशमें इन सब पदार्थोंके अवयव तो टिक नहीं सकते, फिर भ्रमकालमें सर्वथा स्वल्प देशमें इन सभी दण्डादि अवयवियोंका तो सम्भव ही कैसे हो ? इसके विपरीत सिद्धान्तमें तो चूँकि दण्डादि अनिर्वचनीय हैं, इसलिये वे किसी व्यावहारिक देशका निरोध नहीं करते। यदि सत्ख्यातिवादी भी उन दण्डादिके द्वारा स्थाननिरोधादि फल न माने तो फिर उन दण्डादिको सत् कहना विरुद्ध है और निष्फल है। क्योंकि वे दण्डादि केवल प्रतीतिमात्र ही हैं, उनसे कोई अन्य कार्य तो सिद्ध होता नहीं है, इसलिये फिर बलात्कारसे अनिर्वचनीयवाद ही सिद्ध होता है।

यदि भ्रमस्थलमें सत्पदार्थकी उत्पत्ति ही मानी जाय तो जहाँ अंगारसहित ऊषर भूमिमें जलभ्रम हो, वहाँ तो उस भ्रमरूप जलसे अंगार शांत हो जाने चाहिये और जहाँ तूलके ऊपर धरे हुए गुञ्जापुञ्जमें अग्निभ्रम हो, वहाँ तूलका दाह हो जाना चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय कि दोषसहित कारणसे उत्पन्न हुए पदार्थकी अन्यको प्रतीति नहीं होती, किन्तु जिसके दोषसे वह पदार्थ उत्पन्न होता है वह उसीको प्रतीत होता है। इस प्रकार यदि दोषके कार्यरूप उपर्युक्त जल व अग्निसे आर्द्रीभाव एवं दाहकी सिद्धि ही नहीं होती तो फिर उनको सत्य कहना केवल हास्यका ही हेतु होता है। क्योंकि इधर अवयव तो कोई स्थान निरोध नहीं करते और उधर अवयवीसे किसी कार्यकी सिद्धि नहीं होती, फिर ऐसे पदार्थोंमें सत्यता श्रवण करके बुद्धिमानोंको हास्य ही होता है। इस

प्रकार सत्ख्यातिवादकी उक्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं होती और यह पक्ष सर्वथा निर्युक्तिक ही है। इसीलिये विचारसागरमें सत्ख्यातिकी चर्चा नहीं की गई, क्योंकि जो पक्ष किसी प्रकार उपपादन किया जा सके और फिर वह तर्कादि बलसे खण्डनके योग्य हो, वही पक्ष लिखा जाना चाहिये। परन्तु सत्ख्यातिवाद का उपपादन तो कहीं सम्भव ही नहीं होता, इसलिये यद्यपि यह इस ग्रन्थमें भी लेखनीय तो नहीं था; तथापि सर्वथा लिखे बिना अध्येताको ऐसा भ्रम हो सकता है कि ग्रन्थकर्त्ताको सत्ख्यातिवादका ज्ञान नहीं था, केवल इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये ही यह यहाँ लिखा गया है।

४७ : द्विविध असत्ख्यातिकी रीति और शून्यवादीकी रीतिसे असत्ख्यातिवादका खण्डन

इसी प्रकार असत्ख्यातिवाद भी सर्वथा युक्ति व अनुभवशून्य है, जोकि निराकरण किये बिना भी किसीकी बुद्धिमें आरूढ नहीं होता। इसलिये यद्यपि यह मत निराकरणीय भी नहीं है; तथापि असत्ख्यातिवाद वेदमार्गका प्रतिद्वंद्वी प्रसिद्ध है और सूत्रोंमें उस मतका खण्डन भी प्रतिपादन किया गया है, इसीलिये यहाँ उसका खण्डन आवश्यक हुआ।

असत्ख्यातिवादी दो हैं, उनमें एक तो नास्तिक शून्यवादी असत्ख्याति मानते हैं। उनके मतमें तो सभी पदार्थ असत्रूप हैं, इसलिये क्या शुक्तिमें रजत और क्या शुक्ति सभी असत् हैं। इस मतमें तो असत् अधिष्ठानमें असत् ही रजत है, इसलिये भ्रम निरधिष्ठान ही होता है और उसके ज्ञाता-ज्ञानादि सभी असत् हैं। इस मतका खण्डन शारीरकके द्वितीयाध्यायके तर्कपादमें विस्तारसे किया गया है और यह मत सर्वथा अनुभवविरुद्ध है। क्योंकि शून्यवादमें तो सर्व स्थानोंमें शून्य-ही-शून्य है, इसलिये किसी भी व्यवहारकी सिद्धि ही न होनी चाहिये। यदि शून्यमें व्यवहार होता हो तो जलका प्रयोजन अग्निसे और अग्निका प्रयोजन जलसे होना चाहिये। क्योंकि अग्नि-जल तो सत्य वा मिथ्या कहीं है ही नहीं, केवल

शून्य तत्व ही है जो सर्वत्र एकरस है और उसमें कोई विशेषता नहीं है, यदि शून्यमें भी विशेषता मानी जाय तो शून्यवादकी हानि होगी, क्योंकि वह विशेष ही शून्यसे भिन्न होगा। यदि ऐसा कहा जाय—

'शून्यमें विशेष है जिसको विलक्षणताके नामसे अभिहित किया जाता है। उस विलक्षणतासे व्यवहारका भेद होता है, परन्तु वह विलक्षणता, तज्जन्य व्यवहार और व्यवहारका कर्ता सभी परमार्थसे शून्य हैं। इसलिये शून्यवादकी हानि नहीं।'

यह भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि 'शून्यमें विशेषता है' यह कथन ही विरुद्ध है। इसलिये कोई भी विशेषता कहनेसे तो शून्यताकी हानि होती है, शून्यता कहनेसे विशेषताकी हानि होती है और फिर व्यवहार-भेदका असम्भव होता है। इस प्रकार शून्यवाद अलीक है।

४८ : किसी तांत्रिककी रीतिसे असत्ख्यातिवाद

दूसरे असत्ख्यातिवादी कोई तांत्रिक हैं। उनके मतमें शुक्त्यादि व्यावहारिक पदार्थ तो असत् नहीं है, किन्तु भ्रमज्ञानके विषय जो अनिर्वचनीय रजतादि सिद्धान्तमें माने गये हैं, वे ही असत् हैं। इसलिये यद्यपि व्यावहारिक रजतादि तो अपने देशमें हैं, परन्तु उनका शुक्तिमें कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवादके समान न शुक्तिमें रजतत्वकी प्रतीति ही होती है, अनिर्वचनीयख्यातिवादके समान न शुक्तिमें अनिर्वचनीय रजत ही उत्पन्न होती है, अख्यातिवादके समान न दो ज्ञान ही होते हैं और शून्यवादके समान न शुक्ति तथा ज्ञाता-ज्ञानादि ही असत् होते हैं। किन्तु शुक्ति, उसका ज्ञाता और ज्ञान तो सत् हैं, परन्तु जब दोषसहित नेत्रका शुक्तिसे सम्बन्ध होता है तब शुक्तिका ज्ञान नहीं होता, इसलिये शुक्तिदेशमें असत् रजतकी प्रतीतिमात्र होती है। यद्यपि अन्यथाख्यातिवादमें भी शुक्तिदेशमें रजत असत् मानी गई है और कान्ता-कर एवं हट्टमें सत् रजत मानी गई है, इसलिये यद्यपि दोनों मतोंमें समानता प्रतीत होती है। तथापि अन्यथाख्यातिवादमें तो देशान्तरस्थ

सत्यरजतवर्ति रजतत्वका शुक्तिमें भान माना गया है, परन्तु इस असत्ख्यातिवादमें यद्यपि देशान्तरमें सत्य रजत तो मान ली गई है तथापि उसके रजतत्व-धर्मका शुक्तिमें भान नहीं माना गया; किन्तु केवल असत्-गोचर ही रजतज्ञान माना गया है। अर्थात् जहाँ दोषसहित नेत्रका शुक्तिसे संयोग होकर रजतका भ्रम होता है, वहाँ उस ज्ञानका विषय न तो शुक्ति ही होती है और न रजत ही। यदि रजतरूप भ्रमज्ञानका विषय शुक्ति होती हो, तब तो 'इयं शुक्तिः' (यह शुक्ति है) ऐसा ज्ञान होना चाहिये और यदि दोषबलसे शुक्तित्वरूप विशेष धर्मका भान नहीं होता तो उसके सामान्य अंशका 'इयं' (यह) इतना ही ज्ञान होना चाहिये। इस प्रकार दोनों ही ज्ञानोंके अभावसे भ्रमका विषय शुक्ति तो सिद्ध नहीं होती। तैसे ही रजतरूप भ्रमज्ञानका विषय रजत भी नहीं बनती, क्योंकि पुरोवर्ति देशमें तो रजत है नहीं, यद्यपि वह देशान्तरमें है, परन्तु नेत्रका उससे सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार रजत-भ्रमका विषय दोनों ही नहीं। इसके साथ ही शुक्तिका ज्ञान हो जानेपर उत्तर क्षणमें ही 'इह कालत्रयेऽपि रजतं नास्ति' (यहाँ तीनों कालमें भी रजत नहीं है) ऐसी प्रतीति होती है, इसलिये रजतभ्रम निर्विषयक होनेसे असत्गोचर कहा जाता है और उस असत्गोचर ज्ञानको ही असत्ख्याति कहते हैं।

४९ : न्यायवाचस्पत्यकारकी रीतिसे असत्ख्यातिवाद

अन्य मतवाले असत्ख्याति इस प्रकार मानते हैं कि जहाँ शुक्तिके साथ नेत्रका संयोग होकर रजतभ्रम होता है, वहाँ रजतभ्रमका विषय होती तो शुक्ति ही है, परन्तु दोषबलसे शुक्तिमें शुक्तित्व और शुक्तिमें शुक्तित्वका समवाय दोनों नहीं भासते। किन्तु शुक्तिमें रजतत्वका सम-वाय भासता है जो शुक्तिमें नहीं है, इसलिये यह असत्ख्याति है। क्योंकि रजतत्वप्रतियोगिक और शुक्त्यनुयोगिक समवाय अप्रसिद्ध और असत् ही होता है; इसलिये उस असत् की ख्याति अर्थात् प्रतीतिको असत्ख्याति कहा जाता है। यद्यपि रजतमें रजतत्वका रजतत्वप्रतियोगिक समवाय

तो प्रसिद्ध है और शुक्तिमें शुक्तित्वका शुक्त्यनुयोगिक समवाय भी प्रसिद्ध है, परन्तु रजतत्वप्रतियोगिक तो रजतानुयोगिक समवाय ही प्रसिद्ध है, शुक्त्यनुयोगिक नहीं। जो शुक्त्यनुयोगिक समवाय प्रसिद्ध है, वह तो शुक्तित्वप्रतियोगिक ही प्रसिद्ध है रजतत्वप्रतियोगिक नहीं। इस प्रकार रजतत्वप्रतियोगिक परन्तु शुक्त्यनुयोगिक समवाय अप्रसिद्ध होनेसे असत् हैं और उनकी प्रतीतिको असत्ख्याति कहते हैं। आशय यह है कि शुक्ति जिसका अनुयोगी अर्थात् धर्मी हो, वह तो शुक्त्यनुयोगिक समवाय कहा जाता है और रजतत्व जिसका प्रतियोगी अर्थात् धर्म हो, वह रजतत्वप्रतियोगिक समवाय कहा जाता है। यहाँ भाव यह है कि केवल समवाय ही प्रसिद्ध है, रजतमें तो रजतत्वका रजतत्वप्रतियोगिक समवाय भी प्रसिद्ध है और शुक्तिमें शुक्तित्वका शुक्त्यनुयोगिक समवाय भी प्रसिद्ध है तथा समवायमें समवायत्व-धर्म भी प्रसिद्ध है। अर्थात् जैसे समवायमें रजतत्व प्रतियोगिकत्व प्रसिद्ध है, तैसे ही समवायमें शुक्त्यनुयोगिकत्व भी प्रसिद्ध है। परन्तु रजतत्वप्रतियोगिकत्व और शुक्त्यनुयोगिकत्व ये दोनों धर्म एक स्थानमें और एक समवायमें अप्रसिद्ध होनेसे तथा शुक्त्यनुयोगिकत्वविशिष्ट और रजतत्वप्रतियोगिकत्व-विशिष्ट समवाय अप्रसिद्ध होनेसे असत् है और उसकी ख्याति असत्ख्याति कही जाती है। ऐसा न्यायवाचस्पत्यकारका मत है।

इस प्रकार एक तो शून्यवादीकी निरधिष्ठानरूप असत्ख्याति कही गई और अधिष्ठानको मानकर दो प्रकारकी असत्ख्याति कही गई। उनमें एक तो शुक्त्यादि अधिष्ठानमें असत् रजतादिकी प्रतीतिरूप और दूसरी शुक्त्यादिमें असत् रजतत्वादिके समवायकी प्रतीतिरूप मानी गई हैं।

५० : उपर्युक्त द्विविध असत्ख्यातिवादका खण्डन

उपर्युक्त दोनों ही असत्ख्याति असंगत हैं। क्योंकि जो असत्ख्यातिको मानते हैं, उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि 'असत्ख्याति' इस वाक्यमें 'असत्' शब्दका अबाध्यविलक्षण अर्थ है, अथवा निःस्वरूप अर्थ है। यदि

उत्तरमें ऐसा कहा जाय कि 'असत्' शब्दका निःस्वरूप अर्थ है, तब तो 'मम मुखे जिह्वा नास्ति' (मेरे मुखमें जिह्वा नहीं है) इस वाक्यके समान ऐसी असत्ख्यातिका अंगीकार तो निर्लज्जताका ही हेतु है। क्योंकि सत्तास्फूर्तिशून्यको ही निःस्वरूप कहते हैं, इसलिये सत्तास्फूर्तिशून्य भी प्रतीत होता है, ऐसा ही इन असत्ख्यातिवादीके वचनसे सिद्ध होता है और ऐसा कथन तो वन्ध्यापुत्रके समान सर्वथा विरुद्ध है। यदि 'असत्' शब्दका अर्थ अबाध्यविलक्षण किया जाय तो अबाध्यविलक्षण बाध्य होता है और बाधके योग्यको बाध्य कहते हैं। इससे बाधके योग्यकी प्रतीतिको असत्ख्याति कहते हैं, यही सिद्ध होगा और फिर यही सिद्धांतीका मत है। क्योंकि सिद्धांतमें अनिर्वचनीयख्याति ही अंगीकार की गई है और बाधयोग्यका नाम ही अनिर्वचनीय है, फिर असत्ख्यातिवाद सिद्धान्तसे विलक्षण है, ऐसा कथन सम्भव नहीं होता।

५१ : आत्मख्यातिकी रीति और उसका खण्डन तथा आंतरपदार्थ माननेवाले आत्मख्यातिवादीका अभिप्राय

इसी प्रकार आत्मख्यातिवाद भी असंगत है। विज्ञानवादीके मतमें आत्मख्याति है और विज्ञानवादी क्षणिकविज्ञानको आत्मा कहते हैं। उनके मतमें रजतादि बाह्य नहीं हैं, किन्तु विज्ञानरूप आत्मा आंतर है और रजतादि उसके धर्म हैं, दोषबलसे केवल उनकी बाह्य प्रतीति होती है। शून्यवादी को छोड़कर अन्य किसी भी सुगतशिष्यका पदार्थोंकी आंतरसत्तामें विवाद नहीं है। कोई सुगतशिष्य पदार्थोंको बाहर मानते हैं और कोई नहीं मानते हैं, इसलिये पदार्थोंकी बाह्य सत्तामें तो उनका विवाद है, परन्तु एक शून्यवादीको छोड़कर अन्य कोई भी नास्तिक आन्तरविज्ञानका निषेध नहीं करते। इस प्रकार इस मतमें विज्ञानरूप आत्मा तो आन्तररजतका अधिष्ठान है और आन्तररजत उसका धर्म है, दोषबलसे केवल बाह्यके समान उसकी प्रतीति होती है। ज्ञानद्वारा रजतका स्वरूपसे बाध नहीं होता, किन्तु केवल उसकी बाह्यताका ही बाध

होता है । अनिर्वचनीयख्यातिवादमें तो ज्ञानद्वारा रजतरूप धर्मीका और इदंतारूप उसकी बाह्य-वृत्तिका बाध मानना होता है । परन्तु आत्मख्यातिवादमें रजतका स्वरूपसे बाध मानना नहीं होता है, क्योंकि उनके मतसे पदार्थोंकी आन्तरसत्तामें कोई विवाद नहीं है, इसलिये केवल बाह्यतारूप इदंताका ही बाध मानना होता है । इस प्रकार यदि अनिर्वचनीयवाद अंगीकार किया जाय तब तो धर्म और धर्मी दोनोंके बाधकी कल्पनारूप गौरव होता है और यदि आत्मख्यातिवाद माना जाय तो धर्मीके बाधको त्यागकर केवल इदंतारूप धर्ममात्रके बाधकल्पनसे लाघव होता है, यही आत्मख्यातिवादीका अभिप्राय है । चूंकि इस मतमें रजत आन्तर सत्य है और केवल उसकी बाह्य देशमें प्रतीति ही भ्रमरूप है, इसलिये रजतज्ञानमें रजतगोचरत्व अंश तो भ्रमरूप नहीं, किन्तु रजतका बाह्यदेशस्थत्वप्रतीतिअंश ही भ्रम है ।

५२ : आंतरपदार्थमानी आत्मख्यातिवादीके मतका खण्डन

यह मत भी समीचीन नहीं है । क्योंकि रजत आन्तर है, ऐसा किसीको भी अनुभव नहीं होता और भ्रमस्थलमें अथवा यथार्थस्थलमें रजतादिकी आन्तरता किसी प्रमाणसे भी सिद्ध नहीं होती । बल्कि सुखादि आन्तर हैं और रजतादि बाह्य हैं, ऐसा अनुभव तो सभीको होता है । परन्तु रजतको आंतर माननेमें तो अनुभवसे विरोध होता है और न आंतरताके साधक कोई युक्ति अथवा प्रमाण ही मिल सकते हैं, इसलिये आंतर रजत मानकर उसकी बाह्यप्रतीति मानना सर्वथा असंगत है ।

५३ : सौगतोंके दो भेदोंमें बाह्यपदार्थवादीकी आत्मख्यातिका अनुवाद और आन्तरवादी-द्वारा उसका खण्डन

सौगतोंमें दो भेद हैं, उनमें एक तो आंतरविज्ञानवादी हैं और दूसरे बाह्यपदार्थवादी । बाह्यपदार्थवादियोंमें भी दो भेद हैं । उनमें एक मतमें

तो बाह्यपदार्थ केवल अनुमेय हैं प्रत्यक्ष नहीं, किन्तु केवल उनके ज्ञानका ही प्रत्यक्ष होता है और ज्ञानसे ज्ञेयकी अनुमितिमात्र होती है। इस प्रकार इस मतमें तो बाह्यपदार्थोंका केवल परोक्षवाद ही सिद्ध होता है। दूसरे मतमें दोषवलसे प्रत्यक्ष-ज्ञानके विषय बाह्यपदार्थ होते हैं, इसलिये इस मतमें बाह्यपदार्थोंका अपरोक्षवाद भी है। इसके विपरीत आंतरपदार्थमानी विज्ञानवादिके पूर्वोक्त मतमें परोक्षवाद अथवा अपरोक्षवाद तो कहाँ, किन्तु व्यावहारिक रजत भी बाह्य नहीं है। परन्तु इस बाह्यपदार्थअपरोक्ष-वादीके मतमें यद्यपि यथार्थ ज्ञानका विषय जो रजत, वह तो दोषबलसे बाह्य है, इसलिये आंतरविज्ञानवादीके मतमें जो रजत आंतर माननेमें अनुभवविरुद्धताकी आपत्ति की गई थी उससे तो विरोध नहीं होता; तथापि भ्रमस्थलमें रजत बाह्य माननेका कोई प्रयोजन भी नहीं बनता। क्योंकि किसी कटकादिकी सिद्धि तो उस रजतसे होती नहीं है, किन्तु वह केवल प्रतीतिमात्र ही होती है और क्योंकि विषयविना ही प्रतीति होती नहीं है, इसलिये यद्यपि भ्रमप्रतीतिकी सविषयतासिद्धि तो उस रजतका फल हो सकता है; तथापि यदि रजत आंतर ही मान ली जाय तो भी भ्रमप्रतीतिकी सविषयता तो सिद्ध हो ही जाती है। इसलिये यदि दोषबलसे रजत बाहर मानकर भ्रमप्रतीतिकी सविषयता सिद्ध की जाय तो इस बाह्यपदार्थवादीके मतमें पूर्वोक्त रीतिसे धर्म-धर्मी दोनोंका बाध माननेसे उल्टा गौरव होता है और अंतरविज्ञानवादीके मतसे यदि आंतर रजतकी दोषबलसे बाह्य प्रतीतिमात्र मानी जाय तो केवल इदंतारूप धर्मका ही बाध माननेसे लाघव होता है। इसके साथ ही इस बाह्यपदार्थवादीके मतमें और अनेक दोष लागू होते हैं, अर्थात्—

(१) यथार्थ-ज्ञानका विषय रजत तो पुरोवर्ति देशमें हुआ करती है, परन्तु यदि भ्रमज्ञानका विषय रजत भी पुरोवर्ति देशमें होती हो तो फिर यथार्थ-ज्ञान और भ्रमज्ञानकी विलक्षणता ही क्या हो सकती है ?

(२) यदि ऐसा माना जाय कि दोषबलसे पुरोवर्ति देशमें तो रजत यथार्थ-ज्ञानका विषय होकर भासती है और आंतर भ्रमज्ञानका विषय

होकर भासती है, तब विषयकी बाह्यत्व और आंतरत्वरूप विलक्षणतासे भ्रमज्ञानके यथार्थत्व-अयथार्थत्वरूप भेद मानने होते हैं, जोकि अलीक है।

(३) यदि बाह्य देशमें भ्रमके विषयकी उत्पत्ति मानी जाय तो शुक्तिदेशमें उपजे रजतकी सबको प्रतीति होनी चाहिये।

(४) जहाँ एक अधिष्ठानमें दश पुरुषोंको भिन्न-भिन्न पदार्थोंका भ्रम होता हो, वहाँ प्रत्येक पुरुषको उन सभी पदार्थोंकी प्रतीति होनी चाहिये।

इसके विपरीत आंतरविज्ञानवादीके मतमें तो जिसके अन्दर जो पदार्थ उपजता है, उसीको पुरोवर्ति देशमें उस पदार्थकी प्रतीति होती है, इसलिये अन्य पुरुषको उसकी प्रतीतिकी शंका नहीं होती। यदि भ्रमके विषयकी बाह्य उत्पत्ति मान ली जाय तो अन्य पुरुषोंको उसकी अप्रतीतिकी जो शंका खड़ी हो जाती है, इस मतमें उसके समाधानके अन्वेषणका क्लेशरूप फल ही पल्ले पड़ता है, अन्य कुछ नहीं।

इस प्रकार बाह्यपदार्थअपरोक्षवादी सौगतमतमें आंतर-विज्ञानवादी द्वारा प्रदर्शित आपत्तियोंका निरूपण किया गया। पदार्थोंकी आन्तर सत्तामें तो दोनोंका ही विवाद नहीं है।

५४ : अद्वैतवादीद्वारा बाह्यपदार्थमानी आत्मख्यातिवादीके मतका खण्डन

यह आत्मख्यातिवाद भी सर्वथा असंगत ही है, क्योंकि स्वप्नके सिवा जागरणमें पदार्थोंकी आंतरता अप्रसिद्ध ही है। फिर बाह्यस्वभाव पदार्थोंकी आंतर कल्पना करना अप्रसिद्ध कल्पनारूप दोषयुक्त है। यदि पदार्थ आंतर हों तो 'मयि रजतम्' अथवा 'अहं रजतम्' (मेरेमें रजत है अथवा मैं रजत हूँ) ऐसी प्रतीति होनी चाहिये, फिर 'इदं रजतम्' (यह रजत है) ऐसी रजतकी बाह्य प्रतीति न होनी चाहिये। यदि ऐसा कहा जाय—

'यद्यपि रजत आंतर है बाह्य देशमें नहीं; तथापि दोष-माहात्म्यसे आन्तर पदार्थकी बाह्य उत्पत्तिकी प्रतीति होती है और यद्यपि बाह्यतारूप इदंता शुक्तिमें है; तथाति दोषमाहात्म्यसे शुक्तिगत इदंता रजतमें भासती

है। जिस दोषसे आंतर रजत बाह्य उपजती है, उसी दोषसे बाह्य उपजे रजतमें शुक्तिकी इदंता भी प्रतीत होती है। क्योंकि भ्रमस्थलमें और बाह्यदेशमें सत्य रजतका सम्भव तो हो नहीं सकता, फिर वह अनिर्वचनीय ही माननी होगी, वह अनिर्वचनीय वस्तु लोकमें अप्रसिद्ध है, इसलिये अप्रसिद्ध कल्पनाका दोष होगा। हमारे मतमें तो आंतर सत्य रजत है, इसलिये आंतर होनेसे उसके हान-उपादान अशक्य हैं। इसके साथ ही आंतर सत्य मान लेनेसे उसके द्वारा हमारे मतके अनुसार कटकादिकी सिद्धिरूप आपत्तिका अभाव भी सम्भव होता है। इस प्रकार अनिर्वचनीय वस्तुकी कल्पना नहीं होती, यही अनिर्वचनीयख्यातिसे आत्मख्यातिमें लाघव है।'

ऐसा कथन भी असंगत है। क्योंकि 'शुक्तिकी इदंता रजतमें प्रतीत होती है' इस कथनसे तो अन्यथाख्यातिका अंगीकार होता है। यदि इदंताप्रतीतिमें अन्यथाख्याति मानी जाय तो फिर शुक्तिमें रजतत्व-धर्मकी प्रतीति भी अन्यथाख्यातिरूप ही माननी चाहिये और तब आन्तर रजतकी बाह्य उत्पत्ति मानना निष्फल है। यदि ऐसा कहा जाय कि 'अन्यथाख्यातिके अनुसार रजतरूप पदार्थ शुक्तिसे व्यवहित है इसलिये शुक्तिमें उसके धर्मकी प्रतीतिका असम्भव है, तब आपके मतमें भी तो रजत शुक्तिसे व्यवहित आन्तर देशमें ही है, इसलिये उस आंतर रजतमें भी शुक्तिके इदन्ता-धर्मकी प्रतीतिका असम्भवरूप दोष समान ही है।

५५ : आत्मख्यातिवादसे विलक्षण अद्वैतवादका सिद्धांत

इसके विपरीत सिद्धांतमतमें तो शुक्तिवर्ति तादात्म्यका रजतमें अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है जिसको संसर्गाध्यास कहते हैं। जहाँ अधिष्ठानगत सम्बन्ध आरोपितमें प्रतीत हो, वहाँ सर्वत्र अधिष्ठानका संसर्गाध्यास ही होता है, क्योंकि संसर्गाध्यासके सिवा अन्यके धर्मकी अन्यमें प्रतीति नहीं होती। इस प्रकार अध्यासके अतिरिक्त शुक्तिवर्ति इदंताका आन्तर रजतमें प्रतीतिके असम्भवसे आत्मख्यातिवाद असंगत है तथा

आत्मख्यातिवादीने अनिर्वचनीय वस्तुके सम्बन्धमें जो अप्रसिद्ध कल्पनारूप दोष कथन किया है वह भी अज्ञानसे ही कहा है। क्योंकि अद्वैतवादका यह मुख्य सिद्धान्त है—

एकमात्र चेतन सत्य है और उससे भिन्न सभी प्रपञ्च मिथ्या है। अनिर्वचनीयको ही मिथ्या कहते हैं, इसलिये चेतनसे भिन्न पदार्थको सत्य कहनेमें ही अप्रसिद्ध कल्पनारूप दोष लागू होता है। बल्कि चेतनसे भिन्न पदार्थमें अनिर्वचनीयता अप्रसिद्ध नहीं, किन्तु अति प्रसिद्ध है। यदि युक्ति-पूर्वक विचार किया जाय तो किसी भी अनात्म पदार्थका स्वरूप सिद्ध नहीं होता, परन्तु उनका स्वरूप सिद्ध न होते हुए भी वे प्रतीत होते हैं, इस-लिये सभी अनात्म पदार्थ अनिर्वचनीय हैं। सिद्धान्तमें कोई भी अनात्म पदार्थ सत्य नहीं, किन्तु सकल प्रपञ्च गन्धर्वनगरके समान दृष्टनष्ट-स्वभाव है और जागृत पदार्थोंमें स्वप्नसे किञ्चित भी विलक्षणता नहीं है। तथापि शुक्तिमें रजत प्रातिभासिक है और कांताकरादिमें रजत व्यावहारिक है, इस दृष्टिसे अनात्म पदार्थोंमें परस्पर मिथ्यात्व व सत्यत्व-की जो विलक्षणता कही गई है वह अरुंधती-न्यायसे स्थूल-बुद्धिवाले जिज्ञासुके अद्वैत-बोधमें प्रवेशके लिये ही कही गई है। यदि स्थूलबुद्धिको प्रथम ही मुख्य सिद्धान्त कह दिया जाय तो वह अनात्मामें सत्यत्वकी भावनावाला पुरुष सिद्धान्तके अद्‌भुत अर्थको श्रवण करके शास्त्रसे विमुख हो जाय और पुरुषार्थसे भ्रष्ट हो जाय। इस अभिप्रायसे अनात्म पदार्थोंकी तो व्यावहारिक व प्रातिभासिकके भेदसे द्विविध सत्ता कथन की गई और चेतनकी पारमार्थिक सत्ता। इस प्रकार जब उसकी बुद्धिमें चेतनसे प्रपञ्चकी न्यून सत्ता आरूढ हो जाय, तब स्वप्नदृष्टान्त और वेदान्तके निषेधरूप वाक्योंसे वह स्वयं सभी अनात्म पदार्थोंको प्रातिभासिक जानकर सत्तास्फूर्तिशून्य जान लेवे। केवल इसी आशयसे सत्ताभेद कहा गया है। इसके विपरीत अनात्म पदार्थोंके परस्पर व्यावहारिक-प्रातिभासिकरूप सत्ताभेदमें ही अद्वैत-शास्त्रका तात्पर्य नहीं है। इसलिये 'अद्वैतवादमें अनिर्वचनीय पदार्थ अप्रसिद्ध हैं' ऐसा कथन विरुद्ध है और जबकि प्रका-

रांतरसे अद्वैतका प्रतिपादन असम्भव है तब इस विषयमें लाघव-गौरव कथन करना सर्वथा भ्रममूलक है। यदि अनिर्वचनीयख्यातिके सिवा कोई अन्य प्रकार भी सम्भव होता तो इसमें गौरवदोष देखकर इस पक्षका त्याग सम्भव हो सकता था। परन्तु जबकि उक्त वक्ष्यमाण रीतिसे सत्ख्यातिवादसे आरम्भ करके कोई भी पक्ष सत्यकी कसौटी पर खरा नहीं उतरता, तब लाघव-गौरवका विचार निष्फल ही है।

५६ : सिद्धान्तोक्त गौरवदोषके परिहारपूर्वक द्विविध विज्ञानवादका असम्भव

आत्मख्यातिनिरूपणके आरम्भमें जो यह कथन किया गया था कि 'यदि रजतकी बाह्य उत्पत्ति मानी जाय तब तो रजतरूप धर्मी और उसका इदंतारूप धर्म, इन दोनोंका बाध माननेमें गौरव होता है और यदि आंतर रजतकी बाह्य प्रतीतिमात्र मानी जाय तो इदंतामात्रके ही बाध होनेसे लाघव होता है।' ऐसा कथन भी अकिञ्चित्कर ही है। क्योंकि शुक्तिका ज्ञान हो जानेपर 'मेरेको मिथ्या ही रजत प्रतीत हुआ' इस प्रकारसे रजतका बाध सभीके अनुभवसिद्ध है। परन्तु आत्मख्यातिकी रीतिसे 'मेरेको रजतमें मिथ्या ही बाह्यता प्रतीत हुई' ऐसा बाध होना चाहिये और ऐसा बाध किसीके भी अनुभवसिद्ध नहीं है। यदि लाघव-बलसे और लाघवके लोभसे ही धर्मीके बाधका लोप किया जाय तो पाकादिरूप फलके साधक जो व्यापारसमूह हैं उनमेंसे कोई एक व्यापारका ही ग्रहण करके लाघवबलसे शेष व्यापारका त्याग कर देना चाहिये। इसके अतिरिक्त जब आप्त पुरुष भ्रमित पुरुषको उपदेश करता है तब 'नेदं रजतम्, किन्तु शुक्तिरियम्' (यह रजत नहीं, किन्तु यह तो शुक्ति है) इस प्रकार रजतका स्वरूपसे ही निषेध करता है। परन्तु आत्म-ख्यातिकी रीतिसे तो 'नात्र रजतम्, किन्तु ते आत्मनि रजतम्' (यहाँ बाहर रजत नहीं, किन्तु तुम्हारे अन्दर रजत है) इस प्रकार रजतके बाह्य देशमात्रका ही निषेध करना चाहिये।

इस प्रकार 'आत्मामें उत्पन्न हुए रजतकी बाह्यदेशमें ख्याति होती हैं' इस अर्थमें बाह्यपदार्थवादी सौगतका आत्मख्यातिवाद असंगत है। तथा 'विज्ञानसे भिन्न कोई भी पदार्थ आन्तर अथवा बाह्य नहीं है, किन्तु सभी पदार्थाकार विज्ञानरूप आत्मा ही होता है इस प्रकार विज्ञानरूप आत्माकी रजतरूपसे ख्याति होती हैं' इस तात्पर्यसे आंतरविज्ञानवादीका आत्मख्यातिवाद भी असंगत है। क्योंकि रजत विज्ञानसे भिन्न है और वह ज्ञानका विषय है, इस प्रकार ज्ञानका विषय होनेसे जबकि वह विज्ञानसे भिन्न स्पष्ट है, तब उसको विज्ञानरूप आत्मासे अभिन्न कथन करना किसी प्रकार सम्भव नहीं होता। इसके साथ ही विज्ञानवादीके मतमें सभी पदार्थ क्षणिकविज्ञानरूप हैं, ऐसा मान लेनेपर प्रत्यभिज्ञादि ज्ञानोंकी असम्भवता आदिक अनन्त दूषण लागू हो जाते हैं। इस प्रकार आत्मख्याति सर्वथा असंगत है।

५७ : अन्यथाख्यातिकी रीति, उसका खण्डन और अन्यथाख्यातिवादीका तात्पर्य

इसी प्रकार अन्यथाख्यातिवाद भी असंगत है। अन्यथाख्यातिवादी-का तात्पर्य यह है कि जिस पुरुषको जिस सत्य वस्तुके अनुभवजन्य संस्कार होते हैं, उस पुरुषके दोषसहित नेत्रका जब पूर्वदृष्टके सादृश्य-पदार्थसे सम्बन्ध होता है तब पुरोर्वात उस सादृश्यपदार्थके सामान्यज्ञानसे पूर्वदृष्टकी स्मृति होती है। अथवा यदि स्मृति न मानी जाय तो पुरोर्वातके सादृश्यज्ञानसे पूर्वदृष्टके संस्कार उद्भूत होते हैं। इस प्रकार जिस पदार्थकी स्मृति हो अथवा जिसके संस्कार उद्भूत हों, उस पदार्थका धर्म पुरोर्वातमें प्रतीत होता है। जैसे जिस पुरुषको सत्य रजतके अनुभवजन्य संस्कार हों, उस पुरुषके दोषसहित नेत्रका जब रजतसदृश शुक्तिसे सम्बन्ध होता है, तब उसको रजतकी स्मृति होती है और रजतका स्मरण होनेपर रजतका रजतत्व-धर्म शुक्तिमें भासता है। अथवा यों कहिये कि चूँकि दोषसहित नेत्रका शुक्तिसे सम्बन्ध होते ही रजतभ्रममें

कोई विलम्ब नहीं होता, इसलिये शुक्तिसे नेत्रसम्बन्ध और रजतभ्रमके अंतरालमें रजतकी स्मृति नहीं हो पाती, किन्तु रजतानुभवके संस्कार उद्भूत होकर स्मृतिके व्यवधानविना ही शीघ्र शुक्तिमें रजतत्व-धर्मका प्रत्यक्ष हो जाता है। जैसे स्मृतिस्थलमें पूर्वदृष्टके सादृश्यज्ञानसे संस्कारोंका उद्बोध होता है, तैसे ही भ्रमस्थलमें पूर्वदृष्टके सादृश्यपदार्थसे इन्द्रियसंयोग होते ही संस्कारोंका उद्बोध होकर संस्कारगोचर धर्मका पुरोवर्तिमें भान होने लगता है। अर्थात् शुक्तिपदार्थमें शुक्तित्व-धर्म है रजतत्व नहीं, परन्तु भ्रमस्थलमें शुक्तिकी रजतत्वरूपसे प्रतीति होती है। इसलिये यहाँ अन्य वस्तुकी अन्यरूपसे प्रतीति होती है और इसीको अन्यथाख्याति कहते हैं।

५८ : विचारसागरोक्त द्विविध अन्यथाख्यातिवादमें प्राचीन मतका प्रकार और उसका खण्डन

विचारसागरमें अन्यथाख्यातिके दो भेद लिखे गये हैं, उनमें दूसरीका प्रकार यह है—

'जहाँ रजतभ्रम होता है, वहाँ नेत्रका कांताकरादिमें स्थित रजतसे संयोग होकर उसका प्रत्यक्ष होता है और कांताकरादिमें स्थित रजतकी ही पुरोवर्ति देशमें प्रतीतिरूप अन्यथाख्याति होती है।'

इस मतमें धर्म-धर्मी-अंशमें तो रजतका ज्ञान यथार्थ है, परन्तु केवल देश-अंशमें ही उसकी अन्यथाख्याति होती है। यद्यपि हट्टादिकी रजत व्यवहित है और उससे नेत्रसंयोग असम्भव भी है; तथापि दोषसहित नेत्रका व्यवहित रजतसे भी संयोग होकर ज्ञान होता है, ऐसा इस मतमें दोषका माहात्म्य माना गया है। यद्यपि इस प्रकारकी अन्यथाख्यातिका वर्तमान न्यायग्रन्थोंमें उपलम्भ नहीं होता है; तथापि इसका खण्डन अनेक ग्रन्थोंमें मिलता है। इस मतमें यह दोष है—

यदि देशान्तरस्थ रजतसे भी नेत्रसंयोग हो सकता हो तो हट्टमें तथा कान्ताकरमें रजतके सन्निहित धरे हुए अन्य पदार्थोंका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। यदि उत्तरमें ऐसा कहा जाय—

'अन्यथाख्यातिकी उत्पत्ति केवल इन्द्रियसे ही नहीं होती है, किन्तु पूर्वानुभवजन्य संस्कार और दोषसहित नेत्र दोनोंसे अन्यथाख्यातिकी उत्पत्ति होती है। इसलिये उद्भूत संस्कार तो नेत्रका सहकारी होता है और रजतगोचर उद्भूत संस्कारसहित सदोष नेत्रसे रजतका ज्ञान होता है। यद्यपि संस्कार अन्य पदार्थगोचर भी हैं परन्तु वे उद्बुद्ध नहीं, इसलिये अन्य वस्तुका ज्ञान नहीं होता और रजतका ही होता है। संस्कारोंकी उद्बुद्धता-अनुद्बुद्धता कार्यके अनुसार अनुमेय है। इस प्रकार उक्त दोष लागू नहीं होता।'

तथापि जहाँ शुक्तिमें रजतभ्रम हो वहाँ शुक्तिके परिमाणके समान ही आरोपित रजतका परिमाण प्रतीत होता है। अर्थात् जहाँ लघु शुक्तिमें रजतभ्रम हो वहाँ आरोपित रजतमें भी लघुता और जहाँ महती शुक्तिमें रजतभ्रम हो वहाँ आरोपित रजतमें भी महत्परिमाण ही भासता है। इस प्रकार आरोपित पदार्थमें अधिष्ठानपरिमाणका नियम होनेसे शुक्त्यादिमें रजतत्वादि धर्मकी ही प्रतीति होती है। यदि अन्य देशस्थ रजतकी शुक्तिमें प्रतीति होती हो तो आरोपितमें अधिष्ठानपरिमाणका नियम नहीं रहना चाहिये। परन्तु चूँकि शुक्तिका लघु वा महत्परिमाण ही रजतमें भासता है, इसलिये यह बलात्कार मानना पड़ता है कि शुक्तिमें देशान्तरस्थ रजतकी प्रतीति नहीं होती। जैसा ऊपर कहा गया है, उसको मानकर कि यद्यपि रजतसंस्कारवाले दूषितनेत्र पुरुषको देशान्तरस्थ रजतसन्निहित अन्य पदार्थोंकी प्रतीतिका सम्भव नहीं भी होता है; तथापि यदि यह सत्य हो तो रजतसंस्कारवालेको सभी देशोंके अनन्त रजतोंकी प्रतीति तो होनी ही चाहिये, परन्तु होती नहीं। इस प्रकार यह पक्ष अनन्त दूषणग्रस्त है और इसीलिये वर्तमान न्यायग्रन्थोंमें इस पक्षका उपलम्भ नहीं होता।

इस प्रकार प्रथम अन्यथाख्यातिवादकी रीतिसे इस दूसरे मतका खण्डन किया गया।

५९ : पूर्वोक्त अन्यथाख्यातिवादका खण्डन

'शुक्तिमें रजतत्व-धर्मकी प्रतीति होती है' ऐसा अन्यथाख्यातिवाद यद्यपि अनेक नैयायिक ग्रंथकारोंने निरूपण किया है; तथापि उनका लेख भी श्रुति-स्मृतिविरुद्ध होनेसे श्रद्धायोग्य नहीं है। वह इस प्रकार—

नैयायिक स्वप्नज्ञानको तो मानसविपर्यय कहते हैं और अन्यथाख्यातिको केवल विपर्यय। परन्तु इसके विपरीत श्रुतिमें तो स्वप्न-पदार्थोंकी उत्पत्ति निरूपण की गई है, केवल मानसविपर्यय ही नहीं कहा गया। अर्थात् श्रुतिका वचन तो यह है—

'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथः सृजते' इस श्रुतिने स्वप्नमें व्यावहारिक रथ, अश्व एवं मार्गोंका निषेध करके अनिर्वचनीय रथ, अश्व और मार्गोंकी उत्पत्ति कथन की है, मानसविपर्यय नहीं कहा। इसी प्रकार 'संध्येसृष्टिराहहि' ऐसा श्रीव्यास-सूत्र भी है, जोकि स्मृतिरूप है और इस सूत्रमें भी स्वप्नमें अनिर्वचनीय पदार्थोंकी सृष्टि ही कथन की गई है। इसलिये नैयायिकोंका अन्यथाख्यातिवाद श्रुति-स्मृतिविरुद्ध तो स्पष्ट ही है और युक्तिसे भी नेत्रसे व्यवहित रजतके रजतत्वका शुक्तिमें ज्ञान सम्भव नहीं होता। यदि शुक्तिके समीप ही रजत हो तो कदाचित् नेत्रका दोनोंसे संयोग होकर शुक्तिमें नेत्रजन्य रजतवर्ति रजतत्वकी भ्रमरूप प्रतीति सम्भव भी हो; परन्तु जहाँ शुक्तिके समीप रजत ही नहीं, वहाँ शुक्तिमें नेत्रजन्य रजतत्वभ्रम कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि इन्द्रियका विशेषण-विशेष्यसे संयोग होकर ही इन्द्रियजन्य विशिष्टज्ञान होता है। जहाँ सत्य रजत होती है वहाँ रजतत्व तो विशेषण और रजतरूप व्यक्ति विशेष्य होती है, तब नेत्रका रजतव्यक्तिसे तो संयोग-सम्बन्ध होता है और रजतत्वसे संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध होता है। परन्तु जहाँ शुक्तिमें रजतत्वविशिष्ट भ्रम हो, वहाँ यद्यपि विशेष्य शुक्तिव्यक्तिसे तो नेत्रका संयोगसम्बन्ध है; तथापि रजतत्वविशेषणसे कोई संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध

नहीं है। क्योंकि यदि रजतव्यक्तिसे नेत्रका संयोग होता तो रजतत्वसे भी संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध हो सकता था। परन्तु यहाँ रजतव्यक्तिसे संयोगाभावके कारण रजतत्वसे भी संयुक्त-समवाय-सम्बन्धका अभाव स्वाभाविक ही है, इसलिये रजतत्वविशिष्ट शुक्तिका ज्ञान सम्भव नहीं हो सकता।

६० : प्रत्यक्षज्ञानके हेतु षड्विध लौकिक और त्रिविध अलौकिक दो प्रकारके सम्बन्ध

नैयायिकोंका यह मत है कि प्रत्यक्ष-ज्ञानका हेतु इन्द्रिय और विषय-का सम्बन्ध दो प्रकारका होता है, उनमें एक लौकिक-सम्बन्ध कहा जाता है और दूसरा अलौकिक-सम्बन्ध। संयोगादि षट् प्रकारके सम्बन्ध तो लौकिक कहे जाते हैं, जिनके उदाहरण और स्वरूप प्रत्यक्ष-प्रमाणके निरूपणमें कहे जा चुके हैं। तथा सामान्यलक्षण, ज्ञानलक्षण और योगजन्यधर्मलक्षण——ये अन्य तीन प्रकारके अलौकिक सम्बन्ध होते हैं, जिनके उदाहरण और स्वरूप इस प्रकार हैं——

(१) जहाँ एक घटसे नेत्रका संयोग हो वहाँ नेत्रसे एक ही घटका साक्षात्कार नहीं होता, किन्तु घटत्वके आश्रयभूत सभी घटोंका नेत्रसे साक्षात्कार होता है। परन्तु इस विषयमें नैयायिकोंके प्राचीन व नवीनके भेदसे दो मत हैं। उनमें नवीन मतमें तो नेत्रसंयुक्त घटका और देशा-न्तरवर्ति घटोंका एक ही क्षणमें साक्षात्कार होता है। परन्तु प्राचीन मतमें नेत्रसंयुक्त घटका तो प्रथम क्षणमें और देशांतरवर्ति घटोंका द्वितीय क्षणमें साक्षात्कार होता है। ये दोनों साक्षात्कार यद्यपि नेत्रजन्य हैं तथापि इनके सम्बन्ध भिन्न हैं। इस प्रकार ये दो मत हैं, इनमें प्राचीन रीति सुगम है, इसलिये यहाँ प्राचीन रीति ही कही जाती है। वह प्राचीन रीति इस प्रकार है——

पुरोवर्ति घटसे नेत्रका संयोग होकर 'अयं घटः' (यह घट है) इस प्रकार एक घटका साक्षात्कार होता है। इस साक्षात्कारका हेतु संयोग-

सम्बन्ध है, इसलिये यह साक्षात्कार लौकिकसम्बन्धजन्य है। इस साक्षात्कारका विषय घट और घटत्व हैं, उनमें घटव्यक्ति तो विशेष्य और घटत्व प्रकार है। विशेषणको 'प्रकार' कहते हैं। इस ज्ञानमें विशेषण अर्थात् प्रकार जो घटत्व है, वह यावत् घटोंमें रहता है। इसलिये पुरोर्वात घटके ज्ञानकालमें नेत्रइन्द्रियका स्वजन्यज्ञानप्रकारीभूत-घटत्ववत्ता-सम्बन्ध यावत् घटोंमें है। इस सम्बन्धसे द्वितीय क्षणमें यावत् घटोंका नेत्रजन्य साक्षात्कार होता है और इस साक्षात्कारका विषय पुरोर्वात घट भी है। इस प्रकार पुरोर्वात घटगोचर दो ज्ञान होते हैं, उनमेंसे प्रथम क्षणमें तो लौकिक ज्ञान होता है और द्वितीय क्षणमें अलौकिक। चूँकि यह दूसरा सम्बन्ध अलौकिक है, इसलिये अलौकिक सम्बन्धजन्य ज्ञान भी अलौकिक ही होता है और इस ज्ञानके विषय यावत् घटोंसे इन्द्रियका स्वजन्यज्ञान-प्रकारीभूत-घटत्ववत्ता-सम्बन्ध होता है। जहाँ एक घटका नेत्रजन्य साक्षात्कार हो वहाँ तो 'स्व' शब्द नेत्रका और जहाँ त्वक्से ज्ञान हो वहाँ 'स्व' शब्द त्वक्का बोधक होता है। इस प्रकार एक व्यक्तिका जिस इन्द्रियसे ज्ञान हो, उस इन्द्रियजन्य ही यावत् व्यक्तियोंका अलौकिक साक्षात्कार होता है। परन्तु इस प्रकार जिस एक व्यक्तिका नेत्रजन्य लौकिक साक्षात्कार होता हो, तब उन यावत् व्यक्तियोंका त्वक्जन्य अलौकिक साक्षात्कार नहीं होता। एक घटके नेत्रजन्य ज्ञानमें 'स्व' अर्थात् नेत्र और 'तज्जन्य' अर्थात् 'अयं घटः' ऐसा ज्ञान होता है और उसमें 'प्रकारीभूत' अर्थात् विशेषण जो घटत्व, 'तद्वत्ता' अर्थात् घटत्वकी आधारता यावत् घटोंमें होती है, इसलिये उक्त सम्बन्ध यावत् घटोंके ज्ञानका हेतु होता है। जब एक घटका इन्द्रियजन्य ज्ञान होता है तब यद्यपि उस ज्ञानमें घटत्व-प्रकार भी रहता है; तथापि पुरोर्वात घटके लौकिक ज्ञान-कालमें अलौकिक सम्बन्ध सम्भव नहीं होता। इसलिये लौकिक ज्ञान प्रथम क्षणमें और अलौकिक उत्तर क्षणमें माना गया है। यह प्राचीन रीति कथन की गई।

नवीन रीतिसे एक ही ज्ञान सकल घटगोचर होता है, अर्थात् पुरोर्वात

घट-अंशमें तो वह लौकिक और देशान्तरस्थ घटांशोंमें वही अलौकिक होता है। यहाँ प्रसंगप्राप्त एक रीति ही निरूपण की गई है, विस्तारभयसे दूसरी नवीन रीति नहीं कही गई। इसको सामान्यलक्षण सम्बन्ध कहते हैं। 'सामान्य' अर्थात् जाति, 'लक्षण' अर्थात् स्वरूप, इस प्रकार यह जाति-स्वरूप-सम्बन्ध है। सारांश यह सिद्ध हुआ कि नेत्रजन्यज्ञानप्रकारीभूत-घटत्ववत्ता कहनेसे घटत्व ही सिद्ध होता है, इसलिये उक्त सम्बन्ध सामान्यस्वरूप ही है। अथवा यदि घटत्वाधिकरणताको घटत्ववत्ता कहा जाय तब भी सामान्यलक्षण सम्बन्ध ही होता है, क्योंकि अनेक अधि-करणोंमें भी अधिकरणता-धर्म तो सामान्य ही है। इस स्थानमें अनेकोंमें जो समान धर्म हो वही 'सामान्य' शब्दका अर्थ है, केवल जाति ही 'सामान्य' शब्दका अर्थ नहीं। इसलिये अनेक घटोंमें घटत्वरूप अधि-करणता भी समान धर्म होनेसे 'सामान्य' कही जा सकती है। इस प्रकार इन्द्रियका एक व्यक्तिसे सम्बन्ध होनेपर इन्द्रियसम्बन्धी उस व्यक्तिके समान धर्मवाली उन यावत् व्यक्तियोंसे उस इन्द्रियका सामान्यलक्षणरूप अलौकिक सम्बन्ध होता है और इस प्रकार उन व्यवहित-अव्यवहित वस्तुओंका इन्द्रियजन्य अलौकिक साक्षात्कार होता है।

(२) ज्ञानलक्षणसम्बन्धका स्वरूप उदाहरणसहित यह है कि जहाँ इन्द्रियका अपने योग्य पदार्थसे सम्बन्ध हो और इन्द्रियसम्बन्धकालमें उस इन्द्रियके अयोग्य पदार्थका जो स्मृतिज्ञान हो, वहाँ इन्द्रियसम्बन्धी उस पदार्थका और उस स्मृतिगोचर पदार्थका एक ही ज्ञान होता है। तहाँ जिस अंशमें इन्द्रियसम्बन्धजन्य ज्ञान है उस अंशमें तो वह ज्ञान लौकिक और जिस अंशमें वह स्मृतिजन्य है उस अंशमें वह ज्ञान अलौकिक होता है। जैसे जहाँ नेत्रका चंदनसे संयोग हो वहाँ यदि सुगन्ध-धर्मकी स्मृति भी होवे तब 'सुगन्धि चन्दनम्' ऐसा नेत्रजन्य प्रत्यक्ष होता है। यहाँ चंदनत्वविशिष्ट चन्दन तो नेत्रके योग्य है और सुगन्ध यद्यपि चन्दनका धर्म है तथा उससे नेत्रसंयुक्त-समवाय-सम्बन्ध भी है; तथापि वह सुगन्ध नेत्रके योग्य नहीं, किन्तु घ्राणके योग्य है। इसलिये उस चन्दनस्थ

सुगन्ध-धर्मका नेत्रसंयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे चाक्षुष साक्षात्कार नहीं हो सकता, किन्तु नेत्रसंयोगसे तो उस चन्दनव्यक्तिका और नेत्रसंयुक्त-समवाय-सम्बन्धसे उस चन्दनत्वका ही चाक्षुष-प्रत्यक्ष हो सकता है। यद्यपि चन्दनके सुगन्ध-गुणसे नेत्रका संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध अकिञ्चित्कर विद्यमान भी है; तथापि चन्दनसे नेत्रसंयोग होते ही 'सुगन्धि चन्दनम्' ऐसा चन्दनगोचर चाक्षुष-ज्ञान अनुभवसिद्ध है। इसलिये चन्दनवर्ति सुगन्धगुणसे नेत्रसाक्षात्कारका हेतु कोई सम्बन्ध मानना आवश्यक है। यहाँ सुगन्धगुणसे नेत्रका और तो कोई सम्बन्ध बनता नहीं है, केवल नेत्रसंयुक्त-समवाय-सम्बन्ध ही होता है, परन्तु वह गंधके ज्ञानका जनक नहीं होता। हाँ, जिसको पूर्व चन्दनकी सुगन्धवत्ता घ्राणसे अनुभूत हुई हो, उसीको नेत्रसे 'सुगन्धि चन्दनम्' ऐसा चन्दनका ज्ञान होता है, परन्तु जिसको चन्दनकी सुगन्धवत्ता घ्राणसे कभी अनुभूत ही न हुई हो, उसको चन्दनका नेत्रसे संयोग होते हुए भी 'सुगन्धि चन्दनम्' ऐसा ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार 'सुगन्धि चन्दनम्' इस प्रत्यक्षमें सुगन्धके पूर्वानुभवजन्य संस्कारोंका अन्वय-व्यतिरेक है, इसलिये 'सुगन्धि चन्दनम्' इस चाक्षुष-ज्ञानका हेतु सुगन्धानुभवजन्य संस्कार अथवा सुगन्धस्मृति मानना अनिवार्य है। यदि सुगन्धसंस्कार अथवा सुगन्धस्मृतिको सुगन्धके प्रत्यक्षमें स्वतन्त्र हेतुरूप कहा जाय तो वह ज्ञान सुगन्ध-अंशमें चाक्षुष न होगा, परन्तु 'सुगन्धि चन्दनम्' ऐसा ज्ञान सुगन्ध-अंशमें भी चन्दन और चन्दनत्वकी भाँति चाक्षुष ही अनुभवसिद्ध है। इसलिये इस ज्ञानके हेतु संस्कार अथवा स्मृतिको नेत्रका सम्बन्धी ही मानना चाहिये। यदि इनको नेत्रका सम्बन्धी मान लिया जाय तो संस्कार अथवा स्मृतिरूप सुगन्धज्ञान भी नेत्रसम्बन्धजन्य ही होता है और चाक्षुष ही होता है। परन्तु यदि वे संस्कार अथवा स्मृति नेत्रनिरूपित हों तभी वे नेत्रके सम्बन्धी हो सकते हैं। जैसे घटनिरूपित संयोग घटका सम्बन्धी और पटनिरूपित संयोग पटका सम्बन्धी कहा जाता है, तैसे ही सुगन्धगोचर संस्कार अथवा स्मृति भी नेत्रनिरूपित होकर ही नेत्रके सम्बन्धी सम्भव

हो सकते हैं। अन्यथा सुगन्धकी स्मृति अथवा संस्कारको नेत्र-सम्बन्धी कहना सम्भव नहीं होता। वे संस्कार वा स्मृति नेत्रनिरूपित इस प्रकार हैं—

जब चन्दनका साक्षात्कार होता है तब आत्मा व मनका संयोग होकर मन व नेत्रका और फिर नेत्र-चन्दनका संयोग होता है, अर्थात् यों कहिये कि आत्मसंयुक्त-मनसंयुक्त-नेत्रका चन्दनसे संयोग होता है। इस प्रकार आत्मा-मनका संयोग और फिर मन-नेत्रका संयोग चन्दन-साक्षात्कारका हेतु है। जिस कालमें आत्मसंयुक्त मनका नेत्रसे संयोग होकर चन्दनसे संयोग होता है, उसी कालमें सुगन्धकी स्मृति अथवा संस्कार जो आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहते हैं, उनका विषय सुगन्ध भी होता है। इसलिये चन्दनकी स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत स्मृति अथवा चन्दनके स्वसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत संस्कार सुगन्धमें हैं। क्योंकि 'स्व' शब्दसे तो नेत्रका ग्रहण है, उससे संयुक्त अर्थात् संयोगवाला मन है, मनसे संयुक्त आत्मा है और आत्मामें समवेत अर्थात् समवायसम्बन्धसे चन्दनवर्ति सुगन्धकी स्मृति अथवा संस्कार हैं, जो समवायसम्बन्धसे आत्मवर्ति हैं। इसलिये नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत स्मृति अथवा नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेत संस्कार, ये दोनों नेत्रनिरूपित हैं। यह नेत्रघटित स्वरूपकी परम्परा है, इसलिये यह नेत्रनिरूपित है।

इस परम्परा सम्बन्धका प्रतियोगी नेत्र और अनुयोगी सुगन्ध है। जिसमें सम्बन्ध रहे वह सम्बन्धका अनुयोगी कहलाता है। यहाँ स्मृतिरूप अथवा संस्काररूप उक्त परम्परासे जो नेत्रका सम्बन्ध, उसका विषय सुगन्ध है, इसलिये सुगन्ध उक्त सम्बन्धका अनुयोगी है। विषयमें ज्ञानकी अधिकरणता अनुभवसिद्ध है, इसलिये विषय भी आत्माकी भाँति ज्ञानका अधिकरण और अनुयोगी कहलाता है। जैसे 'घटे ज्ञानम्' (घटमें ज्ञान) जहाँ ऐसा व्यवहार हो, वहाँ इस वाक्यका 'घटवर्ति ज्ञान' ऐसा अर्थ होता है। इस प्रकार आत्माके समान ज्ञानका आधार होनेसे यद्यपि विषय भी ज्ञानका अनुयोगी तो होता है, परन्तु आत्मा तो समवायसम्बन्धसे ज्ञानका आधार होता है और सुगन्धादि विषय विषयता-सम्बन्धसे ज्ञानके आधार

होते हैं। जो ज्ञानका आधार हो वही संस्कारका आधार भी होता है, यह नियम है। क्योंकि पूर्वानुभवसे संस्कार उत्पन्न होते हैं और वे अनुभवके समानविषयवाले उत्तर-स्मृति आदिको उपजाते हैं, इसलिये पूर्वानुभव, संस्कार और स्मृति, इन तीनोंके आश्रय व विषय समान होते हैं और इसीलिये सुगन्धगोचर संस्कार भी सुगन्धमें विषयतासम्बन्धसे रहते हैं। इस प्रकार सुगन्ध तो नेत्रप्रतियोगिक संस्कारका अनुयोगी है और आत्मा व मनके द्वारा नेत्रका सुगन्धसे स्मृतिरूप अथवा संस्काररूप सम्बन्ध है तथा नेत्रका चन्दनव्यक्तिसे संयोगसम्बन्ध और चन्दनत्वसे संयुक्त-समवाय-सम्बन्ध है। इस प्रकार चन्दन, चन्दनत्व और सुगन्ध, इन तीनोंको विषय करनेवाला 'सुगन्धि चन्दनम्' ऐसा चाक्षुषसाक्षात्कार होता है। जहाँ नेत्रसे चन्दन, चन्दनत्व और सुगन्धका साक्षात्कार हो, वहाँ चन्दन और चन्दनत्वसे तो लौकिक सम्बन्ध होता है, क्योंकि संयोगादि षट् सम्बन्धोंको लौकिक सम्बन्ध कहते हैं और स्मृति व संस्कार लौकिक सम्बन्धसे पृथक् होनेसे अलौकिक हैं। जहाँ चन्दनसे नेत्रके सम्बन्धकालमें सुगन्धकी स्मृति अनुभवसिद्ध हो वहाँ तो स्मृतिरूप अलौकिकसम्बन्ध और जहाँ स्मृतिका अनुभव न हो वहाँ संस्काररूप ही अलौकिकसम्बन्ध होता है। इस अलौकिकसम्बन्धका नाम 'ज्ञानलक्षण-सम्बन्ध' है। तहाँ स्मृतिमें तो 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग प्रसिद्ध ही है और चूँकि संस्कार भी ज्ञानजन्य ही होते हैं और वे उत्तर ज्ञानके जनक होते हैं, इसलिये वे संस्कार भी ज्ञानके सम्बन्धी होनेसे ज्ञान ही कहे जाते हैं।

(३) इसी प्रकार जहाँ योगीको इन्द्रियसे व्यवहित पदार्थका इन्द्रियजन्य साक्षात्कारकी भाँति साक्षात्कार होता है, वहाँ योगाभ्याससे इन्द्रियमें ऐसी विलक्षण सामर्थ्य हो जाती है। इसलिये वहाँ योगज धर्म ही इन्द्रियका सम्बन्ध कहलाता है। परन्तु इसमें मतभेद है—

श्रीजगदीश भट्टाचार्यका मत तो यह है कि जिस इन्द्रियके योग्य जो पदार्थ होता है, उसी इन्द्रियसे उस पदार्थका साक्षात्कार होता है। परन्तु योगीको व्यवहित पदार्थका और भूत-भविष्यका भी इन्द्रियजन्य

ही साक्षात्कार हो जाता है और योगीसे इतरको केवल वर्तमान इन्द्रिय-सम्बन्धीका ही साक्षात्कार होता है। परन्तु जो पदार्थ जिस इन्द्रियके योग्य नहीं होता, योगीको भी उस इन्द्रियसे उस पदार्थका साक्षात्कार नहीं होता। जैसे रूपका ज्ञान नेत्रसे ही होता है, रसनादिसे नहीं होता।

कितने ग्रन्थकारोंका यह मत है कि योगकी महिमा अद्भुत है और अभ्यासके उत्कर्ष-अपकर्षसे योगज धर्म भी विलक्षण होते हैं। इसलिये अभ्यासके उत्कर्षसे किसीमें तो ऐसा धर्म होता है कि एक ही इन्द्रियसे योग्य-अयोग्य सभीका ज्ञान हो जाता है। परन्तु किसीमें अभ्यासके अपकर्षसे इन्द्रियके योग्य विषयके ज्ञानकी ही सामर्थ्य होती है। क्योंकि योगज धर्मसे सभी प्रकारसे व्यवहित पदार्थका ज्ञान तो होता ही है, इसलिये योगज धर्म भी अलौकिक सम्बन्ध ही है।

६१ : न्यायमतमें अलौकिक सम्बन्धसे देशान्तरस्थ रजतत्वका शुक्तिमें प्रत्यक्ष भान और उस भानमें सुगन्धि-चन्दनके भानसे विलक्षणता

इस प्रकार जैसे इन्द्रियके संयोगादि सम्बन्धके अतिरिक्त अलौकिक सम्बन्धसे भी इन्द्रियजन्य साक्षात्कार होता है, वैसे ही शुक्तिमें देशान्तरस्थ रजतवर्ति रजतत्वका भी अलौकिक सम्बन्धसे चाक्षुष साक्षात्कार सम्भव होता है। जैसे चन्दनसे नेत्रसंयोग और सुगन्धस्मृति होनेपर 'सुगन्धि चन्दनम्' ऐसा योग्य-अयोग्य विषयका अनुभवगोचर चाक्षुष ज्ञान होता है, तैसे ही जब दोषसहित नेत्रका शुक्तिसे संयोग होता है तब शुक्ति-व्यक्ति तो नेत्रके योग्य होती है और रजतत्वजाति यद्यपि प्रत्यक्षयोग्य है तथापि जहाँ जातिका आश्रय प्रत्यक्षगोचर हो वहाँ तो जाति योग्य और जहाँ जातिका आश्रय प्रत्यक्षयोग्य नहीं होता वहाँ जाति अयोग्य होती है। इस प्रसंगमें चूंकि रजतत्वका आश्रयभूत रजतव्यक्ति नेत्रसे व्यवहित है इसलिये यद्यपि रजतत्व नेत्रयोग्य तो नहीं; तथापि जैसे सुगन्ध-अंशमें चन्दनज्ञान अलौकिक है तैसे 'इदं रजतम्' यह ज्ञान भी रजतत्व-अंशमें

अलौकिक ही है। परन्तु इतना भेद है कि 'सुगन्धि चन्दनम्' इस ज्ञानमें तो चन्दनवर्ति सुगन्ध ही चन्दनमें भासती है और 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें इदं-पदार्थमें न वर्तनेवाला रजतत्व भी इदं-पदार्थमें भासता है। दूसरी विलक्षणता यह है कि 'सुगन्धि-चन्दनम्' इस ज्ञानमें नेत्रके अयोग्य सुगन्ध भासती है और चन्दनकी सभी सामान्य-विशेषताएँ भासती हैं, परन्तु 'इदं रजतम्' इस ज्ञानमें व्यवहित होनेसे नेत्रके अयोग्य रजतत्वका भास तो सुगन्ध-भासके समान होता है और चन्दनके विशेषरूप चन्दनत्वके भासकी तरह शुक्तिके विशेषरूप शुक्तित्वका भास नहीं होता। तथा मलयाचलोद्भूत काष्ठविशेषरूप चन्दनके अवयव तो भासते हैं, परन्तु शुक्तिके त्रिकोणतादिविशिष्ट अवयव नहीं भासते। इस प्रकार दोनों ज्ञानोंका भेद है और दोनों ज्ञानोंमें उक्त भेदकृत ही यथार्थत्व व अयथार्थत्व है। यद्यपि दोनों ज्ञानोंमें इन्द्रियसंयोग और अयोग्य धर्मकी स्मृतिरूप सामग्री तो समान ही है और यद्यपि सामग्रीके भेदविना यथार्थत्व-अयथार्थत्वकी विलक्षणता सम्भव नहीं हुआ करती; तथापि यहाँ सामग्रीमें दोषराहित्य और दोषसाहित्यरूप ही विलक्षणता है और इसीलिये यहाँ यथार्थत्व-अयथार्थत्वकी विलक्षणता सम्भव होती है। जैसे 'सुगन्धि चंदनम्' इस स्थानमें ज्ञानलक्षणसम्बन्धकी निरूपकता नेत्रमें है, तैसे ही 'इदं रजतम्' इस स्थानमें भी नेत्रसंयुक्तमनःसंयुक्तात्मसमवेतज्ञानरूप सम्बन्ध है और उसका निरूपक भी नेत्र ही है। इस ज्ञानका विषय जो रजतत्व है वह स्मृतिज्ञानका अनुयोगी है। अर्थात् जिस विषयका ज्ञान हो, वह विषय विषयतासम्बन्धसे अपने ज्ञानका अनुयोगी होता है। यहाँ नेत्रसे संयोगवाला होनेसे नेत्रसंयुक्त मन है, मनःसंयुक्त आत्मा है और उस आत्मामें समवेत रजतत्वज्ञानकी स्मृति है, जो विषयतासम्बन्धसे रजतत्वमें रहती है। इस प्रकार नेत्रसंयुक्त-मनःसंयुक्त-आत्मसमवेत-ज्ञानरूप नेत्रका रजतत्वमें सम्बन्ध होनेसे नेत्रसम्बद्ध रजतत्वका भ्रमज्ञान प्रत्यक्ष होता है। अथवा यों कहिये कि नेत्रसम्बद्ध रजतत्वका ज्ञानरूप सम्बन्ध नहीं, किन्तु ज्ञानका विषयताका सम्बन्ध है। इसलिये नेत्रसंयुक्त-मनःसंयुक्त-आत्म-

समवेत-ज्ञानविषयतारूप सम्बन्ध अलौकिक सम्बन्ध है । 'सुगन्धि चंदनम्' इस स्थानमें तो उक्त विषयतारूप सम्बन्ध सुगन्धमें है और 'इदं रजतम्' इस स्थानमें नेत्रसंयुक्त-मनःसंयुक्त-आत्मसमवेत रजतत्वज्ञानकी स्मृति है, जो विषयतासम्बन्धसे रजतत्वमें रहती है । इस प्रकार विषयतासम्बन्ध-रूप अंश जोड़ने से सम्बन्धके अनुयोगी सुगन्ध एवं रजतत्व स्पष्ट ही हैं, इसलिये 'नेत्रके सम्बन्धके विना रजतत्वका ज्ञान असम्भव है' ऐसा दोष अन्यथाख्यातिवादमें नहीं आता । क्योंकि उक्त प्रकारसे नेत्रका शुक्तिरूप विशेष्यसे तो लौकिक सम्बन्ध और रजतत्वरूप विशेषणसे अलौकिक सम्बन्ध मानकर अन्यथाख्याति सम्भव हो सकती है ।

६२ : अनिर्वचनीयख्यातिमें न्यायोक्त दोष

नैयायिक अनिर्वचनीयख्यातिमें ये दोष देते हैं कि प्रथम तो अन्यथा-ख्यातिवादीको भ्रमज्ञानकी कारणता केवल दोषमें ही माननी पड़ती है, परन्तु अनिर्वचनीयख्यातिवादीको तो रजतादि अनिर्वचनीय विषयकी कारणता और उसके ज्ञानकी कारणता दोनों माननी पड़ती हैं, इसलिये अन्यथाख्यातिवादमें लाघव है । दूसरे, अनिर्वचनीयख्यातिवादीका अन्यथा-ख्यातिके विना निर्वाह भी नहीं होता । वह कहीं तो अन्यथाख्याति मानता है और कहीं अनिर्वचनीय ख्याति, इसलिये सर्वत्र ही अन्यथा-ख्याति मानना योग्य है । यदि वह सर्वत्र अनिर्वचनीय ख्याति माने तो अद्वैतवादीका स्वमतके ग्रन्थोंसे विरोध होगा और केवल अनिर्वचनीय-ख्यातिसे उसका निर्वाह भी नहीं होता । क्योंकि जहाँ अनिर्वचनीयख्याति सम्भव न हो वहाँ अद्वैतमतके ग्रन्थोंमें अन्यथाख्याति ही लिखी गई है । जैसे जहाँ अनात्म पदार्थोंमें अबाध्यत्वरूप सत्यत्वकी प्रतीति होती है वहाँ यदि अनात्म पदार्थोंमें उक्त अबाध्यत्वकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति कही जाय तो 'अजन्मका जन्म और नित्यका ध्वंस' इन असम्भव वाक्योंके समान यह कथन विरुद्ध होगा । इसलिये इस स्थलमें आत्म-सत्यताकी अनात्ममें प्रतीति अन्यथाख्यातिरूप ही सम्भव हो सकती

है और अद्वैत ग्रन्थोंमें भी ऐसे स्थलमें अन्यथाख्यातिका ही अंगीकार किया गया है। तथा अद्वैत ग्रन्थोंमें परोक्ष भ्रमस्थलमें भी अन्यथाख्याति ही ग्रहण की गई है। इस प्रसंगमें उनका यह तात्पर्य है—

प्रत्यक्षज्ञान तो नियमपूर्वक वर्तमानगोचर ही होता है, क्योंकि जिस विषयका प्रमातासे सम्बन्ध हो उसी विषयजन्य ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। जैसे व्यवहित रजतके रजतत्वका प्रमातासे सम्बन्ध सम्भव नहीं होता तो उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान भी नहीं होता, इसलिये प्रत्यक्ष-ज्ञानके लिये पुरोवर्ति देशमें रजतकी सत्ता अवश्य चाहिये। परन्तु परोक्ष-ज्ञान तो अतीत और भविष्यत्का भी होता है, इसलिये परोक्ष-ज्ञानके विषयका प्रमातासे सम्बन्ध अपेक्षित नहीं होता और सम्भव भी नहीं होता। क्योंकि जहाँ देशान्तरस्थ और कालान्तरस्थ पदार्थका अनुमानप्रमाणसे अथवा शब्द-प्रमाणसे यथार्थ ज्ञान हो, जबकि वहाँ भी भिन्न-भिन्न देशकालस्थ वस्तुसे प्रमाताका सम्बन्ध नहीं होता, फिर भ्रमरूप परोक्ष-ज्ञानमें तो विषयसे प्रमाताका सम्बन्ध कैसे सम्भव हो? इसलिये परोक्ष भ्रमस्थलमें तो अनिर्वचनीयख्याति किसी प्रकार सम्भव ही नहीं होती, किन्तु विषयशून्य देशमें विषयकी प्रतीतिरूप अन्यथाख्याति ही हो सकती है।

इस प्रकार अद्वैतवादी अनेक स्थलोंमें अन्यथाख्याति मानते हैं, वे केवल अपरोक्ष-भ्रममें ही जहाँ अधिष्ठानसे आरोपित व्यवहित हो वहीं अनिर्वचनीयख्यातिका अंगीकार करते हैं। परन्तु वास्तवमें तो जहाँ पुरोवर्ति देशमें अधिष्ठानसम्बन्धी आरोपित हो वहाँ भी अन्यथाख्याति ही होती है। क्योंकि जब अधिष्ठानगोचर वृत्ति हो तब अन्यथाख्याति मानकर भी आरोपित वस्तुसे प्रमाताका सम्बन्ध हो सकता है, फिर अनिर्वचनीय विषयकी उत्पत्ति मानना निष्प्रयोजन है। इस प्रकार अद्वैतवादमें एक अनिर्वचनीयख्यातिसे ही निर्वाह नहीं होता, परन्तु अन्यथाख्याति मान लेनेपर तो अनिर्वचनीयख्यातिकी कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि जहाँ आरोपित व्यवहित हो और प्रत्यक्ष-भ्रम हो उस स्थानमें ही अद्वैतवादीने अन्यथाख्यातिका असम्भव कहा है, परन्तु उपर्युक्त रीतिसे

वहाँ भी ज्ञानलक्षणसम्बन्ध सम्भव हो सकता है। इस प्रकार अन्यथा-ख्याति मानकर भी प्रत्यक्ष-भ्रमका सम्भव होनेसे अनिर्वचनीयख्यातिका अंगीकार प्रयोजनशून्य है और गौरवदोषयुक्त है।

६३ : सामान्य-ज्ञानलक्षणादि अलौकिक सम्बन्धोंमें प्रत्यक्ष-ज्ञानहेतुताका असम्भव और भ्रम-ज्ञानकी इन्द्रियअजन्यता

इस प्रकार नैयायिक विवेकके अभावसे अनन्त निरर्थक प्रलाप करते हैं, क्योंकि जिन सामान्यलक्षणादि अलौकिक सम्बन्धोंको प्रत्यक्ष-ज्ञानका हेतु कहा गया है, वह सर्वथा असमीचीन है और वह सबके अनुभवविरुद्ध है। जिसको एक घटका नेत्रजन्य ज्ञान हो उससे यदि यह प्रश्न किया जाय कि आपको कितने घटोंका चाक्षुष-साक्षात्कार हुआ है? तब द्रष्टा प्रश्नकर्ताको उत्तरमें यही कहता है 'कितने घटोंका साक्षात्कार हुआ है, यह आपका प्रश्न ही अविवेकसे है, मेरे सम्मुख तो एक ही घट है।' इस प्रकार घटका द्रष्टा उल्टा प्रश्नका उपालम्भ करता है। परन्तु नैया-यिक रीतिसे तो लौकिक-अलौकिकसम्बन्धोंके भेदसे तथा सम्पूर्ण घटोंके प्रत्यक्षकी सामग्री होनेसे उक्त उपालम्भ सम्भव न होना चाहिये और द्रष्टाको ऐसा उत्तर स्पष्ट देना चाहिये—

'मुझे एक घटका तो लौकिकसम्बन्धसे और सम्पूर्ण घटोंका अलौकिसम्बन्धसे चाक्षुष-साक्षात्कार हुआ है।' परन्तु इस प्रकार व्यवहित घटोंका भी साक्षात्कार श्रवण करके सबके हृदयोंमें विस्मय होता है। इस प्रकार सामान्यलक्षण-सम्बन्धसे जैसा साक्षात्कार नैयायिकोंने कथन किया है वह सर्वलोक और सर्वतंत्रविरुद्ध है। हाँ, जब एक घटका साक्षात्कार हो तब सजातीयतासे घटांतरोंके स्मृत्यादि तो सम्भव होते हैं, न कि प्रत्यक्षरूप अनुभव।

इसी प्रकार "सुगन्धि चन्दनम्' इस ज्ञानमें ज्ञानलक्षण-सम्बन्धसे चंदनमें सुगन्धधर्मावगाही नेत्रजन्य चाक्षुष-साक्षात्कार होता है' नैयायिकों-का ऐसा कथन भी विरुद्ध है। क्योंकि जिस पुरुषको चन्दनका

साक्षात्कार हो रहा हो, उससे यदि ऐसा प्रश्न किया जाय 'किं दृष्टम् ?' (क्या देखा ?) तब द्रष्टा यद्यपि ऐसा कहता है—'सुगन्धि चन्दनं दृष्टम्' (मैंने सुगन्धित चंदनको देखा); तथापि यदि फिर विवेचनसे उससे ऐसा पूछा जाय—'इस चंदनमें सुगन्ध है, ऐसा ज्ञान आपको किस प्रकार हुआ ?' तब द्रष्टा यही कहता है—'श्वेत चंदन है, इसलिये इसमें सुगन्ध अवश्य होगा, क्योंकि रक्त चंदनमें सुगन्ध नहीं होती है, किन्तु इस प्रकारके श्वेतमें ही सुगन्ध होती है।' इस प्रकार चन्दनके सुगन्ध-अंशमें वह अनुमानजन्यताके सूचक वचन ही कहता है, 'मेरेको नेत्रसे सुगन्धका साक्षात्कार हुआ है' उत्तरमें ऐसा कदापि नहीं कहता। इससे स्पष्ट है कि सुगन्धका ज्ञान नेत्रजन्य प्रत्यक्षरूप नहीं, किन्तु वह ज्ञान चन्दन-अंशमें तो प्रत्यक्ष और सुगन्ध-अंशमें अनुमितिरूप ही है। 'सुगन्धि चन्दनम्' इस वाक्यका प्रयोग करनेवाले चन्दनद्रष्टासे यदि ऐसा प्रश्न किया जाय कि 'इस चन्दनमें उत्कट गन्ध है अथवा अल्प गंध ?' तब उत्तर में वह यही कहता है—'नेत्रसे तो श्वेत चन्दन ही प्रतीत होता है, जिससे गन्धसामान्यकी अनुमिति ही होती है, जब गन्धका प्रत्यक्ष हो तब गंधके उत्कर्ष-अपकर्षका ज्ञान हो। इसलिये जब नासिकासे आघ्रात करें तभी तो गन्धके उत्कर्ष-अपकर्षका ज्ञान हो सकता है। नेत्रसे तो केवल श्वेत चन्दनका ही ज्ञान होता है और उससे गन्धसामान्यका अनुमान ही होता है।' इस प्रकारके उत्तरसे भी सुगन्धका अनुमिति-ज्ञान ही सिद्ध होता है, न कि प्रत्यक्ष। क्योंकि जिस-जिस इन्द्रियसे शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्धका ज्ञान होता है उस-उस इन्द्रियसे ही उन शब्दादि विषयोंके उत्कर्ष-अपकर्षका भी ज्ञान होता है, यह नियम है। यदि नेत्रेन्द्रियसे गन्धका ज्ञान होता हो तो उससे गन्धके उत्कर्ष-अपकर्ष-का भी ज्ञान सम्भव हो। इससे स्पष्ट है कि चन्दनमें सुगन्धका ज्ञान अनुमितिरूप ही है, प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि अनुमिति-ज्ञानसे तो किसी वस्तुके उत्कर्ष-अपकर्षकी अप्रतीति ही अनुभवसिद्ध है। जैसे जहाँ धूमसे वह्निकी अनुमिति हो वहाँ वह्निके अल्पत्व-महत्त्वका ज्ञान नहीं होता।

यदि नैयायिक ऐसा कहें कि 'लौकिक-सम्बन्धजन्य प्रत्यक्षसे ही विषयके उत्कर्ष-अपकर्ष भासते हैं, परन्तु अलौकिकसे तो विषयका सामान्य धर्म ही भासता है, विशेष धर्म नहीं' तब नैयायिकका ऐसा कथन भी असंगत ही है। क्योंकि विषयके सामान्य धर्मका प्रकाश तो परोक्ष-ज्ञानसे भी सम्भव होता है, फिर अप्रसिद्ध अलौकिकसम्बन्धसे अप्रसिद्ध प्रत्यक्षकी कल्पना करना निष्प्रयोजन होगा। यदि नैयायिक ऐसा कहें कि 'अलौकिकसम्बन्धसे सुगन्धका विशेषरूपसे प्रकाश नहीं होता, किन्तु केवल सामान्यरूपसे ही उसका प्रकाश होता है और ऐसा सुगन्ध-ज्ञान नेत्रसे ही होता है।' तब इन नैयायिक वचनोंसे भी यही सिद्ध होगा कि नेत्रसे श्वेत चंदनका साक्षात्कार होते ही सुगन्धका अनुमितिरूप सामान्यज्ञान ही होता है और उस अनुमितिका प्रयोजक चन्दनके श्वेतताज्ञानद्वारा नेत्र है। इस प्रकार सुगन्धका ज्ञान नेत्रजन्य नहीं, किन्तु वह अनुमितिरूप ही हो सकता है। यदि नैयायिक ऐसा कहें—

'यद्यपि सुगन्धका नेत्रजन्य ज्ञान उत्कर्ष-अपकर्षका प्रकाश तो नहीं करता इसलिये वह अनुमितिके समान ही है; तथापि वह ज्ञान अनुमितिरूपसम्भव नहीं होता, क्योंकि 'सुगन्धि चंदनम्' यह ज्ञान एक है दो नहीं। फिर यदि एक ही ज्ञानको चन्दन-अंशमें प्रत्यक्षरूप और सुगन्ध-अंशमें अनुमितिरूप कहा जाय तो उस एक ही ज्ञानमें प्रत्यक्षत्व-अनुमितित्वरूप दो विरोधी धर्मोंका समावेश होगा। इसलिये उसे उभय अंशमें प्रत्यक्षरूप मानना चाहिये।'

नैयायिकोंका ऐसा कथन भी समीचीन नहीं है। क्योंकि उनके मतमें जिस प्रकार एक ही ज्ञानमें लौकिकत्व-अलौकिकत्वरूप दो विरोधी धर्मोंका समावेश है, उसी प्रकार अद्वैतमतमें भी एक ही ज्ञानमें प्रत्यक्षत्व-अनुमितित्वका समावेश सम्भव है। इसके साथ ही प्रत्यक्षत्व और अनुमितित्वका विरोध तो केवल न्यायशास्त्रके संस्कारवालोंको ही प्रतीत होता है, परन्तु विरोध है नहीं। इसके विपरीत लौकिकत्व और अलौकिकत्व तो परस्पर भाव-अभावरूप हैं, इसलिये उनका विरोध तो सर्वके अनुभव-

सिद्ध है, क्योंकि 'प्रतियोगी और अभावका परस्पर विरोध होता है' यह सर्वलोक प्रसिद्ध है । इस प्रकार लोकप्रसिद्ध विरोधी धर्मोंका समावेश तो नैयायिक ही मानते हैं, फिर उनका यह कथन कि 'प्रत्यक्षत्व-अनुमितित्व विरोधी पदार्थोंका समावेश होगा' आश्चर्यजनक हैं । वेदान्तमतमें तो अन्तःकरणकी वृत्तिरूप ज्ञान द्रव्यरूप और सांश होनेसे एक वृत्तिमें अंशभेदसे दो धर्मोंका समावेश सम्भव होता है । परन्तु नैयायिकमतमें ज्ञान क्रियारूप माना गया है वह द्रव्य नहीं माना गया, इसलिये वह सांश नहीं और इसीलिये न्याय रीतिसे उस निरंश ज्ञानमें लौकिकत्व-अलौकिकत्वरूप दो विरोधी धर्मोंका समावेश बाधित है । इसके विपरीत वेदान्तमतमें ज्ञानका उपादान जो अन्तःकरण है वह सांश है, इसलिये 'सुगन्धि चन्दनम्' इस ज्ञानमें अन्तःकरणके परिणामरूप दो ज्ञान होते हैं, उनमें 'चन्दनम्' यह ज्ञान प्रत्यक्षरूप और 'सुगन्धि' यह ज्ञान अनुमितिरूप है । चूंकि दोनों परिणाम एक कालमें होते हैं, इसलिये उनमें द्वित्व कभी भी नहीं भासता । इस प्रकार 'सुगन्धि चन्दनम्' यह ज्ञान, जैसा नैयायिकोंने मान लिया है, सुगन्धअंशमें चाक्षुष नहीं हो सकता ।

यदि नैयायिक किसी प्रकार 'सुगन्धि चन्दनम्' इस ज्ञानको अलौकिक-सम्बन्धजन्य मान भी लें, फिर भी 'इदं रजतम्' इत्यादि भ्रम तो न्यायोक्त रीतिसे कदापि सम्भव नहीं होता । क्योंकि जो 'शुक्तिसे नेत्रसंयोग और रजतत्वस्मृति' में 'इदं रजतम्' इस ज्ञानकी कारणता मानते हैं, उनके प्रति यह प्रश्न होता है—

शुक्तिसे नेत्रसंयोग होकर शुक्ति व रजतका साधारण धर्म जो चाकचिक्य, तद्विशिष्ट शुक्तिका इदंरूपसे सामान्यज्ञान होकर रजतकी स्मृति होती है और उसके पश्चात् रजत-भ्रम होता है ? अथवा शुक्तिके सामान्य ज्ञानसे पूर्व ही जब नेत्रका शुक्तिसे संयोग हो उसी कालमें रजतत्वविशिष्ट रजतकी स्मृति होकर 'इदं रजतम्' ऐसा भ्रम होता है ?

उत्तरमें यदि प्रथम पक्ष कहा जाय तो सम्भव नहीं होता । क्योंकि प्रथम तो शुक्तिका सामान्य ज्ञान, तत्पश्चात् रजतत्वविशिष्ट रजतकी

स्मृति और तदनन्तर रजतभ्रम—इस प्रकार तीन ज्ञानोंकी धारा तो अनुभवसे बाधित है, किन्तु 'इदं रजतम्' ऐसा एक ही ज्ञान सर्वके अनुभवसिद्ध है ।

यदि दूसरा पक्ष कहा जाय तो वह भी सम्भव नहीं होता । क्योंकि सभी ज्ञान अपने स्वरूपसे चेतनरूप स्वप्रकाश हैं और वृत्तिरूप ज्ञान साक्षी-भास्य होते हैं। इसलिये कोई भी ज्ञान किसी कालमें अज्ञात नहीं होता, यह वार्ता आगे चलकर प्रतिपादन की जायगी । इस प्रकार शुक्तिसे नेत्रके संयोगकालमें ही और शुक्तिके सामान्यज्ञानसे पूर्व ही यदि रजतकी स्मृति होती हो तो उस स्मृतिका प्रकाश होना चाहिये । क्योंकि स्मृतिमें चेतन-भाग तो स्वयंप्रकाश है और वृत्ति-भागका साक्षीके अधीन सदा प्रकाश होता है, इसलिये उस स्मृतिका अनुभव होना चाहिये । यदि नैया-यिकको शपथपूर्वक यह पूछा जाय कि शुक्तिमें 'इदं रजतम्' इस भ्रमसे पूर्व क्या आपको रजत-स्मृतिका अनुभव हुआ है ? तब यदि यथार्थवक्ता हो तो उस स्मृतिके अनुभवके अभावकी ही साक्षी देगा । इस प्रकार भ्रमसे पूर्व शुक्तिसे नेत्रसंयोगकालमें ही रजतकी स्मृतिका सम्भव नहीं होता ।

यदि ऐसा कहा जाय कि 'यद्यपि रजतानुभवजन्य रजतगोचर संस्कार-सहित नेत्रसंयोगसे रजतभ्रम होता है, परन्तु संस्कारगुण प्रत्यक्षयोग्य नहीं किन्तु अनुमेय है, इसलिये उक्त दोष नहीं' तथापि यह प्रश्न होता है कि उद्बुद्ध संस्कार भ्रमके जनक हैं अथवा अनुद्बुद्ध संस्कार ? उत्तरमें यदि अनुद्बुद्धको भ्रमका जनक कहा जाय तो असम्भव है, क्योंकि अनुद्बुद्ध संस्कारोंसे तो स्मृत्यादि ज्ञान कभी भी नहीं होते । यदि अनुद्बुद्ध संस्कारोंसे भी स्मृति होती हो तो वह स्मृति सदा बनी रहनी चाहिये । इसलिये उद्बुद्ध संस्कारोंसे ही स्मृति और उद्बुद्ध संस्कारोंसे ही भ्रम-ज्ञान मानना होगा और वे ही भ्रमके जनक मानने होंगे । परन्तु वास्तव में यह भी सम्भव नहीं बनता, क्योंकि संस्कारोंके उद्बोधक सदृशदर्शनादि ही बनते हैं । इसलिये शुक्तिसे नेत्रसंयोग होनेपर चाकचिक्यविशिष्ट शुक्तिका ज्ञान होनेके पश्चात् ही रजतगोचर संस्कारोंका उद्बोध सम्भव

हो सकता है, केवल शुक्तिसे नेत्रसंयोगकालमें ही रजतगोचर संस्कारोंका उद्बोध असम्भव है। इसलिये नैयायिकको बलात्कार यह मानना होगा कि प्रथम क्षणमें शुक्तिसे नेत्रसंयोग, द्वितीय क्षणमें चाकचिक्यविशिष्ट शुक्तिका ज्ञान, तृतीय क्षणमें संस्कारोंका उद्बोध और चतुर्थ क्षणमें रजत-भ्रम होता है। इस प्रकार नेत्रसंयोगसे चतुर्थ क्षणमें भ्रमज्ञानकी सिद्धि होती है जो अनुभवसे बाधित है, क्योंकि नेत्रसंयोगसे अव्यवहित उत्तर क्षणमें ही भ्रम-रूप चाक्षुष-ज्ञान सर्वके अनुभवसिद्ध है तथा न्यायोक्त रीतिसे शुक्तिके दो ज्ञान सिद्ध होते हैं, उनमें एक तो संस्कारका उद्बोधक सामान्यज्ञान और दूसरा संस्कारजन्य भ्रमज्ञान। परन्तु इस प्रकार शुक्तिके दो ज्ञान भी अनु-भवविरुद्ध ही हैं, क्योंकि नेत्रसंयोग होते ही 'इदं रजतम्' ऐसा एक ही ज्ञान सर्वके अनुभवसिद्ध है। इसलिये 'रजतानुभवजन्य संस्कार-सहित नेत्रसंयुक्त शुक्तिसे 'इदं रजतम्' ऐसा भ्रम होता हैं' ऐसी नैयायिक उक्ति सम्भव नहीं होती।

यदि 'सुगन्धि चन्दनम्' इस ज्ञानको किसी प्रकार अलौकिक प्रत्यक्ष मान भी लिया जाय, तबभी 'इदं रजतम्' यह ज्ञान तो ज्ञानलक्षण-अलौकिक-सम्बन्धजन्य कदापि सम्भव नहीं होता। क्योंकि 'सुगन्धि चंदनम्' ऐसा ज्ञान होनेपर सुगन्धके उत्कर्ष-अपकर्षका तो सन्देह रहता ही है, इसलिये इस अलौ-किकसम्बन्धसे सुगन्धके उत्कर्ष-अपकर्षका निश्चयरूप प्राकट्य नहीं होता, यह तो मानना ही पड़ेगा। यदि अलौकिक-सम्बन्धसे भी विषयका प्राकट्य होता हो तो सुगन्धके उत्कर्ष-अपकर्षका सन्देह न होना चाहिये। इसके विपरीत 'इदं रजतम्' इस भ्रमसे और सत्य रजतमें 'इदं रजतम्' इस प्रमासे रजतकी प्रकटता तो समान ही होती है। क्योंकि यदि भ्रमस्थल में रजतकी प्रकटता न होती हो तो रजतके परिमाणादिका संदेह होना चाहिये, परन्तु भ्रमस्थलमें ऐसा संदेह होता नहीं है। इससे स्पष्ट है कि भ्रम-ज्ञानमें रजतकी प्रकटता सत्य रजतके समान ही होती है। परन्तु ज्ञानलक्षणसम्बन्ध-जन्य ज्ञानमें तो विषयकी प्रकटता होती नहीं है, इसलिये 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञानका हेतु ज्ञानलक्षणसम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि विचारसे देखा

जाय तो ज्ञानलक्षणसम्बन्ध कहीं भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि 'ज्ञानलक्षण-सम्बन्धसे अलौकिक प्रत्यक्ष होता है' इस नैयायिक पक्षका निष्कर्ष यह है—

जहाँ एक पदार्थकी तो अनुभवजन्य स्मृति अथवा अनुभवजन्य संस्कार हों और दूसरे पदार्थसे इन्द्रियका संयोग हो, वहाँ इन्द्रियसंयुक्त पदार्थमें उस स्मृतिगोचर अथवा संस्कारगोचर पदार्थकी प्रतीति होती है। अर्थात् वहाँ इन्द्रियसंयुक्त पदार्थ विशेष्यरूपसे प्रतीत होता है और स्मृति वा संस्कारगोचर पदार्थ विशेषणरूपसे प्रतीत होता है। जैसे 'सुगन्धि चंदनम्' इस ज्ञानमें नेत्ररूप इन्द्रियसम्बन्धी चन्दन तो विशेष्य है और स्मृति वा संस्कारगोचर सुगन्ध विशेषण है; तैसे ही 'इदं रजतम्' इस भ्रमज्ञानमें भी इन्द्रियसंयुक्त शुक्ति तो विशेष्य है और स्मृति वा संस्कारगोचर रजतत्व विशेषण है तथा उक्त विशेषण-विशेष्य दोनोंका ज्ञान प्रत्यक्ष है।

इस प्रकार यदि इस नैयायिक पक्षका अङ्गीकार कर लिया जाय तो अनुमान-प्रमाणका उच्छेद हो जायगा। क्योंकि 'पर्वतो वह्निमान्' (पर्वत अग्निवाला है) ऐसा अनुमितिज्ञान अनुमान-प्रमाणसे ही होता है। तहाँ धूमरूप हेतुमें साध्यकी व्याप्तिके स्मरण अथवा साध्यकी व्याप्तिके उद्‌बुद्ध संस्कारोंसे अनुमिति ज्ञान होता है, यह अर्थ अनुमान-निरूपणमें निर्णीत हो चुका है। जब साध्यकी व्याप्तिकी स्मृति हो, तब उस व्याप्तिनिरूपक साध्यकी भी स्मृति होती है। इस प्रकार न्यायरीतिसे पर्वतमें धूमसे नेत्रका संयोग और वह्निकी स्मृतिसे जबकि 'पर्वतो वह्निमान्' ऐसे प्रत्यक्षज्ञानका सम्भव होता है, फिर पक्षमें साध्य-निश्चय-रूप अनुमितिज्ञानका जनक अनुमान-प्रमाणका अंगीकार करना निष्फल ही होगा। परन्तु गौतम-कणाद-कपिलादि सर्वज्ञ ऋषि-मुनियोंद्वाराकृत सूत्रोंमें तो अनुमान प्रमाण पृथक् ही कहा गया है। यदि अनुमान-प्रमाण निष्प्रयोजन होता तो उन सूत्रोंमें कथन न किया जाता। इसलिये अनुमान-प्रमाणका प्रयोजनसाधक ज्ञानलक्षणसम्बन्धजन्य अलौकिक प्रत्यक्ष अलीक है। यदि अन्यथाख्यातिवादी ऐसा कहे—

'चूंकि प्रत्यक्षज्ञानकी विषयतासे अनुमितिज्ञानकी विषयता विलक्षण होती है, इसीलिये प्रत्यक्षके विषयमें परिमाणादिका संदेह नहीं होता, परन्तु अनुमितिके विषयमें तो परिमाणादिका संदेह रहता ही है। इस प्रकार परोक्षता व अपरोक्षतारूप विषयताका भेद अनुमितिज्ञान और प्रत्यक्षज्ञानके भेदसे ही हो सकता है। इसलिये परोक्षतारूप विषयताका सम्पादक प्रत्यक्षज्ञान नहीं किन्तु अनुमितिज्ञान ही हो सकता है और उसका हेतु अनुमान-प्रमाण ही बनता है।'

ऐसा कथन भी असम्भव है। क्योंकि यद्यपि नैयायिक लौकिक प्रत्यक्षकी विषयताको तो अनुमितिसे विलक्षण मानते हैं, परन्तु 'सुगन्धि चन्दनम्' इत्यादि ज्ञानको वे सुगन्ध-अंशमें अलौकिक प्रत्यक्ष कहते हैं और वास्तवमें वहाँ सुगन्धका ज्ञान अनुमितिके समान है। क्योंकि जैसे अनुमितिज्ञानके विषयमें उत्कर्षादि अनिर्णीत रहते हैं, तैसे सुगन्धके उत्कर्षादि भी अनिर्णीत ही रहते हैं, इसलिये अलौकिक प्रत्यक्षकी विषयताका अनुमितिकी विषयतासे कोई भेद नहीं रहता। यद्यपि जहाँ भ्रमरूप अलौकिक प्रत्यक्षकी विषयता रजतादिमें मानी गई है, वहाँ तो उस विषयता का अनुमिति की विषयतासे भेद अनुभवसिद्ध है और इसीलिये वहाँ रजतके अल्पतादिका संदेह नहीं होता; तथापि ज्ञानलक्षण-सम्बन्धजन्य अलौकिक प्रत्यक्षप्रमाकी विषयतासे अनुमितिका कोई भेद नहीं। अर्थात् जैसे अनुमितिके विषयमें अप्राकट्य है, तैसेही अलौकिक प्रत्यक्ष प्रमाके विषय गंधादिमें भी अप्राकट्य ही है। इसलिये ज्ञान-लक्षणसम्बन्धसे पर्वतमें वह्निका अलौकिक प्रत्यक्षसे प्रत्यक्षज्ञान सम्भव हो सकता है और तब अनुमितिज्ञानके लिये अनुमान प्रमाण व्यर्थ ही होगा। परन्तु चूंकि अनुमान-प्रमाण तो सर्वज्ञ-वचनोंद्वारा सिद्ध है, इसलिये अनुमान प्रमाणकी व्यर्थताका सम्पादक उक्त अलौकिक प्रत्यक्ष ही असिद्ध होना चाहिये। ऊपर नैयायिकोंने जो ऐसा कथन किया कि 'प्रत्यक्षज्ञान-की विषयतासे अनुमितिज्ञानकी विषयता विलक्षण है और उसका हेतु अनुमान-प्रमाण व्यर्थ नहीं।' यह कथन भी असंगत है, क्योंकि—

जहाँ अनुमान प्रमाणसे अनुमिति होती है, वहाँ सर्वत्र अलौकिक प्रत्यक्षकी सामग्री है। जैसे पर्वतमें वह्निकी अनुमितिसे पूर्व धूम-दर्शनरूप व्याप्तिज्ञान अनुमितिकी सामग्री है, तैसे ही धूमसे नेत्रका संयोग और वह्निकी स्मृति, यह अलौकिक प्रत्यक्षकी सामग्री है। इस प्रकार प्रत्यक्ष और अनुमितिरूप दोनों ज्ञानोंकी दो सामग्री रहते हुए पर्वतमें वह्निका प्रत्यक्षरूप ही ज्ञान होना चाहिये, न कि अनुमितिरूप और इसलिये अनुमितिज्ञान व्यर्थ ही होगा। क्योंकि न्यायशास्त्रका यह निर्णीत अर्थ है कि जहाँ एक अर्थगोचर अनुमितिसामग्री और अपरगोचर प्रत्यक्षसामग्री दोनोंका समावेश हो, वहाँ तो अनुमितिसामग्री ही प्रबल होती है; परन्तु जहाँ समानगोचर प्रत्यक्ष व अनुमितिरूप दोनों ज्ञानोंकी सामग्री हो वहाँ प्रत्यक्षसामग्री ही प्रबल होती है। जैसे पर्वतमें धूमसे नेत्रसंयोग होनेपर धूमके प्रत्यक्षकी सामग्री और वह्निकी अनुमितिकी सामग्री, यद्यपि दोनों का समावेश है, तथापि यहाँ वह्निकी अनुमिति ही होती है और धूमके प्रत्यक्षका वह्निकी अनुमितिमें ही समावेश हो जाता है। परन्तु जहाँ धूम एवं वह्नि दोनोंसे नेत्रसंयोग हो और धूममें वह्निकी व्याप्तिका ज्ञान भी हो, वहाँ यद्यपि वह्निकी अनुमिति और प्रत्यक्ष दोनोंकी सामग्री है; तथापि वहाँ वह्निका प्रत्यक्ष ही होता है अनुमिति नहीं होती। इसी प्रकार जहाँ पुरुषमें 'पुरुषो न वा' ऐसा संदेह होकर 'पुरुषत्वव्याप्यकरादिमानयम्' (पुरुषत्वका व्याप्य यह हाथ आदिवाला है) ऐसा परामर्शज्ञान और पुरुषसे नेत्रसंयोग हो जाय, वहाँ परामर्श तो पुरुषकी अनुमितिकी सामग्री है और पुरुषसे नेत्रसंयोग पुरुषके प्रत्यक्षकी सामग्री है। यहाँ भी दोनों सामग्रीके होते हुए पुरुषका प्रत्यक्षज्ञान ही होता है, अनुमिति नहीं होती। इसी प्रकार प्रकृत स्थलमें वह्निकी अनुमितिसामग्रीके होते हुए भी ज्ञानलक्षणसम्बन्धरूप अलौकिक प्रत्यक्षसामग्रीसे वह्निका प्रत्यक्षज्ञान ही होना चाहिये और इस प्रकार ज्ञानलक्षण-अलौकिकसम्बन्धसे यदि प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्ति मान ली जाय तो अनुमान-प्रमाण व्यर्थ हो जाता है। यदि नैयायिक इस प्रकार कहें—

'जैसा ऊपर माना गया है, यद्यपि जहाँ भिन्न-भिन्न विषय हों वहाँ तो प्रत्यक्षसामग्रीसे अनुमितिसामग्री प्रबल होती है और जहाँ समान विषय हों वहाँ अनुमितिसामग्रीसे प्रत्यक्षसामग्री प्रबल होती है; तथापि समान विषयकी अवस्थामें अनुमितिसामग्रीसे लौकिकप्रत्यक्षकी सामग्री ही प्रबल मानी गई है न कि अलौकिकप्रत्यक्षकी सामग्री, किन्तु अनुमिति-सामग्रीसे अलौकिकप्रत्यक्षकी सामग्री तो सर्वत्र दुर्बल ही रहती है। इस प्रकार पर्वतमें वह्निकी अनुमितिसामग्रीसे अलौकिक प्रत्यक्षकी सामग्रीका बाध हो जानेसे अनुमान-प्रमाण निष्फल नहीं होता।'

नैयायिकोंका उक्त कथन भी समीचीन नहीं। क्योंकि जहाँ स्थाणुमें 'स्थाणुर्न वा' (यह स्थाणु है या नहीं) ऐसा सन्देह होकर और 'पुरुषत्व-व्याप्यकरादिमानयम्' (यह पुरुषत्वका व्याप्य हाथ आदिवाला है) ऐसा भ्रम होकर 'पुरुष एवायम्' (यह पुरुष ही है) ऐसा भ्रमरूप प्रत्यक्ष हो जाय, वहाँ नैयायिक रीतिसे पुरुषकी अनुमिति ही होनी चाहिये, प्रत्यक्ष नहीं। क्योंकि उक्त स्थलमें स्थाणुमें पुरुषत्वका प्रत्यक्ष होनेसे यह भ्रमरूप प्रत्यक्ष ही है और न्यायमत में भ्रमरूप प्रत्यक्षकी अलौकिक सामग्री ही मानी गई है। इसलिये न्यायोक्त रीतिसे यदि अनुमितिसामग्रीसे अलौकिक-प्रत्यक्षकी सामग्रीको दुर्बल माना जाय तो उक्त स्थलमें स्थाणुमें पुरुषत्व-भ्रमकी अनुमिति ही होनी चाहिये न कि प्रत्यक्ष। यदि उक्त स्थलमें पुरुषका भ्रम अनुमितिरूप माना जाय तो उत्तर कालमें 'पुरुषं साक्षात्करोमि (मैं पुरुषको साक्षात् देखता हूँ) जो ऐसा अनुव्यवसाय होता है वह न होना चाहिये, किन्तु 'पुरुषमनुमिनोमि' (मैं पुरुषका अनुमान करता हूँ) ऐसा ही अनुव्यवसाय होना चाहिये। इस प्रकार जहाँ दोनों सामग्री समानविषयक हों वहाँ लौकिकप्रत्यक्षसामग्रीकी भाँति अलौकिकप्रत्यक्ष-सामग्री भी प्रबल है और अनुमितिसामग्री दुर्बल है, ऐसा ही मानना चाहिये। इसलिये यदि ज्ञानलक्षणसम्बन्धसे प्रत्यक्षकी उत्पत्ति मानी जाय तो अनुमितिको बाधित करके पर्वतादिमें वह्न्यादिका प्रत्यक्षज्ञान ही होगा और फिर अनुमान-प्रमाण निष्फल ही रहेगा। यदि अनुमान-

प्रमाणका अंगीकार किया जाय तो फिर न्यायरीतिसे स्मृतिज्ञानसहित इन्द्रियसंयोगसे अथवा संस्कारसहित इन्द्रियसंयोगसे व्यवहित वस्तुका प्रत्यक्षज्ञान सम्भव न होगा।

इस प्रकार शुक्तिकी रजतत्वरूपसे प्रतीतिरूप अन्यथाख्याति सर्वथा असम्भव है।

६४ : अनिर्वचनीयवादमें न्यायोक्त दोषका उद्धार

नैयायिकोंने अनिर्वचनीयख्यातिवादमें निम्नलिखित दोषारोपण किये हैं—

(१) अनिर्वचनीयख्यातिवादमें विषय एवं ज्ञान दोनोंकी कारणता दोषमें मानी गई है, परन्तु अन्यथाख्यातिवादमें तो केवल ज्ञानकी ही कारणता दोषमें मानी गई है, विषयकी नहीं।

(२) अनिर्वचनीयख्यातिवादीको अन्यथाख्याति भी माननी पड़ती है, परन्तु अन्यथाख्यातिवादीको तो अनिर्वचनीयख्याति माननेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती। इस प्रकार अन्यथाख्यातिमें लाघव है और अनिर्वचनीयख्यातिमें गौरव है।

नैयायिकोंके उक्त वचन भी अविवेकमूलक ही हैं। क्योंकि अन्यथाख्यातिवादीको भी श्रुति-स्मृतिकी आज्ञानुसार स्वप्नमें तो अनिर्वचनीयख्याति अवश्य माननी ही चाहिये। अर्थात् आस्तिकके लिये पुरुषमतिकल्पित युक्तिसमुदायसे वेदोक्त अर्थका अन्यथाभाव कल्पना करना योग्य नहीं है। इसलिये जबकि श्रुतिने स्वप्नपदार्थोंकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति अंगीकार की है, तब शुक्तिमें रजतका तादात्म्य ही प्रतीत होता है, अर्थात् जैसे 'इदम्' पदार्थमें रजतत्वका समवाय प्रतीत होता है, तैसे ही 'इदम्' पदार्थ एवं रजतका तादात्म्य प्रतीत होता है, ऐसा उनको मानना चाहिये। यहाँ 'इदम्' पदार्थ शुक्ति है, शुक्ति व रजतका तादात्म्य भ्रमके सिवा अन्य स्थानमें प्रसिद्ध नहीं है। इसलिये पुरोवर्तिदेशमें ही शुक्ति-रजतका तादात्म्य अनिर्वचनीय उत्पन्न होता है, ऐसा मानना योग्य है। यदि अनिर्वचनीय तादात्म्यकी उत्पत्ति न मानी जाय तो अप्रसिद्धकी

अपरोक्ष प्रतीति नहीं हुआ करती, यह नियम है। परन्तु उक्त तादात्म्यकी तो अपरोक्ष प्रतीति होती है, इसलिये बलात्कारसे अनिर्वचनीय तादात्म्य-की उत्पत्ति माननी पड़ती है । यदि नैयायिक आग्रहपूर्वक ऐसा कहें—

'शुक्तिमें रजतत्वका समवाय भासता है' उसका अर्थ भी यही है कि शुक्तिमें समवाय-सम्बन्धसे रजतत्व भासता है, उसका यह अर्थ नहीं कि शुक्तिमें रजतका तादात्म्य भासता है ।'

अर्थात् यदि नैयायिक शुक्तिमें रजतका तादात्म्य न मानकर रज-तत्वका ही तादात्म्य (समवाय) मानें तो शुक्तिज्ञानसे उत्तर कालमें 'नेदं रजतम्' (यह रजत नहीं है) ऐसा जो बाध होता है वह न होना चाहिये । परन्तु ऐसा बाध सबके अनुभवसिद्ध है और इस बाधका विषय शुक्तिमें रजतका ही तादात्म्य है , रजतत्वका समवाय नहीं । यदि भ्रम-कालमें शुक्तिमें रजतका तादात्म्य न भासता हो तो यह बाध निर्विषयक होगा । अथवा यदि शुक्तिमें रजतका तादात्म्य न भासकर केवल रज-तत्वका समवाय ही भासता हो तो 'नात्र रजतत्वम्' (यहाँ रजतत्व नहीं है) ऐसा बाध होना चाहिये, परन्तु ऐसा होता नहीं है । इसलिये मानना पड़ेगा कि भ्रमकाल व भ्रमदेशमें शुक्तिमें रजतका ही तादात्म्य भासता है, न कि रजतत्वका समवाय और वह शुक्ति-रजतका तादात्म्य उभय सापेक्ष है, कहीं प्रसिद्ध नहीं । इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादमें भी उक्त अनिर्वचनीय तादात्म्यकी उत्पत्ति मानना आवश्यक है, केवल अन्यथा-ख्यातिसे ही निर्वाह नहीं हो सकता ।

नैयायिकोंका ऐसा कथन कि 'अनिर्वचनीयख्यातिवादी को भी अन्यथा-ख्याति माननी पड़ती है और अद्वैत ग्रन्थकारोंने मानी भी है' वह भी अद्वैतग्रन्थोंके अभिप्रायको न जानकर ही है । क्योंकि अद्वैतवादमें वस्तुतः तो अन्यथाख्याति कहीं भी नहीं मानी गई, किन्तु सर्वत्र अनिर्वचनीय-ख्यातिका ही अंगीकार किया गया है । बहुत क्या कहा जाय, वास्तवमें तो जहाँ प्रमाज्ञान कथन किये गये हैं, वहाँ भी अद्वैतसिद्धान्तमें विषय और उनके ज्ञान अनिर्वचनीय ही कहे गये हैं । कतिपय स्थलों में जो

अन्यथाख्याति लिखी गई है, उसका तात्पर्य यही है कि जहाँ अधिष्ठान-आरोप्यका संयोग हो अथवा जहाँ परोक्ष-भ्रम हो वहाँ अन्यथाख्याति भी सम्भव हो सकती है, न कि सर्वत्र। परन्तु जहाँ आरोप्य व्यवहित हो और अपरोक्ष-भ्रम हो वहाँ तो केवल अनिर्वचनीयख्याति अनिवार्य है, इसलिये सर्वत्र अनिर्वचनीयख्याति ही मानना आवश्यक है। इस प्रकार अद्वैतवादमें अन्यथाख्यातिका कथन संभवाभिप्रायसे ही है, अंगीकरणीयत्वाभिप्रायसे नहीं। जहाँ अद्वैतवादमें आत्मसत्ताकी अनात्मामें अन्यथाख्याति कही गई है वहाँ भी अद्वैतमत के अनुसार आत्मसत्ताका अनात्मामें अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है। इस प्रकार जहाँ सम्बन्धीकी अनिर्वचनीय उत्पत्ति सम्भव न हो, वहाँ सिद्धान्तमें उसके अनिर्वचनीय सम्बन्धका भी अंगीकार किया गया है, केवल अन्यथाख्याति ही नहीं मानी गई। इसी प्रकार जहाँ परोक्षभ्रम हो वहाँ भी यद्यपि ब्रह्मविद्याभरणमें अनिर्वचनीय विषयकी उत्पत्ति ही लिखी गई है; तथापि 'जहाँ परोक्ष भ्रम हो वहाँ यदि अन्यथाख्याति मानी जाय तो भी दोष नहीं है' ऐसी सरलबुद्धिसे अद्वैतवादमें परोक्षभ्रमको अन्यथाख्यातिरूप मान लिया गया है। यदि नैयायिक ऐसा कहें—

'तदेवेदं रजतम्' (वही यह रजत है) इस प्रकार जहाँ शुक्तिमें रजतका प्रत्यभिज्ञा भ्रम हो वहाँ यदि पुरोवर्ति शुक्तिदेशमें अनिर्वचनीय रजतकी उत्पत्ति मानी जाय तो सन्निहित शुक्तिमें तो तत्ता सम्भव नहीं होती। इसलिये पुरोवर्ति शुक्तिमें देशान्तरस्थ रजतवर्ति रजतत्व और तत्ताकी अन्यथा प्रतीति होती है, अथवा देशान्तरस्थ रजतकी तादात्म्य-सम्बन्धसे अन्यथा प्रतीति होती है। इसलिये उक्त स्थलमें तो अन्यथाख्याति ही आवश्यक है।'

ऐसा कथन भी असंगत है। क्योंकि उक्त प्रत्यभिज्ञामें भी विषय तो अनिर्वचनीय रजत ही हो सकती है, न कि देशान्तरस्थ रजत। आशय यह कि प्रमातासे सम्बन्ध हुए विना अपरोक्ष अवभास सम्भव नहीं हो सकता, परन्तु प्रमाताका देशान्तरस्थ रजतसे सम्बन्ध बाधित

है, इसलिये पुरोवर्तिदेशमें देशान्तरस्थ रजतकी प्रतीति असम्भव है। जहाँ यथार्थ प्रत्यभिज्ञा होती है वहाँ भी तत्ता-अंशमें स्मृति ही होती है, यह सिद्धान्त है। इसलिये 'तदेवेदं रजतम्' यह भ्रमरूप प्रत्यभिज्ञा भी तत्ता-अंशमें स्मृतिरूप ही है और 'इदं रजतम्' इतने अंशमें अनिर्वचनीय प्रत्यक्ष है। इसलिये कहीं भी अन्यथाख्याति आवश्यक नहीं, किन्तु जहाँ अनिर्वचनीय विषयकी अर्थात् सम्बन्धीकी उत्पत्ति सम्भव न हो वहाँ भी अनिर्वचनीय सम्बन्धकी ही उत्पत्ति होती है। जैसे जहाँ आत्म-अनात्मका अन्योऽन्याध्यास हो, वहाँ अनात्मामें आत्मा और आत्मधर्म अनिर्वचनीय उत्पन्न होते हैं, ऐसा कथन तो सम्भव नहीं होता। इसलिये आत्मा और आत्मधर्मोंका अनात्मामें अनिर्वचनीय सम्बन्ध उत्पन्न होता है, ऐसा कथन ही सम्भव होता है। इस प्रकार सर्वत्र ही अनिर्वचनीय-ख्यातिसे निर्वाह होता है, अन्यथाख्याति कहीं भी माननी नहीं होती। अन्यथाख्यातिवादीने अनिर्वचनीयख्यातिमें जो ऐसा गौरवदोष कथन किया, यथा—

'जहाँ अनिर्वचनीय रजतादि और उनके ज्ञानका कारण दोष माना जाता है, उसके स्थानपर यदि केवल ज्ञान ही दोषजन्य माना जाय तो लाघव है। अन्यथाख्यातिवादमें रजत तो देशान्तर प्रसिद्ध है ही, इसलिये उसके रजतत्वधर्मका शुक्तिमें केवल ज्ञान ही होता है, वहाँ कोई रजत नहीं होती। इस प्रकार केवल ज्ञान ही दोषजन्य होता है, इसलिये अन्यथाख्यातिवादमें लाघव है।'

ऐसा कथन भी असंगत है। क्योंकि यदि लाघवबलसे अनुभवसिद्ध पदार्थका भी लोप कर दिया जाय और यथार्थज्ञानके विषयसे भी इन्कार कर दिया जाय, तब तो विज्ञानवादकी रीतिसे यदि केवल विज्ञान ही मान लिया जाय तो अतिलाघव है। इसलिये जिस प्रकार अनुभवसिद्ध घटादिको ग्रहण करके अति लाघववाले विज्ञानवादका त्याग किया जाता है, उसी प्रकार अपरोक्षप्रतीतिसिद्ध अनिर्वचनीय रजतादि मानकर अन्यथाख्यातिवाद भी त्याज्य है। यदि विचारसे देखा जाय

तो गौरव भी अन्यथाख्यातिवादमें ही है । उस मतमें गौरव इस प्रकार हैं—

(१) रजतसाक्षात्कारमें रजत-नेत्रसंयोगकी कारणता ही निर्णीत है, फिर यदि देशान्तरस्थ रजतका शुक्तिमें ज्ञान माना जाय तो उस निर्णीत अर्थका त्याग होता है । (२) रजत-आलोकसंयोगसे ही रजतका साक्षात्कार निर्णीत है, परन्तु अन्यथाख्यातिवादमें तो शुक्ति-आलोकसंयोगसे ही रजतका भ्रमरूप साक्षात्कार होता है जोकि अनिर्णीत है, इसलिये अनिर्णीतका अंगीकार होता है । (३) ज्ञानलक्षणसम्वन्ध अप्रसिद्ध है, इस मतमें उस अप्रसिद्धका अंगीकार किया जाता है । यदि ज्ञानलक्षणसम्वन्ध माना भी जाय तो जिस पदार्थका उक्त अलौकिक सम्बन्धसे प्रत्यक्ष माना जाता है, उसकी प्रकटता तो होती ही नहीं । इसीलिये 'सुगन्धि चंदनम्' इस ज्ञानमें सुगन्धका अलौकिक प्रत्यक्ष होनेपर भी 'सुगन्धं साक्षात्करोमि' (मैं सुगन्धका साक्षात्कार करता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय कदापि नहीं होता। परन्तु अलौकिकसम्बन्धजन्य रजतभ्रम होनेपर तो रजतकी प्रकटता होती है, इसीलिये भ्रमसे उत्तरकालमें 'रजतं साक्षात्करोमि' (मैं रजतका साक्षात्कार करता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय होता है। इस प्रकार जबकि ज्ञानलक्षणसम्बन्धजन्य यथार्थज्ञानमें भी प्राकटच-जनकता नहीं है, तब भ्रम स्थलमें ही उक्त अलौकिकसम्बन्धजन्य ज्ञानमें प्राकटचजनकता मानना आश्चर्यजनक है और यह अप्रसिद्ध कल्पना है ।

इस प्रकार अन्यथाख्यातिवादमें अनेक अप्रसिद्ध कल्पनाएँ होनेसे इस मतमें ही गौरव है । परन्तु श्रुति-स्मृतिके प्रमाणसे स्वप्नमें अनिर्वचनीय विषय और उनके ज्ञानकी जनकता तो दोषजन्य प्रसिद्ध है ही, इसलिये यह अप्रसिद्ध कल्पना नहीं हो सकती । ब्रह्मानन्द अनिर्वचनीयवादमें अन्यथाख्यातिका खण्डन विशेषरूपसे किया गया है वह प्रकार कठिन है, इसलिये यहाँ ब्रह्मविद्याभरणकी सुगम रीतिसे ही अन्यथाख्यातिवादकी हेयता प्रतिपादनकी गई है ।

६५ : अख्यातिवादकी रीति, उसका तात्पर्य और उसका खण्डन

इसी प्रकार श्री प्रभाकरका अख्यातिवाद भी असंगत है। उसका तात्पर्य यह है—

अन्य शास्त्रोंने यथार्थ-अयथार्थ भेदसे दो प्रकारका ज्ञान माना है, अर्थात् प्रवृत्ति-निवृत्ति यथार्थज्ञानसे तो सफल होती है और अयथार्थ-ज्ञानसे निष्फल होती है, ऐसा जो सकल शास्त्रोंका मन्तव्य है, वह असंगत है। क्योंकि अयथार्थज्ञान ही अप्रसिद्ध है, किन्तु यावत् ज्ञान यथार्थ ही होते हैं। यदि अयथार्थ ज्ञान भी होता हो तो पुरुषको ज्ञान होते ही ज्ञानत्वसामान्यधर्म देखकर उत्पन्न हुए ज्ञानमें अयथार्थत्वका भी सन्देह होकर प्रवृत्ति-निवृत्तिका अभाव होना चाहिये। क्योंकि पुरुषकी प्रवृत्ति-निवृत्तिका हेतु ज्ञानमें यथार्थत्वनिश्चय और अयथार्थतासन्देहका अभाव ही होता है, परन्तु अयथार्थताका सन्देह रहते हुए तो प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति दोनों ही सम्भव नहीं होतीं। इसलिये यदि अयथार्थज्ञानका अंगीकार न किया जाय तब तो उत्पन्न हुए ज्ञानमें उक्त सन्देहका अवकाश नहीं रहता, क्योंकि यदि कोई ज्ञान अयथार्थ अंगीकार किया गया हो तो अपने ज्ञानमें ज्ञानत्वधर्मसे उसकी सजातीयता देखकर अयथार्थत्वका सन्देह हो। परन्तु जबकि अयथार्थज्ञान है ही नहीं, किन्तु सभी ज्ञान यथार्थ हैं तब ज्ञानमें अयथार्थताका सन्देह ही कैसे हो? इस प्रकार भ्रमज्ञान अप्रसिद्ध है, जहाँ पुरुषकी लोभहेतुक शुक्तिमें प्रवृत्ति और भय-हेतुक रज्जुसे निवृत्ति होती है, वहाँ भी रजतका और सर्पका प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं है। यदि उक्त स्थलमें रजत और सर्पका प्रत्यक्षज्ञान हो तो वह यथार्थ तो सम्भव नहीं होता इसलिये वह अयथार्थ ही होगा, परन्तु अयथार्थज्ञान तो अलीक है। इसलिये उक्त स्थलमें रजत और सर्पका प्रत्यक्षज्ञान नहीं, किन्तु रजत एवं सर्पका तो स्मृतिज्ञान है और शुक्ति व रज्जुका इदंरूपसे सामान्यज्ञान प्रत्यक्षरूप है। चूँकि दोषसहित नेत्रका

शुक्ति व रज्जुसे सम्बन्ध होता है, इसलिये शुक्ति व रज्जुका विशेषरूप नहीं भासता, किन्तु सामान्यरूप इदंता ही भासती है। इस प्रकार सामान्यज्ञानसे उत्तर क्षणमें सादृश्यताके कारण रजत व सर्पके संस्कार उद्बुद्ध होकर रजत व सर्पकी स्मृति कराते हैं। यद्यपि यावत् स्मृतिज्ञानोंमें पदार्थकी तत्ता भी भासती है; तथापि जहाँ दोषसहित नेत्रके सम्बन्धसे संस्कारोंका उद्बोध होता है वहाँ दोषके माहात्म्यसे तत्ता-अंशका प्रमोष हो जाता है। इसलिये प्रमुष्ट तत्ताकी स्मृति होती है, अर्थात् लुप्त हो गई है तत्ता जिसकी वह 'प्रमुष्टतत्ता' कहलाती है। इस प्रकार 'इदं रजतम्' 'अयं सर्पः' इत्यादि स्थलोंमें दो ज्ञान होते हैं। तहाँ शुक्ति व रज्जुका तो इदंरूपसे सामान्यज्ञानरूप प्रत्यक्षज्ञान यथार्थ होता है और रजत व सर्पका स्मृतिज्ञान भी यथार्थ ही होता है। यद्यपि प्रत्यक्षज्ञान शुक्ति-रज्जुके विशेष भागको त्यागकर हुआ है और स्मृतिज्ञान भी रजत-सर्पके तत्ताभागरहित ही हुआ है; तथापि एक भागके त्यागनेसे ज्ञान अयथार्थ नहीं हो जाता किन्तु अन्य वस्तुके अन्य रूपसे ज्ञानको ही अयथार्थज्ञान कहते हैं, इसलिये उक्त ज्ञान अयथार्थ नहीं यथार्थ ही हैं। इस प्रकार अख्यातिवादमें भ्रमज्ञान अप्रसिद्ध है।

६६ : अख्यातिवादीद्वारा अन्यकृत शंकाका उद्धार

यदि शास्त्रांतरवाले इस प्रकार कहें—

'जिस पदार्थमें इष्टसाधनताका ज्ञान हो उसमें स्वाभाविक प्रवृत्ति और जिसमें अनिष्टसाधनताका ज्ञान हो उससे स्वाभाविक निवृत्ति होती है, ऐसा नियम है। अब यदि अख्यातिवादीके मतसे शुक्तिमें इष्टसाधनता का ज्ञान माना जाय तब तो भ्रमका अंगीकार होगा और यदि इष्ट-साधनताज्ञानका अभाव कहा जाय तो रजतार्थीकी शुक्तिमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये, परन्तु होती है। इसी प्रकार रज्जुमें अनिष्टसाधनत्व है नहीं, फिर यदि रज्जुमें अनिष्टसाधनत्वका ज्ञान माना जाय तब तो भ्रम-का अंगीकार होगा और यदि अनिष्टसाधनताज्ञानका अभाव कहा जाय

तो उससे पलायनरूप निवृत्ति न होनी चाहिये, परन्तु होती है। इसलिये भ्रमज्ञान अनिवार्य है।' उक्त आपत्तिका अख्यातिवादीकी ओरसे इस प्रकार समाधान किया जाता है—

जिसमें भ्रम माना गया है, ऐसे जिस पदार्थमें पुरुषकी प्रवृत्ति होती है उस पदार्थका प्रथम तो सामान्यरूपसे प्रत्यक्षज्ञान, द्वितीय इष्ट पदार्थकी स्मृति, तृतीय स्मृतिके विषयसे पुरोर्वात पदार्थका भेदज्ञानाभाव और चतुर्थ स्मृतिज्ञानका पुरोर्वातके ज्ञानसे भेदज्ञानाभाव—इतनी सामग्री प्रवृत्तिकी हेतु होती है। इस प्रकार भ्रमज्ञानविना भी प्रवृत्तिका सम्भव है। अब यदि केवल विषय और ज्ञानका भेदज्ञानाभाव ही प्रवृत्तिका हेतु कहा जाय तो उदासीन दशामें भी प्रवृत्ति होनी चाहिये, इसलिये इसके साथ विषयका सामान्यप्रत्यक्षसहित इष्टस्मृति भी प्रवृत्तिका हेतु कही गई। यदि केवल विषयका सामान्य प्रत्यक्षसहित इष्टस्मृति ही प्रवृत्तिका हेतु कहा जाय तो 'देशांतरे तद्रजतं किञ्चिदिदम्' (वह रजत देशांतरमें है, यह कुछ है) इस प्रकार केवल देशांतरसम्बन्धी रजतकी स्मृति और शुक्तिका किञ्चित्रूपसे ज्ञान ही हो वहाँ भी रजतार्थीकी प्रवृत्ति होनी चाहिये, इसलिये इष्टपदार्थ और उसके ज्ञानसे पुरोर्वात विषय और उसके ज्ञानका भेदज्ञानाभाव भी प्रवृत्तिका हेतु कहा गया। उक्त स्थल अर्थात् 'देशांतरे तद्रजतं किञ्चिदिदम्' में चूँकि इष्ट रजतका शुक्तिसे भेदज्ञान है, उसका अभाव नहीं, इसलिये प्रवृत्ति नहीं होती। यदि इष्टपदार्थका पुरोर्वात विषयसे केवल भेदज्ञानाभाव ही प्रवृत्तिकी सामग्रीमें मिलाया जाय और दोनोंके ज्ञानोंका भेदज्ञानाभाव न कहा जाय तो 'इदं रजतम्' इस प्रकार दो ज्ञान ग्रहण करके, अर्थात् इदं पदार्थका मेरेको प्रत्यक्षज्ञान हुआ है और रजतकी स्मृति हुई है, इस प्रकार दोनोंका भेद ग्रहण करके भी प्रवृत्ति होनी चाहिये, परन्तु नहीं होती। इसलिये दोनों ज्ञानोंका भेद ज्ञानाभाव भी प्रवृत्तिसामग्रीमें कहा गया। इस प्रकार उभयविधि अर्थात् भेदज्ञानाभावसहित तथा इष्टस्मृतिसहित पुरोर्वात पदार्थका सामान्य प्रत्यक्षज्ञान प्रवृत्तिका हेतु होता है। चूँकि पुरोर्वात शुक्तिका ऐसा इदंरूप

से सामान्यज्ञान यथार्थ है, इसलिये भ्रमका अंगीकार निष्फल है। जहाँ शुक्तिमें रजतका भेदज्ञान हो वहाँ भी रजतार्थीकी प्रवृत्ति नहीं होती और जहाँ शुक्तिज्ञानसे रजतज्ञानका भेदग्रह हो वहाँ भी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये भेदज्ञान तो प्रवृत्तिका प्रतिबंधक है और भेदज्ञानाभाव-रूप प्रतिबंधकाभाव प्रवृत्तिका हेतु होता है। इसलिये भेदज्ञाना-भावमें प्रवृत्तिकी कारणता माननेसे अप्रसिद्धकी कल्पना भी नहीं होती।

जहाँ रज्जुदेशमें भयहेतुसे पलायन होता है, वहाँ भी सर्पभ्रम नहीं होता। किन्तु रज्जुका सामान्यज्ञान, द्वेषगोचर सर्पकी स्मृति और दोनों ज्ञानों एवं उनके विषयोंका भेदज्ञानाभाव पलायनके हेतु होते हैं। पलायन भी प्रवृत्तिविशेष है, परन्तु वह प्रवृत्ति विषयाभिमुख नहीं होती, किन्तु विषयविमुख प्रवृत्ति होती है। भेद इतना ही है कि विमुख प्रवृत्तिमें तो द्वेषगोचरकी स्मृति होती है और सम्मुख प्रवृत्तिमें इच्छागोचरकी स्मृति होती है। इस प्रकार भयजन्य पलायनादि क्रियाको चाहे प्रवृत्ति कहा जाय अथवा निवृत्ति, परन्तु उसका हेतु द्वेषगोचर पदार्थकी स्मृति ही है। जहाँ शुक्तिज्ञानसे रजतार्थीकी प्रवृत्तिका अभावरूप निवृत्ति होती है, वहाँ उसका हेतु शुक्तिज्ञान ही है, इसलिये वह तो भ्रमरूप हो ही कैसे? जहाँ सत्य रजतमें रजतार्थीकी प्रवृत्ति हो, वहाँ तो रजतत्व-विशिष्ट रजतका ज्ञान रजतार्थीकी प्रवृत्तिका हेतु है ही, इसलिये पुरोवर्ति सत्य रजतमें रजतका भेदज्ञानाभाव प्रवृत्तिका हेतु नहीं होता। इस प्रकार विशिष्टज्ञानमें तो प्रवृत्तिजनकताका किसी प्रकार लोप नहीं होता, क्योंकि जहाँ सत्य रजत है वहाँ भी यदि पुरोवर्ति रजतमें रजतका भेदज्ञानाभाव ही प्रवृत्तिका हेतु कहा जाय तो सम्भव नहीं होता। इसका आशय यह है कि यदि प्रतियोगी प्रसिद्ध हो, तभी उसका अभाव व्यवहारगोचर होता है, परन्तु अप्रसिद्ध प्रतियोगीका अभाव किसी व्यवहारके योग्य नहीं हुआ करता। जैसे शशश्रृंगाभावका प्रतियोगी अप्रसिद्ध है, इसलिये शशश्रृंगाभाव भी अलीक है। अलीक पदार्थमें कोई व्यवहार नहीं हुआ करता, उसका केवल शब्दप्रयोग और विकल्परूप ज्ञान

ही हुआ करता है। क्योंकि अलीक पदार्थमें कारण-कार्यता और नित्य-अनित्यतादि कोई व्यवहार नहीं हुआ करता, इसलिये प्रसिद्ध पदार्थका अभाव ही व्यवहारयोग्य हुआ करता है। यहाँ जबकि सत्य रजतमें रजतका भेद ही नहीं है और वह अप्रसिद्ध है, तब सत्य रजतमें रजतका भेदज्ञान कैसे सम्भव हो? हाँ, यदि भ्रमज्ञान माना जाय तो सत्य रजतमें कल्पित रजतका भेदज्ञान सम्भव हो सकता है। परन्तु अख्याति-वादमें भ्रमज्ञान अप्रसिद्ध है इसलिये सत्य रजतमें रजतका भेदज्ञान भी असम्भव है। इस प्रकार सत्य रजतमें भेदज्ञानरूप रजतप्रतियोगी-वाले प्रतियोगीके असंभवसे सत्यरजतमें रजतप्रतियोगीवाले भेदज्ञानका अभाव अलीक है और उस भेदज्ञानाभावमें प्रवृत्तिकी जनकता भी असम्भव है। इसलिये पुरोर्वात सत्य रजतस्थलमें तो रजतत्वविशिष्ट रजत है, ऐसा विशिष्टज्ञान ही रजतार्थीकी प्रवृत्तिका हेतु होता है।

यद्यपि अख्यातिवादमें भ्रमज्ञान है ही नहीं किन्तु सकल ज्ञान यथार्थ ही हैं; तथापि कहीं प्रवृत्ति सफल होती है और कहीं निष्फल, इसलिये इसका हेतु बतलाना चाहिये। उसमें हेतु यह कहा जाता है कि विशिष्टज्ञानजन्य प्रवृत्ति सफल होती है और भेदज्ञानाभावजन्य प्रवृत्ति निष्फल होती है। इसलिये यदि सत्य रजतदेशमें भी भेदज्ञानाभावजन्य प्रवृत्ति ही कही जाय तो फिर सर्वत्र समप्रवृत्ति होनी चाहिये और फिर उसमें सफल-निष्फलका भेद न रहना चाहिये। इसीलिये सफल प्रवृत्तिका जनक विशिष्टज्ञान माना गया है। जहाँ असत्य रजतमें रजतार्थीकी प्रवृत्ति नहीं होती वहाँ प्रवृत्त्यभावरूप निवृत्ति है और उसका हेतु रजतत्वविशिष्ट रजतज्ञानाभाव है, परन्तु वहाँ भी भ्रमरूप रजताभाव-ज्ञान नहीं है। क्योंकि प्रवृत्ति-निवृत्ति परस्पर प्रतियोगी व अभावरूप हैं, तहाँ प्रवृत्तिरूप प्रतियोगीका हेतु तो रजतत्वविशिष्ट रजतज्ञान है और प्रवृत्त्यभावरूप निवृत्तिका हेतु रजतत्वविशिष्ट रजतज्ञानका अभाव है। इस प्रकार अख्यातिवादमें जहाँ विषय न हो और विषयार्थीकी प्रवृत्ति हो, वहाँ उसके हेतु इष्टस्मृत्यादि और भेदज्ञानाभावादि हैं,

विशिष्टज्ञान नहीं । तथा जहाँ शुक्तिदेशमें 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान हो वहाँ एक ज्ञान नहीं है, किन्तु शुक्तिका तो इदमाकार सामान्यज्ञान है और रजतकी प्रमुष्टतत्ताक स्मृति है । इन दो ज्ञानोंसे यद्यपि प्रवृत्ति होती है, परन्तु दोनों ज्ञानोंका भेदज्ञानाभाव हो तभी प्रवृत्ति होती है और भेदज्ञान होनेपर प्रवृत्ति नहीं होती । इसलिये उक्त ज्ञानद्वयसहित भेदज्ञानाभाव ही प्रवृत्तिका हेतु होता है ।

अनेक अख्यातिवादी ग्रन्थकारोंने असम्बन्धग्रहाभावसे भी प्रवृत्तिका अंगीकार किया है। उनका तात्पर्य यह है कि शुक्तिमें रजतत्वका असम्बन्ध है और इसी प्रकार शुक्तिमें रजतका तादात्म्यसम्बन्ध भी नहीं है, जिस पुरुषको ऐसा ज्ञान हो जाय उसकी प्रवृत्ति नहीं होती, इसलिये असम्बन्धग्रहाभाव प्रवृत्तिका हेतु होता है । इस अर्थमें भी भेदग्रहाभाव (भेदज्ञानाभाव) के समान ही अर्थकी सिद्धि होती है । परन्तु इस प्रकार जो प्रवृत्ति होती है वह निष्फल प्रवृत्ति ही होती है । इसके विपरीत विषयार्थीकी विषयदेशमें प्रवृत्तिका हेतु जहाँ विशिष्टज्ञान होता है, वहाँ तो प्रवृत्ति सफल ही होती है ।

इस प्रकार अख्यातिवादमें भ्रमज्ञान अप्रसिद्ध है, किन्तु सभी ज्ञान यथार्थ होते हैं । जहाँ ज्ञानद्वयके अविवेकसे निष्फल प्रवृत्ति होती है, वहाँ ज्ञानद्वयके अविवेकका नाम ही 'भ्रम' रख लिया गया है और ज्ञानद्वयका विवेकाभाव तथा उभय विषयका विवेकाभाव 'अख्याति' पदका पारिभाषिक अर्थ है ।

६७ : अख्यातिवादका खण्डन

यह मत भी असमीचीन है । क्योंकि शुक्तिमें रजतभ्रमसे प्रवृत्त हुए पुरुषको जब रजतका लाभ नहीं होता तब वह ऐसा कहता है कि 'रजतशून्य देशमें रजतज्ञानसे मेरी निष्फल ही प्रवृत्ति हुई'—इस प्रकार अनुभवसिद्ध जो भ्रमज्ञान है उसका लोप नहीं हो सकता । तथा मरुभूमिमें जब जलका बाध हो जाता है, तब भी यही कहा जाता है कि 'मेरेको

मरुभूमिमें मिथ्या ही जलकी प्रतीति हुई' इस बाधसे भी मिथ्या जल और उसकी प्रतीति अनुभवसिद्ध है। परन्तु अख्यातिवादकी रीतिसे तो 'मेरी शुक्तिमें प्रवृत्ति रजतकी स्मृति और शुक्ति-रजतके भेदाग्रहसे हुई तथा मरुभूमिमें प्रवृत्ति जलकी स्मृति और जलमरुभूमिके भेदज्ञानाभावसे हुई'—ऐसे ही बाध होने चाहियें। इसीप्रकार अख्यातिवादमें भ्रमरूप विषय एवं भ्रमज्ञान दोनोंको त्यागकर अनेक प्रकारकी व्यर्थ कल्पनाएँ की जाती हैं। अर्थात् (१) दोषके माहात्म्यसे नेत्रसंयोग होनेपर शुक्तिका विशेषरूपसे ज्ञान नहीं होता। (२) तत्ता-अंशके प्रमोषसे स्मृतिज्ञान होता हुआ भी सफल नहीं होता। (३) दोनों विषयोंका भेद होता है, परन्तु भासता नहीं। (४) दोनों ज्ञानोंका भेद रहता है, परन्तु भासता नहीं, इत्यादि सभी कल्पनाएँ विरुद्ध हैं। वास्तवमें तो शुक्तिदेशमें रजतप्रतीतिकालमें अभिमुखदेशमें रजत भी होती है, इसलिये अख्यातिवाद अनुभवनिरुद्ध है। अख्यातिवादीके मतानुसार जिस प्रकार शुक्तिदेशमें रजतका भेदग्रह रजतार्थीकी प्रवृत्तिका प्रतिबन्धक होनेसे रजतके भेदग्रहका अभाव (भेदज्ञानाभाव) ही रजतार्थीकी प्रवृत्तिका हेतु माना गया है, उसी प्रकार सत्य रजतस्थलमें रजतका अभेदग्रह भी रजतार्थीकी निवृत्तिका प्रतिबन्धक अनुभवसिद्ध ही है, इसलिये वहाँ अभेदग्रहका अभाव रजतार्थीकी निवृत्तिका हेतु भी होगा। इस प्रकार सत्य रजतमें रजतके भेदज्ञानका अभाव तो रजतार्थीकी प्रवृत्तिका हेतु होता है और रजतके अभेदज्ञानका अभाव उसकी निवृत्तिका हेतु होता है, ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार जबकि शुक्तिदेशमें 'इदं रजतम्' ऐसे दो ज्ञान हों, तब अख्यातिवादीके मतानुसार शुक्तिदेशमें प्रवृत्ति व निवृत्तिके हेतु दोनों ज्ञान हैं—

(१) शुक्तिमें रजतका भेद तो है, परन्तु दोषबलसे शुक्तिमें रजतके भेदका ज्ञान नहीं होता। इसलिये वहाँ रजतके भेदज्ञानका अभाव रजतार्थीकी प्रवृत्तिका हेतु होता है।

(२) वस्तुतः शुक्तिमें रजतका अभेद नहीं और अख्यातिवादमें भ्रमका अंगीकार नहीं, इसलिये शुक्तिमें रजतके अभेदका ज्ञान तो सम्भव हो ही

नहीं सकता और तब शुक्ति में रजतार्थीकी निवृत्तिका हेतु रजतके अभेद-ज्ञानका अभाव भी है।

इस प्रकार यद्यपि शुक्तिमें रजतार्थीकी प्रवृत्ति एवं निवृत्तिकी दोनों सामग्रियाँ हैं; तथापि प्रवृत्ति-निवृत्ति दोनों परस्पर विरोधी हैं और एक कालमें दोनोंका सम्भव हो नहीं सकता। दोनोंके असम्भवसे यदि दोनोंका त्याग किया जाय तो यह भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि इस स्थलमें प्रवृत्तिका अभाव ही निवृत्तिरूप पदार्थ है। इसलिये प्रवृत्तिका त्याग करने पर निवृत्तिप्राय और निवृत्तिका त्याग करने पर प्रवृत्तिप्राय स्वाभाविक सिद्ध होता है। इस प्रकार उभयके त्यागमें अथवा उभयके अनुष्ठानमें अशक्त हुआ अख्यातिवादी व्याकुल होकर लज्जासे प्राणत्याग ही करेगा, इसलिये अख्यातिवाद मरणका हेतु है। इस अर्थमें और अनेक कोटि हैं, जोकि क्लिष्ट जानकर यहाँ नहीं लिखी गईं।

अख्यातिवादीके मतमें इच्छाविना भी बलात्कारसे भ्रमज्ञानकी सामग्री सिद्ध होती है। अर्थात् जहाँ धूमरहित और वह्निसहित पर्वतमें धूलिपटल देखकर 'वह्निव्याप्य धूमवान्पर्वतः' (वह्निका व्याप्य धूमवाला पर्वत है) ऐसा परामर्श हो, वहाँ वह्निकी प्रमारूप अनुमिति होती है। क्योंकि अनुमितिका विषय वह्नि तो पर्वतमें विद्यमान है ही इसलिये यह ज्ञान प्रमारूप है, यद्यपि धूमरूप व्याप्य नहीं भी है। पर्वतमें धूमरूप हेतुके अभावसे 'वह्निव्याप्य धूमवान्पर्वतः' इस प्रकार पर्वतमें वह्निव्याप्य धूमके सम्बन्धका ज्ञान तो अख्यातिवादमें सम्भव हो नहीं सकता, क्योंकि वस्तुतः पर्वतमें धूमका सम्बन्ध तो है नहीं। यदि भ्रमज्ञानका अंगीकार हो तब तो धूमसम्बन्धरहित पर्वतमें धूमसम्बन्धका ज्ञान हो सकता है। परन्तु यहाँ भ्रमज्ञानका अंगीकार तो है नहीं, इसलिये यद्यपि धूमरहितमें धूम-सम्बन्धका ज्ञान तो सम्भव नहीं होता; तथापि पर्वतमें धूमके असम्बन्ध-ज्ञानका अभाव अवश्य है और वह असम्बन्धज्ञानाभावरूप परामर्श ही उक्त अनुमितिका कारण बनता है। फिर सर्वत्र ही पक्षोंमें हेतुके असंबंध-ज्ञानाभावको ही अनुमितिका कारण मानना चाहिये। क्योंकि जहाँ

पक्षमें हेतुका सम्बन्ध है वहाँ पक्षमें हेतुके असम्बन्धज्ञानका अभाव भी है और हेतुका सम्बन्धज्ञान भी है। परन्तु पूर्वोक्त स्थलमें जहाँ पर्वतमें धूम नहीं है और अनुमिति होती है, वहाँ पक्षमें हेतुका सम्बन्धज्ञान तो सम्भव होता नहीं, परन्तु हेतुके असम्बन्धज्ञानका अभाव तो सर्वत्र सम्भव होता है। इसलिये अख्यातिवादमें सर्वत्र पक्षमें हेतुके असम्बन्धज्ञानका अभाव ही अनुमितिका कारण सिद्ध होता है। अब वक्ष्यमाण रीतिसे अख्यातिवादीके मतमें गलग्रहन्यायसे अनुमितिरूप भ्रमज्ञानकी सिद्धि होती है। वह इस प्रकार—

जैसे वह्निका व्याप्य धूम है, तैसे इष्टसाधनत्वका व्याप्य रजतत्व है। अर्थात् 'यत्र-यत्र रजतत्वं तत्र तत्र इष्टसाधनत्वम्' (जहाँ रजतत्व है, वहाँ इष्टसाधनत्व है) इस प्रकार रजतत्वमें इष्टसाधनताकी व्याप्ति है। आशय यह कि जिसमें जिसकी व्याप्ति होती है वह उसका व्याप्य होता है और जिसकी व्याप्ति हो वह व्यापक होता है। इस प्रकार इष्टसाधनत्व तो व्यापक है और रजतत्व व्याप्य। व्याप्य हेतु होता है और व्यापक साध्य, यह प्रकार अनुमान-प्रमाणमें लिखा जा चुका है। इस प्रकार रजतत्व हेतुसे इष्टसाधनत्वरूप साध्यकी अनुमिति होती है, यह अर्थ सर्व मतोंमें निर्विवाद है। परन्तु अन्य मतोंमें व्याप्यरूप हेतुके सम्बन्धज्ञानसे व्यापकरूप साध्यकी अनुमिति होती है और अख्यातिवादमें पक्षमें व्याप्यरूप हेतुके असम्बन्धज्ञानाभावसे साध्यकी अनुमिति सिद्ध होती है, यह अर्थ स्पष्ट हुआ। अब अख्यातिवादमें जहाँ शुक्तिदेशमें 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान हो, वहाँ इदं-पदार्थ शुक्तिमें यद्यपि रजतत्वका ज्ञान तो नहीं है; तथापि रजतत्वके असम्बन्धका ज्ञान भी नहीं है। इसलिये शुक्तिमें रजतत्वके असम्बन्धका ज्ञानाभाव होनेसे इदंपदार्थरूप पक्षमें रजतत्वरूप हेतुके असम्बन्धज्ञानाभावसे इष्टसाधनत्वरूप साध्यकी अनुमिति सामग्रीबलसे इच्छाविना ही स्वतःसिद्ध हो जाती है। फिर शुक्ति में उस इष्टसाधनत्वकी अनुमिति भ्रमरूप ही है, क्योंकि शुक्तिमें तो इष्टसाधनत्व है नहीं, किन्तु इष्टसाधनत्वरहितमें इष्टसाधनत्वका अनुमितिज्ञान भ्रमरूप ही होगा।

इस प्रकार गलग्रहन्यायसे अख्यातिवादीके मतमें भ्रमज्ञानकी सिद्धि हो जाती है। पूर्वोक्त प्रकारसे जहाँ धूलीपटलसहित पर्वतमें जो धूमका परामर्श कहा गया, वहाँ यदि पर्वतमें धूमसम्बन्धका ज्ञान माना जाय तो वह धूमसम्बन्धका ज्ञान भ्रमरूप ही मानना होगा। परन्तु उस पर्वत में धूमका असम्बन्ध ज्ञानाभाव अनुमितिका हेतु कहा जाय तो यद्यपि उस स्थानमें भ्रमज्ञानके अनंगीकारसे भी निर्वाह हो जाता है; तथापि सकल अनुमितियोंमें यदि हेतुके असम्बन्धज्ञानाभावको ही कारण माना जाय तो शुक्तिमें रजतत्वके असम्बन्धज्ञानाभावसे इष्टसाधनत्वकी अनुमिति भ्रमरूप ही सिद्ध होगी। इस प्रकार उभयतः पाशारज्जुन्यायसे अख्यातिवादीके मतमें भ्रमकी सिद्धि होती है।

अख्यातिवादमें और भी दोष हैं। अर्थात् जहाँ रंग और रजत समीपमें धरे हों और उनका 'इमे रजते' (ये रंग रजतमें हैं) ऐसा ज्ञान हो, वहाँ यह ज्ञान अन्य मतोंकी रीतिसे रंग-अंशमें भ्रमरूप है और रजत-अंशमें प्रमारूप। क्योंकि यह ज्ञान रंगमें एवं रजतमें रजतत्व-धर्मको विषय करता है, इसलिये रंग-अंशमें भी रजतत्वविशिष्ट ज्ञान ही है जोकि भ्रमरूप है। परन्तु अख्यातिवादके मतमें भ्रमज्ञान तो है नहीं, इसलिये उक्त ज्ञान भी सर्वांशमें यथार्थ है। अर्थात् रजत-अंशमें तो रजतत्व-संसर्गग्रह है और रंग-अंशका इदंरूपसे ज्ञान है, जिसमें रजतत्वके असम्बन्धका अग्रह है। अख्यातिवादमें इस प्रकारका भेदकल्पन भी अनुभवविरुद्ध है, क्योंकि रंग व रजतका 'इमे रजते' इस प्रकार एकत्वरूप ही उल्लेख होता है। परन्तु उसमें उक्त भेदकथनकी रीतिसे तो विलक्षण उल्लेख होना चाहिये। यदि रंग-अंशमें रजतत्वका सम्बन्धग्रह कहा जाय तो भ्रमके अनंगीकारसे यह सम्भव नहीं होता। यदि रजत-अंशमें भी रजतत्वके असम्बन्धका अग्रह माना जाय तो यद्यपि ऐसा सम्भव होता है, क्योंकि रजतमें रजतत्वके असम्बन्धका ग्रह नहीं है, किन्तु सम्बन्धका ग्रह ही है। इसलिये यद्यपि यहाँ रजत-अंशमें एकरूप उल्लेख भी सम्भव होता है; तथापि जहाँ प्रवृत्तिका विषय अभिमुख हो वहाँ संसर्गविशिष्टज्ञानसे ही

प्रवृत्ति होती है, ऐसा जो नियम पूर्व कहा गया है उसका त्याग होगा, क्योंकि असम्बन्धके अग्रहसे कोई प्रवृत्ति नहीं होती। यदि ऐसा कहा जाय—

'जहाँ प्रवृत्तिका विषय इष्ट पदार्थ ही अभिमुख हो और अनिष्ट पदार्थ अभिमुख न हो, वहीं संसर्गविशिष्टका ज्ञान होता है। जैसे केवल रजतका 'इदं रजतम्' ऐसा ज्ञान रजतत्वविशिष्ट ज्ञान ही होता है। परन्तु जहाँ इष्टरजत और अनिष्टरंग दोनों अभिमुख हों और अनिष्ट पदार्थका भी इष्टके समान इदमाकार ज्ञान हो, वहाँ इष्टरजतमें भी रजतत्वविशिष्ट ज्ञान नहीं होता, किन्तु रजतत्वके असम्बन्धज्ञानका अभाव ही होता है। ऐसा मान लेने पर 'इमे रजते' इस प्रकारसे समान उल्लेख सम्भव होता है। यहाँ रजत और रंगका इदमाकार सामान्यज्ञान है और रंगमें रजतत्वका असम्बन्ध तो है, परन्तु दोषसे उस असम्बन्धका ज्ञान नहीं है, इसलिये रंगमें रजतत्वके असम्बन्धज्ञानका अभाव है और रजतमें तो रजतत्वका असम्बन्ध होता ही नहीं इसलिये असम्बन्धज्ञानका अभाव है। इस प्रकार एकरस उल्लेख सम्भव होता है।'

यदि ऐसा कहा जाय तो उक्त रीतिसे रजत-अंशमें भी निष्फल प्रवृत्ति होनी चाहिये, क्योंकि रजत-अंशमें प्रवृत्तिका हेतु रजतत्वविशिष्ट-का ज्ञान नहीं माना गया और यदि रजतत्वविशिष्टका ज्ञान माना जाय तो एकरस उल्लेखका असम्भव होगा। परन्तु चूँकि उक्त स्थलमें प्रवृत्ति होती है, इसलिये रजत-अंशमें रजतत्वविशिष्टका ज्ञान तो होता है और एकरस उल्लेख नहीं होता, ऐसा मानना पड़ेगा। दूसरे, अख्यातिवादीके मतमें भ्रमज्ञान तो है नहीं जिससे निष्फल प्रवृत्ति हो, किन्तु उनके मतसे इष्टपदार्थके भेदज्ञानसे जो प्रवृत्ति होती है वह तो निष्फल होती है और विशिष्टज्ञानसे जो प्रवृत्ति होती है वह सफल होती है। इसलिये जहाँ रंग-रजत पुरोवर्ति हों और 'इमे रजते' ऐसा ज्ञान हो वहाँ यद्यपि रंग-रजतका इदंरूपसे ज्ञान समान है, परन्तु रजतके इदमंशमें तो रजतत्वविशिष्टज्ञान है और रंगके इदमंशमें रजतत्व-

के सम्बन्धका अग्रह है अथवा रजतका भेदाग्रह है। जहाँ रजतत्वका असम्बन्ध है वहीं रजतका भेद है, इसलिये रजतत्वके असम्बन्धका अग्रह अथवा रजतभेदका अग्रह कहनेमें कोई अर्थभेद नहीं है। इस प्रकार अख्यातिवादमें 'इमे रजते' इस स्थलमें समान उल्लेख असम्भव है, इसलिये अख्यातिवाद असंगत है।

६८ : भ्रमज्ञानवादियोंके मतमें अख्यातिवादोक्त दोषका असम्भव

जो भ्रमज्ञानको मानते हैं उनके मतोंमें अख्यातिवादीने जो यह दोष कथन किया कि 'यदि भ्रमज्ञान भी प्रसिद्ध हो तो सर्वज्ञानोंमें भ्रमत्वसंदेहसे निष्कम्प प्रवृत्ति न होनी चाहिये' अख्यातिवादीका उक्त दोष भी सम्भव नहीं। क्योंकि अख्यातिवादमें यद्यपि भ्रमज्ञान नहीं है और सभी ज्ञान यथार्थ हैं; तथापि उनके मतानुसार भी कहीं तो ज्ञानसे प्रवृत्ति सफल होती है और कहीं निष्फल होती है। इसलिये प्रवृत्तिमें सफलता-निष्फलताकी सम्पादक ज्ञानोंकी विलक्षणता तो अख्यातिवादीने भी स्वीकार की हुई है। अर्थात् जहाँ संसर्गविशिष्ट ज्ञानसे प्रवृत्ति होती है वहाँ तो सफल होती है, इसलिये सफल प्रवृत्तिका जनक संसर्गविशिष्ट ज्ञान प्रमा है और जहाँ अग्रहीत-भेदज्ञानद्वयसे प्रवृत्ति होती है वहाँ निष्फल होती है तथा निष्फल प्रवृत्तिके जनक जो दो ज्ञान होते हैं वे अप्रमा हैं, ऐसा तो अख्यातिवादीको भी स्वीकृत है ही। इस प्रकार यद्यपि विषयके यथार्थ-अयथार्थत्वसे ज्ञानोंमें प्रमात्व-अप्रमात्व तो नहीं माना गया है; तथापि प्रवृत्ति-निवृत्तिकी सफलता-निष्फलतारूप विलक्षणताके हेतु प्रमात्व-अप्रमात्व तो अख्यातिवादीको भी इष्ट हैं ही। अब यदि अप्रमात्व-संज्ञासे ही अख्यातिवादीका विद्वेष हो तो सफलप्रवृत्तिजनक विशिष्टज्ञानसे निष्फलप्रवृत्तिजनक अगृहीतभेदज्ञानद्वयमें विलक्षणता तो अनुभवसिद्ध है ही और अख्यातिवादीने भी इसे स्वीकार किया हुआ है ही। फिर केवल व्यवहारभेदके लिये ही संज्ञांतर करना प्रयोजन रह जाता है, इस-

लिये यदि प्रसिद्ध संज्ञासे ही व्यवहार किया जाय तो योग्य शिष्टाचार हो सकता है। इस प्रकार भ्रमज्ञानका अनंगीकार करके भी जबकि निष्फलप्रवृत्तिके जनक अगृहीतभेदज्ञानद्वय और सफलप्रवृत्तिके जनक विशिष्टज्ञान मान लिये गये तब उनमें भी ज्ञानत्वरूप समानधर्म देखकर सन्देहका सम्भव होता है। वह इस प्रकार—

'जैसे शुक्तिमें अगृहीतभेदज्ञानद्वय हैं और उनका भेद प्रतीत नहीं होता, तैसे अमुकज्ञानभी अगृहीतभेदज्ञानद्वयरूप है अथवा भेदरहित एक ही है। यदि यह अगृहीतभेदज्ञानद्वयरूप होगा तो अवश्य इसमें प्रवृत्तिसे रजतका अलाभ ही रहेगा।'

इस प्रकारके संदेहसे अख्यातिवादमें भी निष्कम्प प्रवृत्ति सम्भव नहीं होती और निष्कम्प प्रवृत्तिका असम्भव दोनों मतोंमें समान है। अतः दूसरे मतोंके समान अख्यातिवाद भी असंगत है।

प्रमात्व-अप्रमात्वका स्वरूप, उनकी उत्पत्ति और उनके ज्ञानका प्रकार

६९ : प्रमात्व-अप्रमात्वका स्वरूप

इस प्रकार अनिर्वचनीयख्याति ही निर्दोष है। यद्यपि विवरणादि ग्रंथोंमें सत्ख्याति आदि पञ्चविध वादोंका विस्तारसे खण्डन किया गया है; तथापि यहाँ रीतिमात्र ही दर्शाई गई है। पूर्वोक्त प्रकारसे अख्याति-वादीने सिद्धान्तमतमें जो निष्कम्प प्रवृत्तिका असम्भवरूप दोष कथन किया, उसके समाधानमें यद्यपि अख्यातिवादमें भी उसी दोषका सम्भव तो कथन किया गया, परन्तु स्वमतमें उसका उद्धार नहीं किया गया। इसलिये अब स्वमतमें उसका उद्धार किया जाता है—

जिस पदार्थका जो ज्ञान हो, उस ज्ञानमें यदि अप्रमात्वका निश्चय हो जाय तब तो प्रवृत्ति होती ही नहीं, प्रमात्वका संदेह हो तो सकम्प

प्रवृत्ति होती है और प्रमात्वका निश्चय हो तो निष्कम्प प्रवृत्ति होती है। इसलिये अब यहाँ प्रमात्व-अप्रमात्वका स्वरूप, उनकी उत्पत्ति और उनके ज्ञानका प्रकार प्रतिपादन किया जाता है। यद्यपि प्रमात्व-अप्रमात्वका स्वरूप पूर्व यह कहा जा चुका है कि स्मृतिसे भिन्न अबाधित अर्थगोचर जो ज्ञान वह प्रमा और उससे भिन्न ज्ञान अप्रमा होता है। इस कथनसे यह जाना जाता है कि स्मृतिभिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञानका धर्म तो प्रमात्व और तद्भिन्न ज्ञानका धर्म अप्रमात्व है तथा स्मृति में पूर्वोक्त पारिभाषिक प्रमात्व नहीं है। परन्तु स्मृतिमें भी प्रवृत्तिका उपयोगी प्रमात्व तो मानना ही चाहिये, क्योंकि स्मृतिज्ञानसे भी पुरुषकी प्रवृत्ति तो होती ही है। अर्थात् जिस स्थानमें स्थित इष्टपदार्थकी स्मृति हो उस स्थानमें पुरुषकी प्रवृत्ति स्वाभाविक होती है और जबकि उस स्मृति-ज्ञानमें प्रमात्वका निश्चय हो जाय तभी निष्कम्प प्रवृत्तिका सम्भव होता है। इससे स्पष्ट होता है कि स्मृतिमें भी प्रवृत्तिका उपयोगी प्रमात्व है, इसलिये प्रमात्वके पूर्वोक्त स्वरूपसे उसका अन्यविध स्वरूप कहना चाहिये।

सभी शास्त्रोंने स्मृतिसे भिन्न ज्ञानमें अनुभवका व्यवहार किया है और संस्कारजन्य ज्ञानमें स्मृतिका व्यवहार किया है तथा यथार्थ अनुभवमें प्रमा एवं अयथार्थमें अप्रमाका व्यवहार किया है। इस प्रकार सफल ज्ञानोंमें ज्ञानत्व-धर्म तो व्यापक है और अनुभवत्व व स्मृतित्व ज्ञानत्वके व्याप्य हैं एवं दोनों परस्पर विरोधी हैं। इसी प्रकार प्रमात्व-धर्म भी अनुभवत्वका व्याप्य है, क्योंकि अनुभवत्व तो यथार्थानुभव और अयथार्था-नुभव दोनोंमें रहता है, परन्तु प्रमात्व-धर्म तो यथार्थानुभवमें ही रहता है, इसलिये प्रमात्व अनुभवत्वका व्याप्य है। तैसे ही प्रमात्व यथार्थत्वका भी व्याप्य है, क्योंकि यथार्थत्व तो सत्य पदार्थकी स्मृतिमें भी रहता है, परन्तु स्मृतिमें प्रमात्व नहीं रहता। इस प्रकारसे शास्त्रकारोंकी परि-भाषा है और इसीके अनुसार 'स्मृतिसे भिन्न अबाधित अर्थगोचर ज्ञान प्रमा है' ऐसा प्रमाका लक्षण किया गया है। परन्तु जिस प्रमात्वके ज्ञानसे पुरुषकी निष्कम्प प्रवृत्ति हो, ऐसा प्रमात्व तो स्मृतिमें भी मानना

चाहिये । इसलिये इस प्रसंगमें यथार्थत्वका व्याप्य प्रमात्व नहीं, किन्तु यथार्थत्वरूप ही प्रमात्व है । यद्यपि स्मृतिमें पूर्वोक्त पारिभाषिक प्रमात्व तो नहीं है किन्तु यथार्थत्व ही है, इसलिये पूर्वोक्त प्रमात्व यथार्थत्वरूप ही नहीं, किन्तु उससे भिन्न है और न्यूनदेशवर्ति होनेसे पूर्वोक्त प्रमात्व यथार्थत्वका व्याप्य है । तथापि यहाँ प्रवृत्तिका उपयोगी प्रमात्व विचारणीय है, जोकि स्मृतिसाधारण ही है, इसलिये वह प्रमात्व यथार्थत्वसे न्यूनदेशवर्ति नहीं किन्तु यथार्थत्वरूप ही हो सकता है । यदि स्मृतिज्ञानमें प्रमाव्यवहारसे सर्वथा विद्वेष ही हो तो 'प्रमात्व ज्ञानसे निष्कम्प प्रवृत्ति होती है' इस वाक्यका त्याग करके 'यथार्थत्वज्ञानसे निष्कम्प प्रवृत्ति होती है' ऐसा वाक्य कहना चाहिये । इस प्रकार इस प्रसंगमें 'प्रमात्व' शब्दका यथार्थत्व-धर्मसे व्यवहार होता है ।

७० : न्याय-वैशेषिकमतमें ज्ञानकी उत्पादक बाह्यसामग्री-से प्रमात्व-अप्रमात्वकी उत्पत्ति (परतःप्रामाण्य और परतःअप्रामाण्यवाद)

न्यायमतमें ज्ञानकी उत्पादक सामग्रीसे न तो प्रमात्वकी उत्पत्ति होती है और ज्ञानकी ज्ञापक सामग्रीसे न प्रमात्वका ज्ञान ही होता है, किन्तु परतः अर्थात् अन्यसे प्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है और अन्यसे ही प्रामाण्य-का ज्ञान होता है । इसको 'परतःप्रामाण्यवाद' कहते हैं । इस प्रसंगमें प्रमात्वका नाम 'प्रामाण्य' है और ज्ञानकी सामग्रीसे भिन्न सामग्री 'पर' शब्दका अर्थ है । इसलिये यह निष्कर्ष हुआ कि ज्ञानकी सामग्रीसे प्रमात्व-की सामग्री भिन्न है । अर्थात् ज्ञानकी उत्पत्तिकी सामग्री जो इन्द्रिय-अनु-मानादि पूर्व कही जा चुकी हैं, यदि उनसे ही प्रमात्वकी उत्पत्ति होती हो तो सभी ज्ञान प्रमा होने चाहिये, फिर अप्रमा-ज्ञानका लोप होगा । इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि ज्ञानकी उत्पत्तिकी सामग्रीसे अधिक सामग्रीद्वारा प्रमात्वकी उत्पत्ति होती है । क्योंकि जहाँ अधिक सामग्री नहीं होती वहाँ ज्ञानमें प्रमात्व-धर्म भी नहीं होता और ऐसा मान लेनेपर

फिर भ्रमज्ञानका लोप भी नहीं होता। वह अधिक सामग्री गुण है, अर्थात् जहाँ गुणसहित इन्द्रिय-अनुमानादिसे ज्ञान हो वहाँ तो प्रमा-ज्ञान होता है और जहाँ गुणरहित इन्द्रिय-अनुमानादिसे ज्ञान हो वहाँ प्रमा-ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्ष-प्रमाकी उत्पत्तिमें विषयके अधिक देशमें इन्द्रियका संयोगरूप गुण होता है और अनुमिति-प्रमाकी उत्पत्तिमें साध्यके व्याप्यरूप हेतुका साध्यवाले पक्षमें ज्ञानरूप गुण होता है। परन्तु जहाँ व्यभिचारी हेतुका पक्षमें ज्ञान हो वहाँ यद्यपि अनुमिति-ज्ञानकी सामग्री पक्षमें हेतुका ज्ञान तो है; तथापि व्यभिचारी होनेसे व्याप्य-हेतुका ज्ञानरूप गुण नहीं होता, इसलिये वहाँ अनुमिति-प्रमा नहीं होती। इस प्रकार ज्ञानवर्ति प्रमात्वधर्मकी उत्पत्तिमें ज्ञानजनक सामग्रीसे भिन्न गुणकी अपेक्षा होनेसे परतःप्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है।

प्रमात्वकी भाँति ज्ञानवर्ति अप्रमात्वकी भी परतः ही उत्पत्ति होती है, क्योंकि भ्रमज्ञान दोषजन्य होता है, यह वार्ता तो प्रसिद्ध ही है। चूँकि प्रमाज्ञानमें दोष नहीं होता, इसलिये दोष ज्ञानकी सामग्रीसे बाह्य है। वह दोष अनन्त प्रकारका है और उस दोषसे अप्रमाकी उत्पत्ति होनेसे परतःअप्रामाण्यकी उत्पत्ति होती है। अप्रमात्वको 'अप्रामाण्य' कहते हैं।

इस प्रकार प्रमात्व व अप्रमात्वकी उत्पत्ति परतः होती है।

७१ : ज्ञान और ज्ञानत्वकी सामग्रीसे भिन्न कारणसे प्रमात्वके ज्ञानकी उत्पत्ति (परतःप्रामाण्यग्रहवाद)

इसी प्रकार न्याय-वैशेषिकमतमें ज्ञानके ज्ञानकी सामग्रीसे प्रमात्वका ज्ञान नहीं होता, किन्तु ज्ञान व ज्ञानत्वकी जिस सामग्रीसे ज्ञान होता है उससे भिन्न कारणसे ही प्रमात्वका ज्ञान होता है। जैसे प्रत्यक्षादि प्रमाणसे घटादिका ज्ञान होता है, तैसे ही मनःसंयुक्तसमवायसम्बन्धसे घटादिज्ञानका ज्ञान होता है। जहाँ नेत्रादि प्रमाणोंसे घटादिका ज्ञान हो, वहाँ तो 'अयं घटः' (यह घट है) ज्ञानका ऐसा आकार होता है और मनोरूप प्रमाणसे जहाँ घटज्ञानका प्रत्यक्ष हो वहाँ 'घटमहं जानामि'

(मैं घटको जानता हूँ) ऐसा ज्ञानका आकार होता है। 'घटमहं जानामि' इस मानसज्ञानका विषय घटज्ञान और घट दोनों हैं, क्योंकि घटादिके ज्ञानको तो 'व्यवसाय' और घटादिके ज्ञानके ज्ञानको 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। अनुव्यवसायज्ञानका यह स्वभाव होता है कि वह व्यवसाय (ज्ञान) के विषयको न त्यागकर विषयके सहित व्यवसायको भी प्रकाशता है, इसीलिये ज्ञानके ज्ञानकी 'अनुव्यवसाय' संज्ञा की गई है। अथवा व्यवसायके अनुसारीको 'अनुव्यवसाय' कहते हैं, क्योंकि जैसे व्यवसायके विषय घटादि हैं, तैसे ही वे अनुव्यवसायके विषय भी होते हैं, इसलिये अनुव्यवसाय व्यवसायका अनुसारी है। इसके साथ ही अनुव्यवसायज्ञानका विषय आत्मा भी होता है, क्योंकि यह नियम है कि ज्ञान, इच्छा, कृति, सुख, दुःख एवं द्वेष—ये जो आत्माके विशेष गुण हैं, जब इनमेंसे किसी एक गुणकी प्रतीति हो तभी आत्माकी प्रतीति होती है। यदि इनमेंसे किसीकी भी प्रतीति न हो तो आत्मा की प्रतीति भी नहीं होती, इसलिये सकल विशेष गुणोंको त्यागकर तो आत्माकी अप्रतीति ही रहती है। इसी प्रकार आत्माको त्यागकर केवल ज्ञानादिकी प्रतीति भी नहीं होती, इसीलिये जब घटज्ञानका ज्ञान हो तब आत्माका ज्ञान भी होता है। इस प्रकार 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान घट, घटज्ञान और ज्ञानका आश्रय आत्मा—इन तीनोंको प्रकाश करता है, इसीलिये त्रिपुटिगोचर ज्ञानको अनुव्यवसायज्ञान कहते हैं। अनुव्यवसायज्ञानका करण मन है, इसलिये सकल विषयोंसे मनका सम्बन्ध कहना चाहिये। जैसे घटज्ञानका ज्ञान आत्मविषयक है; तैसे घटत्व, ज्ञानत्व एवं आत्मत्व भी घटज्ञानके ज्ञानके विषय हैं। उनमें घटज्ञानसे मनका स्वसंयुक्तआत्मसमवायसम्बन्ध है और ज्ञानत्वसे स्वसंयुक्त-आत्मसमवेत-समवायसम्बन्ध है। इसी प्रकार मनका आत्मासे संयोगसम्बन्ध है और आत्मत्वसे संयुक्तसमवायसम्बन्ध है। परन्तु प्रत्यक्षका हेतु मनका घटसे सम्बन्ध सम्भव नहीं होता, क्योंकि बाह्य पदार्थका मनसे स्वतन्त्र ज्ञान नहीं हुआ करता, इसलिये घटसे मनका अलौकिक सम्बन्ध कहना

चाहिये । क्योंकि मनसे वाह्य पदार्थका जबकि लौकिकसम्बन्धजन्य ज्ञान नहीं होता, तव कोई अलौकिकसम्बन्धजन्य ज्ञान ही मानना होगा । वह अलौकिकसम्बन्ध ज्ञानलक्षण हो सकता है । अर्थात् अनुव्यवसायज्ञानका विषय जो व्यवसायज्ञान, वही मनका घटसे सम्बन्ध है । उसका स्वरूप 'स्वसंयुक्तआत्मसमवेतज्ञान' अथवा 'स्वसंयुक्तआत्मसमवेतज्ञानविषयता' होता है और यही मनका घटसे सम्बन्ध है । ऊपर कथित 'ज्ञानलक्षण' वाक्यमें यदि 'लक्षण' शब्दका अर्थ 'स्वरूप' किया जाय तब तो पहला सम्बन्ध घटित होता है और 'लक्षण' शब्दका अर्थ 'ज्ञापक' किया जाय तब द्वितीय सम्बन्ध बनता है । उन दोनों सम्बन्धोंमें 'स्व' शब्दका अर्थ मन है, उससे संयुक्त जो आत्मा, उसमें समवेत जो व्यवसाय ज्ञान है वह घटमें रहता है और द्वितीय पक्षमें उक्त ज्ञानका विषयतारूप सम्बन्ध घटमें है । व्यवसायज्ञानके विषय घट व घटत्व दोनों ही हैं, इसलिये व्यवसायरूप सम्बन्धसे दोनों अनुव्यवसायज्ञानके विषय भी हैं । इस प्रकार घट व ज्ञानादि अनुव्यवसायज्ञानके विषय होते हैं, इसलिये ज्ञानके ज्ञानको अनुव्यवसाय कहा जाता है और उसकी सामग्री मनःसंयोगादिरूप हैं । उससे यद्यपि ज्ञानका और ज्ञानत्वका ज्ञान तो होता है, परन्तु प्रमात्वका ज्ञान नहीं होता । किन्तु ज्ञान होकर जब पुरुषकी सफल प्रवृत्ति हो, तब उससे उत्तर कालमें उस प्रवृत्तिजनक ज्ञानमें प्रमात्वका अनुमितिज्ञान होता है । जैसे जब जलार्थीकी जलके प्रत्यक्षज्ञानसे तडागमें प्रवृत्ति होकर जलका लाभ हो जाय तब उसको ऐसा अनुमान होता है—

'इदं जलज्ञानं प्रमा, सफलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यत्र यत्र सफलप्रवृत्तिजनकत्वं तत्र तत्र प्रमात्वं, यथा निर्णीतप्रमायाम् ।' (यह जलज्ञान सफलप्रवृत्तिजनकत्वसे प्रमा है, क्योंकि जहाँ सफलप्रवृत्तिजनकत्व होता है, वहाँ प्रमा ही होता है, जैसे निर्णय की हुई प्रमामें ।)

यहाँ वर्तमान जलज्ञान पक्ष है (यद्यपि अनुमानकालमें जलज्ञान अतीत होता है; तथापि वर्तमानके समीप भूत-भविष्यत् भी वर्तमान ही कहे जाते हैं, इसलिये वर्तमान जलज्ञान ही पक्ष कहा गया) और प्रमात्व

साध्य है तथा हेतु-दृष्टांत तो स्पष्ट ही हैं। यदि व्यतिरेकी दृष्टांत कहना हो तो 'यत्र यत्र सफलप्रवृत्तिजनकत्वं नास्ति तत्र प्रमात्वमपि नास्ति, यथा शुक्तौ रजतं ज्ञाने' (जहाँ-जहाँ सफलप्रवृत्तिजनकत्व नहीं है, वहाँ प्रमात्व भी नहीं है, जैसे शुक्तिमें रजतज्ञानसे) इस प्रकारका वाक्य कहना चाहिये। इस प्रकारके अनुमानोंसे ज्ञानोंमें प्रमात्वका निश्चय होता है और सफल प्रवृत्तिसे ही सभी ज्ञानोंमें प्रमात्वकी अनुमिति होती है। वहाँ जलज्ञानग्राहक सामग्री तो 'जलमहं जानामि' यह अनुव्यवसायकी सामग्री होती है और प्रमात्वग्राहक सामग्री उक्त अनुमान होता है। चूँकि यह अनुमान अनुव्यवसायकी सामग्रीसे भिन्न होनेके कारण पर है, इसलिये परतः प्रमात्वग्रहका अंगीकार किया गया है। न्यायमतमें अनुमितिका विषय पक्ष भी होता है और उक्त अनुमितिमें जलज्ञान ही पक्ष है, इसलिये प्रमात्वका अनुमान भी ज्ञानग्राहक सामग्री हो सकती है। तैसे ही इस मतमें अनुव्यवसाय भी दो प्रकारका होता है, उनमें एक तो 'जलमहं जानामि' ऐसा अनुव्यवसाय होता है और दूसरा जहाँ प्रमात्व-निश्चयसे उत्तर जो अनुव्यवसाय हो वहाँ 'जलं अनुमिनोमि' (मैं जलका अनुमान करता हूँ) ऐसा अनुव्यवसाय होता है। इस प्रकार द्वितीय अनुव्यवसायकी सामग्री ज्ञानग्राहक भी है और उक्त अनुमानरूप ज्ञानग्राहकसामग्रीसे प्रमात्वका निश्चय भी होता है। यद्यपि सिद्धातमें स्वतःप्रामाण्यग्रहका अंगीकार किया गया है और ऊपर जो-जो ज्ञानग्राहक सामग्री ग्रहण की गई हैं, सिद्धान्तमें वे सभी प्रमात्वकी ग्राहक हैं तथा उन ज्ञानग्राहक सकल सामग्रियोंमें 'जलमहं जानामि' इस अनुव्यवसायकी सामग्री भी अन्तर्भूत है; तथापि न्यायमतमें इसीसे प्रमात्वका ग्रह नहीं हो जाता, इसलिये इस मतमें सिद्धांतकोटिका अंगीकार नहीं किया गया।

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक मतके अनुसार यद्यपि घटादिके ज्ञानसे घटादिका प्रकाश तो होता है, परन्तु घटादिके प्रकाशित हो जानेपर ही घटादिका ज्ञान और उस ज्ञानका आश्रयभूत आत्माका प्रकाश नहीं होता। किन्तु जिस कालमें अनुव्यवसायज्ञान होता है तब ही घटादि

विषयसहित और आत्मसहित घटादिज्ञानका प्रकाश होता है । परन्तु अनुव्यवसायज्ञानसे व्यवसायकी त्रिपुटीका ही प्रकाश होता है, स्वयं अनुव्यवसायका प्रकाश नहीं होता । जब अनुव्यवसायगोचर अन्य अनुव्यवसाय हो तब प्रथम अनुव्यवसायका प्रकाश होता है, परन्तु द्वितीय अनुव्यवसाय अप्रकाशित ही रहता है । अर्थात् प्रथम अनुव्यवसाय व्यवसायको विषय करता है और प्रथम अनुव्यवसायको द्वितीय अनुव्यवसाय विषय करता है, तहाँ 'घटज्ञानमहं जानामि' (मैं घटज्ञानको जानता हूँ) ऐसा द्वितीय अनुव्यवसायका स्वरूप होता है । अब यदि द्वितीय अनुव्यवसायका व्यवहार इष्ट हो तो 'घटज्ञानस्य ज्ञानमहं जानामि' (मैं घटज्ञानके घटज्ञानको जानता हूँ) ऐसा तृतीय अनुव्यवसाय होना ज़रूरी है । इसमें इतना भेद है कि न्यायमतमें घटज्ञानसे घटका प्रकाश होकर घटव्यवहारकी सिद्धि तो हो जाती है, परन्तु घटव्यवहारमें घटज्ञानके प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती । फिर यदि घटज्ञानका व्यवहार इष्ट हो तो अनुव्यवसायसे घटज्ञानका प्रकाश होकर घटज्ञानके व्यवहारकी सिद्धि होती है, परन्तु अनुव्यवसायके प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रहती । इस प्रकार जिसका व्यवहार इष्ट हो उसके ज्ञानकी ही अपेक्षा होती है, फिर विषयप्रकाशक जो ज्ञान वह चाहे प्रकाशित हो अथवा अप्रकाशित, उसका प्रकाशित रहना ही आवश्यक नहीं । यदि प्रकाशित ज्ञानसे ही विषयका प्रकाश माना जाय तो न्यायमतमें अनवस्था दोष लागू हो जाता है । क्योंकि जिस ज्ञानसे विषयका प्रकाश हो वह स्वप्रकाश तो है नहीं, इसलिये उसका प्रकाशक ज्ञानान्तर होना चाहिये, तब विषय का प्रकाश हो । फिर प्रथम ज्ञानका प्रकाशक द्वितीय, द्वितीयका प्रकाशक तृतीय और तृतीयका प्रकाशक चतुर्थादि ज्ञान होने चाहिये । इस प्रकार अनवस्था दोष होता है और तब कोई भी ज्ञान प्रकाशित सिद्ध नहीं हो सकता । यदि सापेक्ष प्रकाश माना जाय तो अन्योऽन्याश्रय और चक्रिकादि दोष लागू होते हैं, इसलिये न्यायमतमें विषय अपने प्रकाशमें प्रकाशितज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता, किन्तु केवल अपने व्यवहारमें ही

प्रकाशकी अपेक्षा रखता है। जहाँ घटादि विषयका व्यवहार इष्ट हो वहाँ घटके प्रकाशके लिये प्रकाशित घटज्ञानकी अपेक्षा नहीं, किन्तु अप्रकाशित घटज्ञानसे भी घटका व्यवहार होता है। जैसे जब घटका ज्ञान नहीं होता है उस कालमें भी घट जल-धारणादि प्रयोजनकी सिद्धि तो करता ही है, घट अपने कार्यमें किसी प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता; तैसे ही ज्ञानका कार्य भी विषयका प्रकाश करना ही है, इसलिये ज्ञान उस अपने विषयप्रकाशरूप कार्यमें अपने प्रकाशकी अपेक्षा नहीं रखता। किन्तु घटकी भाँति ज्ञान केवल अपने व्यवहारकी सिद्धिके लिये ही अपने प्रकाशार्थ अन्य ज्ञानकी अपेक्षा करता है। अर्थात् जिस ज्ञानका व्यवहार इष्ट हो उस ज्ञानका ज्ञान तो चाहिये, परन्तु उस ज्ञानका ज्ञान प्रकाशित होना चाहिये, यह अपेक्षा नहीं। इसीलिये यदि विषयप्रकाशक ज्ञानके प्रकाशित होनेकी अपेक्षा रखी जाय तो न्यायमतमें अनवस्थादोष कहा गया है।

इस प्रकार न्यायमतमें कोई भी ज्ञान स्वप्रकाश नहीं, इसलिये जिससे ज्ञानके ज्ञानकी उत्पत्ति हो वह ज्ञानग्राहकसामग्री कहलाती है। तहाँ अनुव्यवसायज्ञानकी सामग्री तो मनःसंयोगादि और ज्ञानलक्षणरूप अलौकिक सम्बन्ध हैं, जो अनुव्यवसायके भेदसे नाना हैं। इसी प्रकार 'जलज्ञानं प्रमा' यह अनुमिति भी ज्ञानका ज्ञान है और उसका जनक जो अनुमान है वह भी ज्ञानग्राहक सामग्री है तथा उससे जलज्ञानके प्रमात्वका ज्ञान भी होता है। तैसे ही 'जलं प्रमिनोमि' इस अनुव्यवसायकी सामग्री भी ज्ञानग्राहक सामग्री है और उससे भी जलज्ञानके प्रमात्वका ज्ञान होता है। परन्तु 'जलमहं जानामि' यह अनुव्यवसाय यद्यपि जलज्ञानका ज्ञान तो है; तथापि यह जलज्ञानके प्रमात्वका प्रकाश नहीं करता। इसलिये ज्ञानग्राहक उक्त अनुव्यवसायसामग्रीसे जलज्ञानके प्रमात्वका अग्रहण रहनेसे स्वतःप्रामाण्यग्रह नहीं होता, किन्तु परतःप्रामाण्यग्रह ही होता है। 'जो-जो ज्ञानग्राहक सामग्री होती हैं उन सभी से प्रमात्वग्रह भी होता है' इस मतको स्वतःप्रामाण्यग्रह कहते हैं। इस मतमें प्रमात्वधर्मको त्यागकर किसी भी ज्ञानका ज्ञान नहीं होता, किन्तु सभी ज्ञानके ज्ञान

प्रमात्व एवं ज्ञानत्व उभयधर्मविशिष्ट होते हैं, केवल ज्ञानत्वधर्मविशिष्ट ही नहीं होते। परन्तु परतःप्रामाण्यग्रहवादमें तो प्रथम अनुव्यवसायसे प्रमात्वको त्यागकर ज्ञानका ज्ञान केवल ज्ञानत्वविशिष्ट ही होता है, फिर अन्य अनुव्यवसायसे अथवा पूर्वोक्त अनुमानसे प्रमात्वका ज्ञान होता है।

७२ : मीमांसक और सिद्धांतसम्मत स्वतःप्रामाण्यवादमें न्यायोक्त दोष

मीमांसक और सिद्धांतमतमें स्वतःप्रामाण्यग्रहका अंगीकार किया गया है। इसके विपरीत न्याय-वैशेषिकमतमें परतःप्रामाण्यग्रहका अंगीकार करके स्वतःप्रामाण्यग्रहमें ऐसा दोष दिया गया है। अर्थात् जहाँ एक पदार्थका अनेकवार ज्ञान होकर प्रवृत्ति हुई हो वहाँ तो उस ज्ञानके प्रमात्वमें कभी संदेह नहीं होता, क्योंकि अनेकबार सफल प्रवृत्ति देखकर प्रमात्वनिश्चय स्वतः ही हो जाता है और वह प्रमात्वनिश्चय प्रमात्व-संशयका विरोधी है ही। परन्तु यदि स्वतःप्रामाण्यग्रह माना जाय तो जिस पदार्थका अपूर्व ज्ञान हो, उस ज्ञानमें जो प्रमात्वका संदेह रहता है वह न रहना चाहिये। क्योंकि प्रभाकर और अद्वैतमतमें ज्ञान स्वप्रकाश मान लिया गया है, इसलिये उनके मतसे ज्ञान कभी भी अगृहीत नहीं होता, किन्तु सदैव गृहीत ही होता है। उनकी उक्तिके अनुसार यदि गृहीतज्ञानके साथ-साथ प्रमात्व भी गृहीत होता हो तो निर्णीत पदार्थका संदेह और उसमें प्रमात्वका संदेह सम्भव न होना चाहिये, परन्तु होता है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वतःप्रामाण्यग्रहवाद असंगत है।

७३ : प्रभाकरमतमें सभी ज्ञानोंसे त्रिपुटीका प्रकाश

प्रभाकरमतमें ज्ञानसे विषयका प्रकाश होता है अर्थात् विषयप्रकाशका हेतु ज्ञान है। जैसे जब घटका ज्ञान हो तब घटज्ञानसे घटका प्रकाश होता है, वैसे ही घटज्ञान अपने स्वरूपका और अपने आश्रयभूत आत्माका भी प्रकाश करता है। इस प्रकार सभी ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान एवं ज्ञेय

इन तीनोंके समुदायरूप त्रिपुटीको प्रकाश करते हैं। इस रीतिसे प्रभाकरमतमें ज्ञान अपने स्वरूपको और अपने प्रमात्वको भी विषय करता है।

७४ : श्रीमुरारिमिश्रका मत

मुरारिमिश्रके मतमें ज्ञानका प्रकाश तो अनुव्यवसायसे माना गया है और उस ज्ञानके प्रकाशक अनुव्यवसाय वा अनुमितिसे ही प्रमात्वका प्रकाश भी माना गया है। इसलिये अनुव्यवसायके पश्चात् प्रमात्वका संदेह नहीं हुआ करता।

७५ : भट्टका सिद्धांत

श्रीभट्टका यह सिद्धांत है कि घटादिके ज्ञानका ज्ञान प्रत्यक्षरूप नहीं होता, क्योंकि ज्ञानगुण प्रत्यक्षयोग्य नहीं है। इसलिये ज्ञानका ज्ञान अनुमितिरूप ही होता है, मानसप्रत्यक्षरूप नहीं। वह अनुमितिज्ञान इस प्रकार होता है कि जब इन्द्रियविषयके संयोगसे प्रत्यक्ष अथवा अनुमिति-ज्ञानकी उत्पत्ति हो, तब उन ज्ञानोंसे घटादि विषयोंमें ज्ञातता नामक धर्म उत्पन्न होता है। इसीलिये ज्ञानके पश्चात् 'ज्ञातो घटः' (घट जाना गया) ऐसा व्यवहार होता है। ज्ञाततासे पूर्व जब घट-इन्द्रियका संयोग हो, तब 'अयं घटः' (यह घट है) ऐसा प्रत्यक्ष होता है। वह प्रत्यक्षज्ञान समवायसम्बन्धसे ज्ञातामें रहता है और विषयतासम्बन्धसे घटमें। जहाँ विषयतासम्बन्धसे ज्ञान हो वहीं समवायसम्बन्धसे ज्ञातता उत्पन्न होती है। इस प्रकार घटके ज्ञानसे घटमें जो ज्ञातता उत्पन्न होती है उस ज्ञातताका उपादानकारण घट और निमित्तकारण ज्ञान होता है। भट्ट-मतमें असमवायिकारणकी परिभाषा नहीं है, किन्तु उपादानसे भिन्न एक निमित्तकारण ही ग्रहण किया गया है। इस प्रकार ज्ञानजन्य ज्ञातता-धर्म घटमें उत्पन्न होता है, अर्थात् प्रथम तो 'अयं घटः' ऐसा घटका प्रकाशक प्रत्यक्षज्ञान होता है, उस प्रत्यक्षसे जब घटमें ज्ञातता-धर्म उपजे तब

इन्द्रियसंयोगसे उसी घटका 'ज्ञातो घटः' ऐसा प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार यद्यपि भट्टमतमें बाह्य इन्द्रियोंसे ज्ञानजन्य ज्ञातताका तो प्रत्यक्ष होता है; तथापि बाह्य इन्द्रियोंसे बाह्य पदार्थोंके ज्ञानका किसीके भी मतमें प्रत्यक्ष नहीं माना गया। केवल नैयायिकादिके मतमें ज्ञानका मानसप्रत्यक्ष माना गया है। परन्तु भट्टमतमें घटादिके ज्ञानका मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं माना गया, किन्तु घटादिज्ञानोंका अनुमानजन्य अनुमितिज्ञान ही माना गया है। उस अनुमानका आकार यह है——

'अयं घटः विषयतासम्बन्धेन समवायेन ज्ञाततावत्त्वाच्च ज्ञानवान्, यत्र यत्र समवायेन ज्ञातता तत्र तत्र विषयतासम्बन्धेन ज्ञानम्' (यह घट विषयतासम्बन्धसे और समवाय सम्बन्धसे ज्ञाततावत्‌के कारण ज्ञानवाला है, जहाँ-जहाँ समवायसम्बन्धसे ज्ञातता होती है, वहाँ विषयतासम्बन्धसे ज्ञान होता है)

इस स्थानमें पुरोवर्ति घट पक्ष है, विषयतासम्बन्धसे ज्ञान साध्य है और आगे हेतु व दृष्टान्त स्पष्ट हैं। अन्य ग्रन्थोंमें यह अनुमान प्रकारान्तरसे भी लिखा गया है, परन्तु वह कठिन जानकर यहाँ नहीं लिखा गया।

इस प्रकार भट्टमतमें ज्ञानग्राहक सामग्री अनुमान ही है और इस अनुमानसे ही घटज्ञानके प्रमात्वका भी ज्ञान होता है।

७६ : न्याय-वैशेषिकमतका निष्कर्ष

न्याय-वैशेषिक मतका कथन यह है कि जैसा भट्टमतमें माना गया है उसके अनुसार यदि ज्ञानग्राहकसामग्री अनुमान ही माना जाय और उसी अनुमानसे ज्ञानके प्रमात्वका ज्ञान भी मान लिया जाय तो ज्ञानकी अनुमितिके पश्चात् प्रमात्वका सन्देह न होना चाहिये, परन्तु वस्तुतः ज्ञानके सभी ज्ञानोंसे प्रमात्वका निश्चय नहीं होता, किन्तु सफल प्रवृत्ति होनेके पश्चात् ही ज्ञानके प्रमात्वका निश्चय हुआ करता है। इसलिये यह मानना चाहिये कि ज्ञानकी उत्पत्तिकी सामग्रीसे प्रमात्वकी उत्पत्ति नहीं

होती, किन्तु उससे अधिक सामग्रीसे प्रमात्वकी और प्रमात्वके ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार प्रमात्वकी भाँति अप्रमात्वकी भी परतः उत्पत्ति होती है और परतः ही ज्ञान होता है। यदि ज्ञानजनक सामग्रीसे ही ज्ञानके अप्रमात्व-धर्मकी उत्पत्ति होती हो तो सभी ज्ञान अप्रमा होने चाहियें, इसलिये ज्ञानजनक सामग्रीसे ही अप्रमात्वकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। ज्ञानके जनक इन्द्रिय-अनुमानादि हैं, उनमें जब किसी दोषका सहकार हो तभी अप्रमात्वसहित ज्ञान उत्पन्न होता है। वे दोष नानाविध हैं, अर्थात्—

जहाँ प्रत्यक्षभ्रम हो वहाँ तो नेत्रादिगत प्रमाणदोषके समान विषयगत सादृश्यदोष भी हेतु होता है। प्रत्यक्षभ्रममें कहीं विषयगत सादृश्यदोषका व्यभिचार भी होता है, परन्तु बहुलतासे सादृश्यमें ही भ्रम होते हैं, इसलिये अधिक स्थानोंमें सादृश्यदोष ही भ्रमहेतु होता है। जहाँ विसादृश्यमें भ्रम अनुभवसिद्ध हो वहाँ सादृश्यदोष भ्रमका हेतु नहीं होता, क्योंकि यह नियम है कि दोष किसी एक रूपसे ही हेतु नहीं हुआ करता, किन्तु जिस दोषकी विद्यमानतासे जो भ्रम होता हो उसी दोषको उस भ्रमके प्रति हेतुता होती है। परोक्षभ्रममें सादृश्यकी अपेक्षा नहीं होती, इसलिये वहाँ विषयगत दोष हेतु नहीं होता, यह तो अनुभवसिद्ध ही है। किन्तु परोक्ष-रूप अनुमितिभ्रममें अनुमानदोष ही हेतु होता है। व्याप्यरूप हेतुके ज्ञानको अनुमान कहते हैं और हेतुमें व्यभिचारादि दोष तो न्यायग्रन्थोंमें प्रसिद्ध ही हैं, वे ही अनुमितिभ्रमके हेतु होते हैं। जहाँ शाब्दभ्रम हो वहाँ श्रोतामें वाक्यतात्पर्यका अनवधारणरूप दोष, वक्तामें विप्रलम्भकतादि दोष और शब्दमें अन्यथाबोधकत्वादि दोष शाब्दभ्रमके हेतु होते हैं। इस प्रकार अप्रमात्वके हेतु दोष अनुभवानुसार जान लेने चाहियें।

इस प्रसंगमें जो प्रमात्व और अप्रमात्वकी उत्पत्ति कही गई, वह यद्यपि विरुद्ध प्रतीत होती है, क्योंकि भूत-भविष्यत्-वर्तमानरूप सभी प्रमाओंमें प्रमात्वधर्म और सभी अप्रमाओंमें अप्रमात्वधर्म तो एक ही है, इसलिये उनकी उत्पत्ति कहना सम्भव नहीं होता। तथापि जब ज्ञान अपने कारणसे उत्पन्न होता है, तब कोई ज्ञान तो प्रमा होता है और कोई अप्रमा,

उनमें प्रमात्वविशिष्ट ज्ञान प्रमा होता है और अप्रमात्वविशिष्ट अप्रमा। इस प्रकार ज्ञानजनक सामग्रीके अधीन ज्ञानमें प्रमात्व-अप्रमात्वकी विलक्षणता होती है। कहीं ज्ञानकी ऐसी सामग्री होती है जिससे प्रमात्व-विशिष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति होती है और कहीं ऐसी सामग्री होती है जिससे अप्रमात्वविशिष्ट ज्ञानकी उत्पत्ति होती है। इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि यद्यपि प्रमात्व-धर्म एक ही है और सभी प्रमाओंमें उसका सम्बन्ध भी है; तथापि वह सम्बन्ध होता तो सामग्रीके अधीन ही है। अर्थात् जहाँ ज्ञानमें सामग्री प्रमात्वकी प्रयोजक होती है वहाँ प्रमात्वकी उत्पत्ति और जहाँ सामग्री अप्रमात्वकी प्रयोजक होती है वहाँ अप्रमात्वकी उत्पत्ति कही जाती है। अप्रमात्वका प्रयोजक दोष होता है, इसलिये दोषजन्य अप्रमात्व कहलाता है। दोषजन्य कहनेका तात्पर्य दोषप्रयोज्यमें है। यह प्रमात्व-अप्रमात्वकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें कहा गया, फिर इनके ज्ञानों-की तो मुख्य उत्पत्ति सम्भव होती ही है। यद्यपि सिद्धान्तमें प्रमात्व साक्षीभास्य है, इसलिये यदि प्रमात्वके ज्ञानकी भी उत्पत्ति कही जाय तो वह साक्षीकी उत्पत्ति सिद्ध होती है और यह बनता नहीं है। तथापि वृत्तिमें आरूढ साक्षी प्रमात्वादि और उनके ज्ञानोंको प्रकाश करता है, इसलिये वृत्ति भी ज्ञान कही जाती है और उस वृत्तिकी उत्पत्ति सम्भव होती है। यद्यपि यह वार्ता पूर्व कही जा चुकी है; तथापि इस अर्थके कथनसे श्रोता तथा अध्येताको बोध दृढ होता है और शास्त्रीय अर्थके मंदसंस्कारवाले पुरुषको बारम्बार कथनसे अनायास बोध होता है। इसी-लिये इस प्रकरणमें अनेक अर्थ बारम्बार कहे गये हैं और यह पुनरुक्ति-दोष नहीं है। इस प्रकार न्याय-मतमें परताप्रामाण्यवाद माना गया है और स्वतःप्रामाण्यवादमें संशयकी अनुपपत्तिरूप दोष दिया गया है।

७७ : न्याय-वैशेषिकमतका खण्डन

इस विषयमें न्याय-वैशेषिक मत सर्वथा असंगत है। प्रथम तो 'अनु-व्यवसायज्ञानसे ज्ञानका प्रकाश होता है' यही कथन असंगत है, क्योंकि

यदि ज्ञान अप्रकाशस्वभाव हो तो उसके सम्बन्धसे घटादिका प्रकाश न होना चाहिये, जो वस्तु आप प्रकाशशून्य है वह किसी दूसरे को कैसे प्रकाशित कर सकती है ? पूर्व नैयायिकादिने जो ऐसा कहा—

'घटादिके प्रकाशके लिये ज्ञान अपने प्रकाशकी अपेक्षा नहीं करता। जैसे घटादि अज्ञात भी जलधारणादि स्वकार्य करते हैं, तैसे ज्ञान भी अज्ञात हुआ विषयप्रकाशरूप स्वकार्य करता है।'

ऐसा कथन असंगत है, क्योंकि सभी भौतिक ज्योति आप प्रकाशरूप हुए ही अन्यको प्रकाशते हैं, किसी भी प्रकाशहीन ज्योतिसे किसीका प्रकाश होता हुआ नहीं देखा गया। यदि कोई प्रकाशहीन ज्योति भी केवल स्वभावबलसे ही स्वसम्वन्धीका प्रकाश कर सकती हो तो सुवर्णस्थ ज्योतिर्भागके स्वभावबलसे भी सुवर्णसम्बन्धी घटादिका प्रकाश होना चाहिये। परन्तु स्वरूपप्रकाशसे प्रकाशमान अग्न्यादि भौतिक ज्योतियोंसे ही घटादिका प्रकाश देखा जाता है और स्वरूपप्रकाशसे अप्रकाशमान सुवर्ण-रजतादि ज्योतियोंसे किसीका भी प्रकाशित होना नहीं देखा गया। इसलिये स्वरूपप्रकाशसे प्रकाशमान ज्ञानके सम्बन्धसे ही घटादिका प्रकाश होता है, ऐसा मानना चाहिये। इस प्रकार जबकि ज्ञान अपने स्वभावसे ही प्रकाशस्वरूप है, फिर केवल दृष्टान्तबलसे ज्ञानको प्रकाशशून्य कह देना, भारी भूल है, जबकि अनुभवसे भी उसकी स्वप्रकाशता सिद्ध होती है। अनुभवविरुद्ध दृष्टान्त कदापि आदरणीय नहीं हुआ करता। अर्थात् जहाँ दुर्बोध अज्ञात पदार्थका पुरुषको ज्ञान होता है, वहाँ वह अन्य पुरुषको सहर्ष ऐसा कहता है—'ज्ञातत्वं ज्ञातं नावशिष्यते ज्ञातुम्' (जानना जान लिया है अब कुछ जानना शेष नहीं रहा)। इसपर यदि अन्य पुरुष उत्तरमें ऐसा कहे—'एतज्ज्ञानम् ज्ञातुमवशिष्यते' (यह ज्ञान जानना शेष रहता है), तब अन्य पुरुषके इस वाक्यको श्रवण करके वह हास्य करता है अर्थात् ज्ञानके प्रकाशकी अवशेषता सुनकर वह हँसता है। इससे ज्ञानकी स्वप्रकाशता अनुभवसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'घटज्ञानं ज्ञातं न वा' (घटका ज्ञान जाना या नहीं) इस वाक्यके वक्ताको निर्बुद्धि ही कहा

जाता है। इससे स्पष्ट है कि ज्ञानमें अज्ञातता कदाचित् भी नहीं होती, अतः 'ज्ञानमें ज्ञातताके अभावसे ज्ञानगोचर अनुव्यवसाय होता है' ऐसा कथन सर्वथा असंगत है। किसी भी पुरुष को ऐसा संदेह कदापि नहीं होता कि मेरेको घटका ज्ञान हुआ है या नहीं। यदि घटका ज्ञान अज्ञात रहता हो तो कदाचित् ऐसा संदेह होना चाहिये, इससे स्पष्ट है कि ज्ञान कदापि अज्ञात नहीं होता, अतः 'ज्ञानका प्रकाशक अनुव्यवसाय होता है' ऐसा कथन असंगत है। यदि ऐसा कहा जाय—

'यदि ज्ञानगोचर ज्ञान न हो तो 'अयं घटः' तथा 'घटमहं जानामि' इस प्रकारसे दोनों ज्ञानोंमें विलक्षणता की प्रतीति न होनी चाहिये। क्योंकि हमारे (न्याय) मतमें तो प्रथम ज्ञानका विषय घट है और द्वितीय ज्ञानका विषय घटज्ञान है, इसलिये विषयभेदसे ज्ञानोंकी विलक्षणता सम्भव होती है। परन्तु सिद्धान्ती स्वप्रकाशज्ञानवादीके मतमें तो ज्ञानका विषय ज्ञान होता नहीं है, इसलिये उक्त दोनों ज्ञानोंका विषय एक घट ही होनेसे और विषयभेदके अभावसे इन दोनों ज्ञानोंमें विलक्षण प्रतीति न होनी चाहिये।'

यह शंका भी असंगत है। क्योंकि जैसे एक ही घटका कदाचित् 'अयं घटः' ऐसा ज्ञान होता है और कदाचित् 'अनित्यो घटः' ऐसा ज्ञान होता है, तहाँ यद्यपि विषयके भेदविना भी विलक्षण प्रतीति होती है; तथापि प्रथम ज्ञानमें घटकी अनित्यता नहीं भासती और द्वितीय ज्ञानमें घटकी अनित्यता भासती है। इसी प्रकार 'अयं घटः' इस ज्ञानमें घटकी ज्ञातता नहीं भासती और 'घटमहं जानामि' इस ज्ञानमें घटकी ज्ञातता भासती है, ज्ञानजन्य प्रकटताको ज्ञातता कहते हैं। इस प्रकार द्वितीय ज्ञानका विषय घटवर्ति ज्ञातता है, घटज्ञान नहीं। इसीलिये घटज्ञानसे उत्तर कालमें कदाचित् 'घटमहं जानामि' ऐसा ज्ञान होता है और कदाचित् 'ज्ञातो घटः' ऐसा प्रत्यक्ष होता है। 'ज्ञातो घटः' इस प्रत्यक्षका विषय घटकी ज्ञातता है' यह अर्थ भट्टमतसम्मत है और अनुभवानुसारी है। क्योंकि जैसे 'अनित्यो घटः' इस वाक्यसे अनित्य पदार्थ घटमें अनित्यत्व-

विशेषणकी प्रतीति सर्वसम्मत है, तैसे 'ज्ञातो घटः' इस वाक्यसे ज्ञात पदार्थं घटमें ज्ञातत्व-विशेषणकी प्रतीति सर्वानुभव सिद्ध है। इस प्रकार 'ज्ञातो घटः' इसी ज्ञानके अवसरमें 'घटमहं जानामि' ऐसा ज्ञान होता है, इसलिये 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान भी घटकी ज्ञातताको ही विषय करता है, घटज्ञानको विषय नहीं करता। इस रीतिसे यदि ज्ञानगोचर ज्ञान न माना जाय तो भी 'अयं घटः' तथा 'घटमहं जानामि' इस प्रकारके विलक्षण ज्ञान सम्भव होते हैं।

इस प्रकार अनुव्यवसायज्ञानका विषय ज्ञान होता है, यह नैयायिकमत असंगत है।

७८ : श्रीमुरारिमिश्रके मतका खण्डन

इसी प्रकार इस प्रसंगमें श्रीमुरारिमिश्रका मत भी न्यायमतके तुल्य ही है इसलिये वह असंगत है। यद्यपि श्रीमुरारिमिश्रके मतमें ज्ञानप्रकाशक अनुव्यवसायसे प्रमात्वका प्रकाश भी मान लिया गया है, इसलिये इतने अंशमें न्यायसे विशेषता है; तथापि यह विशेषता अकिञ्चित्कर है। क्योंकि ज्ञानको अप्रकाशस्वभाव मानकर अनुव्यवसायसे उसका प्रकाश मानना, भारी भूल है और इस अंशमें यह मत न्यायमतके तुल्य होनेसे असंगत है।

७९ : श्रीभट्टमतका खण्डन

इसी प्रकार श्रीभट्टमतमें जो ज्ञानका अनुमितिसे और वह भी जो परोक्षरूप ही प्रकाश माना गया है, यह तो न्यायसे भी अधिक असंगत है। क्योंकि इस मतमें भी 'ज्ञानका प्रकाशक जो अनुमिति, उससे प्रमात्वका प्रकाश होता है'—इतना अंश तो न्यायसे अनुकूल और सिद्धांतसे विलक्षण है। परन्तु जो ज्ञान घटादिविषयोंको अपरोक्ष करनेवाला है, उस प्रत्यक्षज्ञानका अनुमितिद्वारा केवल परोक्षरूप ही प्रकाश मानना, हास्यास्पद है।

८० : श्रीप्रभाकरमतका खण्डन

श्रीप्रभाकरमत इतने अंशमें तो सिद्धांतके अनुकूल है, अर्थात्—

(१) घटादिके ज्ञान अपने प्रकाशमें अनुव्यवसायकी अपेक्षा नहीं करते।

(२) प्रमात्वग्रहके लिये ज्ञानग्राहकसामग्रीके सिवा अन्यकी अपेक्षा नहीं रहती।

(३) सकल ज्ञान त्रिपुटीविषयक हैं, केलव विषयगोचर कोई ज्ञान नहीं होता। केवल विषयगोचर ज्ञान अप्रसिद्ध है।

(४) सकल ज्ञान 'घटमहं जानामि' की भाँति त्रिपुटीगोचर ही होते हैं। 'अयं घटः' इस ज्ञानमें भी जब इन्द्रियका घटसे सम्बन्ध होकर घटका ज्ञान हो, तब यह ज्ञान घटको, अपने स्वरूपको और अपने आश्रय आत्माको प्रकाशित करता है। इसी प्रकार यह ज्ञान अपने धर्म प्रमात्वका भी प्रकाश करता है। इस प्रकार घटज्ञान अपने प्रकाशमें अन्यकी अपेक्षा नहीं करता।

उपर्युक्त अंशमें श्रीप्रभाकरमत सिद्धांतके अनुकूल है। श्रीप्रभाकर-मतमें सिद्धांतसे केवल इतनी प्रतिकूलता है कि जैसा इस मतमें यह कहा गया है कि ज्ञान त्रिपुटीगोचर होता हुआ अपना प्रकाश भी आप ही करता हैं, यह विरुद्ध है। क्योंकि यह नियम है कि जो एक क्रियाका कर्ता होता है वही उस क्रियाका कर्म नहीं हुआ करता। इसलिये ज्ञानप्रकाशका कर्ता भी आप ही और प्रकाशका कर्म भी आप ही, यह कथन विरुद्ध है। सिद्धांतमें तो ज्ञान प्रकाशरूप माना गया है, इसलिये उक्त विरोध लागू नहीं होता।

इस प्रकार जो मत ज्ञानको प्रकाशरूप नहीं मानते हैं वे सभी अशुद्ध हैं।

८१ : स्वतःप्रामाण्यवादका अंगीकार सिद्धांतमतमें संशयानुपपत्तिरूप दोषका उद्धार

नैयायिकोंने पूर्व जो ऐसा कहा कि यदि ज्ञानग्रहकालमें प्रमात्वग्रह भी होता हो तो संशयानुपपत्ति होती है, अर्थात् ज्ञानग्रहकालमें जो प्रमात्वग्रह नियमसे होता हो तो इस विषयमें जो प्रायः संशयोत्पत्ति होती है, वह न होनी चाहिये। इसका समाधान यह है—

ज्ञानग्राहक सामग्रीसे प्रमात्वका ग्रह तो होता है, परन्तु दोषाभाव-सहित ज्ञानसामग्रीसे ही प्रमात्वग्रह होता है, यह विषय आगे कहेंगे। जहाँ संशय हो वहाँ दोषाभाव नहीं और जहाँ दोष नहीं वहाँ संशय भी नहीं। क्योंकि संशयज्ञान भी भ्रम ही है और भ्रमकी उत्पत्तिमें दोष हेतु होता ही है, इसलिये संशयस्थलमें दोषाभाव असम्भव है। परन्तु प्रमात्व-ज्ञानमें तो दोषाभाव ही हेतु होता है, इसलिये जहाँ संशयरूप दोष होता है वहाँ प्रमात्वका ज्ञान नहीं होता और इसीलिये वहाँ संशयका सम्भव होता है। सिद्धांतमें स्वतःप्रामाण्यग्रहका यह लक्षण है कि वृत्तिरूप ज्ञानका साक्षीसे प्रकाश होता है, इसलिये वहाँ ज्ञानग्राहक सामग्री साक्षी ही होता है और फिर उसीसे वृत्तिज्ञानके प्रमात्वका ग्रह भी होता है। परन्तु यहाँ ऐसी आपत्ति होती है कि किसी स्थानमें ज्ञान तो प्रमा ही हो और फिर भी कोई ऐसा विलक्षण दोष खड़ा हो जाय कि जिससे अनिर्वचनीय भ्रमकी उत्पत्तिकी नौबत तो नहीं आई, इसलिये यद्यपि ज्ञान तो प्रमा ही रहे तथापि प्रमात्वका प्रकाश जो साक्षीद्वारा होना था उसमें प्रतिबन्धक हो जाय। तब ऐसे स्थलमें यद्यपि ज्ञानग्राहक सामग्री साक्षी है; तथापि प्रमात्वका ग्रहण नहीं होता, इसलिये ऐसे स्थलमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होती है। अतः इस अव्याप्तिके निवारणार्थ 'ज्ञानग्राहक दोषाभावसहित सामग्रीसे प्रमात्वग्रहको स्वतःप्रामाण्यग्रह कहते हैं' ऐसा लक्षण करना चाहिये। उक्त स्थलमें यद्यपि ज्ञानग्राहक सामग्रीसे तो प्रमात्वग्रह नहीं हुआ इसलिये अव्याप्ति रही; तथापि 'दोषाभावसहित ज्ञानग्राहक सामग्रीसे प्रमात्वग्रह

होता है और उसको स्वतःप्रामाण्यग्रह कहते हैं' इस लक्षणके अनुसार उक्त आपत्तिस्थलमें दोषाभावसहित सामग्री नहीं रही, किन्तु दोषसहित सामग्री ही रही। इसलिये उक्त स्थल लक्ष्य नहीं रहा और फिर अव्याप्तिशंका भी नहीं रही। इस प्रकार ज्ञानके प्रमात्वका प्रकाशक तो दोषाभावसहित साक्षी ही होता है। इसके विपरीत अप्रमात्वग्रह तो साक्षीसे नहीं होता, क्योंकि भ्रमका लक्षण दोषजन्यत्व अथवा निष्फलप्रवृत्तिजनकत्व, अथवा अधिष्ठानसे विषमसत्तावालेका अवभास होता है। इस प्रकार दोषघटित, निष्फलप्रवृत्तिघटित तथा विषमसत्ताघटित भ्रमके लक्षण हैं और वे दोषादि साक्षीके विषय नहीं होते। इसलिये स्वतःप्रामाण्यग्रहके उपर्युक्त लक्षणकी इस अप्रमात्वमें अतिव्याप्ति भी नहीं होती, किन्तु नैयायिकोंकी भाँति अप्रमात्वका ज्ञान तो निष्फल प्रवृत्ति देखकर ही होता है। इसी प्रकार यदि ज्ञानकी सामान्य सामग्रीसे अप्रमात्वकी भी उत्पत्ति मानी गई हो तो 'सकल ज्ञान अप्रमा होने चाहिये' ऐसी आपत्ति हो सकती है। परन्तु अप्रमात्वकी उत्पत्तिमें हेतुरूप ज्ञानकी उत्पादक सामग्री दोषसहित मानी गई है, इसलिये यह आपत्ति नहीं रहती। इसका यह अर्थ है कि दोषसहित नेत्रानुमानादिसे अप्रमाज्ञानकी उत्पत्ति होती है और अप्रमात्वविशिष्ट भ्रमज्ञानकी उत्पत्ति ही इस प्रकरण में अप्रमात्वकी उत्पत्ति कही जाती है। तथा यह प्रमात्वग्रहसे विलक्षण हैं। परन्तु प्रमात्वकी उत्पत्ति तो ज्ञानकी सामान्य सामग्रीसे ही होती है।

८२ : न्यायमत (परतःप्रामाण्यवाद) में दोष

नैयायिक मतमें प्रमात्वकी उत्पत्तिमें ज्ञानसामग्रीसे अन्य गुणको जो कारणरूप कहा गया, वह भी असंगत है। क्योंकि प्रत्यक्षस्थलमें इन्द्रियका जो अधिक अवयवोंसे संयोगरूप गुण कहा गया है, वह तो निरवयव रूपादिके प्रत्यक्षमें सम्भव नहीं होता और अनुमितिमें जो व्याप्यहेतुका पक्षमें ज्ञानरूप गुण कहा गया, वह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि निरवयव रूपादिमें तो अवयवके अभावसे संयोग ही असम्भव है और जहाँ

वह्निसहित पर्वतमें धूलिपटलमें धूमभ्रम होकर वह्निकी अनुमिति हो, वहाँ यद्यपि उक्त गुण नहीं है तथापि वह्निकी अनुमितिप्रमा तो होती ही है। इसलिये यह स्पष्ट है कि प्रमात्वकी उत्पत्तिमें गुणको जनकता सम्भव नहीं होती, किन्तु ज्ञानसामान्यकी सामग्रीसे ही प्रमात्वकी उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा कहा जाय—

'ज्ञानसामान्यकी सामग्रीसे ही प्रमात्वकी उत्पत्ति मानी जाय तो भ्रमस्थलमें भी ज्ञानसामान्यसामग्री होनेसे प्रमाज्ञान ही होना चाहिये।' इसका यह समाधान है—

जहाँ दोष हो वहाँ प्रमाज्ञान नहीं होता, इसलिये प्रमात्वकी उत्पत्तिमें दोष प्रतिबन्धक होता और सभी कार्योंकी उत्पत्तिमें प्रतिबन्धकाभाव ही हेतु होता है। इसलिये दोषाभावसहित ज्ञानकी सामग्रीसे ही प्रमात्वकी उत्पत्ति हो सकती है। यहाँ प्रमात्वकी उत्पत्ति कहनेसे प्रमात्वविशिष्ट ज्ञानकी उत्पत्तिमें ही तात्पर्य है, इसलिये प्रमात्वधर्मकी उत्पत्ति कहना असंगत नहीं। इस प्रकार दोषाभावसहित ज्ञानकी उत्पादक जो नेत्रादिरूप सामग्री उसीसे प्रमाज्ञानकी उत्पत्ति होनेसे प्रमात्वकी उत्पत्ति स्वतः होती है परतः नहीं।

यद्यपि ज्ञानसामान्यकी सामग्री तो इन्द्रिय-अनुमानादि ही हैं, सामान्य ज्ञानका कारण दोषाभाव नहीं, परन्तु ऊपर प्रमात्वकी उत्पत्तिमें दोषाभाव भी कारणरूप कहा गया, इसलिये प्रमात्वसामान्यसामग्रीसे अधिक कारणजन्य हो जानेसे परतः प्रामाण्यका अंगीकार हो जाता है। तथापि यदि ज्ञानसामान्यकी सामग्रीसे अधिक किसी भावरूप सामग्रीकी अपेक्षा मानी गई हो तो परतः प्रामाण्यकी आपत्ति हो सकती है, परन्तु अभावरूप दोषाभावकी अपेक्षासे ही परतःप्रामाण्यग्रहकी सिद्धि नहीं हो जाती। इस प्रकार ज्ञानकी सामग्री साक्षी है, अर्थात् दोषाभावसहित साक्षीसे प्रमात्वका ज्ञान होता है और दोषसहित इन्द्रिय-अनुमानादिरूप ज्ञानोत्पादक सामग्रीसे अप्रमात्वकी उत्पत्ति होती है। चूंकि ज्ञानसामान्यकी सामग्री इन्द्रिय-अनुमानादि हैं और दोष उनसे पर है, इसलिये अप्रमात्वकी उत्पत्ति परसे होती है और

भ्रम होकर प्रवृत्ति होनेपर जब फलका लाभ नहीं होता, तब अप्रमात्वका जो अनुमितिज्ञान होता है वह अनुमानसे होता है। क्योंकि अनुमान ज्ञान-ग्राहकसामग्री साक्षीसे भिन्न है, इसलिये अप्रामाण्यग्रह भी परसे ही होता है। उस अनुमानका आकार यह है—

इदं जलज्ञानं अप्रमा, निष्फलप्रवृत्तिजनकत्वात्, यत्र यत्र निष्फलप्रवृत्ति-जनकत्वं तत्र अप्रमात्वं, यथा भ्रमान्तरे। (निष्फलप्रवृत्तिजनकत्वरूप हेतुसे यह जलज्ञान अप्रमा है, जहाँ-जहाँ निष्फलप्रवृत्तिजनकत्व है वहाँ अप्रमा होता है, जैसा दूसरे भ्रमोंमें)

इस प्रकार ज्ञानकी उत्पत्तिकालमें ही साक्षीसे ज्ञानके स्वरूपका प्रकाश होता है और ज्ञानवर्ति प्रमात्वका भी प्रकाश होता है, यह विषय सिद्ध हुआ।

८३ : अख्यातिवादीके वचनका परिहार

निश्चय ज्ञानका संशयज्ञानसे विरोध होता है, इसलिये जहाँ प्रमात्वका निश्चय हो जाय वहाँ प्रमात्वसंशय नहीं रहता। इस प्रकार यद्यपि प्रमात्व-निश्चयका प्रमात्वसंशयसे विरोध है और दोनो एक स्थलमें नहीं रह सकते; तथापि प्रमात्वनिश्चयका भ्रमत्वसंशयसे विरोध नहीं है। इस-लिये प्रमात्व निश्चयके रहते हुए भ्रमत्वसंशयके कारण निष्कम्प प्रवृत्तिका अभाव होगा।'

अख्यातिवादीका उक्त वचन असंगत है। यद्यपि प्रमात्वसंशयका विरोधी प्रमात्वनिश्चय ही है और भ्रमत्वसंशयका विरोधी प्रमात्वनिश्चय नहीं है, क्योंकि समान विषयमें ही संशय-निश्चय विरोधी होते हैं तथा चूँकि यहाँ प्रमात्वनिश्चय व भ्रमत्वसंशयके विषय भिन्न-भिन्न हैं, इसलिये अख्यातिवादोक्त वचन संगत भी है। तथापि जिस ज्ञानमें प्रमात्वनिश्चय हो जाय उस ज्ञानमें भ्रमत्वनिश्चय अथवा भ्रमत्वसंशय नहीं हुआ करता, यह तो अनुभव सिद्ध ही है, इसलिये प्रमात्वनिश्चय व भ्रमत्वसंशयका भी विरोधी है। यदि विचारसे देखा जाय तो प्रमात्वसंशय और भ्रमत्वसंशयका कोई भेद नहीं है, किन्तु दोनों एक ही पदार्थ हैं। क्योंकि

'एतज्ज्ञानं प्रमा न वा' (यह ज्ञान प्रमा है वा नहीं) प्रमात्वसंशयका यही आकार बनता है। इसमें विधि-कोटि प्रमात्व और निषेध-कोटि भ्रमत्व है, क्योंकि ज्ञानमें प्रमात्वका निषेध करनेपर भ्रमत्व ही शेष रहता है। इसी प्रकार 'एतज्ज्ञानं भ्रमो न वा (यह ज्ञान भ्रम है वा नहीं) ऐसा भ्रमत्वसंशयका आकार है। इसमें विधि-कोटि भ्रमत्व और निषेध-कोटि प्रमात्व है, क्योंकि ज्ञानमें भ्रमत्वका निषेध करनेपर प्रमात्व ही शेष रहता है। इस प्रकार यद्यपि दोनों संशयोंमें भ्रमत्व-प्रमात्व दोनों कोटि समान हैं, इसलिये प्रमात्वसंशय और भ्रमत्वसंशयका कोई भेद नहीं रहता; तथापि जिसमें विधिकोटि प्रमात्व है वह तो प्रमात्वसंशय कहा जाता है और जिसमें विधिकोटि भ्रमत्व है वह भ्रमत्वसंशय कहलाता है।

इस प्रकार प्रमात्वसंशय और भ्रमत्वसंशयका विषय समान होनेसे प्रमात्वनिश्चय हो जानेपर जैसे प्रमात्वसंशय नहीं रहता तैसे ही भ्रमत्व-संशय भी नहीं रहता। इसलिये सिद्धांतमतमें भ्रमज्ञानको मान लेनेपर भी निष्कम्प प्रवृत्ति सम्भव होती है। अनिर्वचनीयके निश्चयको भ्रम-निश्चय कहते हैं।

८४ : भ्रांतिज्ञानकी त्रिविधता और वृत्तिभेदका उद्धार

इस प्रकार संशय व निश्चयके भेदसे भ्रमज्ञान दो प्रकारका होता है। तर्कज्ञान भी भ्रमनिश्चयके अंतर्भूत है, क्योंकि व्याप्यके आरोपसे व्यापकके आरोपको तर्क कहते हैं। जैसे 'यदि वह्निर्न स्यात्तदा धूमोऽपि न स्यात्' (यदि अग्नि न होती तो धूम भी न होता) ऐसा ज्ञान धूम-वह्निसहित देशमें हो वह तर्क है। यहाँ वह्निका अभाव तो व्याप्य है और धूमका अभाव व्यापक है, क्योंकि वह्न्यभावके आरोपसे धूमाभावका आरोप होता है और वह्नि-धूमके होते हुए वह्न्यभाव व धूमाभावका ज्ञान होता है, इसलिये भ्रम है। बाध होते हुए भ्रम हो उसको आरोप कहते हैं। यहाँ धूम-वह्निका सद्भाव है इसलिये उनके अभावका बाध है, उनके होते हुए भी पुरुषकी इच्छासे वह्न्यभाव और धूमाभावका भ्रमज्ञान होता

है, इसलिये आरोप कहा जाता है। इस प्रकार आरोपस्वरूप तर्क भी भ्रमके अन्तर्भूत है, पृथक् नहीं। इस रीतिसे वृत्तिके प्रसिद्ध भेद कहे गये और अवांतर भेद तो अनन्त हैं––

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें वृत्तिभेदनिरूपणं, सत्ख्यात्यादिनिराकरणं, अनिर्वचनीय-ख्यातिमण्डनं एवं स्वतः प्रमात्वनिरूपणं नामक सप्तम प्रकाश समाप्त ॥७॥

––:०:––

अष्टम प्रकाश

जीवेश्वरस्वरूप तथा वृत्तिप्रयोजनसहित कल्पितनिवृत्तिस्वरूप-निरूपण

१ : अज्ञानविषयक विचार तथा वृत्तिका प्रयोजन कहनेकी प्रतिज्ञा

सप्तम प्रकाशमें वृत्तिका स्वरूप कहा गया, अब वृत्तिका प्रयोजन कहनेके लिये अष्टम प्रकाशका आरम्भ किया जाता है। वृत्तिका मुख्य प्रयोजन अज्ञानकी निवृत्ति ही है। तहाँ अनात्माकार घटादिवृत्तिसे तो घटादिकावच्छिन्नचेतनस्थ अज्ञानकी निवृत्ति होती है और अखण्ड ब्रह्माकारवृत्तिसे निरवच्छिन्नचेतनस्थ अज्ञानकी निवृत्ति होती है।

२ : अज्ञानका आश्रय व विषय

श्रीवाचस्पतिके मतमें वृत्तिसे नाश्य अज्ञानका आश्रय जीव है और ब्रह्म विषय है। अर्थात् अज्ञान रहता तो जीवके आश्रय है और ढाँपता है ब्रह्मको। परन्तु विवरणकारादिके मतमें अज्ञानका आश्रय व विषय शुद्ध चेतन ही है। जैसे ज्ञानकृत घटादिका प्रकाश ज्ञानकी विषयता कही जाती है, तैसे अज्ञानकृत स्वरूपका आच्छादन भी अज्ञानकी विषयता कही जाती है। चूँकि जीवभाव और ईशभाव अज्ञानाधीन हैं; इसलिये अज्ञानकृत जीव अज्ञानका आश्रय सम्भव नहीं होता। इस अर्थके ज्ञानमें उपयोगी प्रथम जीव-ईश्वरका स्वरूप निरूपण किया जायगा।

३ : अज्ञानका निरूपण

जीव-ईश्वरके स्वरूपके निरूपणमें उपयोगी अज्ञानका निरूपण किया जाता है। अज्ञान, अविद्या, प्रकृति, माया, शक्ति और प्रधान—ये सब एक ही पदार्थके नाम हैं, इनमें माया-अविद्याका भेद यह एकदेशीवाद है, वास्तविक नहीं। नैयायिकादि तो ज्ञानाभावको ही अज्ञान कहते हैं, परन्तु सिद्धान्तमतमें आवरण-विक्षेपशक्तिवान्, अनादि एवं भावरूप पदार्थका नाम 'अज्ञान' है। उसीको विद्याद्वारा नाश्य होनेके कारण 'अविद्या' प्रपञ्चका उपादान होनेसे 'प्रकृति' व 'प्रधान' दुर्घटको भी सम्पादन करनेवाली होनेसे 'माया' और स्वतन्त्रताके अभावसे 'शक्ति' नामोंसे अभिहित किया गया है।

४ : अज्ञानकी अनादि व भावरूपतामें शंका

यद्यपि अज्ञानको अनादि व भावरूप कथन करना संगत नहीं है। क्योंकि अद्वैत ग्रन्थोंका यह लेख है कि अज्ञान चेतनसे भिन्न है अथवा अभिन्न है, ये दोनों पक्ष सम्भव नहीं होते। अर्थात् 'नेह नानास्ति किञ्चन' (इस ब्रह्म में नानात्व कुछ भी नहीं है) इत्यादि श्रुतिवचनोंसे चेतनसे भिन्नका निषेध होता है और जड़-चेतनका अभेद तो सम्भव हो ही कैसे ? इसलिये चेतनसे अभिन्नका भी निषेध होता है। इसके साथ ही भिन्नत्व व अभिन्नत्वका परस्पर विरोध है, इसलिये अज्ञान चेतनसे भिन्नाभिन्न है, ऐसा कथन भी सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार अद्वैतप्रतिपादक श्रुतिके वचनोंसे विरोध होनेसे अज्ञानको सत्स्वरूप कहना भी असंगत है तथा प्रपञ्चका कारण होनेसे इसको तुच्छस्वरूप अथवा असत्स्वरूप भी नहीं नहीं कहा जा सकता। चूँकि परस्पर विरोधी धर्म एक अधिकरणमें नहीं रह सकते, इसलिये यदि इसको सत्-असत् उभयरूप कहा जाय तो यह भी सम्भव नहीं होता। तैसे ही यदि अज्ञानको सावयव माना जाय तो न्यायमतमें तो द्रव्यके आरम्भक उपादानको अवयव कहते हैं और सांख्यमतमें द्रव्यके परिणामी उपादानको अवयव कहते हैं। यदि केवल

उपादानको ही अवयव कहा जाय तो शब्दका उपादानरूप आकाश भी शब्दका अवयव मानना होगा, तैसे ही अपने गुण-क्रियाके उपादान-कारण घटादि भी रूपादि गुणों और चलनादि क्रियाओंके अवयव होंगे। इसलिये द्रव्यके उपादान-कारणको ही अवयव कहा जाता है, अन्यके उपादानको नहीं और अवयवजन्य ही सावयव कहलाता है। अब यदि अज्ञान द्रव्य हो तो उसमें सावयवता सम्भव हो, परन्तु अज्ञानमें द्रव्य एवं द्रव्यत्व सम्भव नहीं होते, क्योंकि द्रव्य नित्य-अनित्यके भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमेंसे अज्ञानको यदि नित्य द्रव्यस्वरूप माना जाय तो उसे सावयव कहना असंगत होगा और फिर उसका ज्ञानसे नाश न होना चाहिये। यदि उसे अनित्य द्रव्यस्वरूप कहा जाय तो आत्मासे भिन्न होनेसे उसका अवयव भी अनित्य ही होगा। फिर उस अवयवका अवयव भी अनित्य होनेसे अनवस्था होगी और यदि अंत्य अवयवको परमाणु अथवा प्रधानकी भाँति नित्य माना जाय तो अद्वैतप्रतिपादक श्रुति-वचनका विरोध होगा, क्योंकि न्यायमतमें नित्य परमाणु और सांख्यमतमें नित्य प्रधानका अंगीकार श्रुतिविरुद्ध है। इस प्रकार द्रव्यत्वके अभावसे अज्ञानमें सावयवता सम्भव नहीं होती और प्रपञ्चकी उपादानताके कारण 'अज्ञान निरवयव है' ऐसा कहना भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि उपादान-कारण सावयव ही होता है। यद्यपि न्यायमतमें शब्दके उपादान-कारण आकाशको निरवयव माना गया है; तथापि 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः' (उस अथवा इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ) इस श्रुतिसे विरुद्ध है, क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु निरवयव नहीं हुआ करती। इसी प्रकार यद्यपि न्यायमतमें द्व्यणुकके उपादान-कारण परमाणुको भी निरवयव माना गया है, परन्तु निरवयव परमाणुके संयोगका अभाव और फिर द्व्यणुकादिकी उत्पत्तिके असम्भवादि दोषोंके कारण श्रीसूत्रकारने शारीरकशास्त्रके द्वितीयाध्यायस्थ द्वितीय पादमें परमाणुकी निरवयवताका निषेध किया है। इसलिये प्रपञ्चके उपादानकारण अज्ञानको निरवयव कहना भी सम्भव नहीं होता, किन्तु

अज्ञानमें प्रपञ्चकी उपादानता 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' (मायाको संसारका उपादान-कारण जानना चाहिये) इस श्रुतिवचनसे प्रसिद्ध है, क्योंकि माया व अज्ञानका कोई भेद नहीं है। इस प्रकार अज्ञानमें सावयवता अथवा निरवयवता भी सम्भव नहीं होती, तैसे ही परस्पर विरुद्ध उभय-रूपता भी सम्भव नहीं होती।

इस प्रकार किसी भी धर्मसे अज्ञानका निरूपण अशक्य होनेसे उसको बहुत ग्रन्थोंने अनिर्वचनीय ही कहा है। इसलिये ऐसे अनिर्वचनीय अज्ञानको अनादि एवं भावरूप कहना किसी प्रकार सम्भव नहीं होता। भावरूपता कहनेसे उसकी सद्रूपता भी सिद्ध होती है और उसकी सद्रूपताका तो निषेध किया ही जा चुका है।

५ : उक्त शंकाका समाधान

यद्यपि ऐसा है, तथापि जैसे अज्ञान सद्विलक्षण है तैसे असद्विलक्षण भी है, इसलिये अज्ञानमें अबाध्यत्वरूप सत्त्व तो नहीं है, किन्तु इसमें तुच्छ-रूप असत्से विलक्षणवत् सत्त्वका ही अंगीकार है और इसीलिये इसे सत्-असत्से विलक्षण अनिर्वचनीय कहा गया है। सर्वथा वचनके अगोचरको ही अनिर्वचनीय नहीं कहा जाता, किन्तु पारमार्थिक सत्स्वरूप ब्रह्मसे विलक्षण और सर्वथा सत्तास्फूर्तिशून्य शशश्रृंगादि असत्से विलक्षण ही 'अनिर्वचनीय' शब्दका पारिभाषिक अर्थ है। इसलिये इसे अनादि एवं भावरूप कहना सम्भव होता है। परन्तु जैसा न्यायमतमें अज्ञानको ज्ञानाभावरूप निषेधमुख प्रतीतिका विषय माना गया है, तैसा अद्वैत ग्रन्थोंमें 'अज्ञान' शब्दका अर्थ नहीं है। किन्तु जैसे रज्जुमें सर्पादि ज्ञानबाध्य विधिमुख प्रतीतिके विषय होते हैं, तैसे सिद्धान्तमें अज्ञान ज्ञानसे निवर्तनीय विधिमुख प्रतीतिका विषय होता। 'अज्ञान' शब्दमें अकारका विरोधी अर्थ है निषेध नहीं, यह पूर्व कहा जा चुका है और इसीलिये अज्ञानमें भावरूपताका कथन सम्भव होता है। इसके साथ ही प्राचीन आचार्य विवरणकारादिने अत्यंत उद्घोषसे प्रकाशविरोधी

अंधकारको भावरूप प्रतिपादन करके ज्ञानविरोधी अज्ञानको भी भावरूप ही प्रतिपादन किया है, इसलिये अज्ञानको भावरूप श्रवण करके जो उत्कर्ण × होते हैं वे अल्पश्रुत हैं।

इस प्रकार अज्ञान भावरूप है और उत्पत्तिरहित होनेसे अनादि है, परन्तु घटकी भाँति अवयवसमवेतरूप सावयव नहीं है, किन्तु अन्धकारके समान सांश है।

६ : जीव-ईश्वरविषय विचार और अविद्या-मायापूर्वक जीव-ईश्वरके स्वरूपमें चार पक्ष

शुद्ध चेतनके आश्रित मूलप्रकृतिमें चेतनके प्रतिबिम्बको ईश्वर कहते हैं और आवरणशक्तिविशिष्ट मूलप्रकृतिके अंशोंको अविद्या कहते हैं। उस अविद्यारूप अनन्त अंशोंमें चेतनके अनन्त प्रतिबिम्बोंको अनन्त जीव कहते हैं। तत्त्वविवेक ग्रन्थोंमें जीव व ईश्वरके स्वरूपका निरूपण इस प्रकार किया गया है।

(१) जगत्का मूलभूत जो प्रकृति उसके दो रूप कल्पित हैं और इसीलिये मूलप्रकृतिके प्रसंगमें 'माया चाविद्या च स्वयमेव भवति' (वह मूलप्रकृति आप ही माया और आप ही अविद्या होती है) ऐसी श्रुति है। उनमें शुद्ध सत्त्वप्रधान तो माया और मलिनसत्त्वप्रधान अविद्या होती है। रजोगुण और तमोगुणसे अभिभूत सत्त्वको मलिनसत्त्व कहते हैं और जिससे रजोगुण-तमोगुण अभिभूत हों उसको शुद्धसत्त्व कहते हैं तथा तिरस्कृतको अभिभूत कहा जाता है। उक्त रूपवती मायामें प्रतिबिम्ब ईश्वर और अविद्यामें प्रतिबिम्ब जीव कहलाता है। ईश्वरकी उपाधि माया शुद्धसत्त्वप्रधान होनेसे ईश्वर तो सर्वज्ञ है, परन्तु जीवकी उपाधि अविद्या मलिनसत्त्वप्रधान होनेसे जीव अल्पज्ञ है।

(२) कोई ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि उक्त श्रुतिमें प्रकृति जो दो रूपवाली कही गई है, उसमें हेतु यह है कि विक्षेप-शक्तिकी प्रधानतासे

× ऊँचे कान करना, अर्थात् आश्चर्यके साथ सुनना।

उसे माया और आवरण-शक्तिकी प्रधानतासे उसे अविद्या कहा गया है। चूँकि ईश्वरकी उपाधि मायामें आवरण-शक्ति नहीं है, इसलिये मायामें प्रतिबिम्ब ईश्वर तो अज्ञ नहीं है, किन्तु आवरण-शक्तिमती अविद्यामें प्रतिबिम्ब जीव ही अज्ञ है।

(३) संक्षेपशारीरकमें ऐसा कहा गया है कि श्रुतिने ईश्वरकी उपाधिको कारणरूप और जीवकी उपाधिको कार्यरूप कथन किया है, इसलिये मायामें प्रतिबिम्ब ईश्वर और अन्तःकरणमें प्रतिबिम्ब जीव है। इस प्रसंगमें प्रतिबिम्ब को जीव कहें अथवा ईश्वर कहें, परन्तु केवल प्रतिबिम्बमें जीवता अथवा ईश्वरता इष्ट नहीं है, किन्तु प्रतिबिम्बत्वविशिष्ट चेतनमें ही जीवता व ईश्वरता जाननी चाहिये। क्योंकि यदि केवल प्रतिबिम्बमें जीवता-ईश्वरता हो तो जीववाचक और ईश्वरवाचक पदमें भाग-त्याग लक्षणाका असम्भव होगा।

(४) वास्तवमें परमार्थ तो यह है कि पूर्वोक्त सभी पक्षोंमें बिम्ब-प्रतिबिम्बका अभेद ही है। इस वादमें प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं है, किन्तु जैसे ग्रीवास्थ मुखमें जो प्रतिबिम्बत्वकी प्रतीति होती है वह यद्यपि भ्रमरूप ही प्रतीति होती है, इसलिये प्रतिबिम्बत्व-धर्म तो मिथ्या है; तथापि प्रतिबिम्ब स्वरूपसे मिथ्या नहीं। यह अर्थ आगे स्पष्ट किया जायगा।

७ : उक्त चार पक्षोंमें मुक्त जीवोंका शुद्ध ब्रह्मसे अभेद

उक्त चारों पक्षोंमें चूँकि जीव व ईश्वर दोनोंको प्रतिबिम्ब माना गया है, इसलिये मुक्त जीवोंका प्राप्य शुद्ध ब्रह्म है, ईश्वर नहीं। क्योंकि जब एक उपाधिका विनाश हो तब उस उपाधिके प्रतिबिम्बका अपर प्रतिबिम्बसे अभेद नहीं होता, किन्तु अपने बिम्बसे ही अभेद होता है। यहाँ चूँकि ईश्वर भी प्रतिबिम्ब है, इसलिये जीवरूप प्रतिबिम्बकी उपाधिके नाश होने पर ईश्वररूप प्रतिबिम्बसे उसका अभेद सम्भव नहीं होता, किन्तु बिम्बभूत शुद्ध ब्रह्मसे ही उसका अभेद हो सकता है।

८: उक्त चार पक्षोंमें षट् अनादि पदार्थ निरूपण करके त्रिविध चेतनका अंगीकार

इस प्रकार उपर्युक्त चारों पक्षोंमें जीव, ईश्वर तथा शुद्ध ब्रह्मके भेदसे त्रिविध चेतनका अंगीकार किया गया है। इसीलिये वार्तिकमें षट् पदार्थ अनादि माने गये हैं और वे इस प्रकार हैं—(१) शुद्धचेतन, (२) ईश्वरचेतन, (३) जीवचेतन, (४) अविद्या, (५) अविद्या व चेतनका परस्पर सम्बन्ध और (६) इन पाँचोंका परस्पर भेद। ये षट् पदार्थ उत्पत्तिशून्य होनेसे अनादि कहे गये हैं, इनमें चेतनके तीन ही भेद कहे गये हैं।

९ : चित्रदीपमें श्रीविद्यारण्यस्वामीद्वारा उक्त चेतनके चार भेद

परन्तु चित्रदीपमें श्रीविद्यारण्यस्वामीने चेतनके चार भेद कहे हैं, जैसे घटाकाश, महाकाश, जलाकाश और मेघाकाशके भेदसे आकाशके चार भेद किये जा सकते हैं। अर्थात् घटावच्छिन्न आकाशको 'घटाकाश' निरवच्छिन्न आकाशको 'महाकाश' घटजलमें आकाशके प्रतिबिम्बको 'जलाकाश' और मेघजलके सूक्ष्म कणोंमें आकाशके प्रतिबिम्बको 'मेघाकाश' कहा जाता है। इसी प्रकार चेतनके भी (१) कूटस्थ, (२) ब्रह्म, (३) जीव और (४) ईश्वरके भेदसे चार भेद किये गये हैं। उनमें स्थूल-सूक्ष्मरूप शरीरके अधिष्ठानचेतनको 'कूटस्थ' निरवच्छिन्न चेतनको 'ब्रह्म' शरीररूपी घटमें स्थित बुद्धिस्वरूपी जलमें जो चेतनका प्रतिबिम्ब, उसको 'जीव' और मायारूपी मेघमें स्थित जलकणसमान जो बुद्धिवासनाएँ, उनमें चेतनके प्रतिबिम्बको 'ईश्वर' कहते हैं। सुषुप्तिमें जो बुद्धिकी सूक्ष्म अवस्था उसको वासना कहते हैं। यदि केवल बुद्धिवासनाओंमें चेतनके प्रतिबिम्बको ईश्वर कहा जाय तो बुद्धिवासनाएँ अनन्त होनेसे ईश्वर भी अनन्त होने चाहिये, इसलिये बुद्धिवासनाविशिष्ट अज्ञानमें चेतनके प्रतिबिम्बको ईश्वर कहा

गया है । तथा विज्ञानमयकोश जीव कहलाता है, अर्थात् जाग्रत्-स्वप्न अवस्थामें स्थूल अन्तःकरणको विज्ञान कहते हैं और उसमें प्रतिबिम्बको विज्ञानमय कहा जाता है । 'मैं कर्ता-भोक्ता, स्थूल-दुर्बल एवं काण-बधिर हूँ' इस प्रकार विशेष विज्ञानवाला जीव होता है और सुषुप्ति-अवस्थामें बुद्धिवासनासहित अज्ञानरूप आनन्दमयकोशवाला ईश्वर होता है । आनन्दमयकोशमें ईश्वरता मांडूक्योपनिषद्में भी प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार चित्रदीपमें चेतनके चार भेद कहे गये हैं ।

१० : बिम्ब-प्रतिबिम्बवादसे आभासवादका भेद

श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतमें तो प्रतिबिम्ब मिथ्या है, परन्तु पूर्वोक्त पक्षोंमें बिम्ब-प्रतिबिम्बका अभेद होनेसे प्रतिबिम्ब सत्य है । अर्थात् यद्यपि उपाधिके सन्निधानसे एक ही पदार्थमें बिम्बत्व-प्रतिबिम्बत्वका केवल भ्रम होता है; तथापि वस्तुतः प्रतिबिम्ब होता तो बिम्बका स्वरूप ही है । श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतमें मुखरूप बिम्बके सन्निधानसे दर्पणादिमें अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति होती है । इसलिये जीव-ईश्वरके स्वरूप मिथ्या हैं । इस विषयको आगे स्पष्ट किया जायगा ।

११ : आभासवादकी रीतिसे जीव-ब्रह्मके अभेदबोधक वाक्योंमें बाधसमानाधिकरण्य

जीव-ब्रह्मके अभेदप्रतिपादक वाक्योंमें बाधसमानाधिकरण्य ही होता है, अभेदसमानाधिकरण्य नहीं । जैसे जहाँ स्थाणुमें पुरुषभ्रम होकर जब स्थाणुका ज्ञान हो जाय तब 'यह पुरुष स्थाणु है' इस प्रकार स्थाणुसे पुरुषका अभेद कहा जाय, तहाँ 'पुरुषके अभाववाला स्थाणु है' अथवा 'पुरुषका अभाव स्थाणु है' इस रीतिसे बाध होता है । जिस मतमें अभाव अधिकरणसे पृथक् माना गया है, उस मतमें तो 'पुरुषके अभाववाला स्थाणु है' ऐसा बाध होता है और जिस मतमें कल्पितका अभाव अधिष्ठानरूप है, उस मतमें 'पुरुषका अभाव स्थाणु है' ऐसा बाध होता है ।

इसी प्रकार 'जीव ब्रह्म है' इस वाक्यका 'जीवके अभाववाला ब्रह्म है' यह अर्थ होता है, अथवा 'जीवका अभाव ब्रह्म है' ऐसा अर्थ होता है। त्रिकाल-अभावको 'बाध' कहते हैं।

जहाँ कल्पित पदार्थका सत्य अधिष्ठानसे अभेद कहा जाय वहाँ उक्त रीतिसे बाधसमानाधिकरण्य ही विवक्षित होता है, न कि अभेदसमानाधिकरण्य।

१२ : कूटस्थ और ब्रह्मके अभेदस्थलमें अभेद (मुख्य) समानाधिकरण्य

जहाँ कूटस्थका ब्रह्मसे अभेद कहा जाय वहाँ तो अभेदसमानाधिकरण्य ही विवक्षित होता है। जैसे जहाँ जलाकाशका महाकाशसे अभेद कहा जाय वहाँ तो जलके बाधद्वारा ही जलाकाशका महाकाशसे बाधसमानाधिकरण्य होता है, परन्तु जहाँ घटाकाशका महाकाशसे अभेद कहा जाय वहाँ तो अभेदसमानाधिकरण्य ही होता है और इसीको मुख्यसमानाधिकरण्य भी कहते हैं।

इस प्रकार श्रीविद्यारण्यस्वामीने जीवका ब्रह्मसे बाधसमानाधिकरण्य ही लिखा है।

१३ : उक्त बाधसमानाधिकरण्यमें विवरणकारके वचनसे अविरोध

विवरणग्रन्थमें 'अहं ब्रह्मास्मि' इस वाक्यमें 'अहं' शब्दके अर्थ जीवका ब्रह्मसे मुख्यसमानाधिकरण्य लिखा है और सभी महावाक्योंमें बाधसमानाधिकरण्यका खण्डन किया है। श्रीविद्यारण्यस्वामीने विवरणकारके वचनसे संगति लगाते हुए इसका समाधान इस प्रकार किया है—

बुद्धिस्थ चिदाभास और कूटस्थका अन्योऽन्याध्यास है, क्योंकि चिदाभासविशिष्ट बुद्धिका अधिष्ठान कूटस्थ है और अधिष्ठान-अध्यस्तका अन्योऽन्याध्यास स्वाभाविक है। तहाँ अहंप्रतीतिका विषय तो चिदाभास-

विशिष्ट बुद्धि है और स्वयंप्रतीतिका विषय कूटस्थ है। 'अहं स्वयं जानामि' 'त्वं स्वयं जानासि' 'स स्वयं जानाति' (मैं आप जानता हूँ, तू आप जानता है, वह आप जानता है), इस प्रकार इन सभी प्रतीतियोंमें 'स्वयं' शब्दका अर्थ तो अनुगत है, परन्तु अहं-त्वं आदि शब्दोंका अर्थ व्यभिचारी है। यहाँ 'स्वयं' शब्दका अर्थ जो कूटस्थ वह तो सर्वत्र अनुगत होनेसे अधिष्ठान है, परन्तु अहंत्वं आदि शब्दोंका अर्थ चिदाभासविशिष्ट बुद्धिरूप जीव व्यभिचारी होनेसे अध्यस्त है। इसलिये कूटस्थमें जीवका स्वरूपाध्यास और जीवमें कूटस्थका सम्बन्धाध्यास होता है और इस प्रकार अन्योऽन्याध्यास होनेसे कूटस्थ-जीवका परस्पर विवेक नहीं होता। इसीलिये ब्रह्मसे कूटस्थके मुख्यसमानाधिकरण्यका जीवमें व्यवहार किया जाता है, क्योंकि जीवमें कूटस्थके धर्मोंका आरोप किये बिना मिथ्या जीवका तो सत्य ब्रह्मसे मुख्यसमानाधिकरण्य सम्भव ही कैसे हो? इस प्रकार स्वाश्रय अन्तःकरणका अधिष्ठान जो कूटस्थ, उसके धर्मकी विवक्षासे ही जीवका ब्रह्मसे मुख्यसमानाधिकरण्य कहा गया है।

इस प्रकार चित्रदीपमें श्रीविद्यारण्यस्वामीने विवरणकारके वचनसे अविरोधका प्रकार लिखा है।

१४ : विवरणोक्त जीव-ब्रह्मका मुख्यसमानाधिकरण्य और श्रीविद्यारण्यके वाक्यकी प्रौढिवादिता

यदि विवरणग्रन्थको पूर्व-उत्तर विचारा जाय तो श्रीविद्यारण्यस्वामी द्वारा उक्त अविरोधका प्रकार सम्भव नहीं होता, क्योंकि विवरणग्रन्थमें प्रतिबिम्बको बिम्बका स्वरूप ही माना गया है। इसलिये विवरणमतमें यद्यपि प्रतिबिम्बत्वरूप जीवत्व तो मिथ्या है; तथापि प्रतिबिम्बरूप जीव का स्वरूप मिथ्या नहीं, किन्तु उसका स्वरूप तो सत्य ही है और इसीलिये स्वरूपकी सत्यताके कारण जीवका ब्रह्मसे मुख्यसमानाधिकरण्य सम्भव होता है। परन्तु श्रीविद्यारण्यस्वामीने विवरणग्रन्थमें जो अपना समन्वयकारक अभिप्राय कथन किया वह तो प्रौढिवाद ही है। अर्थात्

श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतानुसार 'जबकि प्रतिबिम्बको मिथ्या मानकर भी जीवमें कूटस्थत्वविवक्षासे महावाक्योंमें विवरणोक्त मुख्यसंमानाधिकरण्य सम्भव हो जाता है, तब मुख्यसमानाधिकरण्यके लिये ही प्रतिबिम्बको सत्य अंगीकार करना व्यर्थ है।' इस प्रौढिवादसे ही श्रीविद्यारण्यस्वामी ने विवरणग्रन्थपर अपना अभिप्राय सूचित किया है, परन्तु विवरणग्रन्थ-का उक्त अभिप्राय नहीं है। 'प्रौढि' अर्थात् उत्कर्षसे, 'वाद' अर्थात् जो कथन किया जाय, उसको 'प्रौढिवाद' कहते हैं। आशय यह कि प्रति-बिम्बको मिथ्या मानकर भी महावाक्योंमें मुख्यसमानाधिकरण्यका प्रति-पादन किया जा सकता है, इस रूपसे उन्होंने अपना उत्कर्ष बोधन किया है।

१५ : श्रीविद्यारण्योक्त चेतनके चार भेदोंका अभिप्राय

इस प्रकार श्रीविद्यारण्यस्वामीकी उक्तिके अनुसार अन्तःकरणमें जो आभास वह जीव है और वह विज्ञानमयकोशरूप है तथा बुद्धिवासना-विशिष्ट अज्ञानमें जो आभास वह ईश्वर है और वह आनन्दमयकोश-रूप है। दोनोंका स्वरूप मिथ्या है, अर्थात् इधर कूटस्थ व जीवका अन्योऽन्याध्यास है और उधर ब्रह्म व ईश्वरका अन्योऽन्याध्यास है। इस-लिये जीवमें कूटस्थ-धर्मोंका आरोप करके कहीं पारमार्थिक ब्रह्मरूपता कथन की गई है और अध्यासिक ब्रह्मत्वकी विवक्षासे ईश्वरमें कहीं वेदान्तवेद्यत्वादि धर्म कहे गये हैं। इस प्रकार चेतनके चार भेदोंकी प्रक्रिया चित्रदीपमें कही गई है।

१६ : श्रीविद्यारण्यस्वामी उक्त बुद्धिवासनामें प्रतिबिम्बकी ईश्वरताका खण्डन

परन्तु जैसा ऊपर श्रीविद्यारण्यस्वामीने कथन किया है बुद्धिवासना में प्रतिबिम्बको ईश्वरता अथवा आनन्दमयकोशको ईश्वरता कहना सम्भव नहीं होता। जो बुद्धिवासनाविशिष्ट अज्ञानमें प्रतिबिम्बको ईश्वर

मानते हैं, उनके प्रति यह प्रश्न होता है कि ईश्वरभावकी उपाधि केवल अज्ञान है, अथवा वासनासहित अज्ञान है, अथवा केवल वासना है ? यदि उत्तरमें प्रथम पक्ष कहा जाय तो बुद्धिवासनाविशिष्ट अज्ञानमें प्रति बिम्बको जो ईश्वरता मानी गई है उससे विरोध होगा ।

यदि द्वितीय पक्ष कहा जाय तो वास्तवमें केवल अज्ञानको ही ईश्वर-भावकी उपाधि मानना चाहिये और बुद्धिवासनासहित अज्ञानको ईश्वर-भावकी उपाधि मानना निष्फल है । यदि श्रीविद्यारण्यस्वामीका अनुयायी ऐसे कहे—'केवल अज्ञानको ईश्वरभावकी उपाधि माना जाय तो ईश्वर-में सर्वज्ञता सिद्ध न होगी, इसलिये सर्वज्ञताके लाभार्थ बुद्धिवासना भी अज्ञानका विशेषण मानी गई है' तब ऐसा कथन भी असंगत है । क्योंकि अज्ञानमें स्थित सत्त्वांशकी सर्वगोचर वृत्तिसे ही सर्वज्ञताका लाभ सम्भव हो सकता है, फिर बुद्धिवासनाको अज्ञानका विशेषण मानना निष्फल है । बल्कि कहना चाहिये कि अज्ञानस्थ सत्त्व-अंशकी वृत्तिसे ही सर्वज्ञताका सम्भव है, बुद्धिवासनासे सर्वज्ञताकी सिद्धि होती ही नहीं । क्योंकि प्रत्येक बुद्धिवासनाको तो निखिलपदार्थगोचरता असम्भव है, फिर सर्वज्ञताके लाभार्थ सकल वासनाओंको ही अज्ञानका विशेषण मानना होगा और सर्व वासनाओंका सद्भाव प्रलयकालके विना अन्य किसी एक कालमें असम्भव है । इसलिये मानना होगा कि वासनाओंसे तो सर्वज्ञताकी सिद्धि हो ही नहीं सकती । इस प्रकार 'बुद्धिवासनासहित अज्ञान ईश्वरभावकी उपाधि है' यह द्वितीय पक्ष भी सम्भव नहीं होता ।

'केवल वासना ईश्वरभावकी उपाधि है' यदि ऐसा तृतीय पक्ष कहा जाय, तब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रत्येक वासनामें प्रत्येक प्रति-विम्ब ईश्वर है अथवा सकल वासनाओंमें एक प्रतिविम्ब ईश्वर है ? यदि इनमेंसे प्रथम पक्ष कहा जाय तो प्रत्येक जीवकी बुद्धिवासना अनन्त होने से उनमें प्रतिबिम्बरूप ईश्वर भी अनन्त ही होंगे और फिर प्रत्येक वासना अल्पगोचर ही होनेसे उनमें प्रतिबिम्बरूप अनन्त ईश्वर भी अल्पज्ञ ही रहेंगे । यदि दूसरा पक्ष अर्थात् सर्व वासनाओंमें एक प्रति-

बिम्ब माना जाय तो प्रलयविना सर्व वासनाएँ युगपत् नहीं हो सकेंगी ! तथा अनेक उपाधियोंमें प्रतिबिम्ब भी अनेक ही हो सकते हैं, इसलिये सर्व वासनाओंमें एक प्रतिबिम्ब सम्भव हो भी नहीं सकता ।

इस प्रकार केवल अज्ञान ही ईश्वरभावकी उपाधि हो सकता है और श्रीविद्यारण्यस्वामीने चित्रदीपमें वासनाका अनुसरण व्यर्थ ही किया है ।

१७ : श्रीविद्यारण्यस्वामी उक्त आनन्दमयकोशकी ईश्वरताका खण्डन

इसी प्रकार आनन्दमयकोशको ईश्वरता कहना भी असंगत है । क्योंकि जाग्रत्-स्वप्नमें प्रतिबिम्बसहित स्थूल-सूक्ष्मावस्थाविशिष्ट अन्तः-करणको विज्ञानमय कहते हैं और वह विज्ञानमय जीव ही सुषुप्ति-अवस्था-में कारणरूपसे विलीन हुआ आनन्दमय कहलाता है । अब यदि उसीको ईश्वर मान लिया जाय तो अन्तःकरणकी विलीन अवस्थावाले आनन्दमय का जबकि जाग्रत्स्वप्नमें अभाव हो जाता है, तब ईश्वरका भी अभाव होना चाहिये और अनन्त जीवोंकी अनन्त सुषुप्तियोंमें ईश्वर भी अनन्त ही होने चाहिये । तथा सकल ग्रन्थकारोंने जीवके पञ्चकोश अंगीकार किये हैं और पञ्चकोशविवेकमें स्वयं श्रीविद्यारण्यस्वामीने भी जीवके पञ्चकोश ही माने हुए हैं । इसपर भी यदि आनन्दमयको ही ईश्वर माना जाय तो वे सभी वचन असंगत होंगे, इसलिये आनन्दमयकोशमें ईश्वरता सम्भव नहीं होती ।

१८ : माण्डूक्योपनिषदुक्त आनन्दमयकी सर्वज्ञतादिका अभिप्राय

यद्यपि माण्डूक्योपनिषद्में आनन्दमयको सर्वज्ञ-सर्वेश्वर कहा गया है; तथापि उससे भी आनन्दमयकोशमें ईश्वरता सिद्ध नहीं होती । क्योंकि माण्डूक्यवचनका यह अर्थ है—

विश्व, तैजस और प्राज्ञके भेदसे तीन स्वरूप जीवके हैं और विराट्,

हिरण्यगर्भ एवं अव्याकृतके भेदसे तीन स्वरूप ईश्वरके हैं। सभी उपनिषदोंमें हिरण्यगर्भमें जीवरूपता प्रसिद्ध है और वहाँ हिरण्यगर्भरूपकी प्राप्तिके लिये उपासना भी प्रसिद्ध है तथा कल्पांतरमें उपनिषदुक्त उपासनाकर्ता जीव हिरण्यगर्भ पदवीको प्राप्त भी होता है। इसी प्रकार विराट्भावके प्राप्त्यर्थ उपासनासे जीवको कल्पान्तरमें विराट्रूपकी प्राप्ति होती है। हिरण्यगर्भके ऐश्वर्यसे विराट्का ऐश्वर्य न्यून होता है और ईश्वरका ऐश्वर्य तो सर्वोत्कृष्ट होता ही है, उसमें तो अपकृष्ट ऐश्वर्यका सम्भव ही नहीं। इसी प्रकार हिरण्यगर्भका पुत्र विराट् होता है और उसको क्षुधा-पिपासाकी बाधा होती है, यह गाथा पुराणोंमें भी प्रसिद्ध है। इसलिये विराट् और हिरण्यगर्भमें तो ईश्वरता कहना सम्भव नहीं होता, किन्तु सत्यलोकवासी और समष्टि सूक्ष्मका अभिमानी एवं सुखभोक्ता तो हिरण्यगर्भ नामा जीव होता है और समष्टि स्थूलका अभिमानी विराट् नामा जीव होता है। इसके साथ ही अन्तर्यामीरूपसे सूक्ष्म प्रपञ्चका प्रेरक 'हिरण्यगर्भ' शब्दका अर्थ होता है और अन्तर्यामीरूपसे स्थूल प्रपञ्चका प्रेरक 'विराट्' शब्दका अर्थ होता है। तथा चेतनप्रतिबिम्बगर्भित अज्ञानरूप अव्याकृत ही जब सूक्ष्म सृष्टिकालमें उसका प्रेरक हो, तब वही हिरण्यगर्भसंज्ञक ईश्वर और जब स्थूल सृष्टिकालमें उसका प्रेरक हो तब वही विराट्संज्ञक ईश्वर कहा जाता है। इस प्रकार यद्यपि 'हिरण्यगर्भ' और 'विराट्' शब्दोंकी जीवभाव व ईश्वरभावमें प्रवृत्ति होती है; तथापि स्थूल-सूक्ष्मके अभिमानी जीवमें तो विराट्-हिरण्यगर्भ शब्दोंकी शक्तिवृत्ति और स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्चके प्रेरक ईश्वरमें विराट्-हिरण्यगर्भ शब्दोंकी गौणीवृत्ति होती है। क्योंकि जैसे जीवरूप हिरण्यगर्भ-विराट्का सूक्ष्म-स्थूल प्रपञ्चसे स्वीयता सम्बन्ध होता है, तैसे ही ईश्वररूप हिरण्यगर्भ-विराट्का सूक्ष्म-स्थूल प्रपञ्चसे प्रेर्यतासम्बन्ध होता है। इसलिये हिरण्यगर्भवर्ति सूक्ष्मसृष्टि-सम्बन्धित्वरूप गुणके योगसे ईश्वरमें 'हिरण्यगर्भ शब्दकी गौणीवृत्ति और विराट्वर्ति स्थूलसृष्टिसम्बन्धित्वरूप गुणके योगसे ईश्वरमें 'विराट्' शब्दकी गौणीवृत्ति होती है। इस प्रकार हिरण्यगर्भ और

विराट् शब्दोंके जीव एवं ईश्वर दोनों अर्थ बनते हैं' जिस प्रसंगमें जो अर्थ सम्भव हो उसका ग्रहण कर लेना चाहिये। परन्तु जो गुरुसम्प्रदायके विना वेदान्त-ग्रन्थोंका अवलोकन करते हैं उनको पूर्वोक्त व्यवस्थाका ज्ञान नहीं होता, इसलिये वे हिरण्यगर्भ-विराट् शब्दोंसे कहीं जीव और कहीं ईश्वरका सम्भव देखकर मोहको प्राप्त हो जाते हैं।

माण्डूक्योपनिषद्में ऊपरकथित त्रिविध जीवोंका त्रिविध ईश्वरसे अभेदचिंतनका प्रकार भी लिखा है। उसका भी आशय यही है कि जिस मंदबुद्धि पुरुषको महावाक्यके विचारसे तत्त्वसाक्षात्कार नहीं होता, उसके लिये वहाँ प्रणवचिंतनका प्रकार लिखा गया है, जोकि विचार-सागरके पञ्चम तरंगमें स्पष्ट है। वहाँ विश्व-विराट्, तैजस-हिरण्यगर्भ और प्राज्ञ-ईश्वरका अभेदचिंतन लिखा गया है। वहाँ ईश्वरके सर्वज्ञतादि धर्म प्राज्ञरूप आनन्दमयमें अभेदचिंतनार्थ ही कहे गये हैं, आनन्दमयमें ईश्वरताविवक्षासे नहीं कहे गये। जैसे विश्व-विराट्के अभेद-चिंतनार्थ वैश्वानरके उन्नीस मुख कहे गये हैं, अर्थात् चतुर्दश त्रिपुटि और पञ्च प्राण ये उन्नीस विश्व के भोग साधन होने से विश्व के मुख कहे गये हैं। यद्यपि वैश्वानर ईश्वर है और उसको कोई भोग नहीं होता; तथापि विश्व-विराट्के अभेदचिंतनार्थ ही विश्वके भोगसाधन पदार्थोंको वैश्वानरकी भोगसाधनता कही गई है। वैश्वानर विराट्का नाम है, वहाँ माण्डक्यवचनका तात्पर्य केवल अभेदचिंतनमें ही है। तहाँ वस्तुके स्वरूपके अनुसार ही चिंतन हो, ऐसा नियम नहीं है; किन्तु चिंतन अन्य रूपसे भी होता है, यह अर्थ भी विचारसागरमें स्पष्ट किया गया है।

इस प्रकार माण्डूक्यवचनोंसे आनन्दमयमें ईश्वरता सिद्ध नहीं होती।

१९ : आनन्दमयकी ईश्वरतामें श्रीविद्यारण्यस्वामीके तात्पर्यका अभाव

श्रीविद्यारण्यस्वामीने भी अपने ब्रह्मानन्द नामक ग्रन्थमें आनन्दमय-कोशको जीवकी अवस्थाविशेष ही कथन किया है। वहाँ यह प्रसंग है—

'जाग्रत्-स्वप्नमें भोग देनेवाले कर्मोंके वशसे अन्तःकरणका जो घनी-भाव होता है, उसको 'विज्ञानमय' कहते हैं और अन्तःकरणरूप उपाधिके सम्बन्धसे वही विज्ञानमय सुषुप्तिमें विलीन अवस्थावाला 'आनन्दमय' कहलाता है।'

इस प्रकार श्रीविद्यारण्यस्वामीको भी विज्ञानमयकी अवस्थाविशेष ही आनन्दमय इष्ट है तथा आनन्दमयकोशमें जीवभाव ही इष्ट है। यद्यपि पञ्चदशी ग्रन्थमें विलक्षण लेख देखकर परम्परा वचनोंमें परम्परासे ऐसा समझ लिया जाता है कि आनन्दमय ही ईश्वर है, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। अर्थात् पञ्चदशी ग्रन्थमें यद्यपि पञ्चविवेक और पञ्चदीप तो श्रीविद्यारण्यकृत हैं और पञ्च आनन्द श्रीभारतीतीर्थकृत हैं; तथापि एक ही ग्रन्थमें पूर्व-उत्तरका विरोध सम्भव नहीं होता, इसलिये पञ्चदशी ग्रन्थमें भी आनन्दमयमें ईश्वरता विवक्षित नहीं है। यद्यपि चित्रदीपमें आनन्दमयको ईश्वरता कही गई है; तथापि वह माण्डूक्यवचनके समान ईश्वराभेदमें चिंतनीय तात्पर्यसे ही कही गई है। वास्तविक रूपसे आनन्दमयकी ईश्वरतामें श्रीविद्यारण्यस्वामीका भी तात्पर्य नहीं हो सकता

इस प्रकार श्रीविद्यारण्यस्वामीने चित्रदीपमें चेतनके चार भेद कहे हैं।

२० : चेतनके तीन भेदोंका श्रीविद्यारण्यस्वामी-सहित सर्वको स्वीकार

दृग्दृश्यविवेक नामक ग्रन्थमें श्रीविद्यारण्यस्वामीने कूटस्थका जीवमें अन्तर्भाव किया है और पारमार्थिक, व्यावहारिक तथा प्रातिभासिकके भेदसे तीन प्रकारका जीव कहा है। अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म देहद्वयावच्छिन्न कूटस्थचेतन पारमार्थिक जीव है और उसका तो ब्रह्मसे मुख्य अभेद है ही। अविद्यासे आवृत्त, कूटस्थमें कल्पित और अन्तःकरणमें जो चिदा-भास है, वह देहद्वयमें अभिमानकर्ता व्यावहारिक जीव है तथा निद्रारूप अविद्यासे आवृत्त और व्यावहारिक जीवरूप अधिष्ठानमें कल्पित प्राति-

भासिक जीव है, अर्थात् स्वप्नावस्थामें प्रातिभासिक प्रपञ्चका अहं-ममाभिमानी प्रातिभासिक जीव है। ब्रह्मज्ञानके विना ही जबकि जाग्रत् प्रपञ्चके बोधसे प्रातिभासिक प्रपञ्चकी निवृत्ति होती है, तब व्यावहारिक जीवके बोधसे प्रातिभासिक जीवकी भी निवृत्ति हो जाती है। इस प्रकार कूटस्थका जीवमें अन्तर्भाव है, अथवा यों कहिये कि ब्रह्मसे उसका मुख्य अभेद है। अतः कूटस्थको छोड़कर जीव, ईश्वर और शुद्ध चेतनके भेदसे चेतनके तीन भेद ही हैं। यही पक्ष सर्वसम्मत है और यही वार्तिकवचनके अनुकूल है।

२१ : उक्त पक्षोंके अनुसार मोक्षदशामें जीवका शुद्ध ब्रह्मसे और विवरणपक्षके अनुसार ईश्वरसे अभेद

चूँकि ईश्वर भी जीवकी भाँति प्रतिविम्बरूप ही है, इसलिये पूर्वोक्त सभी पक्षोंके अनुसार मोक्षदशामें जीवका ईश्वरसे अभेद नहीं होता। क्योंकि जिस प्रकार उपाधिके अपसरणसे एक प्रतिबिम्बका अन्य प्रतिबिम्बसे अभेद अनुभवगोचर नहीं है, किन्तु प्रतिबिम्बका बिम्बसे ही अभेद अनुभवसिद्ध है। इसी प्रकार मोक्षदशामें प्रतिबिम्बरूप जीवका शुद्ध चेतनसे ही अभेद होता है। परन्तु विवरणकारके मतमें चूँकि बिम्बरूप चेतन ईश्वर है, इसलिये जीवका ईश्वरसे ही अभेद होता है।

२२ : वेदान्तसिद्धान्तमें प्रक्रियाके भेद और विवरणकारके मतमें अज्ञानमें प्रतिबिम्बरूप जीव तथा बिम्बरूप ईश्वरका निरूपण

विवरणकारके मतमें जीव और ईश्वरकी उपाधि एक ही अज्ञान है। उनमेंसे अज्ञानमें प्रतिबिम्ब तो जीव होता है और बिम्ब ईश्वर। जैसे जहाँ दर्पण में मुखका प्रतिबिम्ब प्रतीत होता हो वहाँ दर्पणमें न तो मुखकी छाया ही होती है, न दर्पणमें अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति होती है और न व्यावहारिक प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति ही; किन्तु दर्पणगोचर

चाक्षुषवृत्ति दर्पणसे प्रतिहत होकर अपने ग्रीवास्थ मुखको ही विषय करती है। इस प्रकार ग्रीवास्थ मुखमें ही बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव प्रतीत होते हैं और वह ग्रीवास्थ मुख ही सत्य होता है। इसी प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब-का स्वरूप ग्रीवास्थ मुख ही होनेसे बिम्ब-प्रतिबिम्ब तो सत्य होते हैं, परन्तु ग्रीवास्थ मुखमें बिम्बत्व-प्रतिबिम्बत्वधर्म मिथ्या होते हैं। उन अनिर्वचनीय मिथ्या बिम्बत्व-प्रतिबिम्बत्वका अधिष्ठान मुख होता है। इस दृष्टान्तके अनुसार बिम्बकी भाँति प्रतिबिम्बका स्वरूप भी सत्य और बिम्बरूप ही होनेसे दर्पणस्थानी अज्ञानके सन्निधानसे शुद्ध चेतनमें बिम्ब-स्थानी ईश्वरकी भाँति प्रतिबिम्बस्थानी जीवका स्वरूप भी सत्य शुद्ध चेतन ही होता है। इसलिये महावाक्योंमें यद्यपि मुख्यसामानाधिकरण्य सम्भव होता है; तथापि बिम्बत्वरूप ईश्वरत्व और प्रतिबिम्बत्वरूप जीवत्व दोनों धर्म मिथ्या होते हैं और उनका अधिष्ठान शुद्ध चेतन ही होता है। उक्त रीतिसे जबकि जीव-ईश्वरकी उपाधि एक ही अज्ञान है, तब दोनों-को अज्ञता अथवा दोनोंको सर्वज्ञता होनी चाहिये। तथापि जैसे दर्पणादि उपाधिके लघुत्व-पीतत्वादि धर्मोंका आरोप प्रतिबिम्बमें ही होता है बिम्ब-में नहीं, तैसे ही अज्ञानकृत आवरण-स्वभाव तथा अल्पज्ञतादि धर्म प्रति-बिम्बरूप जीवमें ही रहते हैं, परन्तु स्वरूपप्रकाशसे ईश्वरमें सर्वज्ञता ही रहती है। इस प्रकार उक्त रीतिसे जबकि बिम्ब-प्रतिबिम्बका अभेद ही है, तब बिम्ब-प्रतिबिम्बके धर्मोका भेद कहना भी सम्भव नहीं होता, क्योंकि यदि वस्तुतः बिम्ब-प्रतिबिम्बका भेद हुआ हो तो उक्त व्यवस्था सम्भव हो। तथापि ग्रीवास्थ मुखमें दर्पणस्थत्वरूप और प्रतिबिम्बत्वरूप-का केवल भ्रम ही होता है और भ्रमसिद्ध प्रतिबिम्बत्वकी अपेक्षासे ही ग्रीवास्थ मुखमें बिम्बत्वका केवल व्यवहार ही किया जाता है। इस प्रकार जैसे एक ही मुखमें बिम्ब-प्रतिबिम्बत्व दोनों धर्म आरोपित होते हैं, तैसे एक ही मुखमें बिम्ब-प्रतिबिम्बरूपसे धर्मोके भेदका भी आरोप होता है और भ्रांतिसे प्रतीत जो बिम्ब-प्रतिबिम्बका भेद उससे उक्त व्यवस्था सम्भव हो जाती है।

इस प्रकार विवरणकारके मतमें अज्ञानमें प्रतिबिम्ब जीव है और बिम्ब ईश्वर है। अज्ञान चूँकि अनिर्वचनीय है, इसलिये अज्ञान सद्भाव कालमें भी अज्ञानका परमार्थसे अभाव होनेसे जबकि बिम्ब-प्रतिबिम्बरूप चेतन परमार्थसे शुद्ध चेतन ही है, तब ईश्वरभावकी प्राप्ति भी शुद्धब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है।

२३ : अवच्छेदवादद्वारा अभासवादका खण्डन और स्वमत निरूपण

कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि अन्तःकरणसे अवच्छिन्न चेतन ही जीव है और अन्तःकरणसे अनवच्छिन्न चेतन ही ईश्वर है, क्योंकि जैसा विवरणमतमें चेतनका प्रतिबिम्ब माना गया है, वैसा नीरूप चेतनका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं होता। यद्यपि कूपतड़ागादि जलगत आकाशमें नीलता-विशालताका अभाव होते हुए भी 'नीलं नभः' 'विशालं नभः' ऐसी प्रतीति होती है, इसलिये प्रतीतिके अनुसार आरोपित विशालताविशिष्ट और नीलताविशिष्ट आकाशका भी प्रतिबिम्ब मानना चाहिये, चाहे वस्तुतः आकाशमें रूप नहीं भी है। इस प्रकार यद्यपि नीरूप आकाशका भी किसी प्रकार प्रतिबिम्ब सम्भव हो जाय; तथापि आकाशमें तो भ्रांतिसिद्ध आरोपित नीलरूपता है भी, परन्तु चेतनमें आरोपित रूपका भी अभाव होनेसे चेतनका तो किसी भी प्रकार प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं हो सकता। रूपरहित शब्दका नीरूप आकाशमें जो प्रतिध्वनिरूप प्रतिबिम्ब कहा जाता है वह भी असंगत है, क्योंकि ऐसा मान लेनेपर रूपरहित उपाधिमें वस्तुतः प्रतिबिम्बका असम्भव होनेसे फिर आकाश रूपरहित नहीं रहता। तथा आकाशमें जो प्रतिध्वनि होती है वह शब्दका प्रतिबिम्ब भी नहीं कही जा सकती, क्योंकि यदि प्रतिध्वनिको शब्दका प्रतिबिम्ब मान लिया जाय तो आकाशवर्ति शब्दका अभाव रहेगा। प्रतिध्वनिकी वास्तविकता तो यह है कि भेरीदण्डादिके संयोगसे प्रथम पार्थिव शब्द उत्पन्न होता है और तदनन्तर उस पार्थिव शब्दसे उसके सम्मुख देश

पाषाणाद्यवच्छिन्न आकाशमें प्रतिध्वनिरूप शब्द ही उत्पन्न होता है, न कि प्रतिबिम्ब । उस प्रतिध्वनिरूप शब्दका वह पार्थिव शब्द निमित्त-कारण होता है और इसीलिये उस पार्थिव शब्द अर्थात् ध्वनिके समान ही प्रतिध्वनि होती है । अब यदि प्रतिध्वनिको शब्दका प्रतिबिम्ब माना जाय तो श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतमें प्रतिबिम्बको अनिर्वचनीय माना गया है और विवरणमतमें प्रतिबिम्ब बिम्बका स्वरूप माना गया है, तब इन दोनों ही मतोंमें प्रतिध्वनि आकाशका गुण न रहेगी । क्योंकि अनिर्वचनीय-प्रतिबिम्बवादकी रीतिसे तो प्रतिध्वनिको पार्थिव शब्दका अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब मान लेनेपर व्यावहारिक आकाशका गुण प्राति-भासिक नहीं हो सकता, इसलिये प्रतिध्वनि आकाशका गुण न रह सकेगी । तथा विवरणमत (बिम्ब-प्रतिबिम्बअभेदवाद) की रीतिसे प्रतिध्वनि पार्थिव शब्दका प्रतिबिम्बरूप होनेसे तथा अपने बिम्बसे अभेदरूप होनेसे वह प्रतिध्वनि पृथिवीका ही गुण रहेगी । इस प्रकार प्रतिध्वनिको शब्दका प्रतिबिम्ब मान लेनेपर प्रतिध्वनि किसी भी प्रकार आकाशका गुण न रह सकेगी । तथा पृथिवी, जल, अग्नि और वायुके पृथक्-पृथक् शब्द होते हैं, परन्तु आकाशमें तो प्रतिध्वनिके सिवा अन्य प्रकारका कोई शब्द ही नहीं है । इसलिये प्रतिध्वनिको प्रतिबिम्ब मान लेनेपर फिर आकाश तो शब्दरहित ही रह जायगा और आकाश शब्दरहित है, ऐसा किसी भी शास्त्रका मत नहीं है । श्रीविद्यारण्यस्वामीने भूतविवेकमें ऐसा कहा है कि पृथिवीका शब्द कट-कट, जलका शब्द चुल-चुल, अग्निका शब्द भुक-भुक, वायुका शब्द सी-सी और आकाशका शब्द प्रतिध्वनि है । इसी प्रकार अन्य ग्रन्थकारोंने भी प्रतिध्वनिको आकाशका गुण ही कहा है, इसलिये प्रतिध्वनि शब्दका प्रतिबिम्ब नहीं हो सकती, किन्तु प्रतिध्वनि स्वतन्त्र आकाशका शब्दरूप गुण ही है और उसका उपादानकारण आकाश है, भेरी आदिमें जो पार्थिवध्वनि होती है वह तो उस प्रति-ध्वनिका निमित्तकारण है । इससे सिद्ध हुआ कि रूपरहितका प्रतिबिम्ब सम्भव नहीं होता । यदि प्रतिबिम्बवादी इस भाँति कहें—

'कूपादिके आकाशमें 'विशालं आकाशम्' ऐसी प्रतीति होती है, परन्तु कूपके आकाशमें कोई विशालता नहीं है, इसलिये यह मानना पड़ेगा कि बाह्यदेशस्थ रूपरहित विशाल आकाशका ही कूपजलमें प्रतिबिम्ब होता है और इसी प्रकार रूपरहित चेतनका भी प्रतिबिम्ब सम्भव हो सकता है।'

यदि किसी प्रकार ऐसा मान भी लिया जाय तो भी वह प्रतिबिम्ब रूपवान् उपाधिमें ही सम्भव हो सकता है, रूपरहित उपाधिमें तो प्रतिबिम्बका सम्भव ही कैसे हो? यहाँ तो आकाशके प्रतिबिम्बकी उपाधि कूपजल है और उसमें रूप है, परन्तु वहाँ अविद्या-अन्तःकरणादि तो रूपरहित हैं, फिर उनमें रूपरहित चेतनका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव हो?

इस प्रकार यह मानना पड़ेगा कि अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन जीव है और अन्तःकरणानवच्छिन्न चेतन ईश्वर है। अथवा अविद्यावच्छिन्न चेतन जीव है और मायावच्छिन्न चेतन ईश्वर है, प्रतिबिम्बित चेतन नहीं।

२४ : अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन जीव है और अनवच्छिन्न चेतन ईश्वर है, इस पक्षका खण्डन

यदि अन्तःकरणावच्छिन्न चेतनको जीव माना जाय और अन्तःकरणानवच्छिन्न चेतनको ईश्वर माना जाय तो ब्रह्माण्डसे बाह्यदेशस्थ चेतनमें ही ईश्वरताका लाभ होगा। क्योंकि ब्रह्माण्डमें तो अनन्त जीवोंके अनन्त अन्तःकरण व्याप्त हैं, इसलिये ब्रह्माण्डके मध्य अन्तःकरणानवच्छिन्न चेतनका लाभ असम्भव होगा और यदि ब्रह्माण्डसे बाह्यदेशमें ही ईश्वरका सद्भाव माना जाय तो श्रुतिके अन्तर्यामिप्रतिपादक वचनोंसे विरोध होगा। अर्थात् 'यो विज्ञाने तिष्ठन्विज्ञानमंतरो यमयति' (जो बुद्धिमें रहता हुआ बुद्धिके अन्दर प्रेरणा करता है) इस वचनमें विज्ञानपदबोध्य जीवदेशमें ही ईश्वरका सद्भाव कहा गया है। इसलिये मानना चाहिये कि अन्तःकरणानवच्छिन्न नहीं, किन्तु मायावच्छिन्न चेतन ही ईश्वर है। यदि अन्तःकरणसे अनवच्छिन्न चेतनको ही ईश्वर माना जाय तो अन्तःकरणसे

सम्बन्धाभाव ही ईश्वरपनकी उपाधि सिद्ध होती है, परन्तु ईश्वरमें सर्वज्ञतादि उपाधिकृत हैं और अभावरूप उपाधिसे सर्वज्ञतादि धर्मोंकी सिद्धि नहीं हुआ करती, किन्तु भावरूप उपाधिसे ही उसका सम्भव हो सकता है।

२५ : तृप्तिदीपमें श्रीविद्यारण्यस्वाम्युक्त अन्तःकरणके सम्बन्ध और उसके अभावके उपाधिपनका अभिप्राय

श्रीविद्यारण्यस्वामीने तृप्तिदीपमें ऐसा कहा है कि जैसे अन्तःकरणका सम्बन्ध उपाधि है, तैसे अन्तःकरणके सम्बन्धका अभाव भी उपाधि है। अर्थात् जैसे लोहकी श्रृंखलासे सञ्चारका निरोध होता है, तैसे ही सुवर्णकी श्रृंखलासे भी होता है। इसी प्रकार अन्तःकरणके सम्बन्धरूप भाव-उपाधिसे तो जीवस्वरूपका बोध होता है और अन्तःकरणके सम्बन्धाभाव-रूप अभावउपाधिसे परमात्मस्वरूपका बोध होता है।

इस प्रकार श्रीविद्यारण्यस्वामीने अन्तःकरणराहित्यको भी उपाधि कथन किया है। उसका अभिप्राय यह है कि जैसे अन्तःकरणसम्बन्धसे जीवस्वरूपका बोध होता है, वैसे ही अन्तःकरणराहित्यसे ब्रह्मस्वरूपका बोध होनेसे अन्तःकरणराहित्य भी ब्रह्मबोधका उपयोगी है। इस प्रकार श्रीविद्यारण्यस्वामीके वचनोंसे भी अभावरूप उपाधिसे ईश्वरमें सर्वज्ञतादि-की सिद्धि प्रतीत नहीं होती।

२६ : अवच्छेदवादके भेदपूर्वक उसकी समाप्ति

इस प्रकार मायावच्छिन्न चेतन ही ईश्वर है और चूंकि ईश्वरकी उपाधि माया सर्वदेशगत है, इसलिये ईश्वरमें अन्तर्यामिता भी सम्भव होती है। अब यदि जीवके सम्बन्धमें अन्तःकरणावच्छिन्न चेतनको जीव माना जाय तो अन्तःकरणके नित्य उत्पत्ति-नाश होनेसे कर्ता तथा भोक्ता-रूप चेतनके भिन्न-भिन्न प्रदेश होंगे और फिर कृतका नाश तथा अकृतकी प्राप्तिरूप दोष खड़े होंगे। आशय यह कि सुषुप्ति-अवस्थामें नित्य ही अन्तःकरणका अभाव होता है और फिर सिद्धांतदृष्टिसे जाग्रत्अवस्थामें

अन्य ही अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है। इसलिये जिस अन्तःकरणप्रदेशमें कर्मकी सिद्धि हुई, उसी अन्तःकरणप्रदेशमें भोगकी सिद्धि असम्भव है। इस प्रकार उसी अन्तःकरणप्रदेशमें भोगकी सिद्धि न होनेसे कृतनाश और अकृतकी प्राप्तिरूप दोष लागू होते हैं। इसलिये अविद्यावच्छिन्न चेतन ही जीव मानना चाहिये, अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन नहीं।

इस प्रकार कितने ग्रन्थकार अवच्छेदवादको ही मानते हैं और प्रतिविम्बके प्रतिपादक श्रुति-स्मृतिवचनोंके विरोधका परिहार उनके ग्रन्थोंमें स्पष्ट है।

२७ : सिद्धान्तमुक्तावल्यादिमें उक्त एकजीववाद-(दृष्टि-सृष्टिवाद) का निरूपण

श्रीसिद्धांतमुक्तावलीकारादिका मत तो यह है, अर्थात्

दोहा—ज्यों अविकृत कौंतेयमें राधापुत्र प्रतीत।
चिदानन्दघन ब्रह्ममें जीवभाव तिहिं रीति ॥।

आशय यह कि सदा असंग, नित्यमुक्त तथा चिदानन्दघन ब्रह्ममें कल्पित अविद्यादिके सम्बन्धसे प्रतिविम्बता अथवा अवच्छिन्नताका सम्भव हो नहीं सकता। जैसे वंध्यासुत कुलालद्वारा शशश्रृंगके दण्डसे रचित तथा मृगतृष्णाके जलसे पूरित घटाकाशमें प्रतिविम्बता अथवा अवच्छिन्नता असम्भव है, किन्तु आकाशके समानसत्तावाले जलपूरित घट-तड़ागादिके सम्बन्धसे ही आकाशमें प्रतिबिम्बता अथवा अवच्छिन्नताका सम्भव होता है। तैसे ही चूँकि अविद्या और उसका कार्य ब्रह्मचेतनके समानसत्तावाले नहीं हैं, बल्कि स्वसत्ताशून्य हैं और वे ब्रह्मकी सत्तासे ही सत्तावाले-से प्रतीत होते हैं, इसलिये जबकि शशश्रृंगादिके समान अत्यंत अलीक उन अविद्यादिसे चेतनका कोई सम्बन्ध कहना ही सम्भव नहीं होता, फिर उनके सम्बन्धसे प्रतिबिम्बतादि तो अत्यंत दूर हैं। इसलिये ब्रह्म सदा एकरस है और उसमें अवच्छिन्नता अथवा प्रतिविम्बतारूप जीवताका असम्भव है, किन्तु कल्पित अज्ञानके कल्पित सम्बन्धसे ब्रह्ममें अनहुए

जीवत्वादि प्रतीत होते हैं। जैसे अविकारी कुन्तीपुत्रमें राधापुत्रताकी भ्रमरूप प्रतीति हो गई थी, तैसे किसी विकारविना ही निर्विकारी ब्रह्ममें प्रतिबिम्बतादि जीवत्वका केवल भ्रम ही होता है, परन्तु प्रतिबिम्बरूप अथवा अवच्छेदरूप किसी जीवभावकी प्राप्ति नहीं होती। ब्रह्म ही अपनी अविद्यासे जीवभावापन्न हुआ प्रपञ्चका कल्पक होकर जो सर्वज्ञत्वादि धर्मसहित ईश्वरकी कल्पना करता है, इस पक्षमें वह भी जीव कल्पित ही है। जिस प्रकार स्वप्नकल्पित राजाकी सेवासे स्वप्नमें फलकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अविद्यारूप स्वप्नकल्पित ईश्वर-भजनसे फलकी प्राप्तिका सम्भव भी होता है। इस प्रकार अनादि अविद्याके बलसे और स्वकीय ब्रह्मभावके आवरणसे जीवत्वभ्रम होता है और तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन्य तत्त्वसाक्षात्कारसे जीवत्वभ्रमकी निवृत्ति हो जाती है। भ्रमकालमें भी कोई जीवत्व नहीं है, किन्तु ज्यों-का-त्यों नित्यमुक्त चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म ही है।

श्रीभाष्यकार तथा श्रीवार्तिककारने यही पक्ष बृहदारण्यके व्याख्यानमें कर्णके दृष्टान्तसे प्रतिपादन किया है। जिस प्रकार कुंतीपुत्र कर्णको हीन जातिके सम्बन्धसे अपनेमें निकृष्टताका भ्रम हो गया था और वह उससे अनेकविध तिरस्कारजन्य दुःखका अनुभव करता रहा। कदाचित् एकान्तमें श्रीसूर्यभगवान्‌ने उससे कहा कि तू राधापुत्र नहीं है, किन्तु मेरे सम्बन्धसे कुंतीके उदरसे उत्पन्न हुआ है। सूर्यभगवान्‌के इस वचनसे वह अपनेमें हीनजातिके भ्रमको त्यागकर स्वतःसिद्ध कुंतीपुत्रतानिमित्तिक उत्कर्षको प्राप्त हुआ। ठीक, इसी प्रकार चिदानन्दमय ब्रह्म भी अनादि अविद्याके सम्बन्धसे जीवत्वभ्रमको प्राप्त होकर स्वतःसिद्ध अपने ब्रह्मभावका विस्मरण कर बैठा है और उसके फलस्वरूप अनेकविध दुःखका अनुभव कर रहा है। कदाचित् अपने अज्ञानसे कल्पित स्वप्नमें यदि वह कल्पित आचार्यके द्वारा महावाक्यका श्रवण करे तो स्वगोचर विद्यासे अविद्याकी निवृत्ति हो और तब वह अपने नित्य परमानन्द चैतन्यस्वरूपका अनुभव करे।

इस प्रकार बृहदारण्यके व्याख्यानमें श्रीभाष्यकार एवं श्रीवार्तिककारने लिखा है। सारांश, जैसे जीवकी अविद्याद्वारा कल्पित गुरु-शास्त्र उपदेशके हेतु होते हैं, तैसे ही स्वप्नकल्पित राजाके समान जीवकल्पित ईश्वर भी भजनद्वारा फलका हेतु होता है। इस मतमें एकजीववाद है और इससे एक जीवकल्पित ईश्वर भी एक ही है, इसलिये इस मतमें नाना ईश्वरोंकी आपत्ति भी नहीं होती। यहाँ ऐसी शंका खड़ी हो सकती है कि यदि एक ही जीव है तो शुक-वामदेवादिकी मुक्तिप्रतिपादक शास्त्र मिथ्या होंगे, क्योंकि संसार विद्यमान है इसलिये वह एक जीव भी विद्यमान है, फिर उस एक जीवकी मुक्तिके विना दूसरोंकी मुक्ति हो कैसे सकती है? परन्तु इस मतमें जो शास्त्र शुक-वामदेवादिकी मुक्तिका प्रतिपादन करते हैं, उनसे भी स्वप्नदृष्टाके स्वप्नकल्पित नाना पुरुषोंके समान नाना जीवाभास ही सिद्ध होते हैं, नाना जीववादकी सिद्धि नहीं होती। जैसे स्वप्नमें एक स्वप्नदृष्टाको जहाँ नाना पुरुषोंकी प्रतीति हो, उनमें कोई तो महावनमें उत्पथगामी होकर व्याघ्रादिजन्य दुःखका अनुभव करे और कोई राजमार्गमें आरूढ होकर स्वनगरको प्राप्त हो, वहाँ वनमें भ्रमण और स्वनगरकी प्राप्ति स्वप्नदृष्टा पुरुषको नहीं होती, किन्तु स्वप्नदृष्टाके आभासरूप पुरुषोंको ही होती है। इसी प्रकार ब्रह्मस्वरूप परन्तु अज्ञानकल्पित जीवको वस्तुतः किसी बंध-मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती, किन्तु उसके आभासरूप जीवोंको ही बन्ध-मोक्षकी प्रतीति होती है, अपनी कल्पित अविद्याके निवृत्त होने पर वह स्वयं तो बन्ध-मोक्षसे रहित नित्यमुक्त सच्चिदानन्दमय ब्रह्मस्वरूप ही है।

इस पक्षमें यदि ऐसा प्रश्न किया जाय कि 'तब किसके ज्ञानसे अविद्याकी निवृत्तिरूप मोक्ष होगा?' इसका एक उत्तर तो यह होगा——

'आपके अपने ज्ञानसे ही अविद्याकी निवृत्तिरूप मोक्षका सम्भव हो सकता है, क्योंकि आपने ही अपने अज्ञानसे संसाररूप बंध खड़ा किया हुआ है, वास्तवमें तो संसारका अत्यंताभाव है।' अथवा दूसरा उत्तर यह होगा——

'किसीके भी ज्ञानसे मोक्ष नहीं होता।' क्योंकि इस मतमें आत्मामें बंधका अत्यंत असद्भाव है। इसलिये नित्यमुक्त आत्माका मोक्ष होगा अथवा हुआ है, ऐसा कथन ही सम्भव नहीं होता। इसी अभिप्रायसे इस मतमें मोक्षप्रतिपादक वाक्योंको अर्थवादरूप कहा गया है। परन्तु 'बन्ध है, अद्यपर्यन्त कोई मुक्त नहीं हुआ और आगे पुरुषार्थसे मोक्ष होगा' ऐसी दृष्टि रखनेवालोंके अभिप्रायसे शुक-वामदेवादिकी मुक्तिप्रतिपादक वाक्योंको अर्थवादरूप नहीं कहा गया। क्योंकि उनकी दृष्टिके अनुसार बंधरूप संसार तो है ही, फिर बंध रहते हुए जबकि शुक-वामदेवादिका ही मोक्ष नहीं हुआ तब आगे भी मोक्षकी आशा रखना निष्फल होगा, इस बुद्धिसे उन लोगोंकी वेदान्तश्रवणमें प्रवृत्तिका ही अभाव हो जायगा। इसलिये उन पुरुषोंपर अनुग्रह करनेके लिये ही वामदेवादिके मोक्ष-प्रतिपादक वाक्योंको अर्थवादरूप नहीं कहा गया। वास्तवमें तो आत्मा नित्यमुक्त ब्रह्मस्वरूप ही है और उसमें बंधका अत्यन्त असद्भाव है। ऐसा उत्तम भूमिकारूढ विद्वानोंका निश्चय है।

२८ : वेदान्तसिद्धान्तकी नाना प्रक्रियाओं और सकल अद्वैत ग्रन्थोंके तात्पर्यका विषय

नित्यमुक्त आत्मस्वरूपके ज्ञानसे दुःखोंसे छूटनेके लिये और सुखकी प्राप्तिके लिये जो अनेक प्रकारके कर्तव्यबुद्धिजन्य क्लेश भोगे जा रहे हैं, उन कर्तव्यबुद्धिजन्य क्लेशोंसे छुटकारा पा लेना, वेदान्तश्रवणका यही एकमात्र फल है। इसके अतिरिक्त वेदान्तश्रवणसे आत्मामें बंधका नाश किया जायगा, अथवा परमानन्दकी प्राप्तिरूप मोक्ष पाया जायगा, वेदान्तश्रवणका ऐसा फल कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि वेदान्तश्रवणसे पहले भी आत्मा तो नित्यमुक्त ही है और उसमें बंधका लेश भी नहीं। फिर भी चूँकि अत्यन्त असत् बंधकी प्रतीति होती है, इसलिये भ्रमसे ही वेदान्तश्रवणमें प्रवृत्ति होती है और जिसको बंधका भ्रम नहीं हुआ उसकी इस निमित्त प्रवृत्ति भी नहीं होती। सम्पूर्ण अद्वैत ग्रन्थोंका इसी पक्षमें तात्पर्य है।

२९ : जीव-ईश्वरसम्बन्धमें सर्व ग्रन्थकारोंकी सम्मतिका एकत्रीकरण

इस प्रकार सभी ग्रन्थकारोंने जीव-ईश्वरके स्वरूपका बहुत विस्तारसे निरूपण किया है। तहाँ जीवके स्वरूपमें तो एकत्व-अनेकत्वका विवाद है भी, परन्तु सभी मतोंमें ईश्वर एक, सर्वज्ञ और नित्यमुक्त ही है। किसी भी अद्वैतवादके ग्रन्थोंमें ईश्वरमें आवरणका अंगीकार नहीं किया गया, जो ईश्वरमें आवरण कहते हैं वे वेदान्तसम्प्रदायसे बहिर्भूत हैं। यद्यपि श्रीवाचस्पतिका यह मत है कि अज्ञान नाना हैं और वे जीवके आश्रय रहते हैं तथा ब्रह्मको विषय करते हैं। वहाँ यद्यपि जीवोंके अज्ञानसे कल्पित ईश्वर एवं प्रपञ्च भी नाना ही माने गये हैं; तथापि वहाँ भी जीवोंके अज्ञानसे कल्पित ईश्वर सर्वज्ञ ही माने गये हैं, ईश्वरमें वहाँ भी आवरणका अंगीकार नहीं किया गया।

३० : विवरणकारकी रीतिसे प्रतिबिम्बके स्वरूपका निरूपण

जीव-ईश्वरके स्वरूपनिरूपणके सम्बन्धमें प्रसंगसे प्रतिबिम्बका स्वरूपनिरूपण किया जाता है—

श्रीविवरणकारके मतमें दर्पणादि उपाधिसे प्रतिहत होकर नेत्रकी रश्मि ही ग्रीवास्थ मुखको विषय करती है। जहाँ द्रष्टासे भिन्नपदार्थका दर्पणसे अभिमुखतारूप सम्बन्ध हो, वहाँ भी दर्पणसम्बन्धी प्रतिहत नेत्रका दर्पणाभिमुख पदार्थसे सम्बन्ध होकर नेत्र द्रष्टासे भिन्न उस पदार्थका स्वस्थानमें ही साक्षात्कार करता है और जहाँ अनेक पदार्थ दर्पणके अभिमुख हों, वहाँ प्रतिहतनेत्रसे अनेक पदार्थोंका स्व-स्वस्थानमें साक्षात्कार होता है। परन्तु यदि दर्पणाभिमुख पदार्थ उद्भूत रूपवान हो, तब तो उसमें प्रतिहतनेत्रजन्य साक्षात्कारकी योग्यता हो सकती है और इसीलिये नेत्रकी वृत्ति

दर्पणाभिमुख पदार्थके सम्मुख जाती है, नेत्रवृत्ति स्वगोलकमें ही आवे ऐसा नियम नहीं। इस प्रकार विवरणमतमें दर्पणके सन्निधानसे यद्यपि साक्षात्कार तो ग्रीवास्थ मुखका ही होता है; तथापि ग्रीवास्थ मुखमें पूर्वाभिमुखत्व, प्रत्यङ्मुखत्व, दर्पणस्थत्व और स्वाभिन्नत्वका भ्रम होता है। इसीलिये 'मेरा मुख दर्पणमें पूर्वाभिमुख एवं प्रतिबिम्बरूप है और वह मेरे मुखसे भिन्न हैं' ऐसा व्यवहार होता है। इस पक्षमें ऐसी शंका होती है—

'यदि प्रतिहतनेत्रसे ही बिम्बभूत मुखादिका साक्षात्कार होता हो तो जबकि सूर्यके प्रकाशसे नेत्रका प्रतिरोध होता है, तब जलसे प्रतिहत नेत्रसे भी सूर्यसाक्षात्कारका असम्भव रहना चाहिये, अथवा जलदेशमें सूर्यसे भिन्न उसके प्रतिबिम्बकी ही उत्पत्ति माननी चाहिये। दूसरे, यदि उपाधिसे सम्बन्धी नेत्ररश्मिकी प्रतिहति बिम्बके साक्षात्कारार्थ ही मानी जाय तो जलके अन्तर्गत सिकता (बालुरेत) का साक्षात्कार नहीं होना चाहिये।' इन दोनों शंकाओंका समाधान इस प्रकार है—

नेत्रका केवल आकाशस्थ सूर्यके प्रकाशसे ही अवरोध होता है, परन्तु जलादि उपाधिसे प्रतिहतनेत्रका सूर्यप्रकाशसे कोई अवरोध नहीं होता। इसी प्रकार यदि कोई नेत्ररश्मि जलमें प्रविष्ट होकर उसके अन्तर्गत सिकताको विषय करती है तो उसी नेत्रकी अन्य रश्मि जलसे प्रतिहत होकर बिम्बको भी विषय करती है, यह दृष्टिके अनुसार कल्पना है। इस प्रकार प्रतिबिम्ब बिम्बसे भिन्न नहीं है, ऐसा श्री विवरणकारका मत है।

३१: श्रीविद्यारण्यस्वामी और विवरणमतकी विलक्षणता

श्रीविद्यारण्यस्वामी आदिने पारमार्थिक, व्यावहारिक एवं प्रातिभासिकके भेदसे तीन प्रकारका जीव कहा है। अर्थात् व्यावहारिक अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बको व्यावहारिक जीव और स्वप्नावस्थाके प्रातिभासिक अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बको प्रातिभासिक जीव कहते हैं। परन्तु विवरणमतकी रीतिसे बिम्बसे पृथक् प्रतिबिम्बके अभावसे जीवके तीन भेद सम्भव ही नहीं होते। इसलिये त्रिविधजीववादके अनुसारी ही

बिम्ब-प्रतिबिम्बका भेद मानते हैं और उन्हींके मतमें दर्पणादि उपाधियों-में अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति होती है। उनके मतानुसार दर्पणादि प्रतिबिम्बके अधिष्ठानरूप उपादान हैं और बिम्बका सन्निधान निमित्त-कारण है। यद्यपि निमित्तकारणके अभावसे कार्यका अभाव नहीं होता और यहाँ बिम्बके अपसरणसे प्रतिबिम्बका अभाव हो जाता है; तथापि निमित्तकारणके दो भेद होते हैं। उनमें कोई तो कार्यसे पूर्वकालवर्ति निमित्तकारण होते हैं और कोई कार्यकालवर्ति निमित्तकारण होते हैं। जैसे कुलाल-दण्डादि जो घटादिके निमित्तकारण होते हैं वे तो कार्यसे पूर्वकालवर्ति निमित्तकारण होते हैं और घटादिकी सत्ता हो जानेपर उनकी कोई अपेक्षा नहीं रहती। परन्तु जहाँ प्रत्यक्षज्ञानकी उत्पत्तिमें ज्ञानका विषय निमित्तकारण होता है, वहाँ तो ज्ञानकालमें विषयकी सत्ता अपेक्षित होती है। क्योंकि विनाशाभिमुख घटसे नेत्रसंयोग होनेपर भी घटज्ञान नहीं होता, इसलिये ज्ञानकालमें वर्तमान घटादि ही अपने ज्ञानके कार्यकालवर्ति निमित्तकारण होते हैं, अतीत घटादि नहीं। इसी प्रकार जहाँ दूरस्थ नाना पदार्थोंमें एकत्वभ्रम होता है और मंद अन्ध-कारस्थ रज्जुमें सर्पभ्रम होता है, वहाँ एकत्वभ्रमका निमित्तकारण तो दूरस्थदोष और सर्पभ्रमका निमित्तकारण मंदांधकारदोष होता है तथा दूरस्थ और मंदांधकाररूप दोषोंके अभाव होनेपर एकत्वभ्रम और सर्प-भ्रम दूर हो जाते हैं। इसलिये दूरस्थ और मंदांधकाररूप दोष भी अपने-अपने अध्यासके कार्यकालवर्ति निमित्तकारण ही होते हैं। इसी प्रकार बिम्बका सन्निधान भी प्रतिबिम्बाध्यासका कार्यकालवर्ति निमित्तकारण होनेसे बिम्बका अपसरण होनेपर प्रतिबिम्बरूप कार्यका अभाव सम्भव होता है। इसलिये इस मतमें सन्निहित बिम्ब तो प्रतिबिम्बका निमित्त-कारण और अधिष्ठानरूप दर्पणादि प्रतिबिम्बके उपादानकारण कहे जाते हैं। परन्तु विवरणमतमें प्रतिबिम्बका स्वरूप बिम्बसे भिन्न नहीं होता, किन्तु बिम्बरूप ग्रीवास्थ मुखमें केवल दर्पणस्थत्व, विपरीतदेशा-भिमुखत्व तथा बिम्बभिन्नत्वरूप अनिर्वचनीय धर्मोंकी उत्पत्ति होती है।

इन तीनों धर्मोंका अधिष्ठानरूप उपादानकारण ग्रीवास्थ मुख और सन्निहित दर्पणादि निमित्तकारण होते हैं।

इस प्रकार चेतनके प्रतिबिम्बवादमें दो मत हैं। उनमें विवरणमतमें प्रतिबिम्बका बिम्बसे अभेद होनेसे प्रतिबिम्बका स्वरूप सत्य है और श्रीविद्यारण्यस्वामी के मतमें चूँकि दर्पणादिमें अनिर्वचनीय मुखाभासकी उत्पत्ति होती है, इसलिये प्रतिबिम्बका स्वरूप मिथ्या है। इस पक्षको आभासवाद और विवरणोक्त पक्षको प्रतिबिम्बवाद कहते हैं। दोनों पक्षोंका परस्पर खण्डन-मण्डन बृहद् ग्रन्थोंमें स्पष्ट है, जो यहाँ ग्रन्थ-विस्तारभयसे नहीं लिखा गया।

३२ : उक्त दोनों पक्षोंकी उपादेयता

वास्तवमें तो बुद्धिमानोंका प्रतिबिम्बवादमें अथवा आभासवादमें कोई आग्रह नहीं है, किन्तु 'चेतनमें संसारधर्मका सम्भव नहीं है और जीव-ईशका परस्पर कोई भेद नहीं है' केवल इस अर्थके बोधार्थ ही अनेक रीतिसे तत्त्वका दिग्दर्शन कराया गया है। फिर जिस पक्षसे जिज्ञासुको असंग ब्रह्मात्मस्वरूपका बोध हो वही पक्ष उसके लिये आदरणीय है।

३३ : अभेदबोधनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बके अभेदपक्षकी रीतिकी सुगमता

यद्यपि ऐसा है, तथापि बिम्ब-प्रतिबिम्बके अभेदपक्षकी रीतिसे असंग ब्रह्मात्मबोध अनायास होता है। क्योंकि जहाँ दर्पणादिमें मुखादिका लौकिक प्रतिबिम्ब होता है, वहाँ भी बिम्बका स्वरूप तो सदा एकरस ही रहता है, केवल उपाधिके सन्निधानसे बिम्ब-प्रतिबिम्बका भेदभ्रम होता है। इसी प्रकार ब्रह्मचेतन सदा एकरस ही है, केवल अज्ञानादि उपाधिके सम्बन्धसे उसमें जीव-ईशभावकी भ्रमरूप प्रतीति होती है, वस्तुतः असंग चेतनमें तो जीव-ईशभेदका सर्वथा अभाव ही है। यद्यपि चेतनमें जीवत्व और ईश्वरत्वरूप धर्म परस्पर भिन्न हैं और कल्पित हैं;

तथापि जीव-ईशरूप धर्मी तो परस्पर भिन्न नहीं और कल्पित भी नहीं। इसलिये बिम्ब-प्रतिबिम्ब का अभेदवाद अद्वैतमतके अत्यन्त अनुकूल है।

३४ : प्रतिबिम्बविषय विचार, आभासवाद और प्रतिबिम्बवादका किञ्चिद्भेद

जैसे आभासवादमें प्रतिबिम्ब अनिर्वचनीय है और उसका अधिष्ठान दर्पणादि उपाधि हैं, तैसे ही विवरणोक्त प्रतिबिम्बवादमें दर्पणस्थत्व और विपरीतदेशाभिमुखत्वादि धर्म अनिर्वचनीय हैं और उनका अधिष्ठान मुखादि बिम्ब हैं। इसलिये दोनों ही पक्षोंमें अनिर्वचनीयोंका परिणामी-उपादान अज्ञान ही कहना चाहिये।

३५ : प्रतिबिम्बकी छायारूपताका निषेध

कोई ग्रन्थकार छायाको प्रतिबिम्ब मानते हैं, यह असम्भव है। क्योंकि शरीर-वृक्षादिसे जितने देशमें आलोकका अवरोध हो, उतने देशमें आलोकविरोधी अंधकार उत्पन्न होता है और उस अंधकारको छाया कहते हैं। अंधकारका नीलरूप होनेसे छायाका भी नियमपूर्वक नीलरूप ही होता है। परन्तु स्फटिकमौक्तिकका प्रतिबिम्ब तो श्वेतवर्ण, सुवर्णका प्रतिबिम्ब पीतवर्ण और रक्तमाणिक्यका प्रतिबिम्ब रक्तवर्ण होता है। यदि प्रतिबिम्बको छाया माना जाय तो इन सकल प्रतिबिम्बोंका नीलरूप ही होना चाहिये, इसलिये छाया प्रतिबिम्ब नहीं कही जा सकती।

३६ : प्रतिबिम्बकी बिम्बसे भिन्न व्यावहारिक द्रव्यरूपताका निषेध

यदि कोई इस प्रकार कहे—

'यद्यपि अन्धकारस्वरूप छायासे प्रतिबिम्ब भिन्न है; तथापि जिस प्रकार मीमांसामतमें आलोकाभावको अन्धकार नहीं कहते हैं, किन्तु

अन्धकारको आलोकविरोधी भावरूप द्रव्य मानते हैं और उसमें क्रिया एवं नीलरूप होनेसे वह द्रव्य माना गया है, क्योंकि द्रव्यमें ही गुण व क्रिया रहते हैं। इस प्रकार जैसे दशवाँ द्रव्य अन्धकार है, तैसे ही पृथ्वी-जलादिसे भिन्न प्रतिबिम्ब भी द्रव्य ही है।'

इस प्रकार जो प्रतिबिम्बको स्वतन्त्र द्रव्य मानते हों, उनसे यह पूछना चाहिये कि वह प्रतिबिम्ब नित्य द्रव्य है अथवा अनित्य ? यदि नित्य द्रव्य कहा जाय तो वह आकाशादिकी भाँति उत्पत्ति-नाशहीन होनेसे उसके उत्पत्ति-नाश प्रतीत न होने चाहिये। यदि प्रतिबिम्बको अनित्य द्रव्य कहा जाय तो कार्यद्रव्य उपादानदेशमें ही रहा करता है, इसलिये प्रतिबिम्बके उपादानकारण दर्पणादि ही मानने होंगे। परन्तु दर्पणादिमें प्रतिबिम्बकी उपादानता सम्भव नहीं होती, क्योंकि यदि दर्पणादि उपादानमें प्रतिबिम्वरूप द्रव्यका सद्भाव माना जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि प्रतिबिम्बमें जो रूप एवं ह्रस्व-दीर्घादि परिणामस्वरूप गुण, प्रत्यङ्मुखत्वादि धर्म और हस्त-पादादि अवयव प्रतीत होते हैं, वे विम्बके समान सत्य हैं अथवा मिथ्या प्रतीत होते हैं ? यदि प्रतिबिम्बमें इन रूप-गुणादिका व्यावहारिक अभाव माना जाय और इनको प्रातिभासिक ही माना जाय तो फिर प्रतिबिम्बका व्यावहारिक द्रव्य-स्वरूप अंगीकार करना निष्फल होगा। यदि प्रतिबिम्बके इन रूपगुणादिको व्यावहारिक माना जाय तो अल्पपरिमाणवाले दर्पणमें महत्परिमाण-वाले अनेक प्रतिबिम्बोंकी उत्पत्ति असम्भव होगी। प्रतिबिम्बको मिथ्या मान लेनेपर तो जैसे शरीरके मध्य संकुचित देशमें स्वप्नके मिथ्या हस्त्यादिकी उत्पत्तिका सम्भव होनेसे उक्त दोष नहीं रहता, तैसे अल्प-परिमाणवाले दर्पणमें महत्परिमाणवाले प्रतिबिम्बोंकी उत्पत्तिका असम्भव भी नहीं रहता। इसी प्रकार यदि प्रतिबिम्बको व्यावहारिक द्रव्य कहा जाय तो उपादानरूप दर्पणमें दर्पणके समान रूपवाले एकविध प्रतिबिम्बों-की ही उत्पत्ति होनी चाहिये, परन्तु इसके विपरीत एक दर्पणमें तो अनेकविध रूपवाले अनेक प्रतिबिम्बोंकी उत्पत्ति होती है। वास्तवमें

एकरूप वाले उपादानसे तो अनेकविध रूपवाले अनेक उपादेयों (कार्यों) की उत्पत्ति असम्भव होती है और दर्पण के मध्य अथवा दर्पणके अति समीप ऐसा कोई अन्य पदार्थ प्रतीत नहीं होता, जिससे अनेकविध रूपवाले प्रतिविम्बोंकी उत्पत्ति कही जा सके । इसलिये प्रतिविम्बको व्यावहारिक द्रव्य कहना किसी प्रकार सम्भव नहीं होता। किंवा दर्पणके अतिसमीप प्रतिविम्वका अन्य तो कोई उपादान दृष्टिगोचर होता नहीं है, किंतु एकमात्र दर्पण ही उपादान माना जा सकता है, परन्तु उसका उपादानरूप सिद्ध होना असम्भव है। क्योंकि सघन अवयवसहित और पूर्वकी भाँति ज्यों-का-त्यों अविकारी प्रतीत होनेवाले दर्पणमें निम्न-उन्नत तथा हनु-नासिकादि अनेकविध अवयववाले द्रव्यांतर प्रतिविम्बोंकी उत्पत्ति कहना सर्वथा युक्तिहीन होगा ।

इस प्रकार 'प्रतिविम्ब बिम्बसे पृथक् व्यावहारिक द्रव्यस्वरूप है' छायावादकी भाँति यह पक्ष भी असंगत ही है ।

३७ : आभासवाद और प्रतिबिम्बवादको सयुक्तिक कह-कर दोनों पक्षोंमें अज्ञानरूप उपादानता

इस प्रकार 'सन्निहित दर्पणादिके निमित्तसे मुखादि अधिष्ठानोंमें प्रतिबिम्बात्वादि अनिर्वचनीय धर्म उत्पन्न होते हैं' चाहे तो ऐसा कहा जाय, अथवा 'सन्निहित मुखादिके निमित्तसे दर्पणादि अधिष्ठानोंमें अनिर्वचनीय प्रतिबिम्ब उपजते हैं' चाहे ऐसा कहा जाय । सारग्राही दृष्टिसे ये दोनों ही पक्ष युक्तिसहित हैं और अनिर्वचनीय धर्मका अथवा अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बका उपादानकारण अज्ञान ही कहना चाहिये ।

३८ : मूलाज्ञान अथवा तूलाज्ञानको प्रतिबिम्ब वा उसके धर्मोंकी उपादानताके असम्भवकी शंका

उपर्युक्त रीतिसे अज्ञानको उपादान मानकर जगत्का साधारण कारण जो मूलाज्ञान है, यदि उसीको प्रतिबिम्बत्वादि धर्मोंका अथवा

धर्मोंका उपादानकारण कहा जाय तो मूलाज्ञानके कार्यरूप आकाशादिकी भाँति प्रतिबिम्बत्वादि धर्म अथवा प्रतिबिम्बरूप धर्मी भी व्यावहारिक सत्य होने चाहिये। परन्तु पूर्वोक्त रीतिसे इन्हें अनिर्वचनीय ही माना गया है, इसलिये मूलाज्ञान तो इन अनिर्वचनीयोंका उपादान सम्भव हो नहीं सकता। इसी प्रकार विवरणमतके अनुसार यदि प्रतिबिम्बत्वादि धर्मोंका उपादान मुखावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान माना जाय और श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतानुसार यदि अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बोंका उपादान दर्पणावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान माना जाय तो 'अवस्थाअज्ञानका कार्य अनिर्वचनीय ही होता है' इस नियमके अनुसार यद्यपि उन अनिर्वचनीय कार्योंमें सत्यताकी आपत्ति तो नहीं रहती; तथापि अधिष्ठानज्ञानसे ही अनिर्वचनीयकी निवृत्ति होती है, यह नियम है। तहाँ पूर्वोक्त रीतिसे प्रतिबिम्बाध्यासके अधिष्ठान मुखावच्छिन्नचेतन अथवा दर्पणावच्छिन्नचेतन हैं और मुखज्ञान अथवा दर्पणज्ञान ही उनके अधिष्ठानका ज्ञान है। परन्तु मुखज्ञान वा दर्पणज्ञानके उत्तरकालमें भी प्रतिबिम्बोंकी प्रतीति तो सर्वके अनुभवसिद्ध है। इसलिये मुखावच्छिन्नचेतन अथवा दर्पणावच्छिन्नचेतनका आवरक जो अवस्था-अज्ञान, वह भी प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान सम्भव नहीं होता।

३९ : किसी एक ग्रन्थकारकी रीतिसे उक्त शंकाका समाधान

कोई ग्रन्थकार इस शंकाका समाधान इस प्रकार करते हैं—

यद्यपि शुक्ति-रजतादि अध्यासोंमें तो अधिष्ठानके विशेषज्ञानसे अज्ञानकी आवरण एवं विक्षेपरूप शक्तिके दोनों अंशोंकी निवृत्ति हो जाती है; तथापि अनुभवके अनुसार प्रतिबिम्बाध्यासके अधिष्ठानज्ञानसे अज्ञानकी आवरणशक्तिरूप अंशकी ही निवृत्ति होती है। इसीलिये आवरणशक्तिरूप अंशकी निवृत्ति हो जानेपर भी अज्ञानका विक्षेपहेतुक अंश शेष रहनेसे अधिष्ठानज्ञानके उत्तरकालमें भी प्रतिबिम्बादि और

उनके ज्ञान विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार प्रतिबिम्बाध्यास उपाध्यवच्छिन्नचेतनस्थ तूलाज्ञानके कार्य ही हैं, यह पक्ष सम्भव होता है।

४० : पूर्वोक्त शंकाका अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे समाधान

अन्य ग्रन्थकारोंका ऐसा मत है कि दर्पणादिका उपादान मूलाज्ञान ही प्रतिबिम्बाध्यासोंका उपादान है, इसलिये दर्पणादिका ज्ञान हो जानेपर भी प्रतिबिम्बोंकी प्रतीति होती रहती है। यद्यपि ब्रह्मज्ञानसे तो ब्रह्मचेतनके आवरक अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति हो जाती है, परन्तु दर्पणादिके ज्ञानसे दर्पणादिकावच्छिन्न चेतनके आवरक अज्ञानकी निवृत्ति हो जानेपर भी ब्रह्मस्वरूपके आवरक अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती। इस प्रकार प्रतिबिम्बाध्यासोंका उपादान मूलाज्ञान मान लेनेपर दर्पणादिका ज्ञान हो जानेपर भी प्रतिबिम्बाध्यासोंका सम्भव होता है। ब्रह्मात्मस्वरूपके आच्छादक अज्ञानको मूलाज्ञान और उपाध्यवच्छिन्न चेतनके आच्छादक अज्ञानको अवस्था-अज्ञान (तूलाज्ञान) कहते हैं। मूलाज्ञानसे तूलाज्ञानका भेद है अथवा अभेद है, यह विचार आगे किया जायगा।

४१ : मूलाज्ञान और तूलाज्ञानके भेदविषयक किञ्चित् विचार

उपर्युक्त रीतिसे मूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान मान लेनेपर यद्यपि दर्पणादिके समान प्रतिबिम्बादि भी व्यावहारिक रहने चाहिये; तथापि चूँकि ब्रह्मज्ञानके विना ही प्रतिबिम्बत्वादि धर्मों और अनिर्वचनीय प्रतिबिम्बोंमें मिथ्यात्वबुद्धि हो जाती है, इसलिये वे प्रातिभासिक ही हैं। परन्तु मूलाज्ञानको उक्त अध्यासोंका उपादान मान लेनेपर तो उनमें प्रातिभासिकता सम्भव नहीं होती, क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे निवर्तनीय मूलाज्ञानका कार्य व्यावहारिक होता है और ब्रह्मज्ञानके विना ही निवर्तनीय तूलाज्ञानका कार्य प्रातिभासिक होता है। इस प्रकार यदि व्यावहारिक-प्रातिभासिकका भेद किया जाय तो उपर्युक्त शंकाएँ उपस्थित होती हैं।

परन्तु यदि व्यावहारिक-प्रातिभासिकका भेद इस प्रकार किया जाय कि जो अज्ञानसे अतिरिक्त दोषजन्य न हो, किन्तु केवल अज्ञानजन्य ही हो वह तो व्यावहारिक और जो अज्ञानसे अतिरिक्त दोषजन्य भी हो उसको प्रातिभासिक कहते हैं, तब ऐसी अवस्थामें पूर्वोक्त शंकाओंका सम्भव नहीं रहता । क्योंकि दर्पणादि उपाधिसे मुखादिका सम्बन्ध होनेपर ब्रह्म-चेतनस्थ मूलाज्ञानका प्रतिबिम्बत्वादि धर्मरूप अथवा प्रतिबिम्बादि धर्मी-रूप परिणाम होता है और दोनों पक्षोंमें अधिष्ठान ब्रह्मचेतन ही रहता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बाध्यास जबकि अज्ञानसे अतिरिक्त दोषजन्य हैं, तब वे व्यावहारिक नहीं हो सकते हैं ।

४२ : आभासवाद और प्रतिबिम्बवादमें धर्मी अथवा धर्मके अध्यासकी उत्पत्तिका उपादान तूलाज्ञान मानकर अधिष्ठानका भेद

पूर्व ऐसा कहा गया है कि श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतानुसार अनिर्वच-नीय प्रतिबिम्बकी उत्पत्ति मान लेनेपर दर्पणादिकावच्छिन्न चेतन तो अधिष्ठान और दर्पणादिकावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान उपादान होता है । इसी प्रकार विवरणमतके अनुसार प्रतिबिम्बत्वादि धर्मोंकी उत्पत्ति मान लेनेपर मुखावच्छिन्न चेतन अधिष्ठान और मुखावच्छिन्न चेतनस्थ अज्ञान उपादान होता है ।

इस प्रकार धर्मी-अध्यास और धर्माध्यासपक्षोंमें जो अधिष्ठान और उपादानके भेद कहे गये हैं, वे तूलाज्ञानको उक्त अध्यासोंका उपादान मानकर ही कहे गये हैं ।

४३ : दोनों पक्षोंमें मूलाज्ञानको उपादान मानकर अधिष्ठानका अभेद और मूलाज्ञानमें उक्त अध्यासोंके उपादानताकी योग्यता

परन्तु मूलाज्ञानको उपादान मानकर तो दोनों पक्षोंमें अधिष्ठानका

भेद सम्भव नहीं होता और वस्तुतः उक्त दोनों अध्यासोंका उपादान मूलाज्ञान ही मानना चाहिये। क्योंकि यदि उक्त दोनों प्रतिबिम्बाध्यासों-का उपादान तूलाज्ञान ही माना जाय और दर्पणादि वा मुखादिके ज्ञानसे अज्ञानकी केवल आवरणशक्त्यंशकी ही निवृत्ति मानकर विक्षेप-शक्त्यंशकी स्थिति मान ली जाय तो ब्रह्मज्ञानसे भी ब्रह्मस्वरूपके आवरक मूलाज्ञानके केवल आवरणशक्त्यंशका ही नाश मानना होगा। इसी प्रकार शुक्त्यादिके ज्ञानसे शुक्त्याद्यवच्छिन्न चेतनकी आवरणशक्तिरूप तूलाज्ञानांशका ही नाश मानना होगा। फिर व्यावहारिक तथा प्राति-भासिक द्विविध विक्षेपोंका हेतु विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानांशके शेष रहनेसे विदेहकैवल्यमें भी उक्त द्विविध विक्षेपोंके सद्भावसे सर्व संसारका अनुच्छेद ही रहेगा। इसलिये आवरणशक्तिरूप अज्ञानांशके निवृत्त हो जानेपर विक्षेपशक्ति अज्ञानांशका शेष कहना नहीं बन पड़ता।

४४ : प्रतिबिम्बाध्यासके उपादान तूलाज्ञानवादीका मत

प्रतिबिम्बाध्यासके उपादान तूलाज्ञानवादी तो ऐसा कहते हैं—

आवरणशक्तिरूप अज्ञानांशकी निवृत्ति हो जानेपर विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानांशका शेष रहना कोई स्वाभाविक नहीं है, किंतु जहाँ विक्षेप-शक्ति अज्ञानांशकी निवृत्तिका कोई प्रतिबन्धक हो वहीं विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानांश शेष रहता है। जैसे ब्रह्मज्ञानसे आवरणशक्तिरूप अज्ञानांशकी निवृत्ति हो जानेपर भी प्रारब्धकर्म विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानांशकी निवृत्ति-में प्रतिबन्धक होते हैं और उतने ही कालतक विक्षेपशक्तिरूप अज्ञानांश शेष रहता है तथा प्रारब्धरूप प्रतिबन्धकके अभाव हो जानेपर विक्षेप-शक्तिरूप अज्ञानांशकी भी स्वाभाविक निवृत्ति हो जाती है। परन्तु इतना भेद है कि यद्यपि आवरणशक्तिरूप अज्ञानांशकी निवृत्ति महा-वाक्यजन्य अन्तःकरणकी प्रमारूप वृत्तिसे हो जाती है; तथापि प्रारब्ध-वशसे जितने समयतक शरीर रहे तबतक पूर्व ब्रह्माकार वृत्ति तो रह नहीं सकती और विक्षेपनिवृत्तिके लिये मरणके अव्यवहित पूर्वकालमें

विद्वानको महावाक्यके विचारका कोई विधान नहीं रहता तथा मरण-मूर्च्छाकालमें महावाक्यविचारका सम्भव भी नहीं होता। इसलिये आवरणशक्तिके नाशका हेतु तो तत्त्वज्ञान है और विक्षेप शक्तिके नाशका हेतु तत्त्वज्ञानके संस्कारसहित उसका चिंतन है।

इस प्रकार जैसे मूलाज्ञानकी विक्षेपशक्तिकी निवृत्तिमें प्रारब्धकर्म प्रतिबन्धक होते हैं, तैसे ही प्रतिबिम्बाध्यासोंमें विक्षेपशक्तिकी निवृत्तिमें मुखादि बिम्बोंसे दर्पणादि उपाधियोंका सम्बन्धही प्रतिबन्धक होता है और उसके सद्भावमें आवरणांश निवृत्ति हो जानेपर भी प्रतिबिम्बादि विक्षेपोंकी निवृत्ति नहीं होती। फिर बिम्ब-उपाधिका सम्बन्धरूप प्रतिबन्धक निवृत्त हो जानेपर विक्षेप भी निवृत्त हो जाता है। परन्तु शुक्ति रजतादि अध्यासोंमें तो आवरणका नाश हो जानेके पश्चात् विक्षेपनिवृत्तिमें कोई प्रतिबन्धक शेष नहीं रहता, इसलिये विक्षेप भी शेष नहीं रहता। इस प्रकार विक्षेपनिवृत्तिमें प्रतिबन्धकाभावसहित अधिष्ठानज्ञान ही हेतु होनेसे और मोक्षदशामें प्रारब्धरूप प्रतिबन्धकके निवृत्त हो जानेसे संसारका उपलम्भ भी सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार आवरणशक्तिके नाशके पश्चात् भी विक्षेपशक्तिका सद्भाव मान लेनेपर पूर्वोक्त दोषके अभावसे तूलाज्ञानको ही प्रतिबिम्बाध्यासोंका उपादान मानना उचित है।

४५ : उक्तमतके निषेधपूर्वक मूलाज्ञानको ही प्रतिबिम्बाध्यासोंकी उपादानता

ऐसा कथन भी अयुक्त है, क्योंकि जहाँ यज्ञदत्तको देवदत्तके मुखका और दर्पणादि उपाधिका यथार्थरूपसे साक्षात्कार हो जाय, उसके उत्तरकालमें भी दर्पणसे देवदत्तमुखका सम्बन्ध रहते हुए यज्ञदत्तको विवरणमतानुसार देवदत्तमुखमें जो बिम्ब-प्रतिबिम्बत्वादि धर्मोंका अध्यास बना रहता है और श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतानुसार दर्पणमें जो देवदत्तमुखके प्रतिबिम्बका अध्यास बना रहता है, वह नहीं रहना चाहिये। क्योंकि

उक्त अध्यासोंकी निवृत्तिमें बिम्ब-उपाधिका सम्बन्ध ही प्रतिबन्धक होता है और अधिष्ठानरूप मुख वा दर्पणके ज्ञानकालमें उस प्रतिबन्धकका अभाव हो जानेसे प्रतिबन्धकाभावसहित अधिष्ठानज्ञानकी सिद्धि होती है। अर्थात् विवरणमतानुसार तो 'देवदत्तमुखे दर्पणस्थत्वप्रत्यङ्मुखत्वादि नास्ति' (देवदत्तमुखमें दर्पणस्थत्व और विपरीतमुखत्वादि नहीं हैं) ऐसा ज्ञान अध्यासविरोधी होता है और श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतानुसार 'दर्पणे देवदत्तमुखं नास्ति' (दर्पणमें देवदत्तमुख नहीं है) ऐसा ज्ञान अध्यासविरोधी होता है। चूँकि दोनों मतोंमें क्रमशः 'देवदत्तमुखे दर्पणस्थत्व प्रत्यङ्-मुखत्वं' तथा 'दर्पणे देवदत्तमुखं' इस प्रकारसे अध्यासोंके आकारका भेद है और उसका हेतु विक्षेपशक्तिविशिष्ट अज्ञानांशकी निवृत्ति भी हो गई है, इसलिये उपादानके अभावसे उक्तस्थलमें यज्ञदत्तको देवदत्तमुखका प्रतिबिम्बभ्रम नहीं होना चाहिये, परन्तु होता है। इसके विपरीत यदि प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान ब्रह्मचेतनस्थ मूलाज्ञान ही मान लिया जाय तो उक्त उदाहरणमें देवदत्तमुख और दर्पणका ज्ञान हो जानेपर भी ब्रह्मरूप अधिष्ठानज्ञानके अभावसे और मूलाज्ञानरूप उपादानके सद्भावसे उक्त अध्यास सम्भव होता है। इसलिये मूलाज्ञान ही प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान है, यही पक्ष समीचीन है।

४६ : मूलाज्ञानकी उपादानतापक्षमें शंका

परन्तु इस पक्षमें ऐसी शंका होती है कि यदि प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान ब्रह्मचेतनस्थ मूलाज्ञान ही माना जाय तो ब्रह्मज्ञानके बिना प्रति-बिम्बाध्यासकी निवृत्ति ही न होनी चाहिये। क्योंकि अधिष्ठानके यथार्थ-ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति-द्वारा भ्रमकी निवृत्ति होती है और उक्त पक्षमें प्रतिबिम्बाध्यासका अधिष्ठान ब्रह्मचेतन माना गया है, दर्पणावच्छिन्न चेतन अथवा मुखावच्छिन्न चेतन अधिष्ठान नहीं माने गये। फिर यदि मुखदर्पणादिके ज्ञानसे मूलाज्ञानकी भी निवृत्ति मानी जाय तो उपादानके अभावसे मुख-दर्पणादि व्यावहारिक पदार्थोंका भी अभाव हो जाना चाहिये

और यदि मूलाज्ञानको उपादान माना जाय तो उपादानकी विद्यमानतामें मुखादिके ज्ञानसे बिम्बउपाधिके वियोगकालमें भी प्रतिबिम्बाध्यासकी निवृत्तिका सम्भव न होना चाहिये ।

४७ : उक्त शंकाका समाधान

इस शंकाका यह समाधान है—

आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिके भेदसे अज्ञान द्विविध अंशवाला होता है और प्रतिवन्धकरहित अधिष्ठानज्ञानसे ही अशेष अज्ञानकी निवृत्ति होती है । परन्तु प्रारब्ध-कर्मोंका प्रतिबन्धक रहते हुए ब्रह्मरूप अधिष्ठानज्ञान हो जानेपर भी विक्षेपहेतु अज्ञानांशकी निवृत्ति नहीं होती । जिस प्रकार जहाँ घटादि अनात्मपदार्थगोचर ज्ञान होता है वहाँ यद्यपि उनके अज्ञानकी निवृत्ति तो नहीं होती; तथापि जितने समय घटादिका स्फुरण रहे उतने समय, जैसे अन्धकारसे आवृत गृहके एक देशमें प्रभा-प्रकाशसे अन्धकारका संकोच हो जाता है तैसे ही, अज्ञानजन्य आवरणका भी संकोच हो जाता है । इसी प्रकार मुखदर्पणादिके साक्षात्कारसे यद्यपि ब्रह्मके आच्छादक मूलाज्ञानकी निवृत्ति तो नहीं होती; तथापि मुख-दर्पणादिके ज्ञानसे अज्ञानजन्य प्रतिबिम्बाध्यासरूप विक्षेपका अज्ञानरूप उपादानमें विलयरूप संकोच ही होता है । उपादानमें विलयको कार्यकी सूक्ष्म अवस्था कहते हैं । इस प्रकार अधिष्ठानज्ञानके अभावसे अज्ञानकी निवृत्तिविना यद्यपि प्रतिबिम्बाध्यासकी बाधरूप निवृत्तिका सम्भव तो नहीं है; तथापि मुख-दर्पणादिके ज्ञानसे प्रतिबन्धकका अभाव हो जानेसे कार्यकी उपादानमें विलयरूप निवृत्ति ही होती है ।

४८ : एकदेशीकी रीतिसे बाधका लक्षण

इस प्रकार संसारदशामें प्रतिबिम्बाध्यासका बाध नहीं होता, ऐसा कोई एकदेशी मानते हैं । इस मतमें अभावनिश्चयको बाध नहीं कहते हैं, क्योंकि 'मुखे दर्पणस्थत्वं नास्ति' अथवा 'दर्पणे मुखं नास्ति' इस प्रकारके

विवरण और विद्यारण्यस्वामीके मतभेदसे उभयविध अध्यासोंका अभाव-निश्चय सभी अविद्वानोंके भी अनुभवसिद्ध है, फिर भी संसारदशामें इन अध्यासोंका बाध कहना सम्भव नहीं होता। इसलिये जिनके मतमें ब्रह्म-ज्ञानके विना प्रतिबिम्बाध्यासोंका बाध नहीं माना जाता उनके मतमें तो केवल अधिष्ठानशेषको ही बाध कहते हैं। उक्त रीतिसे संसारदशामें प्रतिबिम्बाध्यासोंका अभावनिश्चय हो जानेपर भी अज्ञानकी सत्ता रहने-से केवल अधिष्ठानशेष नहीं रहता, किन्तु अज्ञानविशिष्ट ही अधिष्ठान रहता है। इस प्रकार इस मतमें अधिष्ठानज्ञानके विना प्रतिबन्धकरहित मुख-दर्पणादिके साक्षात्कारसे बाधरूप अज्ञाननिवृत्तिका अभाव रहते हुए कार्यका अपने उपादानमें विलयरूप संकोच ही होता है। उपादानरूपसे कार्यकी स्थितिको सूक्ष्मावस्था कहते हैं।

४९ : अनेक ग्रन्थकारोंकी रीतिसे बाधका लक्षण और ब्रह्मज्ञानविना प्रतिबिम्बाध्यासके बाधकी सिद्धि

अनेक ग्रन्थकारोंके मतमें ब्रह्मज्ञानके विना और मूलाज्ञानके नाश-विना भी मूलाज्ञानजन्य प्रतिबिम्बाध्यासका बाध होता है। उनका अभि-प्राय यह है कि मिथ्यात्वनिश्चय अथवा अभावनिश्चय ही बाध कहा जाता है। तहाँ बहुत स्थानोंमें तो जिस पदार्थका मिथ्यात्वनिश्चय अथवा अभावनिश्चय हो वहाँ अधिष्ठानमात्र ही शेष रहता है और अज्ञान शेष नहीं रहता। इसी अभिप्रायसे किसी ग्रन्थकारने अधिष्ठान-मात्रके शेषको ही बाध कहा है, परन्तु अधिष्ठानमात्रका शेष ही बाध-का लक्षण नहीं है। यदि बाधका यही लक्षण हो तो जहाँ स्फटिकमें लौहित्यादि सोपाधिक भ्रम होते हैं, वहाँ अधिष्ठानज्ञानसे उत्तरकालमें भी जपाकुसुम-स्फटिकका परस्पर सम्बन्धरूप प्रतिबन्धकके रहते हुए लौहित्या-ध्यासकी निवृत्ति न होनी चाहिये। तैसे ही विद्वानके प्रारब्धकर्मोंका प्रतिबन्धक रहते हुए शरीरादिकी निवृत्ति नहीं होती है, यदि अधिष्ठान-शेष ही बाधका लक्षण कहा जाय तो इस अवस्थामें भी उसके शरीरकी

निवृत्ति हो जानी चाहिये। इसलिये इन दोनों स्थलोंमें कार्यविशिष्ट अज्ञान और अधिष्ठान दोनों एक स्थानमें रहनेसे और केवल अधिष्ठान-शेषके अभावसे बाधरूप व्यवहार न होना चाहिये। परन्तु श्वेत स्फटिकके साक्षात्कारसे तो लौहित्याध्यासका बाध होता है और जीवन्मुक्त विद्वानको ब्रह्मसाक्षात्कारसे शरीर रहते हुए भी उसके संसारका बाध होता है। इस प्रकार विक्षेपसहित अधिष्ठानमें सकल ग्रन्थकारोंने बाध-व्यवहार निरूपण किया है। तहाँ अध्यस्त पदार्थमें मिथ्यात्वनिश्चय अथवा अभावनिश्चय ही बाधका स्वरूप सम्भव होता है।

इस प्रकार प्रतिबन्धकरहित मुख-दर्पणादिके ज्ञानसे मुखमें प्रतिबिम्ब-त्वादि धर्मोंका अथवा दर्पणमें प्रतिबिम्बादि धर्मोंका मिथ्यात्वनिश्चय वा अभावनिश्चय होता है। इसलिये 'ब्रह्मज्ञानके विना प्रतिबिम्बाध्यासों का बाध नहीं होता' ऐसा कथन अयुक्त है।

५० : मुख-दर्पणादि अधिष्ठानके ज्ञानको प्रतिबिम्बा-ध्यासोंकी निवृत्तिमें हेतुता

जिस प्रकार अधिष्ठानज्ञानसे अध्यासकी बाधरूप निवृत्ति होती है, उसी प्रकार मुख-दर्पणादिके अपरोक्षज्ञानसे भी प्रतिबन्धकरहित कालमें प्रतिबिम्बाध्यासोंकी निवृत्ति अनुभवसिद्ध है। इसलिये प्रतिबन्धकाभाव-सहित मुख-दर्पणादिका ज्ञान भी अधिष्ठानज्ञानके समान अध्यासनिवृत्ति-का हेतु होता है, ऐसा मानना योग्य है। तथा मुख-दर्पणादिका ज्ञान प्रतिबिम्बाध्यासकी निवृत्तिका कारण सम्भव हो भी सकता है। क्योंकि यह नियम है कि समानविषयक ज्ञान ही अज्ञानका विरोधी होता है, भिन्न-विषयक ज्ञान अज्ञानका विरोधी नहीं होता। इसीलिये मुख-दर्पणादिज्ञानका मुखदर्पणादिकावच्छिन्न चेतनस्थ तूलाज्ञानसे ही विरोध है, ब्रह्माच्छादक मूलाज्ञानसे उसका कोई विरोध नहीं। अतः मुख-दर्प-णादिज्ञानका ब्रह्मज्ञानके विरोधी मूलाज्ञानसे तो यद्यपि कोई विरोध

नहीं है और मुख-दर्पणादिज्ञानसे प्रतिबिम्बाध्यासके उपादान मूलाज्ञान-की निवृत्ति नहीं भी होती है; तथापि मूलाज्ञानकी निवृत्तिके विना भी पूर्व ज्ञानकी उसके विरोधी ज्ञानसे निवृत्ति तो अनुभवसिद्ध ही है ।

५१ : मुख-दर्पणादिके ज्ञानको मूलाज्ञानकी निवृत्तिविना भी प्रतिबिम्बाध्यासकी नाशकता

उपर्युक्त कथनका आशय यह है कि जहाँ रज्जुके अज्ञानसे सर्पभ्रम होकर फिर दण्डभ्रम हो, वहाँ दण्डज्ञानसे यद्यपि सर्पके उपादानरूप तूलाज्ञानकी निवृत्ति तो नहीं भी होती है, क्योंकि अधिष्ठानके अपरोक्ष-ज्ञानसे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती है । इसलिये रज्जुज्ञानके विना रज्जु-चेतनस्थ अज्ञानकी निवृत्तिका सम्भव नहीं भी है, क्योंकि यदि दण्डज्ञानसे रज्जुचेतनस्थ अज्ञानकी भी निवृत्ति होती हो तो उपादानके अभावसे दण्डाध्यासका स्वरूप ही सिद्ध न होगा । तथापि अज्ञाननिवृत्तिविना जैसे दण्डज्ञानसे सर्पज्ञान निवृत्त हो जाता है; तैसे ही 'मुखे प्रतिबिम्बत्वं नास्ति' अथवा 'दर्पणे मुखं नास्ति' इस प्रकारसे मुख-दर्पणज्ञान प्रतिबिम्बा-ध्यासका विरोधी होनेसे भी प्रतिबिम्बाध्यासके उपादान मूलाज्ञानकी निवृत्तिविना प्रतिबिम्बाध्यासकी निवृत्ति तो हो ही जाती है । यदि उक्त ज्ञानसे मूलाज्ञानकी भी निवृत्ति कही जाय तो मूलाज्ञानके कार्य मुख-दर्प-णादि व्यावहारिक पदार्थ भी नष्ट हो जाने चाहिये । इसलिये मूलाज्ञानकी निवृत्तिके विना भी विरोधीविषयक होनेसे मुखदर्पणादिके ज्ञान प्रतिबिम्बा-ध्यासके नाशक होते हैं । जैसे भावअभाव परस्पर विरोधी होते हैं, तैसे उनके ज्ञान भी परस्पर विरोधी होते हैं । जिस प्रकार जहाँ स्थाणुमें स्थाणु-त्वज्ञानके पश्चात् पुरुषत्वभ्रम हो वहाँ 'स्थाणुत्वं नास्ति' ऐसे विरोधी भ्रमज्ञानसे भी पूर्व प्रमाज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है और घटवाले भूतलमें घटाभावके भ्रमज्ञानके पश्चात् फिर जब घटइन्द्रियका संयोग हो तब 'घटवद्भूतलम्' ऐसे विरोधी प्रमाज्ञानसे पूर्व भ्रमज्ञानकी निवृत्ति हो

जाती है, उसी प्रकार रज्जुमें सर्पज्ञानके पश्चात् जब दण्डज्ञान हो तब दण्डज्ञानसे सर्पज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, यद्यपि ये दोनों ज्ञान भ्रमरूप ही हैं । इस प्रकार कहीं विरोधी भ्रमज्ञानसे प्रमाज्ञानकी निवृत्ति, कहीं विरोधी प्रमाज्ञानसे भ्रमज्ञानकी निवृत्ति और कहीं विरोधी एक भ्रमज्ञानसे दूसरे भ्रमज्ञानकी निवृत्ति होती है । जहाँ भ्रमसे प्रमाकी निवृत्ति अथवा एक भ्रमसे अन्य भ्रमकी निवृत्ति हो, वहाँ तो भ्रमके उपादानरूप अज्ञानके सद्भावमें ही पूर्व ज्ञानोंकी निवृत्ति होती है, परन्तु जहाँ प्रमाज्ञानसे भ्रम-ज्ञानकी निवृत्ति हो वहाँ तो अधिष्ठानका यथार्थज्ञान प्रमारूप होनेसे वह अज्ञानसहित भ्रमकी निवृत्ति करता है ।

इस प्रकार अधिष्ठानज्ञानके विना और मूलाज्ञानकी निवृत्तिविना भी मुख-दर्पणादिज्ञानसे प्रतिबिम्बाध्यासकी निवृत्ति सम्भव होती है । अर्थात् दूसरे विरोधी ज्ञानसे भी पूर्व ज्ञानकी निवृत्ति होती है, यह नियम है । परन्तु केवल अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे ही पूर्व भ्रमज्ञानकी निवृत्ति हो, यह नियम नहीं, किन्तु दूसरे भ्रमज्ञानसे भी पूर्व भ्रमज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है। हाँ, यह नियम अवश्य है कि अधिष्ठानके यथार्थज्ञानविना अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती और केवल अधिष्ठानकी विशेष प्रमासे ही अज्ञानकी निवृत्ति होती है। इस स्थलमें विवरणमतमें तो 'मुखे प्रतिबिम्बत्वं दर्पणस्थत्वं प्रत्यङ्मुखत्वम्' ऐसा अध्यास होता है और उसका विरोधी 'मुखे प्रतिबिम्बत्वादि नास्ति' ऐसा ज्ञान है। तथा श्रीविद्यारण्यस्वामीके मतमें 'दर्पणे मुखम्' ऐसा अध्यास होता है और 'दर्पणे मुखं नास्ति' ऐसा ज्ञान उसका विरोधी होता है । न्यायमतमें भी भाव-अभावका परस्पर विरोध मानकर विषयविरोधसे उनके ज्ञानोंका भी विरोध माना गया है ।

इस प्रकार मूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासोंका उपादान मानकर भी बिम्ब-उपाधिके सन्निधानरूप प्रतिबन्धकसहित कालमें मूलाज्ञानकी निवृत्ति-विना भी केवल मुख-दर्पणादि ज्ञानसे ही उक्त प्रतिबिम्बाध्यासोंकी निवृत्ति सम्भव होती है ।

५२ : उक्त पक्षमें श्रीपद्मपादाचार्यकृत पञ्चपादिकाकी रीतिसे तूलाज्ञानको अध्यासहेतु माननेवाले वादीकी शंका

इस पक्षमें ऐसी शंका होती है कि शारीरक-भाष्यकी 'पचञ्पादिका' नामक टीका श्रीपद्मपादाचार्यकृत है और उनको श्रीभाष्यकारके वचनसे सर्वज्ञता प्राप्त हुई है। उस सर्वज्ञवचन पञ्चपादिका टीकामें ऐसा लिखा गया है---

'जहाँ-सर्प-रजतादिभ्रम होते हैं वहाँ रज्जु-शुक्तिके ज्ञानसे सर्प-रजतादिके उपादानरूप अज्ञानकी निवृत्ति होती है और अज्ञाननिवृत्तिसे सर्प-रजतादि अध्यासोंकी निवृत्ति होती है। यदि रज्जु-शुक्त्यादिके ज्ञानको सर्प-रजतादिकी निवृत्तिमें साक्षात् कारण माना जाय तो 'उपादानके नाशसे ही भावकार्यका नाश होता है' इस नियमकी हानि होगी। परन्तु यदि ऐसा माना जाय कि अधिष्ठानज्ञानसे अज्ञानका नाश होता है और अज्ञाननाशसे अध्यासका नाश होता है तब उक्त नियमका व्यभिचार नहीं होता। यद्यपि अन्धकारकी भाँति अज्ञान भी भावरूप तो है; तथापि अनादि होनेसे अज्ञान कार्य नहीं हो सकता। इसलिये अज्ञानकी निवृत्ति तो अधिष्ठान-ज्ञानसे ही सम्भव हो सकती है, परन्तु भावकार्य सर्पादि अध्यासोंकी निवृत्ति तो उपादानरूप अज्ञानके नाशविना असम्भव है। यद्यपि वेदांतमतमें घटध्वंसकी निवृत्ति मानी गई है, परन्तु अभावपदार्थका कोई उपादानकारण नहीं होता, इसलिये यद्यपि उपादानके नाशविना भी घटध्वंसरूप कार्यका नाश होता है; तथापि घटध्वंस भावकार्य नहीं है।'

इस प्रकार भावकार्यके नाशमें उपादाननाशको नियत हेतुताके संरक्षणके लिये पञ्चपादिकामें अधिष्ठानज्ञानको अज्ञाननिवृत्तिद्वारा ही अध्यासनिवृत्तिमें हेतुरूप कहा गया है और अज्ञाननिवृत्तिको त्यागकर केवल अधिष्ठानज्ञान को ही अध्यासनिवृत्तिका साक्षात् हेतु माननेका निषेध किया है। परन्तु मूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान मान लेनेपर तो पूर्वोक्त रीतिसे अज्ञाननिवृत्तिके बिना ही प्रतिबिम्बाध्यासकी

निवृत्ति माननी होती है, इसलिये उक्त पञ्चपादिका वचनसे विरोध होता है और यदि तूलाज्ञानको उक्त अध्यासका उपादान मान लिया जाय तो विरोध नहीं होता। क्योंकि जो तूलाज्ञानको उक्त अध्यासका उपादान मान लेते हैं, उनके मतमें श्रीविवरणकारकी रीतिसे तो मुखावच्छिन्न-चेतनस्थ-अज्ञान धर्माध्यासका उपादान सिद्ध हो जाता है और श्रीविद्यारण्यस्वामीकी रीतिसे दर्पणावच्छिन्न-चेतनस्थ-अज्ञान धर्मी-अध्यासका हेतु सिद्ध हो जाता है। तथा प्रतिवन्धकरहित कालमें मुखज्ञान अथवा दर्पणज्ञानसे क्रमशः उन अज्ञानोंकी निवृत्ति होकर उपादानस्वरूप अज्ञाननिवृत्तिद्वारा प्रतिबिम्बाध्यासकी निवृत्ति होती है।

इस प्रकार तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान मानना पञ्चपादिकावचनके अनुकूल है और मूलाज्ञानको उपादान मानना पञ्चपादिकावचनसे विरुद्ध है। इस रीतिसे तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान माननेवालोंका यह पूर्वपक्ष है।

५३ : उक्त शंकाकी अयुक्तता

उपर्युक्त वचनोंके अनुसार यदि तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान मान लिया जाय तब भी पञ्चापादिकावचनसे विरोधका परिहार नहीं होता। अर्थात्—

जहाँ यज्ञदत्तको दर्पणसम्वन्धरहित देवदत्तमुखका अथवा देवदत्तमुख-वियुक्त दर्पणका साक्षात्कार हो और फिर उत्तरक्षणमें देवदत्तमुखका दर्पणसे सम्बन्ध हो जाय, वहाँ फिर प्रतिबिम्बाध्यास होता है। परन्तु यदि मूलाज्ञानको उपादान माना जाय तो मुख-दर्पणके ज्ञानसे मूलाज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती है, किन्तु मुखज्ञानसे तो मुखावच्छिन्न-चेतनस्थ-अज्ञानकी और दर्पणज्ञानसे दर्पणावच्छिन्न-चेतनस्थ-अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है। इसलिये मुख-दर्पणसाक्षात्कारके उत्तर कालमें भी मुख-दर्पणके सन्निधानसे पुनः प्रतिबिम्बाध्यासका सम्भव होता है। क्योंकि मुख-दर्पणसाक्षात्कारसे तूलाज्ञानके आवरणशक्तिविशिष्ट अंशका नाश हो जानेपर भी विक्षेपशक्ति-

विशिष्ट अंशका नाश न होनेसे यद्यपि तूलाज्ञानवादीकी रीतिसे भी विशेष-रूपसे ज्ञात अधिष्ठानमें अध्यासका सम्भव हो सकता है; तथापि इस स्थलमें तूलाज्ञानवादीका ऐसा कहना सम्भव नहीं होता कि मुख-दर्पणका परस्पर वियोग होनेपर प्रतिबन्धकाभावसहित अधिष्ठानज्ञानसे अज्ञान-निवृत्तिद्वारा ही अध्यासनिवृत्ति हुई है, किन्तु यही कहना होगा कि अज्ञान-निवृत्तिविना ज्ञानसे अध्यासकी साक्षात् निवृत्ति ही हुई है। क्योंकि यह नियम है : कि रज्जुज्ञानसे शुक्तिके अज्ञानका नाश नहीं होता और इसीलिये ज्ञानसे अज्ञानमात्रका नाश नहीं होता, किन्तु ज्ञानसे समानविषयक अज्ञानका ही नाश होता है। अर्थात् मुख-दर्पणके ज्ञानसे मुख-दर्पणके अज्ञान-का ही नाश होता है नकि मूलाज्ञानका। ज्ञानसे जिसका प्रकाश हो वह तो ज्ञानका विषय कहा जाता है और अज्ञानसे जो आवृत हो वह अज्ञानका विषय कहलाता है। यहाँ जबकि यज्ञदत्तको अध्याससे पूर्व ही देवदत्तमुख व दर्पणका साक्षात्कार हुआ हो तब उस पूर्व साक्षात्कारसे ही आवरणका नाश स्वतः सिद्ध होता है, इसलिये यहाँ मुखदर्पणमें प्रथम अज्ञानकृत आवरण और फिर उसमें ज्ञानकी विषयताका अभाव है। इसलिये इस स्थलमें 'समानविषयक ज्ञान अज्ञानका विरोधी है' अथवा 'अज्ञाननिवृत्ति-विना अध्यासकी निवृत्ति नहीं होती' इन दोनों नियमोंका भंग तूलाज्ञान-वादीको भी मानना पड़ता है।

इस प्रकार तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान मान लेनेपर भी पञ्चपादिकावचनसे विरोधका परिहार नहीं होता।

५४ : तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका हेतु माननेसे पञ्चपादिकाके वचनसे विरोध और मूलाज्ञानको हेतु माननेसे अविरोध

यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका हेतु माननेसे उल्टा पञ्चपादिकावचनसे विरोध होता है और मूलाज्ञानको हेतु माननेसे उस विरोधका अभाव होता है। तथाहि—

'ज्ञानसे केवल अज्ञानकी निवृत्ति होती है और अज्ञानरूप उपादानकी निवृत्तिसे अज्ञानके कार्यकी निवृत्ति होती है' ऐसा पञ्चपादिकाका वचन है। इस कथनका यह अभिप्राय नहीं कि भावकार्यके नाशमें उपादानका नाश नियत हेतु होता ही है और ज्ञानसे साक्षात् अध्यासकी निवृत्ति सम्भव ही नहीं होती। क्योंकि यदि उपादानके नाशविना भावकार्यका नाश न होता हो तो भावकार्यके नाशमें उपादानके नाशको नियत हेतु माना जाय, परन्तु जहाँ भावकार्य द्व्यणुक है और उसका उपादान परमाणु है, वहाँ परमाणु नित्य होनेसे उसका नाश तो सम्भव ही नहीं होता। हाँ, परमाणु-संयोगके नाशसे तो द्व्यणुकका नाश होता है, परन्तु वहाँ परमाणु नित्य होनेसे भावकार्यके नाशमें उपादाननाशकी हेतुताका व्यभिचार है। इसलिये भाव-कार्यके नाशमें उपादाननाशकी हेतुताके नियमके संरक्षणके अभिप्रायसे ही पञ्चपादिकाकी उक्ति नहीं हो सकती। यदि केवल आग्रहसे पञ्चपादिका-वचनका उक्त नियमके संरक्षणमें ही अभिप्राय कहा जाय तो दण्डज्ञानसे सर्पज्ञानकी निवृत्ति न होगी। यद्यपि न्यायमतमें भी द्व्यणुकभिन्न द्रव्यके नाशमें उपादानके नाशको हेतु माना गया है; तथापि यदि सभी भाव-कार्योंके नाशमें उपादाननाशको हेतु कहा जाय तो परमाणु एवं मन नित्य-द्रव्य हैं, इसलिये उनका नाश असम्भव होनेसे उनके किसी भी क्रियाका नाश न होगा। इसी प्रकार नित्य आत्माके ज्ञानादि गुणोंका और नित्य आकाशके शब्दादि गुणोंका नाश न होगा। इसलिये भावकार्यके नाशमें उपादानका नाश नियत हेतु है, ऐसा कथन असंगत है। यदि किसी स्थानमें आश्रयका नाश हो जानेपर कार्यकी स्थिति नहीं रहती, तब वहाँ तो उपादानका नाश कार्यनाशका हेतु होता है। फिर भी उपादानका नाश कार्यनाशमें नियत हेतु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपादानके सद्भावमें अन्य कारणसे भी कार्यका नाश होता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि उक्त नियमके संरक्षणके अभिप्रायसे ही पञ्चपादिकाकी यह उक्ति नहीं है, किन्तु इस उक्तिका आशय यही है कि जहाँ अधिष्ठानज्ञानसे अध्यासकी निवृत्ति होती है, वहाँ अधिष्ठानज्ञान अध्यासनिवृत्तिमें साक्षात् कारण नहीं होता

है, किन्तु अधिष्ठानज्ञान तो अज्ञाननिवृत्तिका कारण और अज्ञाननिवृत्ति अध्यासनिवृत्तिका कारण होती है। जैसे कुलालपिता अन्यथासिद्ध होनेसे घटका कारण नहीं होता, तैसेही अधिष्ठानज्ञान अन्यथासिद्ध होनेसे अध्यास-निवृत्तिमें कारण नहीं होता। इस प्रकार जहाँ अधिष्ठानज्ञानसे अध्यासकी निवृत्ति कही जाती है, वहाँ अधिष्ठानज्ञानसे तो अज्ञानमात्रकी ही निवृत्ति होती है, फिर उपादानरूप अज्ञानके नाशसे अध्यासकी निवृत्ति होती है, पञ्चपादिकावचनका यही अभिप्राय है। 'सर्वत्र ही अज्ञाननिवृत्तिसे अध्यास-निवृत्ति होती है' यदि इसी अभिप्रायसे पञ्चपादिकाकी उक्ति हो तो दण्डज्ञान से अज्ञाननिवृत्तिके विना सर्पज्ञानकी भी निवृत्ति न होनी चाहिये। इसलिये जहाँ अधिष्ठानके यथार्थ ज्ञानसे अध्यासनिवृत्ति होती है, वहाँ तो अज्ञान-निवृत्तिद्वारा ही अध्यासनिवृत्ति होती है, यही नियम पञ्चपादिकाग्रन्थमें विवक्षित है। जो तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका हेतु मानते हैं, उनके मतमें मुख-दर्पणादिका ज्ञान ही अधिष्ठानका ज्ञान है और उससे अज्ञान-निवृत्तिद्वारा अध्यासनिवृत्ति मानना तो पञ्चपादिकाके अनुसार ही है। परन्तु जहाँ यज्ञदत्तको पूर्वज्ञानसे आवरणनाशस्थलमें उपाधिसन्निधान होनेपर देवदत्तमुखका प्रतिबिम्बाध्यास होता है और उपाधिवियोगकालमें अधि-ष्ठानज्ञानसे अध्यासनिवृत्ति होती है, वहाँ तो अज्ञाननिवृत्ति द्वारा अध्यास निवृत्ति सम्भव नहीं होती, किन्तु अधिष्ठानज्ञानसे ही साक्षात् अध्यास-निवृत्ति होती है। इसलिये यह तो पञ्चपादिकावचनसे विरुद्ध है। यदि मूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान माना जाय तो जहाँ मुख-दर्पणा-दिके ज्ञानसे प्रतिबिम्बाध्यासकी निवृत्ति होती है, वहाँ इस पक्षमें मुख-दर्पणादिमें अधिष्ठानताके अभावसे अधिष्ठानज्ञानजन्य अध्यासनिवृत्ति नहीं कही जा सकती। किन्तु विरोधी विषयका ज्ञान ही विरोधी होनेसे मुख-दर्पणादिका ज्ञान ही अध्यासनिवर्तक होता है। परन्तु पञ्चपादिका-में तो अधिष्ठानज्ञानजन्य अध्यासनिवृत्ति अज्ञाननिवृत्तिद्वारा ही विवक्षित है और अधिष्ठानज्ञानके सिवा अज्ञाननिवृत्ति अन्य प्रकारसे अध्यासनिवृत्ति-में द्वार विवक्षित नहीं है।

इस प्रकार यदि मूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान माना जाय तब मुख-दर्पणादिज्ञानजन्य अध्यासनिवृत्ति अधिष्ठानज्ञानजन्य नहीं बनती और तूलाज्ञानको उक्त अध्यासका उपादान माना जाय तब यद्यपि मुख-दर्पणादि-ज्ञानजन्य अध्यासनिवृत्ति अधिष्ठानज्ञानजन्य बनती तो है; तथापि अज्ञाननिवृत्ति नहीं बनती। परन्तु पञ्चपादिकाके अनुसार जहाँ अधिष्ठानज्ञानसे अध्यासकी निवृत्ति हो वहाँ तो वह अज्ञाननिवृत्ति-द्वारा ही विवक्षित है और जहाँ पूर्वज्ञात अधिष्ठानमें अध्यास होकर निवृत्त हो, वहाँ उक्तरीतिसे अज्ञाननिवृत्तिद्वारा अध्यासनिवृत्ति सम्भव नहीं होती।

इस प्रकार तूलाज्ञानको प्रतिबिम्बाध्यासका उपादान माना जाय तब तो पञ्चपादिकावचनसे विरोध होता है और मूलाज्ञानको उक्त अध्यासका उपादान मान लिया जाय तब विरोध नहीं होता।

५५ : प्रतिबिम्बाध्यासकी व्यावहारिकता और प्रातिभासिकताके विचारपूर्वक स्वप्नाध्यासके उपादानके विचारकी प्रतिज्ञा

इस प्रकार प्रतिबिम्बाध्यास आकाशादि प्रपञ्चके समान मूलाज्ञान-जन्य है। परन्तु एकदेशीकी रीतिसे ब्रह्मज्ञानके विना इसकी बाधरूप निवृत्ति न होनेसे यद्यपि प्रतिबिम्बाध्यासमें व्यावहारिकत्वका गुमान होता है; तथापि उक्त अध्यास बिम्ब-उपाधिका सम्बन्धरूप होनेसे आगन्तुक दोषजन्य है, इसलिये वह प्रातिभासिक ही है। आकाशादि प्रपञ्चका जो अध्यास होता है वह तो अविद्यामात्रजन्य है, इसलिये वह व्यावहारिक है। परन्तु प्रतिबिम्बाध्यासमें तो पूर्वोक्त रीतिसे अधिष्ठान-ज्ञान के विना भी संसारदशामें ही विरोधी ज्ञानसे बाधरूप निवृत्तिका सम्भव होनेसे उसमें बाध्यत्वरूप प्रातिभासिकताका सम्भव होता है। जिस प्रकार प्रतिबिम्बाध्यासमें मतभेदसे मूलाज्ञान और तूलाज्ञान को

उपादान कहा गया, उसी प्रकार स्वप्नाध्यास भी किसी मतमें तूलाज्ञान-जन्य और किसी मतमें मूलाज्ञानजन्य होता है ।

५६ : स्वप्नविषयक विचार और तूलाज्ञानमें स्वप्नकी उपादानताकी रीति

तूलाज्ञानमें स्वप्नकी उपादानता इसलिये कही जाती है कि निद्रा अज्ञानकी अवस्थाविशेष है । क्योंकि आवरण-विक्षेपशक्तियुक्तता ही अज्ञानका लक्षण होता है और स्वप्नकालमें जाग्रत् द्रष्टा-दृश्यका आवरण तो अनुभवसिद्ध है ही। जैसे ब्रह्मणजातिवाला देवदत्तनामी जहाँ जाग्रत्कालमें पिता-पितामहादिके मरणके पश्चात् उनका दाह-श्रद्धादि क्रिया करके धनपुत्रादि सम्पदासहित शयन करे, वहाँ स्वप्नमें अपनेको यज्ञदत्तनामी, क्षत्रियजाति, बाल्यावस्थाविशिष्ट और अन्न-वस्त्रके अलाभसे क्षुधा-शीतसे पीड़ित हुआ अपने पिता-पितामहकी अंकमें रोदनकर्ता अनुभव करता है । इस स्थलमें यदि जाग्रत्कालके व्यावहारिक द्रष्टा-दृश्यका मूलाज्ञानसे आवरण कहा जाय तो जाग्रत्कालमें भी वे आवृत होने चाहियें, क्योंकि मूलाज्ञानके सिवा जाग्रत्कालमें अंन्य तो कोई आवरणकर्ता प्रतीत होता नहीं है । इसलिये मानना पड़ेगा कि स्वप्नमें निद्रा ही आवरण करती है और निद्रा ही स्वप्नके पदार्थाकार परिणामको प्राप्त होती है । इसलिये निद्रा आवरण-विक्षेपशक्तिविशिष्ट है और निद्रामें अज्ञानलक्षण घटित होनेसे निद्रा अज्ञानकी अवस्थाविशेष है । परन्तु तूलाज्ञान सादि होता है, क्योंकि जब मूलाज्ञान ही आगन्तुकाकारविशिष्ट हुआ उपाध्य-वच्छिन्न चेतनका किञ्चित् आवरण करे, तब उसीको अवस्थाऽज्ञान अथवा तूलाज्ञान कहते हैं। इस प्रकार तूलाज्ञान आगन्तुकाकारविशिष्ट होनेसे सादि होता है और जाग्रद्भोगके हेतुभूत कर्मोंका उपराम हो जाना, यही तूलाज्ञानकी उत्पत्तिमें निमित्तकारण होता है तथा वह मूलाज्ञानका ही आकारविशेष होनेसे मूलाज्ञान ही उसका उपादानकारण होता है ।

वहाँ व्यावहारिक द्रष्टामें निद्रारूप तूलाज्ञानसे आवृत प्रातिभासिक द्रष्टा अध्यस्त होता है और व्यावहारिक दृश्यमें उस निद्रासे आवृत प्रातिभासिक दृश्य अध्यस्त होता है। इसलिये प्रातिभासिक द्रष्टाका अधिष्ठान व्यावहारिक द्रष्टा और प्रातिभासिक दृश्यका अधिष्ठान व्यावहारिक दृश्य होता है। परन्तु जब कर्म जाग्रद्भोगके अभिमुख होते हैं तब पुनः जाग्रत् खड़ा होता है, उस कालमें ब्रह्मज्ञानरहित पुरुषोंको भी जो व्यावहारिक द्रष्टा-दृश्यका ज्ञान होता है वही स्वप्नके अधिष्ठानका ज्ञान है। उससे तूलाज्ञानरूप उपादानकी निवृत्ति होकर प्रातिभासिक द्रष्टा-दृश्यकी निवृत्ति होती है तथा व्यावहारिक द्रष्टाके ज्ञानसे प्रातिभासिक द्रष्टाकी और व्यावहारिक दृश्यके ज्ञानसे प्रातिभासिक दृश्यकी निवृत्ति हो जाती है।

५७ : उक्त पक्षमें शंका

इस पक्षमें ऐसी शंका होती है कि पूर्वोक्त रीतिसे जाग्रद्द्रष्टा और स्वप्नद्रष्टाका तो भेद है ही। अब यदि अन्य द्रष्टाके अनुभूतकी अन्यको स्मृति होती हो तो देवदत्तके अनुभूतकी यज्ञदत्तको स्मृति होनी चाहिये। परन्तु स्वप्नके अनुभूतकी तो जाग्रत्कालमें स्मृति होती है, इसलिये यदि द्रष्टाका भेद माना जाय तो स्मृतिका असम्भव होगा।

५८ : उक्त शंकाका समाधान

इस शंकाका समाधान यह है—

यद्यपि अन्यके अनुभूतकी अन्यको स्मृति नहीं होती; तथापि स्वानुभूतकी स्वको स्मृति होती है और इसी प्रकार स्वतादात्म्यवालेके अनुभूतकी भी स्वको स्मृति होती है। परन्तु चूँकि देवदत्त-यज्ञदत्तका परस्पर तादात्म्य नहीं है और जाग्रद्द्रष्टामें स्वप्नद्रष्टा अध्यस्त होनेसे उसमें उसका तादात्म्य है, क्योंकि अध्यस्त पदार्थका अपने अधिष्ठानमें तादात्म्य होता ही है। इस प्रकार जबकि स्वप्नद्रष्टा जाग्रद्द्रष्टाके तादात्म्यवाला है, तब उसके अनुभूतकी जाग्रद्द्रष्टाको स्मृति हो सकती

है। परन्तु यज्ञदत्तमें देवदत्तके तादात्म्याभावसे देवदत्तके अनुभूतकी यज्ञदत्तको स्मृतिकी आपत्ति नहीं होती।

इस प्रकार स्वप्नाध्यासका उपादान निद्रारूप तूलाज्ञान है।

५९ : स्वप्नके प्रातिभासिक जीव-जगत्का अधिष्ठान व्यावहारिक जीव-जगत्

स्वप्नमें यदि अज्ञानसे दृश्यमात्रकी ही उत्पत्ति मानी जाय और व्यावहारिक जाग्रत्कालके जीवको उसका द्रष्टा माना जाय तो सम्भव नहीं होता। क्योंकि वहाँ व्यावहारिक जीवका स्वरूप तो निद्रारूप अज्ञान-में आवृत रहता है और यह नियम है कि अनावृत जीवके सम्बन्धसे ही विषयका अपरोक्ष होता है। इसलिये यदि निद्रासे आवृत जाग्रज्जीवको स्वप्नका द्रष्टा माना जाय तो स्वप्नप्रपञ्चके अपरोक्षज्ञानका असम्भव होगा। इसलिये ऐसा मानना चाहिये कि स्वप्नदृश्यकी भाँति स्वप्न-द्रष्टा भी व्यावहारिक जीवमें अध्यस्त है और वह अनावृत है। उसके सम्बन्धसे प्रातिभासिक दृश्यका अपरोक्षज्ञान सम्भव होता है। इस प्रकार पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिकके भेदसे त्रिविध जीववादी ग्रन्थकारोंने स्वप्नका अधिष्ठान व्यावहारिक जीव-जगत् ही माना है।

६० : उक्त पक्षकी अयुक्ततापूर्वक चेतनमें स्वप्नकी अधिष्ठानता

परन्तु पूर्वोक्त मत अयुक्त है, क्योंकि व्यावहारिक द्रष्टा भी दृश्यकी भाँति अनात्मा होनेसे जड़ है। इसलिये व्यावहारिक द्रष्टामें सत्ता-स्फूर्तिप्रदानरूप अधिष्ठानता सम्भव नहीं होती, किन्तु स्वप्नप्रपञ्चका अधिष्ठान चेतन ही मानना उचित है। इसीलिये जहाँ सर्प-रजतका अधिष्ठान रज्जु-शुक्ति कहा गया है, वहाँ इस वचनका तात्पर्य रज्ज्व-च्छिन्न चेतन और शुक्त्यवच्छिन्न चेतनके अधिष्ठानमें ही होता है। बहुत ग्रन्थोंमें भी स्वप्नप्रपञ्चका अधिष्ठान चेतन ही माना गया है।

इसलिये अहंकारावच्छिन्न चेतन अथवा अहंकारानवच्छिन्न चेतन स्वप्नका अधिष्ठान है, ये दोनों मत समीचीन हैं ।

६१ : अहंकारावच्छिन्न चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान मानकर तूलाज्ञानमें उसकी उपादानता और जाग्रद्बोधसे उसकी निवृत्ति

इन दोनोंमेंसे यदि अहंकारावच्छिन्न चेतनको अधिष्ठान माना जाय तो मूलाज्ञानसे चेतनका आवरण सम्भव न होगा । इसलिये तब अहंकारावच्छिन्न चेतनका आच्छादक जो तूलाज्ञान, वही स्वप्नका उपादान सम्भव होगा और ब्रह्मज्ञानके बिना जाग्रत्के बोधसे उसकी निवृत्ति सम्भव होगी ।

६२ : अहंकारानवच्छिन्न चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान मानकर मूलाज्ञानमें उसकी उपादानता और उपादानमें विलयरूप निवृत्ति

अथवा अविद्यामें प्रतिबिम्बित चेतनका बिम्बरूप जो ईश्वरचेतन वह अहंकारानवच्छिन्न चेतन कहलाता है । यदि उसको स्वप्नका अधिष्ठान माना जाय तो उसका आच्छादक मूलाज्ञान ही स्वप्नका उपादान मानना होगा । परन्तु तब जाग्रद्बोधसे उसकी बाधरूप निवृत्ति न मानकर उपादानमें विलयरूप निवृत्ति ही माननी होगी ।

६३ : अहंकारानवच्छिन्न चेतनको ही अधिष्ठान मानकर विरोधी ज्ञानसे अज्ञानकी एक विक्षेपहेतु शक्तिके नाशका अंगीकार

अथवा जैसे प्रतिबिम्बाध्यासके निरूपणमें कहा गया है, उस रीतिसे जाग्रद्बोधको विरोधी ज्ञान मानकर उससे स्वप्नाध्यासकी निवृत्ति मानी

जा सकती है। परन्तु विरोधी ज्ञानसे आवरणहेतु अज्ञानांशकी निवृत्ति नहीं होती, किन्तु विक्षेपहेतु अज्ञानांशकी ही निवृत्ति होती है। यदि विरोधी ज्ञानसे अशेष अज्ञानकी निवृत्ति कही जाय तो दण्डज्ञानसे सर्प-ज्ञानकी निवृत्तिस्थलमें उपादान और हेतुके अभावसे दण्डभ्रमका ही असम्भव हो जायगा। क्योंकि इस स्थलमें यदि विक्षेप-अंश भी अशेष निवृत्त हो जाता हो तो दण्ड भी विक्षेपरूप ही है, इसलिये उसका उपलम्भ न होना चाहिये। इस प्रकार यह मानना उचित है कि एक अज्ञानमें अनन्त विक्षेपों का हेतु अनन्त शक्तियाँ होती हैं, परन्तु विरोधी ज्ञानसे एक विक्षेपहेतु शक्तिका ही नाश होता है और अपर विक्षेपहेतु शक्तियाँ शेष रहती हैं, इसीलिये कालान्तरमें उसी अधिष्ठानमें पुनः अध्यास होता है। इस प्रकार जाग्रद्बोधसे अतीतस्वप्नका बाध हो जानेपर भी आगामी स्वप्नरूप विक्षेपहेतुक शक्ति अवशेष रहनेसे दिनांतरमें पुनः स्वप्नाध्यास होता है। इसलिये अहंकारानवच्छिन्न चेतन भी स्वप्नका अधिष्ठान सम्भव होता है।

६४ : उक्त चेतन (अहंकारानवच्छिन्नचेतन) को अधिष्ठान मानकर भी शरीरके अन्तर्देशस्थ चेतनमें ही अधिष्ठानताका सम्भव

परन्तु अहंकारानवच्छिन्न चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान मानकर भी शरीरका अन्तर्देशस्थ चेतन ही अधिष्ठान सम्भव हो सकता है। यदि शरीरके बाह्यदेशस्थ चेतनको भी अधिष्ठान माना जाय तो जैसे प्रत्येक घटादि सर्वको प्रतीत होते हैं, वैसे ही प्रत्येक स्वप्नकी सर्वको प्रतीति होनी चाहिये तथा जिस प्रकार घटादि एवं सर्प-रजतादिकी अपरोक्षतामें इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षा होती है, उसी प्रकार स्वप्नकी अपरोक्षतामें भी इन्द्रियव्यापारकी अपेक्षा होनी चाहिये। परन्तु यदि शरीरके अन्तर्देशस्थ चेतनमें ही स्वप्नाध्यास मान लिया जाय तो वह प्रमातासे

सम्बन्धी होनेसे जैसे सुखादि इन्द्रियव्यापारके विना ही अपरोक्ष होते हैं, तैसे ही स्वप्नाध्यास इन्द्रियव्यापारके विना ही अपरोक्ष सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार अहंकारावच्छिन्न अथवा अहंकारानवच्छिन्न चेतन स्वप्नका अधिष्ठान है, ये दोनों मत प्रामाणिक हैं।

६५ : शरीरके अन्तर्देशस्थ अहंकारानवच्छिन्नमें स्वप्नके अधिष्ठानताकी योग्यता

अब यदि अहंकारानवच्छिन्न चेतनको स्वप्नका अधिष्ठान कहा जाय तो उसमें दो भेद हैं। अर्थात् अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतन अथवा अविद्यामें बिम्बरूप ईश्वरचेतन दोनों अहंकारानवच्छिन्न हैं और व्यापक होनेसे दोनों ही शरीरके अन्तः कहे जा सकते हैं। क्योंकि चेतनमें बिम्ब-प्रतिबिम्बका भेद कोई स्वाभाविक नहीं है, यदि यह भेद चेतनमें स्वाभाविक रहता हो तो अन्तर्देशस्थ एक ही चेतनमें दो विरुद्ध धर्मोंकी आश्रयता सम्भव न हो। परन्तु वस्तुतः बिम्ब-प्रतिबिम्बतारूप ईश्वर-जीवता उपाधिकृत हैं, इसलिये एक ही चेतनमें अज्ञानसम्बन्धसे बिम्बता-प्रतिबिम्बता भी कल्पित हैं और इसीलिये शरीरस्थ एक ही चेतनमें बिम्बता-प्रतिबिम्बतारूप उभयविध व्यवहार होता है। इस प्रकार उस एक ही अन्तर्देशस्थ चेतनमें स्वप्नाध्यासकी अधिष्ठानताका अवच्छेदक यदि अन्तःकरण माना जाय, तब तो अहंकारावच्छिन्न चेतनमें अधिष्ठानता सिद्ध होती है और यदि अन्तःकरणको उस अधिष्ठानताका अवच्छेदक न माना जाय तो अहंकारानवच्छिन्नमें अधिष्ठानता सिद्ध होती है। जैसे एक ही देवदत्तमें पुत्रकी दृष्टिसे विवक्षा हो तो उसे पिता कहते हैं और देवदत्तके जनककी दृष्टिसे विवक्षा हो तो उसे पुत्र कहते हैं। विवक्षाभेदसे एक ही देवदत्तमें पितृ-पुत्रतारूप विरुद्ध धर्मोंके व्यवहारके समान अन्तर्देशस्थ एक ही चेतनमें अहंकारावच्छिन्नत्व अनवच्छिन्नत्व तथा बिम्बत्व-प्रतिबिम्बत्वरूप विरुद्ध धर्मोंके व्यवहारका असम्भव नहीं है।

इस प्रकार अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतनमें अथवा बिम्बरूप ईश्वरचेतनमें स्वप्नकी अधिष्ठानता मानकर यदि अहंकारानवच्छिन्न चेतनमें स्वप्नाध्यास माना जाय तब भी शरीरदेशस्थ अन्तःचेतनप्रदेशमें ही स्वप्नकी अधिष्ठानता मानना उचित है।

६६ : बाह्य-अन्तःसाधारणदेशस्थचेतनमें स्वप्नकी अधिष्ठानताके कथनमें श्रीगौडपाद तथा श्रीभाष्यकारादिके वचनसे विरोध

यदि बाह्य-अन्तःसाधारणदेशस्थचेतनमें स्वप्नकी अधिष्ठानता कही जाय तो श्री गौडपादाचार्य और श्रीभाष्यकारादिके वचनोंसे विरोध होगा। क्योंकि माण्डूक्यकारिकाके वैतथ्यप्रकरणमें श्रीगौडपादाचार्यने ऐसा कहा है—

'स्वप्नके हस्ती-पर्वतादिकी उत्पत्तिके योग्य देश-कालका अभाव होनेसे स्वप्नके पदार्थ मिथ्या हैं।' इसी प्रकार श्रीगौडपादाचार्यकी उक्तिके व्याख्यानमें श्रीभाष्यकारने भी ऐसा ही कहा है—

'क्षण-घटिकादिकालमें और सूक्ष्म नाड़ीदेशमें व्यावहारिक हस्ती-पर्वतादिकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसलिये स्वप्नके पदार्थ वितथ हैं।'

इस प्रकार उन्होंने भी शरीरके अन्तर्देशमें ही स्वप्नकी उत्पत्ति कथन की है, यदि साधारण चेतनमें अधिष्ठानता मानी जाय तो फिर उनका सूक्ष्मदेशमें उत्पत्ति कहना असंगत होगा। इसलिये शरीरके अन्तर्देशस्थ अहंकारानवच्छिन्नचेतनमें स्वप्नाध्यास मानना चाहिये।

६७ : अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप और बिम्बरूप दोनों अहंकारानवच्छिन्न चेतन हैं, उनमें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतनमें अधिष्ठानताका सम्भव

यद्यपि अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप और बिम्बरूप दोनों चेतन अहंकारानवच्छिन्न चेतन ही हैं और मतभेदसे दोनों स्वप्नके अधिष्ठान हो सकते

हैं; तथापि अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतनको ही स्वप्नका अधिष्ठान मानना समीचीन है। क्योंकि यह नियम है कि अपरोक्ष अध्यास अपरोक्ष अधिष्ठानमें ही हो सकता है, परन्तु यदि ईश्वरचेतन स्वप्नाध्यासका अधिष्ठान माना जाय तो शुद्ध ब्रह्मके समान ईश्वरचेतनका ज्ञान भी केवल शास्त्रसे परोक्षरूप ही होता है। इसलिये अधिष्ठानकी अपरोक्षता-के अभावसे अध्यासकी अपरोक्षता असम्भव होगी। अविद्यामें प्रति-बिम्बरूप जीवचेतन अहंकारावच्छिन्न हुआ अहमाकर वृत्तिका विषय होता है और अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप अहंकारानवच्छिन्न जीवचेतन यद्यपि अहमाकार वृत्तिका विषय तो नहीं होता; तथापि वह आवृत नहीं रहता, इसलिये वह स्वतः अपरोक्ष होनेसे उसमें अपरोक्षाध्यास सम्भव होता है।

६८ : उक्त पक्षविषय संक्षेपशारीरकमें इस अध्यासकी अपरोक्षताके लिये अधिष्ठानकी त्रिविध अपरोक्षता

संक्षेपशारीरकमें अध्यासकी अपरोक्षताके लिये अधिष्ठानकी त्रिविध अपरोक्षता मानी गई है। उनमेंसे सर्प-रजतादि अध्यासोंकी अपरोक्षताका उपयोगी रज्जु-शुक्त्यादिकी अपरोक्षता इन्द्रियजन्य होती है। गगनमें नीलतादि अध्यासकी अपरोक्षताका उपयोगी गगनकी अपरोक्षता मनसे होती है। तथा स्वप्नाध्यासकी अपरोक्षताकी उपयोगी अधिष्ठानकी अपरोक्षता स्वभावसिद्ध है।

इस प्रकार संक्षेपशारीरकमें श्रीसर्वज्ञात्ममुनिने स्वतः अपरोक्षमें स्वप्नाध्यास कथन किया है, इसलिये जीवचेतन ही स्वप्नका अधिष्ठान होता है।

६९ : उक्त पक्षमें शंका-समाधानपूर्वक जीवचेतनरूप अधिष्ठानके स्वरूपप्रकाशसे स्वप्नका प्रकाश

'यदि अनावृत होनेसे जीवचेतनको स्वतः प्रकाशस्वभाव माना जाय तो अविद्या व्यापक होनेसे उसमें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतन भी व्यापक

ही होगा और तब उसका घटादिसे सदा सम्बन्ध रहना चाहिये। ऐसी अवस्थामें फिर नेत्रादिजन्य वृत्तिकी अपेक्षाके विना ही घटादिकी अपरोक्षता होनी चाहिये। यदि जीवचेतनसे सम्बन्धीकी अपरोक्षतामें भी वृत्तिकी अपेक्षा मानी जाय तो फिर स्वतः अपरोक्ष जीवचेतनसे स्वप्नाध्यासकी अपरोक्षता कहना असंगत होगा—'यद्यपि ऐसी आपत्ति होती है, तथापि स्वप्नाध्यासका अधिष्ठान तो जीवचेतन ही है, परन्तु घटादिका अधिष्ठान जीवचेतन नहीं किन्तु ब्रह्मचेतन है। इसीलिये स्वप्नके पदार्थोंका तो अपने अधिष्ठान जीवचेतनमें तादात्म्यसम्बन्ध होता है और घटादिका अधिष्ठान ब्रह्मचेतन होनेसे उनका तादात्म्य ब्रह्मचेतनसे ही है, जीवचेतनसे नहीं। किन्तु नेत्रादिजन्य वृत्तिद्वारा ही जीवचेतनका घटादिसे सम्बन्ध होता है, इसीलिये वृत्तिसे पूर्वकालमें जीवचेतनका घटादिसे जो सम्बन्ध वह अपरोक्षताका सम्पादक नहीं होता। अतः वृत्तिकी अपेक्षासे ही जीवचेतनके घटादिसे विलक्षण सम्बन्धकी हेतुरूप अपरोक्षता होती है। परन्तु स्वप्नाध्यासमें तो जीव-चेतनके अधिष्ठानतारूप सम्बन्धसे सदा सम्बन्धी पदार्थोंका वृत्तिविना ही प्रकाश होता है। इस प्रकार श्रीप्रकाशात्मश्रीचरण नामक आचार्यने कहा है। मतभेदसे वृत्तिका प्रयोजन आगे कहा जायगा।

इस प्रकार अविद्यामें प्रतिबिम्बरूप जीवचेतन स्वप्नका अधिष्ठान है और उसके स्वरूपप्रकाशसे स्वप्नका प्रकाश होता है।

७० : अद्वैतदीपिकामें श्रीनृसिंहाश्रमाचार्योक्त आकाश-गोचर चाक्षुषवृत्तिके निरूपणपूर्वक संक्षेपशारीरकोक्त आकाशगोचर मानसवृत्तिका अभिप्राय

इस प्रसंगमें आकाशगोचर मानसवृत्तिका विचार किया जाता है। तहाँ श्रीनृसिंहाश्रमाचार्यने अद्वैतदीपिकामें ऐसा कहा है—

'यद्यपि नीरूप आकाशगोचर चाक्षुषवृत्ति सम्भव नहीं होती; तथापि आकाशमें प्रसृत आलोक रूपवाला होनेसे चाक्षुषवृत्ति आलोका-

कार होती है। जिस प्रकार चाक्षुषवृत्तिद्वारा प्रमाताका आलोकावच्छिन्न चेतनसे अभेद होता है, उसी प्रकार आलोकदेशवर्ति आकाशावच्छिन्न चेतनसे भी अभेद होता है। इस प्रकर चाक्षुषवृत्तिका विषय आलोकाकार होनेसे आकाशकी अपरोक्षता भी नेत्र इन्द्रियजन्य ही कही गई है।' परन्तु संक्षेपशारीरकमें आकाशमें जो मानस अपरोक्षता कही गई है, उसका अभिप्राय यह है—

'आकाश स्वयं नीरूप है इसलिये चाक्षुषवृत्तिका आकाशाकार होना असम्भव है और यदि अन्याकार वृत्तिसे समानदेशस्थ अन्यका प्रत्यक्ष माना जाय तो घटकी रूपाकार वृत्तिसे घटके ह्रस्व, दीर्घ एवं परिमाणादिका भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। तथा आलोकाकार वृत्तिसे आलोकदेशस्थ वायुका भी चाक्षुषप्रत्यक्ष होना चाहिये। इसलिये आलोकाकार चाक्षुषवृत्तिसे आकाशकी अपरोक्षताके असम्भवसे आकाशगत मानस-अपरोक्षता ही सम्भव होती है।'

७१ : उभय मतके अंगीकारपूर्वक अद्वैतदीपिकोक्त रीतिकी समीचीनता

यदि सूक्ष्म विचार किया जाय तो जैसा अद्वैतदीपिकाने माना है, उस रीतिसे यद्यपि अन्याकार वृत्तिसे अन्यकी अपरोक्षता अप्रसिद्ध है और उसका अंगीकार दूषित है; तथापि फलबलसे कहीं अन्याकार वृत्तिसे अन्यकी अपरोक्षता मान लेनेपर उक्त दोषका उद्धार हो जाता है। इसी प्रकार जैसा संक्षेपशारीरकने माना है, उस रीतिसे यद्यपि बाह्य पदार्थोंमें साक्षात् अन्तःकरणगोचरता अप्रसिद्ध है और उसका अंगीकार दूषित है; तथापि फलबलसे कहीं बाह्य पदार्थोंमें अन्याकार नेत्रकी वृत्ति सहकृत अन्तःकरणवृत्तिकी गोचरता भी मान ली जाय तो 'केवल अन्तःकरण में बाह्य पदार्थगोरचता नहीं' इस नियमका भंगरूप दोष नहीं होता।

इस प्रकार यद्यपि उभयथा लेख सम्भव होते हैं; तथापि अद्वैतदीपिकोक्त मत ही समीचीन है। क्योंकि संक्षेपशारीरककी रीतिके

अनुसार तो आलोकाकार चाक्षुषवृत्तिको सहकारितारूप कारणता मानकर अन्तःकरणमें बाह्यपदार्थगोचर साक्षात्कारकी करणता अधिक माननी होती है, परन्तु अद्वैतदीपिकाकी रीतिसे अन्तःकरणमें स्वतन्त्र बाह्य साक्षात्कारकी करणता नहीं माननी होती है, इसलिये इस मतमें लाघव है। यदि नेत्रमें सहकारिता भी न मानकर केवल अन्तःकरणको ही आकाशप्रत्यक्षका हेतु माना जाय तो निमीलितनेत्रको भी आकाशका मानसप्रत्यक्ष होना चाहिये। तथा अन्तःकरण ज्ञानका उपादान होनेसे इसमें करणता कहना तो सर्वथा अयुक्त ही है। इसलिये संक्षेपशारीरकमें आकाशके प्रत्यक्षको मानस कहना प्रौढिवाद है।

इस प्रकार अध्यासकी अपरोक्षताका हेतु अधिष्ठानकी अपरोक्षता इन्द्रियसे अथवा स्वरूपप्रकाशसे होती है, इतना ही कहना उचित है। अर्थात् जैसा ऊपर अंक ६८ में कहा गया है, वह अधिष्ठानकी अपरोक्षता त्रिविध न मानकर द्विविध ही माननी चाहिये। इस प्रकार मतभेदसे स्वप्नका उपादान तूलाज्ञान अथवा मूलाज्ञान कहा गया।

७२ : सर्वमतोंमें सर्प-रजतादिका तूलाज्ञान ही उपादान

सभी मतोंमें सर्प-रजतादि अध्यासोंका उपादान-कारण तूलाज्ञान ही माना गया है और रज्ज्वादिके ज्ञानसे ही उनकी निवृत्ति मानी गई है, अर्थात् रज्ज्वादिके ज्ञानसे अज्ञाननिवृत्तिद्वारा सर्पादिकी निवृत्ति होती है। यहाँ शंका होती है कि एक बार ज्ञातरज्जुमें उपादानके अभावसे कालांतरमें सर्पभ्रम नहीं होना चाहिये। इस शंकाका समाधान वृत्तिके प्रयोजनके निरूपणमें कहा जायगा।

७३ : स्वप्नके अधिष्ठानरूप आत्माकी स्वयंप्रकाशतामें प्रमाणभूत बृहदारण्यक श्रुतिका अभिप्राय

स्वप्नके अधिष्ठानकी स्वतः अपरोक्षतासे स्वप्नकी अपरोक्षता पूर्व कही गई है और स्वयंज्योति ब्राह्मणमें भी 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योति-

भवति' स्वप्नके प्रसंगमें ऐसा कहा गया है । इसका यह अर्थ है कि 'यहाँ स्वप्नावस्थामें यह पुरुष स्वयंज्योति होता है' और इसका अभिप्राय यह है—

यद्यपि आत्मा तीनों अवस्थाओंमें ही स्वयंप्रकाश है; तथापि 'जो अपने प्रकाशमें अन्य प्रकाशकी अपेक्षारहित हो और जो सकलका प्रकाशक हो वह 'स्वयंप्रकाश' कहा जाता है ।' इस लक्षणके अनुसार जाग्रत्-अवस्थामें सूर्यादि और नेत्रादि प्रकाशकोंके रहते हुए आत्मामें अन्य प्रकाशका राहित्यरूप स्वयंप्रकाश निर्धारित नहीं होता । सुषुप्ति-अवस्थामें स्थूलदर्शीको कोई ज्ञान प्रतीत नहीं होता और इसीलिये नैयायिक सुषुप्तिमें ज्ञानसामान्यका अभाव मानते हैं । इसलिये वहाँ भी आत्माके स्वयंप्रकाशका निर्धार नहीं होता । स्वप्नमें चूँकि स्वयंप्रकाश आत्माके सिवा किसी भी अन्य प्रकाशका सद्भाव नहीं पाया जाता कि जिसको स्वप्नप्रपञ्चका प्रकाशक कहा जाय, इसलिये श्रुतिने स्वप्नावस्थामें ही आत्माको स्वयंप्रकाश कहा है ।

७४ : स्वप्नमें अन्तःकरण-इन्द्रियको ज्ञानका असाधन कथन करके स्वतः अपरोक्ष आत्मासे स्वप्नकी अपरोक्षता

यदि स्वप्नावस्थामें भी अन्तःकरण तथा इन्द्रियोंका सञ्चार होता हो तो स्वप्नमें भी प्रकाशान्तरनिरपेक्षताके अभावसे आत्मामें स्वयं-प्रकाशताका निर्धार अशक्य होगा । परन्तु वस्तुतः स्वप्नमें इन्द्रियव्यापारके विना आत्मा ही स्वयंप्रकाश है । क्योंकि यद्यपि स्वप्नमें हस्तमें दण्ड लेकर उष्ट्र-महिषादिको ताड़न करता हुआ और नेत्रसे आम्रादिको देखता हुआ भ्रमण करता है, तथापि हस्त, नेत्र और पादके गोलक निश्चल प्रतीत होते हैं । इसलिये स्वप्नमें व्यावहारिक इन्द्रियोंका तो व्यापार हो नहीं सकता और प्रातिभासिक इन्द्रियोंका अंगीकार किया नहीं जा सकता । यदि स्वप्नमें प्रातिभासिक इन्द्रियाँ मानी जायँ तो श्रुतिने स्वप्नमें आत्माको जो प्रकाशान्तरके अभावसे स्वयंप्रकाशरूप कहा है,

उस श्रुतिवचनका बाध होगा। यद्यपि विचारसागरमें स्वप्नमें प्रातिभासिक इन्द्रियाँ कही गई हैं; तथापि वह प्रौढिवादसे ही कहा गया है, अर्थात् पूर्ववादीकी उक्ति मानकर अपना उत्कर्ष बोधनार्थ ही वह समाधान है। यदि स्वप्नमें प्रातिभासिक इन्द्रियाँ मानी भी जायँ तो ज्ञानके समकालीन ही उनकी उत्पत्ति होनेसे वे ज्ञानके साधन सम्भव नहीं होतीं, इसलिये स्वप्नमें इन्द्रियाँ ज्ञानसाधन नहीं हो सकतीं तथा इन्द्रियव्यापारके विना केवल अन्तःकरण ज्ञानसाधन हो नहीं सकता। यद्यपि तत्त्वदीपिकाके मतके अनुसार स्वप्नमें अन्तःकरण गजादिरूप परिणामको प्राप्त होता है; तथापि ज्ञानसमकालीन होनेसे उन स्वप्नके ज्ञान-कर्मादि व्यापारोंमें भी ज्ञानसाधनताका असम्भव है। इसलिये स्वप्नमें अन्तःकरण तथा इन्द्रियव्यापारके विना केवल आत्मप्रकाश ही साक्षात् साधन होता है।

इस प्रकार स्वतः अपरोक्ष आत्मासे स्वप्नका अपरोक्ष होता है। स्वप्नावस्थामें गजादिमें जो चाक्षुषता प्रतीत होती है, वह भी गजादिकी भाँति अध्यस्त ही होती है। जाग्रत्में घटादिकी चाक्षुषता तो व्यावहारिक होती है और सर्प-रजतादिकी चाक्षुषता अध्यस्त होनेसे प्रातिभासिक होती है।

दृष्टि-सृष्टि और सृष्टि-दृष्टिवादका भेद

७५ : दृष्टि-सृष्टिवादमें सकल अनात्माकी ज्ञातसत्ता (साक्षिभास्यता) कथन करके दृष्टि-सृष्टिपदके दो अर्थ

दृष्टि-सृष्टिवादमें किसी भी अनात्म पदार्थकी अज्ञातसत्ता नहीं है, किन्तु सभी अनात्म पदार्थोंकी ज्ञातसत्ता ही होती है। इसलिये रज्जुमें सर्पके समान यावत् अनात्म वस्तु केवल साक्षिभास्य हैं, उनमें जो इन्द्रियजन्य ज्ञानकी विषयता प्रतीत होती है वह भी अध्यस्त है। दृष्टि-सृष्टिवादमें दो भेद हैं। सिद्धान्तमुक्तावल्यादि ग्रन्थोंमें तो ऐसा कहा है कि दृष्टि अर्थात् ज्ञानस्वरूप ही सृष्टि है, ज्ञानसे पृथक् सृष्टि नहीं है। परन्तु

आकरग्रन्थोंमें ऐसा कहा गया है कि दृष्टि अर्थात् ज्ञानसमय अनात्म पदार्थोंकी सृष्टि होती है; अर्थात् ज्ञानसे पूर्व कोई भी अनात्म पदार्थ नहीं होता। इसलिये यावत् दृश्यकी ज्ञातसत्ता ही होती है, अज्ञातसत्ता नहीं। ज्ञानसे पूर्व पदार्थोंकी सत्ता मानना, इसको 'अज्ञातसत्ता' (व्यावहारिक सत्ता) और ज्ञानसे पूर्व पदार्थोंकी सत्ता न मानकर ज्ञानसमकालीन ही उनकी सत्ता मानना, इसको 'ज्ञातसत्ता' (प्रातिभासिक सत्ता) कहते हैं।

इस प्रकार द्विविध दृष्टि-सृष्टिवाद है और सकल अद्वैत शास्त्रोंका यही अभिमत है।

७६ : सृष्टि-दृष्टिवाद (व्यावहारिक पक्ष) का निरूपण

कितने ही ग्रन्थकारोंने स्थूलदर्शी पुरुषोंके अनुसार सृष्टिदृष्टिवादका निरूपण किया है। अर्थात् प्रथम सृष्टि होती है और उत्तर कालमें प्रमाणके सम्बन्धसे दृष्टि होती है। सृष्टिके पश्चात् दृष्टि हो, यही 'सृष्टि-दृष्टि' पदका अर्थ है। इस पक्षमें अनात्म पदार्थोंकी अज्ञातसत्ता होती है और सर्प-रजतादिसे विलक्षण अनात्म घटादिकी व्यावहारिक सत्ता मानी गई है। दृष्टि-सृष्टिवादमें तो कोई भी अनात्मवस्तु प्रमाणका विषय नहीं है, किन्तु केवल शुद्ध ब्रह्म ही वेदान्तरूप शब्दप्रमाणका विषय है। इस मतमें यावत् जड़ पदार्थ साक्षिभास्य हैं, उनमें चाक्षुषतादि प्रतीति भ्रमरूप है और प्रमाण-प्रमेयविभाग भी स्वप्नसमान अध्यस्त है। इसके विपरीत सृष्टि-दृष्टिवादमें तो यावत् घटादि अनात्म पदार्थ प्रमाणके विषय हैं और गुरु-शास्त्रादि भी भ्रमरूप सर्प-रजतादिसे विलक्षण व्यावहारिक हैं। यद्यपि व्यावहारिक रजतादिसे तो कटकादिरूप प्रयोजनकी सिद्धि होती है और प्रातिभासिकसे उस प्रयोजनकी सिद्धि नहीं होती; तथापि अधिष्ठानज्ञानसे दोनोंकी निवृत्ति समान है, सदसद्विलक्षणत्वरूप अनिर्वचनीयत्व दोनोंमें समान है और दोनोंका स्वाधिकरणमें त्रैकालिक अभाव भी समान है। इसलिये प्रातिभासिकके

समान व्यावहारिक पदार्थ भी मिथ्या ही हैं। इस प्रकार सृष्टि-दृष्टिवादमें भी अद्वैतकी हानि नहीं है।

मिथ्या प्रपञ्चके मिथ्यात्वमें शंका-समाधान

७७ : उक्त दोनों पक्षोंमें मिथ्या पदार्थोंके मिथ्यात्व-धर्ममें द्वैतवादियोंका आक्षेप

इस प्रसंगमें ऐसी शंका होती है—

दृष्टि-सृष्टिवादमें तथा सृष्टि-दृष्टिवादमें यावत् अनात्म पदार्थ मिथ्या हैं, इसमें तो कोई विवाद नहीं; परन्तु मिथ्या पदार्थोंमें जो मिथ्यात्व-धर्म है, इसमें हम द्वैतवादियोंका यह आक्षेप है कि प्रपञ्चमें मिथ्यात्व-धर्म सत्य है अथवा मिथ्या? यदि सत्य कहा जाय तो चेतनभिन्न अनात्मधर्ममें सत्यता होनेसे अद्वैतकी हानि होगी। यदि उस मिथ्यात्व-धर्मको मिथ्या कहा जाय तो भी अद्वैतकी हानि होगी, क्योंकि मिथ्या पदार्थ स्वविरोधी पदार्थका प्रतिक्षेपक न होनेसे प्रपञ्चके मिथ्याभूत मिथ्यात्वधर्मसे प्रपञ्चकी सत्यताका प्रतिक्षेप न होगा। जैसे एक ही ब्रह्ममें सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्व धर्म रहते हों तहाँ सप्रपञ्चत्व तो कल्पित होता है और निष्प्रपञ्चत्व पारमार्थिक। इस प्रकार यद्यपि सप्रपञ्चत्व-निष्प्रपञ्चत्व दोनों धर्मवाला ब्रह्म है; तथापि मिथ्याभूत सप्रपञ्चत्व-धर्मसे निष्प्रप-ञ्चत्वका प्रतिक्षेप नहीं होता। इसी प्रकर प्रपञ्चमें मिथ्यात्व तो कल्पित है और सत्यत्व पारमार्थिक, इसलिये प्रपञ्चमें पारमार्थिक सत्यत्वधर्मके सद्भावसे अद्वैतकी हानि ही होगी।

७८ : उक्त आक्षेपका अद्वैतदीपिकोक्त समाधान

इस आक्षेपका अद्वैतदीपिकामें इस प्रकार समाधान किया गया है—

'सन् घटः' (घट सत्य है) घटादिमें जो इस प्रकार सत्यता प्रतीत होती है, वह अधिष्ठानकी सत्यता ही घटादिमें भान होती है अथवा

घटादिमें अधिष्ठानगत सत्यताका अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजता है। चूँकि घटादिमें अपनी कोई सत्यता नहीं है, किन्तु उनमें अधिष्ठानगत सत्यताका ही भास होता है, इसीलिये घटादिमें सदसद्विलक्षणतारूप मिथ्यात्व-धर्म श्रुतिसिद्ध है। सद्विलक्षण मिथ्यात्व होता है, इसलिये इस मिथ्यात्वका उस असद्विलक्षण सत्यत्वसे विरोध है और उस सत्यत्वका इस मिथ्यात्वसे प्रतिक्षेप होता है। यदि द्वैतवादी ऐसा कहे—

'मिथ्यात्व-धर्ममें सत्यता मानेविना मिथ्याभूत मिथ्यात्वसे प्रपञ्चकी सत्यताका प्रतिक्षेप सम्भव नहीं होता। यदि मिथ्याभूत धर्मसे भी अपने विरोधी धर्मका प्रतिक्षेप होता हो तो मिथ्याभूत सप्रपञ्चत्वसे ब्रह्मकी निष्प्रपञ्चताका भी प्रतिक्षेप होना चाहिये।'

ऐसा कथन भी अयुक्त है। क्योंकि यह नियम है कि प्रमाणसिद्ध एक धर्मसे स्वसमानसत्तावाले धर्मीके स्वविरोधी धर्मका तो प्रतिक्षेप होता है, परन्तु जहाँ धर्मीकी विषमसत्ता हो वहाँ उसके विरोधी धर्मका प्रतिक्षेप नहीं होता। जैसे ब्रह्मका सप्रपञ्चत्व तो व्यावहारिक है और ब्रह्म पारमार्थिक है, इसलिये ब्रह्मरूप धर्मी सप्रपञ्चत्वके समानसत्तावाला नहीं है, तब सप्रपञ्चत्वसे ब्रह्मके निष्प्रपञ्चत्वका प्रतिक्षेप भी नहीं होता। परन्तु व्यावहारिक प्रपञ्चमें मिथ्यात्व भी व्यावहारिक ही है, क्योंकि व्यावहारिक प्रपञ्च आगंतुक दोषरहित केवल अविद्याजन्य है और मिथ्या है। इसलिये प्रपञ्च और मिथ्यात्व दोनों व्यावहारिक होनेसे जबकि प्रपञ्च मिथ्यात्वके समानसत्तावाला है, तब उसके सत्यत्वका मिथ्यात्वसे प्रतिक्षेप भी होता है। यदि समानसत्ताका त्याग करके केवल सत्य धर्मसे ही विरोधी धर्मका प्रतिक्षेप माना जाय तो 'रजतं सत्' (रजत सत् है) इस प्रकारसे जिसको शुक्तिगत रजतमें सत्यत्व प्रतीति हो, उसको रजतके मिथ्यात्वसे उस सत्यताका प्रतिक्षेप नहीं होना चाहिये, क्योंकि कल्पित रजतमें मिथ्यात्व-धर्म भी कल्पित ही है, सत्य नहीं। इसलिये विरोधी धर्मके प्रतिक्षेपमें प्रतिक्षेपक धर्मकी सत्यता अपेक्षित नहीं,

किन्तु जिस धर्मीमें जो धर्म विरोधी हो वह धर्मी प्रतिक्षेपकधर्मके केवल समानसत्तावाला ही चाहिये ।

इस प्रकार सप्रपञ्चत्वसे तो ब्रह्मके निष्प्रपञ्चत्वके प्रतिक्षेपकी आपत्ति नहीं होती और प्रपञ्चके व्यावहारिक मिथ्यात्वसे उसके सत्यत्वका प्रतिक्षेप सम्भव होता है ।

७९ : मिथ्या प्रपञ्चके मिथ्यात्व-धर्ममें द्वैतवादियोंका प्रकारांतरसे आक्षेप

द्वैतवादी प्रकारान्तरसे ऐसा आक्षेप करते हैं—

यदि प्रपञ्चमें मिथ्यात्व-धर्मको मिथ्या माना जाय तो भी प्रपञ्चके पारमार्थिक सत्यत्वका प्रतिक्षेप नहीं होता; क्योंकि समानसत्तावाले धर्मोंका ही विरोध माना गया है । विषमसत्तावाले धर्मोंका विरोध नहीं माना गया । यदि विषमसत्तावाले धर्मोंका भी विरोध होता हो तो शुक्तिमें प्रातिभासिक मिथ्या रजतके तादात्म्यसे व्यावहारिक सत्य रजतके भेदका भी प्रतिक्षेप होना चाहिये ।

इस प्रकार प्रपञ्चके व्यावहारिक मिथ्यात्वसे उसके पारमार्थिक सत्यत्वका प्रतिक्षेप असम्भव होनेसे प्रपञ्च सत्य है और अद्वैतका असम्भव है ।

८० : उक्त आक्षेपके उक्त समाधानकी ही घटितता

इस शंकाका भी पूर्वोक्त ही समाधान है । क्योंकि जैसा पूर्व कहा गया है, यदि वैसा न माना जाय तो प्रातिभासिक सर्प-रजतादिके मिथ्यात्वसे उनके सत्यत्वका प्रतिक्षेप न होना चाहिये । इसलिये प्रमाण-निर्णीत धर्मसे विरोधी धर्मकी प्रतिक्षेपकतामें प्रमाणनिर्णीतत्व ही प्रयोजक है । जैसे शुक्तिमें रजतका मिथ्यात्व प्रमाणनिर्णीत है और वह उसके विरोधी सत्यत्वका प्रतिक्षेपक होता है, तैसे ही प्रपञ्चका मिथ्यात्व भी श्रुत्यादि प्रमाणोंसे निर्णीत है और उससे प्रपञ्चसत्यत्वका प्रतिक्षेप होता

है। परन्तु शुक्तिमें प्रातिभासिक रजतका तादात्म्य प्रमाणनिर्णीत नहीं, किन्तु भ्रमसिद्ध है; इसलिये उससे व्यावहारिक रजतके भेदका प्रतिक्षेप नहीं होता। बल्कि इसके विपरीत शुक्तिमें रजतका भेद ही प्रमाणनिर्णीत है और उससे शुक्तिमें रजतके तादात्म्यका प्रतिक्षेप होता है। द्वैतवादीने प्रपञ्चके मिथ्यात्वको व्यावहारिक मानकर जो उसके धर्मी प्रपञ्चको पारमार्थिक कथन किया, वह तो सर्वथा विरुद्ध है; क्योंकि व्यावहारिक धर्मका आश्रय व्यावहारिक धर्मी ही सम्भव हो सकता है।

इस प्रकार द्वैतवादीका द्वितीय आक्षेप भी असंगत है।

८१ : अद्वैतदीपिकोक्त समाधानका सत्ताभेद माननेपर सम्भव और एक सत्ता माननेपर असम्भव

इस प्रकार अद्वैतदीपिका ग्रन्थकी रीतिसे जबकि धर्मी प्रतिक्षेपक धर्मके समानसत्तावाला हो, तब प्रतिक्षेपक धर्मसे उसके विरोधी धर्मका प्रतिक्षेप होता है। ऐसा नियम मान लेनेपर प्रपञ्चके मिथ्याभूत मिथ्यात्वसे प्रपञ्चके सत्यत्वका तो प्रतिक्षेप होता है और ब्रह्मके सप्रपञ्चत्वसे निष्प्रपञ्चत्वका प्रतिक्षेप नहीं होता। परन्तु सत्ताभेद मानकर ही अद्वैतदीपिकोक्त समाधानका सम्भव हो सकता है। इसके विपरीत 'केवल ब्रह्मरूप सत्ताका ही घटादिमें भान होता है, उनमें और व्यावहारिक-प्रातिभासिकरूप सत्ताभेदका अभाव है' इस प्रकारसे यदि इस पक्षमें एक सत्ता ही मानी जाय तो उक्त समाधान सम्भव नहीं होता।

८२ : उक्त आक्षेपका श्रीनिश्चलदासोक्त समाधान

उक्त आक्षेपका अस्मद्भावनासे यह समाधान है—

यद्यपि प्रमाणनिर्णीत धर्मसे स्वविरोधी धर्मका प्रतिक्षेप होता है; तथापि जहाँ दोनों धर्म प्रमाणनिर्णीत हों वहाँ अपर धर्मका प्रतिक्षेप नहीं होता। जैसे प्रपञ्चका मिथ्यात्व श्रुत्यादि-प्रमाणनिर्णीत है और प्रपञ्चके

सत्यत्वमें कोई श्रुतिवचन प्रमाणभूत नहीं है, उल्टा श्रुतिवाक्योंसे उस सत्यत्वका अभाव ही प्रतीत होता है। इसलिये दोनों धर्म प्रमाणनिर्णीत न होनेसे प्रपञ्चके मिथ्यात्वसे उसके सत्यत्वका बाध होता है। यद्यपि 'घटः सन्' इस रीतिके प्रत्यक्ष-प्रमाणसे प्रपञ्चमें सत्यत्व प्रतीत होता है; तथापि अपौरुषेय श्रुतिवचनसे पुरुष-प्रत्यक्ष दुर्बल ही होता है, इसलिये प्रपञ्चका सत्यत्व प्रमाणसिद्ध नहीं कहा जा सकता। परन्तु ब्रह्मका सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्व तो दोनों प्रमाणसिद्ध हैं, इसलिये यद्यपि एक धर्मसे अपरका बाध नहीं होना चाहिये; तथापि निष्प्रपञ्चत्वज्ञानसे ही परम पुरुषार्थकी सिद्धि होती है, इसलिये श्रुतिका तात्पर्य निष्प्रपञ्चत्वके प्रतिपादनमें ही हो सकता है। चूँकि ब्रह्मके सप्रपञ्चत्वका निरूपण अद्वैत निष्प्रपञ्च ब्रह्मबोधका उपयोगी है, इसलिये वस्तुतः सप्रपञ्चत्वके निरूपणमें श्रुतितात्पर्यके अभावसे सप्रपञ्चत्व पारमार्थिक नहीं किन्तु कल्पित ही है। परन्तु आगन्तुक दोषादिरहित केवल अविद्याजन्य होनेसे प्रातिभासिक भी नहीं, किन्तु व्यावहारिक ही है। इस प्रकार सप्रपञ्चत्व और निष्प्रपञ्चत्व दोनों धर्म श्रुतिप्रमाणसे निर्णीत न होनेसे निष्प्रपञ्चत्वसे सप्रपञ्चत्वका बाध सिद्ध होता है। क्योंकि ब्रह्मके सप्रपञ्चत्वप्रतिपादक श्रुतिवचनका केवल व्यावहारिक सप्रपञ्चत्वमें ही तात्पर्य होनेसे उस सप्रपञ्चत्वका संकोच होता है तथा ब्रह्मका सप्रपञ्चत्व सदा नहीं, किन्तु विद्यासे पूर्व अविद्याकालमें ही है, इसलिये सप्रपञ्चत्व तो निष्प्रपञ्चत्व-धर्मसे बाध्य है, परन्तु सप्रपञ्चत्वसे निष्प्रपञ्चत्वका प्रतिक्षेप सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार द्वैतवादीका आक्षेप असंगत है।

८३ : उक्त आक्षेपका अन्य ग्रन्थकारोक्त समाधान

श्रीनृसिंहाश्रमाचार्यसे आदि लेकर अन्य ग्रन्थकारोंने उक्त आक्षेपका समाधान इस प्रकार किया है—

स्वाश्रयगोचर जिस धर्मका तत्त्वसाक्षात्कारसे बाध नहीं हो, उस धर्मसे तो अपने विरोधी धर्मका प्रतिक्षेप होता है, परन्तु स्वाश्रयगोचर

जिस धर्मका तत्त्वसाक्षात्कारसे बाध होता है उस धर्मसे अपने विरोधी धर्मका प्रतिक्षेप नहीं होता। जैसे मिथ्यात्वका आश्रय जो प्रपञ्च, उसके अधिष्ठान ब्रह्मगोचर तत्त्व-साक्षात्कारसे प्रपञ्चके मिथ्यात्वका बाध नहीं होता, किन्तु ब्रह्मसाक्षात्कारसे उल्टा प्रपञ्चमें मिथ्यात्व-बुद्धि दृढ़तर होती है। इसलिये प्रपञ्चके मिथ्यात्वसे तो उसके विरोधी सत्यत्वका प्रतिक्षेप हो जाता है; परन्तु सप्रपञ्चत्वका आश्रय जो ब्रह्म है, उसके साक्षात्कारसे सप्रपञ्चत्वका बाध हो जाता है, इसलिये सप्रपञ्च-त्वसे ब्रह्मके निष्प्रपञ्चत्वका तिरस्कार नहीं होता। अथवा जैसे शुक्तिमें अपना तादात्म्य है और कल्पित रजतका भी स्वाधिष्ठान शुक्तिमें तादात्म्य है, तहाँ शुक्तिसाक्षात्कारसे शुक्तितादात्म्यका तो बाध नहीं होता, परन्तु शुक्तितादात्म्यसे शुक्तिविरोधी शुक्तिभेदका प्रतिक्षेप होता है तथा शुक्तिसाक्षात्कारसे शुक्तिमें रजततादात्म्यका तो बाध हो जाता है, परन्तु उस रजततादात्म्यसे रजतविरोधी रजतके भेदका प्रतिक्षेप नहीं होता। इसी प्रकार प्रपञ्चके मिथ्याभूत मिथ्यात्वसे सत्यत्वका तो प्रतिक्षेप हो जाता है, परन्तु ब्रह्मके सप्रपञ्चत्वसे निष्प्रपञ्चत्वका प्रतिक्षेप नहीं होता।

इस प्रकार द्वैतवादीके आक्षेपोंके अनेक समाधान हैं, जिज्ञासुको उनके वचनोंसे विमुख रहना चाहिये।

मतभेदसे प्रपञ्चके सत्यत्वका पञ्चविध प्रतिक्षेप (तिरस्कार)

८४ : (१) तत्त्वशुद्धिकारकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप

प्रपञ्चके मिथ्यात्वसे उसके सत्यत्वका प्रतिक्षेप होता है, पूर्व ऐसा कहा गया। तहाँ उस सत्यत्वका प्रतिक्षेप मतभेदसे पञ्चविध है।

तत्त्वशुद्धिकारके मतमें 'घटःसन्' इत्यादि प्रत्यक्षज्ञानका विषय घटादिका अधिष्ठान सत्स्वरूप चेतन होता है और सत्स्वरूप चेतनमें अध्यस्तरूप घटादि अपने अधिष्ठानसे अभिन्न होकर भ्रमवृत्तिके ही विषय होते हैं। जैसे शुक्ति-रज्ज्वादि तो इदमाकार चाक्षुषवृत्तिके विषय होते हैं, परन्तु सर्परजतादि किसी चाक्षुषवृत्तिके विषय नहीं होते, किन्तु केवल भ्रमवृत्तिके ही विषय होते हैं। तैसे ही नेत्रादि प्रमाणजन्य यावत् ज्ञानोंका विषय अधिष्ठानरूप सत्ता ही होती है, प्रमाणजन्य वृत्ति घटादिगोचर नहीं होती। क्योंकि यह नियम है कि प्रमाण अज्ञातगोचर ही होता है, इसलिये अधिष्ठान चेतनमें ही अज्ञातत्व रह सकता है और उसीमें अज्ञानकृत आवरणका सम्भव होता है। इसके विपरीत घटादि जड़ पदार्थ तो जबकि वे स्वसत्ताशून्य हैं, तब उनमें अज्ञातत्वके अभावसे और अज्ञानकृत आवरणके असम्भवसे प्रमाणगोचरता सम्भव नहीं होती। एकमात्र सत्वस्तु ही आवरणका विषय होती है, असत्वस्तु तो स्वसत्ताशून्य होनेसे स्वयं आवरण रूप ही होती है, फिर वह आवरणका विषय कैसे हो? इसलिये घटादि तो सर्प-रजतादिकी भाँति केवल भ्रमके ही विषय होते हैं, उनका अधिष्ठान जो सत्स्वरूप चेतन है वही नेत्रादि प्रमाण जन्य वृत्तिका विषय होता है। इस प्रकार यावत् प्रमाणोंका विषय सत्स्वरूप चेतन ही होता है और उस सत्स्वरूप चेतनमें तादात्म्याध्याससे अनेक भेदविशिष्ट घटादिकी भ्रमरूप प्रतीति होती है। इसलिये घटादिमें सत्ता किसी भी प्रमाणका विषय नहीं और इसीलिये अनेक श्रुति-स्मृति घटादिके मिथ्यात्वका ही अनुवाद करती हैं।

इस प्रकार तत्त्वशुद्धिकारने नेत्रादिकी प्रमाणगोचरता अधिष्ठान-सत्तामें ही कथन की है, घटादि नेत्रादि प्रमाणगोचर नहीं कहे। इस रीतिसे उन्होंने प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप किया है।

८५ : (२) अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप

अन्य ग्रन्थकार इस प्रकार कहते हैं—

'घटोऽस्ति' (घट है) इत्यादि प्रतीतिका विषय यद्यपि घटादिका सत्त्व है; तथापि श्रुति, युक्ति और ज्ञानियोंके अनुभवसे घटादिमें मिथ्यात्व ही है। तहाँ अबाधितत्वरूप सत्त्वका ही मिथ्यात्वसे विरोध होता है, इसलिये घटादिमें जातिरूप ही सत्त्व है, पारमार्थिक नहीं। अर्थात् जैसे यावत् घटोंमें अनुगत घटत्वरूप धर्म है, तैसे 'सन् घटः, सन् पटः' इस एकाकारप्रतीतिका विषय यावत् पदार्थोंमें अनुगत जातिरूप जो धर्म वही सत्त्व है। अथवा देशकालके सम्बन्धविना तो घटादिकी प्रतीति होती नहीं, केवल देश-कालके सम्बन्धविशिष्ट ही घटादिकी प्रतीति होती है। अर्थात् 'इह घटोऽस्ति, इदानीं घटोऽस्ति' (यहाँ घट है, अब घट है) इस प्रकार घटादिगोचर प्रतीति देश-कालके सम्बन्धको ही विषय करती है और वह देश-काल-सम्बन्धरूप ही घटादिमें सत्त्व है। अथवा 'घटोऽस्ति' इस प्रतीतिका विषय घटादिका आकार व स्वरूप ही है, उक्त प्रतीति आकारसे पृथक् घटादिके सत्त्वको विषय नहीं करती। क्योंकि 'न' शब्दरहित वाक्यसे जिस पदार्थकी प्रतीति होती हो, 'न' शब्दसहित वाक्यसे उसका निषेध होता है। इसलिये 'घटो नास्ति' (घट नहीं है) इस वाक्यसे घटके आकारमात्रका ही निषेध होता है, यह सर्वसम्मत है, तब 'घटोऽस्ति' इस 'न' शब्दरहित वाक्यसे घटके आकारमात्रका ही बोध मानना उचित है।

इस प्रकार जबकि घटादि यावत् पदार्थोंमें केवल व्यावहारिक जातिमात्र ही सत्त्व है, अथवा देशकालसम्बन्धविशिष्ट ही सत्त्व है, अथवा केवल आकारस्वरूप ही सत्त्व है; तब स्वरूपातिरिक्त सत्त्वके अभावसे वह मिथ्या ही है। इस रीतिसे अनेक ग्रन्थकारोंने प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप कथन किया है।

८६ : (३) न्यायसुधाकारकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप

न्यायसुधाकारके मतमें 'घटः सन्' इस प्रतीतिका विषय घटादिमें अधिष्ठानगत सत्ताका सम्बन्ध ही है। तत्त्वशुद्धिकारके मतमें तो प्रमाणजन्य प्रतीति अनात्म घटादिगोचर नहीं होती, किन्तु केवल अधिष्ठानसत्तागोचर ही होती है। परन्तु इस मतमें इतना भेद है कि इस मतमें अधिष्ठानसत्ताके सम्बन्धविशिष्ट घटादि भी प्रमाणजन्य प्रतीतके विषय माने गये हैं। इस प्रकार अधिष्ठानसत्ताके सम्बन्धमात्र-से ही घटादिमें सत्त्वकी प्रतीति होती है, परन्तु वास्तवमें घटादिमें सत्त्वका अभाव है।

इस प्रकार स्वसत्ताके अभावसे घटादि मिथ्या हैं और उनमें सत्यत्वका प्रतिक्षेप होता है। यदि घटादिमें अधिष्ठानसत्ताकी प्रतीति मानी जाय तो अन्यथाख्यातिका अंगीकार होता है, इसलिये अधिष्ठानसत्ताका घटादिमें अनिर्वचनीय सम्बन्ध उपजता है, ऐसा मानना उचित है।

८७ : (४) अन्य आचार्योंकी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप

अन्य आचार्य इस प्रकार कहते हैं—

श्रुतिमें कहा गया है 'प्राणा वै सत्यं तेषामेषः सत्यम्'। इस श्रुतिका यह अर्थ है कि प्राण अर्थात् हिरण्यगर्भ सत्य है और उसकी अपेक्षासे परमात्मा उत्कृष्ट सत्य है। तथा 'सत्यस्य सत्यम्' ऐसी अन्य श्रुति है, इस श्रुतिका यह अर्थ है कि अनात्मसत्यता से आत्मसत्यता उत्कृष्ट है। जैसे अन्य राजाकी अपेक्षासे उत्कृष्ट राजाको महाराज कहते हैं, तैसे उत्कृष्ट सत्यको सत्यका-सत्य कहा गया है। इस प्रकार श्रुतिवाक्योंमें सत्यके उत्कर्ष-

अपकर्ष कहे गये हैं, तहाँ अन्यविध तो उत्कर्ष-अपकर्ष सम्भव नहीं होते, किन्तु सर्वदा अबाध्यत्व और किञ्चित्काल अबाध्यत्वरूप ही सत्यमें उत्कर्ष-अपकर्ष हो सकते हैं। यहाँ अनात्मपदार्थोंमें तो ज्ञानसे पूर्वकाल ही अबाध्यत्वरूप सत्य होता है और परमार्थवस्तुमें सर्वदा अबाध्यत्वरूप सत्य होता है। इसलिये हिरण्यगर्भ अपकृष्ट सत्य और परमात्मा उत्कृष्ट सत्य है। इस प्रकार द्विविध सत्य श्रुतिसम्मत हैं। उनमें किञ्चितकाल अबाध्यत्वरूप सत्यत्वका तो मिथ्यात्वसे विरोध नहीं है, किन्तु सर्वदा अबाध्यत्वरूप सत्यत्वका मिथ्यात्वसे विरोध होनेसे प्रपञ्चके पारमार्थिक सत्यत्वका मिथ्यात्वसे प्रतिक्षेप होता है।

८८ : (५) संक्षेपशारीरककी रीतिसे प्रपञ्चके सत्यत्वका प्रतिक्षेप

संक्षेप शारीरकमें ऐसा कहा गया है—

यद्यपि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे घटादिमें सत्यत्व प्रतीत होता है; तथापि प्रमाणता तो ब्रह्मबोधक वाक्योंमें ही है, अनात्मग्राहक प्रत्यक्षादि-प्रमाण प्रमाण नहीं किन्तु प्रमाणाभास हैं। क्योंकि प्रमाण अज्ञात अर्थके बोधका ही जनक होता है, परन्तु जड़ पदार्थ जबकि वे स्वसत्ता-शून्य हैं और आवरणस्वरूप ही हैं, तब उनमें अज्ञानकृत आवरणका असम्भव है। इसलिये चेतनभिन्नमें अज्ञातत्वके अभावसे जड़ पदार्थोंके बोधक प्रत्यक्षादिमें प्रमाणताका सम्भव नहीं होता। इस प्रकार प्रमाणाभाससे तो घटादिमें सत्यत्वकी सिद्धि होती है और श्रुतिप्रमाणसे उनमें मिथ्यात्वकी सिद्धि होती है। इसलिये मुख्य श्रुतिप्रमाणसे प्रमाणाभासके बाधद्वारा प्रपञ्चगत सत्यताका प्रतिक्षेप होता है।

इस रीतिसे प्रपञ्चमें अत्यंत अबाध्यत्वरूप सत्यत्वका पाँच प्रकारसे प्रतिक्षेप कहा गया है, इसलिये प्रपञ्च मिथ्या है।

कर्मकी ज्ञानसाधनता विषय विचार

८९ : मिथ्या प्रपञ्चकी निवृत्तिमें कर्मके अनुपयोगके अनुवादपूर्वक सिद्धान्तोक्त द्विविध समुच्चयका निर्द्धार

मिथ्या वस्तुकी निवृत्तिमें कर्मका उपयोग नहीं होता। इसलिये केवल कर्मसे अथवा कर्मसमुच्चित ज्ञानसे अनर्थनिवृत्तिका सम्भव नहीं होता, किन्तु केवल ज्ञानसे ही अनर्थनिवृत्ति हो सकती है। यह अर्थ अद्वैतवादके ग्रन्थोंमें अतिप्रसिद्ध है और भाषामें भी विचारसागरके षष्ठ तरंगमें स्पष्ट किया गया है। इस स्थानमें यह सिद्धान्त है कि यद्यपि अनेक श्रुति-स्मृतियोंमें कर्मसमुच्चित ज्ञानसे मोक्षप्राप्ति कथन की गई है; तथापि श्रीभाष्यकारने तो अनेक स्थानोंमें ज्ञानकर्म-समुच्चयवादका निषेध ही प्रतिपादन किया है। वहाँ यह निर्धार किया गया है कि समसमुच्चय और क्रमसमुच्चयके भेदसे दो प्रकारका समुच्चय होता है। उनमेंसे ज्ञान और कर्म दोनों परस्पर मिलाकर और दोनोंको मोक्षका साधन जानकर एक कालमें दोनोंका अनुष्ठान करना, यह तो 'समसमुच्चय' कहा जाता है तथा एक ही अधिकारीके लिये प्रथम कर्मानुष्ठान करना और तदनन्तर सकल कर्मत्यागपूर्वक ज्ञानहेतु श्रवणादिमें प्रवृत्त होना, इसको 'क्रमसमुच्चय' कहते हैं। इन दोनोंमेंसे समसमुच्चयका निषेध किया गया है तथा श्रुति-स्मृतिमें जहाँ ज्ञान-कर्मका समुच्चय निरूपण किया गया है, उसका भी पूर्वोक्त क्रमसमुच्चयमें ही तात्पर्य है।

९० : श्रीभाष्यकारसम्मत ज्ञानकी साधनता

श्रीभाष्यकारका यह सिद्धान्त है कि कर्म मोक्षका साक्षात् साधन नहीं है, किन्तु मोक्षका साक्षात् साधन ज्ञान ही है और ज्ञानका साधन कर्म है।

९१ : श्रीवाचस्पति उक्त कर्मको जिज्ञासाकी साधनता

भामतीनिबन्धमें श्रीवाचस्पतिने ऐसा कहा है—

कर्म ज्ञानका साक्षात् साधन नहीं, किन्तु जिज्ञासाका साधन है। क्योंकि कैवल्यशाखामें यावत् आश्रम-कर्म विविदिषाके साधन स्पष्ट कहे गये हैं, वेदनकी इच्छाको विविदिषा कहते हैं। परन्तु श्रीसूत्रकारने ब्रह्मसूत्रके तृतीयाध्यायमें ज्ञानमें ही सभी कर्मोंकी अपेक्षा कथन की है। वहाँ सूत्रके व्याख्यानमें श्रीभाष्यकारने ऐसा कहा है कि शम-दमादि ज्ञानके साधन हैं इसलिये वे तो ज्ञानके समीपके साधन हैं, अन्य कर्म जिज्ञासाके साधन हैं। इसलिये वे शम-दमादिकी अपेक्षासे ज्ञानके दूरके साधन हैं। इस प्रकार श्रुतिवचन और भाष्यवचनसे भी कर्म जिज्ञासाके ही साक्षात् साधन हैं और जिज्ञासाद्वारा ज्ञानके साधन हैं। यदि कर्म ज्ञानके साक्षात् साधन कहे जायें तो ज्ञानके उदयपर्यन्त कर्मानुष्ठानकी प्राप्ति होनेसे फिर साधनसहित कर्मत्यागरूप संन्यासका लोप होगा।

इसलिये कर्म जिज्ञासाके ही साधन हैं, ऐसा श्रीवाचस्पतिका मत है।

९२ : श्रीविवरणकारके मतानुसार कर्मको ज्ञानकी साधनता

श्रीविवरणकारका ऐसा मत है—

यद्यपि श्रुतिमें 'वेदानुवचनेन विविदिषंति' ऐसा कहा गया है, तहाँ श्रुतिवचनके अक्षरमर्यादासे तो वेदाध्ययनादि कर्मोंमें विविदिषारूप जिज्ञासाकी ही साधनता प्रतीत होती है; तथापि श्रुतिका तात्पर्य इच्छाके विषय ज्ञानकी साधनतामें ही है, केवल इच्छाकी साधनतामें ही नहीं। जैसे 'अश्वेन जिगमिषति' (घोड़ेद्वारा जाना चाहता है) इस वाक्यके अक्षरमर्यादासे गमनगोचर इच्छाकी साधनता अश्वमें प्रतीत होती है तथा 'शस्त्रेण जिघांसति' (शस्त्रद्वारा हननकी इच्छा करता है) इस वाक्यसे हननगोचर इच्छाकी साधनता शस्त्रमें प्रतीत होती है। यहाँ

जिस प्रकार इच्छाका विषय जो गमन उसकी साधनता अश्वमें और इच्छाका विषय जो हनन उसकी साधनता शस्त्रमें अभिप्रेत है, उसी प्रकार इच्छाका विषय जो ज्ञान उसकी साधनता कर्ममें अभिप्रेत है। इस पक्षमें श्रीवाचस्पतिने जो यह दोष दिया कि 'कर्मको ज्ञानका साधन माना जाय तो ज्ञानके उदयपर्यन्त कर्मानुष्ठानकी आपत्ति होनेसे संन्यासका लोप होगा' इसपर हमारा यह समाधान है—

जैसे बीजप्रक्षेपसे पूर्व तो भूमिका कर्षण होता है और बीजप्रक्षेपसे उत्तरकालमें भूमिका आकर्षण होकर व्रीहि आदिकी सिद्धि कर्षण-आकर्षणसे होती है, तैसे ही कर्म और संन्याससे ज्ञानकी सिद्धि होती है। अर्थात् कर्मकी कर्तव्यता तो तबतक ही रहती है जबतक कि अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा वैराग्यसहित प्रत्यक् तत्त्वकी तीव्र जिज्ञासा उदय न हो; परन्तु वैराग्यसहित तीव्र जिज्ञासाके उदय हो जानेपर तो साधनसहित कर्मत्याग-रूप संन्यास ही कर्तव्य है। इस प्रकार यद्यपि कर्म ज्ञानके ही साधन हैं; तथापि तीव्र जिज्ञासाके उत्तर कालमें तो संन्यासके अंग शम-दमादि ही कर्तव्य हैं, कर्म नहीं। इस प्रकार कर्मकी अपेक्षासे शमादिमें अंतरंगता प्रतिपादन करनेवाले तृतीयाध्यायस्थ भाष्यवचनोंसे भी विरोध नहीं होता।

इस प्रकार श्रीविवरणकारके मतमें तो कर्म ज्ञानके साधन हैं और श्रीवाचस्पतिके मतमें विविदिषाके साधन हैं, परन्तु दोनों ही मतोंमें विविदिषासे पूर्व कालमें कर्मका अनुष्ठान और उत्तर कालमें शम-दमादिपूर्वक संन्याससहित श्रवणादिका अनुष्ठान समान है। विविदिषाके उत्तर कालमें किसीके भी मतमें कर्मकी कर्तव्यता नहीं।

९३ : श्रीवाचस्पति और श्रीविवरणकारके मतकी विलक्षणतामें शंका

इस स्थलपर ऐसी शंका होती है कि यदि दोनों मतोंमें विविदिषासे

पूर्व कालमें ही कर्मकी कर्तव्यता हो तो फिर मतभेदनिरूपण निष्फल

होगा। परन्तु श्रीवाचस्पतिके मतमें कर्मका फल विविदिषा तथा श्रीविवरणकारके मतमें कर्मका फल ज्ञान माना गया है और यह नियम है कि फलकी सिद्धि होनेपर साधनका त्याग हो जाता है। इस प्रकार यदि श्रीवाचस्पतिके मतमें विविदिषाकी सिद्धिपर्यन्त कर्मका अनुष्ठान माना गया हो और श्रीविवरणकारके मतमें विविदिषाके उत्तर कालमें भी ज्ञानकी सिद्धिपर्यन्त कर्मका अनुष्ठान माना गया हो तब तो दोनों मतोंमें विलक्षणता सम्भव हो सके। इसी प्रकार यदि श्रीवाचस्पतिके मतानुसारी जिज्ञासाके पश्चात् कर्मका त्याग करें और श्रीविवरणकारके मतानुसारी ज्ञानके उदयपर्यन्त कर्मका अनुष्ठान करें तो मतभेदनिरूपण सफल हो। परन्तु पूर्वोक्त रीतिसे दोनों ही मतोंमें विविदिषाके उपरान्त कर्मका त्याग मान लेनेपर परस्पर कोई विलक्षणता प्रतीत नहीं होती। इसलिये मतभेदनिरूपण निष्फल है।

९४ : उक्त शंकाका समाधान

इसका समाधान यह है—

यद्यपि दोनों मतोंमें कर्मका अनुष्ठान विविदिषापर्यंत ही है; तथापि कर्मके फलमें विलक्षणता है। अर्थात् श्रीवाचस्पतिके मतमें तो कर्मका फल विविदिषामात्र ही है और विविदिषाकी उत्पत्ति करके कर्मजन्य अपूर्व समाप्त हो जाता है। विविदिषाकी उत्पत्ति होनेपर यदि ज्ञानकी सामग्री उत्तम गुरु-शास्त्रादिका लाभ हो तभी ज्ञान होता है; परन्तु यदि किसी सामग्रीकी त्रुटि रह जाय तो ज्ञान नहीं होता। आशय यह कि कर्मका व्यापार तो केवल विविदिषाकी उत्पत्तिमें ही है, ज्ञानकी उत्पत्तिमें कर्मका व्यापार नहीं, इसलिये कर्मका फल ज्ञान नहीं। इस प्रकार श्रीवाचस्पतिके मतानुसार विविदिषाहेतु कर्मका अनुष्ठान करनेपर भी नियमसे ज्ञानकी सिद्धि नहीं होती, किन्तु यदि उत्तम भाग्यसे सम्पूर्ण सामग्रीकी सिद्धि हो जाय तभी ज्ञान होता है, इसलिये कर्मसे ज्ञानकी प्राप्ति अनियत है।

इसके विपरीत श्रीविवरणकारके मतमें विविदिषासे पूर्वकालमें अनुष्ठित कर्मका फल ज्ञान है। इसलिये कर्मजन्य अपूर्व ज्ञानरूप फलकी उत्पत्तिविना समाप्त नहीं होता और वह अपूर्व ज्ञानकी उत्पत्तिपर्यंन्त शेष रहता है तथा जितनी सामग्रीके विना कर्मका फल ज्ञान न हो, उतनी सामग्री कर्म स्वतः सम्पादन करता है। इस प्रकार इस पक्षमें कर्मका अनुष्ठान किये जानेपर वर्तमान शरीरमें वा भावी शरीरमें ज्ञान अवश्य होता है, इसलिये ज्ञानोत्पत्ति निश्चित है।

इस प्रकार श्रीवाचस्पतिके मतमें शुभ कर्मोंसे विविदिषानियमसे होती है, परन्तु ज्ञानकी सिद्धि अनियत है और श्रीविवरणकारके मतमें उसी कर्मसे ज्ञानकी उत्पत्ति नियम से होती है, इसलिये दोनों मतोंका परस्पर भेद है, संकर नहीं। सारांश, कर्म चाहे विविदिषाके हेतु हों अथवा ज्ञानके, परन्तु दोनोंकी रीतिसे वेदाध्ययन, यज्ञ, दान एवं कृच्छ्र-चान्द्रायणादि आश्रमकर्मोंका उपयोग विद्या (ज्ञान) में ही है। परन्तु कोई आचार्य ऐसा कहते हैं कि वर्णमात्रके धर्मोंका विद्यामें उपयोग नहीं है।

९५ : कल्पतरुकारकी रीतिसे यावत् नित्यकर्मोंका विद्यामें उपयोग

श्रीकल्पतरुकारका यह मत है कि सभी नित्यकर्मोंका उपयोग विद्यामें ही है, क्योंकि श्रीसूत्रकार और श्रीभाष्यकारने आश्रमरहित पुरुषोंका भी विद्या हेतु कर्मोंमें तथा श्रवणादिमें अधिकार कथन किया है। इसी प्रकार श्रुतिने रैक्व-वाचक्नवी आदि आश्रमरहितोंमें भी ब्रह्मविद्या कथन की है, वाचक्नवीकी पुत्री गार्गीको 'वाचक्नवी' कहते हैं। यदि आश्रमधर्मोंका ही विद्यामें उपयोग होता तो इन आश्रमरहितोंमें ज्ञान-सम्पादक कर्मके अभावसे ज्ञान नहीं होना चाहिये था। इसलिये गंगास्नान, जप, देवताध्यानादिसहित सकल शुभ कर्मोंका विद्यामें उपयोग है, ऐसा श्रीकल्पतरुकारका मत है।

परन्तु नित्यकर्मोंका ही विद्यामें उपयोग हो सकता है। क्योंकि कर्मका अन्य प्रकारसे तो विद्यामें उपयोग सम्भव हो नहीं सकता, किन्तु विद्याके प्रतिबन्धक पापोंकी निवृत्तिद्वारा ही उपयोग हो सकता है। इसके विपरीत काम्यकर्मोंका फल स्वर्ग-पुत्रादिकी प्राप्तिरूप ही होता है, उनसे तो पापोंकी निवृत्ति भी नहीं होती। केवल नित्यकर्मोंसे ही पापोंकी निवृत्ति होती है, इसलिये यावत् नित्यकर्मोंका उपयोग विद्यामें ही है।

९६ : संक्षेपशारीरककर्ताकी रीतिसे काम्य एवं नित्य यावत् शुभकर्मोंका विद्यामें उपयोग

संक्षेपशारीरककर्ताने ऐसा कहा है कि काम्य और नित्य सभी शुभ कर्मोंका विद्यामें उपयोग है। क्योंकि 'यज्ञेन विविदिषंति' (यज्ञके द्वारा ज्ञानकी इच्छा करते हैं) ऐसा कैवल्यशाखाका वचन है। यहाँ 'यज्ञ' शब्द तो नित्य और काम्य साधारण कर्मोंमें प्रयुक्त होता है और 'धर्मेण पापमपनुदति' (धर्मसे पापका नाश होता है) इत्यादि वाक्योंसे यावत् शुभ कर्मोंमें पापकी नाशकता भी प्रतीत होती है। इसलिये ज्ञानके प्रतिबन्धक जो पाप, उनकी निवृत्तिद्वारा काम्य कर्मोंका भी नित्य कर्मोंके समान विद्यामें ही उपयोग है।

ऐसा संक्षेपशारीरककर्ता श्रीसर्वज्ञात्ममुनिका मत है।

संन्यासकी ज्ञानसाधनताविषय विचार

९७ : पापनिवृत्तिद्वारा ज्ञानके हेतु होनेसे क्रमशः कर्म और संन्यास दोनोंकी कर्तव्यता

इस प्रकार तीव्र जिज्ञासापर्यन्त सभी शुभ कर्म कर्तव्य हैं और दृढ़तर वैराग्यसहित तीव्र जिज्ञासा उदय हो जानेपर साधनसहित कर्मोंका त्यागरूप संन्यास ही कर्तव्य है। क्योंकि जैसे शुभ कर्मोंसे पापनिवृत्ति होती है,

तैसे संन्याससे भी ज्ञानके प्रतिबन्धक पापोंकी निवृत्ति होती है। तहाँ ज्ञानके प्रतिबन्धक पाप अनेकविध होते हैं, उनमेंसे किसी पापकी निवृत्ति तो कर्मसे और किसीकी निवृत्ति संन्याससे ही होती है। इसलिये ज्ञान-प्रतिबन्धक पापोंकी निवृत्तिद्वारा कर्म और संन्यास दोनों ज्ञानके हेतु हैं और क्रमशः वे दोनों कर्तव्य हैं।

९८ : किसी आचार्यके मतसे प्रतिबन्धक पापकी निवृत्ति और पुण्यकी उत्पत्तिद्वारा संन्यासमें श्रवणकी साधनता

किसी आचार्यका ऐसा मत है कि संन्यास केवल पाप-निवृत्तिद्वारा ही ज्ञानका साधन नहीं है, किन्तु संन्यासजन्य अपूर्वसहित पुरुषको ही श्रवणादिसे ज्ञान होता है। इसलिये श्रवणका अंग होने से सर्वथा निष्पापको भी संन्यास कर्तव्य है।

९९ : विवरणमतसे संन्यासमें ज्ञानप्रतिबन्धक विक्षेपकी निवृत्तिरूप दृष्टफलकी हेतुता

श्रीविवरणकारका यह मत है कि संन्यासविना विक्षेपका अभाव नहीं होता, इसलिये 'ज्ञानप्रतिबन्धक विक्षेपकी निवृत्ति, संन्यासका यही दृष्ट फल है। इसके विपरीत 'ज्ञानप्रतिबन्धक पापकी निवृत्ति अथवा ज्ञानहेतु पुण्यकी उत्पत्ति' संन्यासका यही अदृष्ट फल है, ऐसा कथन अयोग्य है। क्योंकि जहाँ दृष्ट फल सम्भव न होता हो, वहीं अदृष्ट फलकी कल्पना की जाती है। परन्तु 'विक्षेपकी निवृत्ति' जबकि संन्यासका यह दृष्ट फल सम्भव होता है, फिर उसका कोई अदृष्ट फल कथन करना अयोग्य है। यदि किसी प्रधान पुरुषको आश्रमान्तरमें भी काम-क्रोधादिरूप विक्षेपका अभाव हो जाय और कर्मछिद्रोंमें भी वेदान्तका विचार सम्भव हो जाय तो यद्यपि उक्त रीतिसे संन्यासकी व्यर्थता हो जाती है; तथापि 'आसुप्तेरामृतेः कालं नयेद्वेदान्तचिंतया' (सोनेतक और मरण-पर्यन्त वेदान्तचिंतनमें ही काल व्यतीत करे) इस श्रीगौड़पादीय वचनसे,

'तच्चिंतनं तत्कथनमन्योन्यं तत्प्रबोधनम्' (उसीका चिंतन, उसीका कथन और उसीका परस्पर प्रबोध करना) इस श्रीभगवद्वचनसे और 'ब्रह्मसंस्थोऽमृत्वमेति' (ब्रह्ममें अनन्य भावसे जिसकी स्थिति हो वह पुरुष ज्ञानद्वारा अमृतभावको प्राप्त होता है) इस श्रुतिवचनसे निरन्तर किये गये ब्रह्मश्रवणादिसे ही ज्ञानकी प्राप्ति होती है। कर्मछिद्रकालमें क्रियमाण श्रवणादिसे कदाचित् ज्ञान नहीं भी होता, परन्तु संन्यास तो निरन्तर श्रवणादिके अभ्यासका हेतु है। इसलिये संन्यास तो अदृष्ट-विना ही दृष्ट फलका हेतु होनेसे कदापि व्यर्थ नहीं होता।

क्षत्रिय और वैश्यके संन्यास एवं श्रवणमें अधिकारका विचार

१०० : उक्त विचारकी प्रतिज्ञा

इस प्रसंगमें क्षत्रिय-वैश्यका संन्यास तथा श्रवणमें अधिकार है वा नहीं, मतभेदसे यह विचार नीचे किया जाता है।

१०१ : किसी ग्रन्थकारकी रीतिसे इसमें केवल ब्राह्मण-का ही अधिकार और क्षत्रिय-वैश्यका अनधिकार

कोई ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि संन्यासविधायक बहु वाक्योंमें 'ब्राह्मण' पद ही होनेसे संन्यासमें ब्राह्मणमात्रका ही अधिकार है और चूँकि संन्यासके विना गृहस्थादिको ब्रह्मविचारका अवकाश ही नहीं, इसलिये संन्यासमें और ब्रह्मश्रवणमें क्षत्रिय-वैश्यका अधिकार नहीं है।

१०२ : अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे संन्यासमें तो केवल ब्राह्मणका ही अधिकार, परन्तु संन्यास त्यागकर क्षत्रिय-वैश्यका ब्रह्मश्रवणमें भी अधिकार

अन्य ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि यद्यपि संन्यासमें केवल ब्राह्मणका

ही अधिकार है; तथापि ब्रह्मश्रवणमें तो क्षत्रिय-वैश्यका भी अधिकार है। परन्तु जन्मांतरके संस्कारोंसे जिस उत्तम पुरुषको विषयोंमें दीनतादि दोष न रहें, ऐसे शुद्ध बुद्धिमान क्षत्रिय-वैश्यको ही संन्यासके विना ज्ञान होता है। इसीलिये अनेक राजर्षि गृहस्थाश्रममें ही ब्रह्मवित् कहे गये हैं।

१०३ : कुछ ग्रन्थकारोंकी रीतिसे क्षत्रिय-वैश्यका ब्रह्म-श्रवणादिकी भाँति विद्वत्संन्यासमें भी अधिकार

कुछ ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि जैसे क्षत्रिय-वैश्यका ब्रह्मश्रवणादिमें अधिकार है, तैसे उनका संन्यासमें भी निषेध नहीं है। आशय यह है कि ज्ञानके उदयसे कर्तृत्व-भोक्तृत्वबुद्धिका और वर्णाश्रमके अभिमानका अभाव हो जाता है, इस प्रकार कर्तृत्वभोक्तृत्वबुद्धिसे छूटकर तथा वर्णा-श्रमके अभिमानसे पल्ला छुड़ा लेनेपर कर्माधिकार स्वतः समाप्त हो जाता है। तब सर्वकर्मपरित्यागपूर्वक अक्रिय असंग आत्मरूपसे स्थितिरूप विद्वत्संन्यासमें तो क्षत्रिय-वैश्यका भी अधिकार है, उनका केवल विविदि-षासंन्यासमें ही अधिकार नहीं है।

१०४ : श्रीवार्तिककारके मतसे क्षत्रिय-वैश्यका विविदिषा-संन्यासमें भी अधिकार

श्रीवार्तिककारका मत ऐसा है कि क्षत्रिय-वैश्यका विविदिषासंन्यासमें भी अधिकार है। यद्यपि अनेक श्रुतिवाक्योंमें संन्यास ब्राह्मणके लिये ही कहा गया है और वहाँ द्विजका उपलक्षण 'ब्राह्मण' पद ही ग्रहण किया गया है; तथापि संन्यासविधायक जाबालश्रुतिमें 'ब्राह्मण' पद नहीं आता, किन्तु वैराग्यसम्पत्तिवालेके लिये ही संन्यास कहा गया है। स्मृतिमें तो स्पष्ट ही ऐसा कहा गया है—

'ब्राह्मणः क्षत्रियोः वापि वैश्यो वा प्रव्रजेद् गृहात्' ॥१॥
'त्रयाणां वर्णानां वेदमधीत्य चत्वार आश्रमाः' ॥२॥

(१) ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय वा वैश्य गृहस्थका परित्याग कर सकते हैं।

(२) तीनों वर्णोंके लिये वेदका अध्ययन करके चारों आश्रम हैं। इस प्रकारके स्मृतिवचनोंसे भी क्षत्रिय-वैश्यका विविदिषा-संन्यासमें अधिकार है। ऐसा वार्तिककार श्रीसुरेश्वराचार्यका मत है।

१०५ : किसी ग्रन्थकारकी रीतिसे ब्राह्मणको ज्ञानार्थ संन्यासकी अपेक्षा, परन्तु क्षत्रिय-वैश्यका संन्यासमें तो अनधिकार और विद्याके उपयोगी कर्म एवं वेदान्तश्रवणमें उनका भी अधिकार

कोई ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि संन्यासविधायक श्रुतिवाक्योंमें जो 'ब्राह्मण' पद है, उसको द्विजमात्रका उपलक्षण कहनेमें कोई प्रमाण नहीं है। यद्यपि जाबाल-श्रुतिमें 'ब्राह्मण' पद नहीं है; तथापि अनेकों श्रुतियोंके अनुसार वहाँ भी ब्राह्मणकर्ताका ही अध्याहार होता है, इसलिये क्षत्रिय-वैश्यका संन्यासमें अधिकार नहीं हैं। परन्तु अनेक स्थानोंमें 'गृहस्थराजा ज्ञानवान्' अर्थात् गृहस्थी क्षत्रिय ज्ञानवान् कहे गये हैं, इसलिये ऐसा मानना योग्य है—

ब्राह्मणके लिये तो संन्यास ब्रह्मविचारका अङ्ग है ही, क्योंकि गृहस्थाश्रमी ब्राह्मणका ब्रह्मविचारमें अधिकार नहीं है, किन्तु संन्यासी ब्राह्मणका ही ब्रह्मविचारमें अधिकार हो सकता है। परन्तु क्षत्रिय-वैश्यका तो संन्यासके विना भी ब्रह्मविचारमें अधिकार माना गया है, क्योंकि संन्यासविधायक वचनोंमें 'ब्राह्मण' पद होनेसे क्षत्रिय-वैश्यको संन्यासकी तो विधि नहीं और आत्मकामको आत्मश्रवणका अभाव कहना सम्भव नहीं होता। इसलिये क्षत्रिय-वैश्यको ज्ञानका उपयोगी अदृष्ट केवल कर्मसे ही प्राप्त होता है और क्षत्रिय-वैश्यके ज्ञानमें संन्यासजन्य अदृष्टकी अपेक्षा नहीं है। इसीलिये परमेश्वरने गीतामें श्रीमुखसे कहा है कि 'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।' इस वाक्यमें अन्तः-करणकी शुद्धि अथवा ज्ञान 'संसिद्धि' शब्दका अर्थ है, ऐसा श्रीभाष्यकारने

लिखा है। इस वाक्यका यह अर्थ है कि 'संन्यासरहित जनकादि केवल कर्मसे अन्तःकरणकी शुद्धिको प्राप्त हुए, अथवा संन्यासरहित केवल कर्मसे ज्ञानप्रतिबन्धककी निवृत्तिद्वारा श्रवणसे ज्ञानको प्राप्त हुए।' दोनों रीतिसे क्षत्रिय-वैश्यको संन्यासनिरपेक्ष केवल कर्म ही ज्ञानप्रतिबन्धक पापकी निवृत्तिका हेतु सिद्ध होता है, परन्तु ब्राह्मणके ज्ञानप्रतिबन्धक पापकी निवृत्ति तो संन्याससहित कर्मसे ही होती है। 'संन्यास श्रवणका अंग है'—इस पक्षमें भी संन्यास ब्राह्मणके श्रवणका ही अंग ग्रहण होता है, क्षत्रिय-वैश्यके श्रवणका नहीं। किन्तु क्षत्रिय-वैश्यके लिये तो फलाभिलाषारहित, क्रोधादिदोषरहित और ईश्वरार्पणबुद्धिसहित अपने वर्णाश्रमधर्मके कर्मोंका अनुष्ठान करते रहकर जो काल बच रहे, उस कालमें ब्रह्मश्रवण करते रहनेसे ही ज्ञान प्राप्त हो जाता है। आशय यह कि विद्याके उपयोगी कर्म और श्रवणमें क्षत्रिय-वैश्यका भी सर्वथा अधिकार है। क्योंकि ब्राह्मणके समान ज्ञानार्थित्व तो क्षत्रिय-वैश्यको भी सम है और फलार्थीका साधनमें अधिकार स्वाभाविक है, इसलिये आत्मकाम क्षत्रिय-वैश्यका वेदान्तश्रवणमें अधिकार है।

१०६ : किसी ग्रन्थकारके मतसे शूद्रका श्रवणमें अनधिकार

मनुष्यमात्रमें आत्मकामनाका सम्भव होनेसे और ज्ञानार्थित्वके सद्भावसे क्षत्रिय-वैश्यकी भाँति उक्त रीतिसे यद्यपि शूद्रका भी वेदान्त-श्रवणमें अधिकार होना चाहिये; तथापि 'न शूद्राय मतिं दद्यात्' (शूद्रको उपदेश न दे) इत्यादि वचनोंसे शूद्रोंके लिये उपदेशका निषेध किया गया है। इसके साथ ही उपदेशरहित पुरुषोंमें विवेकादिका सर्वथा असम्भव होनेसे उनमें ज्ञानार्थित्व भी सम्भव नहीं होता। इसी प्रकार शूद्रोंके लिये यज्ञादि कर्मका भी निषेध होनेसे और इसके फलस्वरूप उनमें विद्योपयोगी कर्मके अभावसे ज्ञानहेतु श्रवणमें भी उनका अधिकार नहीं है। ऐसा किसी ग्रन्थकारका मत है।

१०७ : अन्य ग्रन्थकारोंकी रीतिसे वेदभिन्न पुराण-इतिहासादिरूप अध्यात्म ग्रन्थोंके श्रवणादिमें शूद्रका भी अधिकार

अन्य ग्रन्थकारोंका ऐसा मत है कि उपनयनपूर्वक ही वेदाध्ययन कहा गया है, परन्तु शूद्रके लिये तो उपनयनकी विधि ही नहीं है। इसलिये यद्यपि वेदश्रवणमें तो शूद्रका अधिकार नहीं है; तथापि 'श्रावयेच्चतुरो वर्णान्' (चारों वर्णोंको श्रवण कराना चाहिये) इत्यादि वचनोंसे इतिहास-पुराणादिके श्रवणमें तो शूद्रका भी अधिकार है तथा पूर्वोक्त वचनमें जो शूद्रको उपदेशका निषेध किया गया है, उसका अभिप्राय यही है कि शूद्रको वैदिक मंत्रोंसहित यज्ञादि कर्मोंका उपदेश अथवा वेदोक्त प्राणादि सगुण उपासनाका उपदेश नहीं करना चाहिये, परन्तु वहाँ उपदेशमात्रका निषेध नहीं किया गया है। यदि उपदेशमात्रका निषेध माना जाय तो धर्मशास्त्रमें शूद्र जातिके धर्मका जो निरूपण है वह निष्फल होगा। विद्योपयोगी कर्मके अभावसे शूद्रका जो विद्या में अनधिकार कहा गया है, उसका समाधान यह है—

साधारण-असाधारण यावत् शुभ कर्मोंका विद्यामें ही उपयोग है। अर्थात् सत्य, अस्तेय, क्षमा, शौच, दान, विषयोंसे विमुखता, भगवन्नामोच्चारण, तीर्थस्नान, पञ्चाक्षर मन्त्रराजादिका जप—इत्यादि जो सभी वर्णोंके साधारण धर्म हैं और शूद्रकमलाकरके वचनोंके अनुसार चतुर्थ वर्णके असाधारण धर्म हैं, उनमें तो शूद्रका भी अधिकार है। उन कर्मोंके अनुष्ठानसे शूद्रको भी अन्तःकरणकी शुद्धिद्वारा विद्याकी प्राप्ति सम्भव होती है। इस प्रकार इतिहास-पुराणादिके श्रवणसे शूद्रमें विवेकादिका सम्भव होता है, विवेकादिसे ज्ञानार्थित्व सम्भव होता है और फिर ज्ञानार्थित्वसे वेदभिन्न अध्यात्म ग्रन्थोंके श्रवणद्वारा विद्याकी प्राप्ति सम्भव होती है। श्रीभाष्यकारने भी ब्रह्मसूत्र प्रथमाध्यायके

तृतीय पादमें ऐसा कथन किया है—'उपनयनपूर्वक ही वेदाध्ययनका अधिकार है, परन्तु शूद्रको उपनयनके अभावसे यद्यपि उसका वेदमें तो अधिकार नहीं है; तथापि पुराणादिके श्रवणसे ही यदि उसे ज्ञान हो जाय तो ज्ञानसमकाल ही उसका भी प्रतिबन्धरहित मोक्ष हो जाता है।'

इस प्रकार श्रीभाष्यकारके वचनोंसे भी शूद्रका वेदभिन्न ज्ञानहेतु अध्यात्म ग्रन्थोंके श्रवणमें अधिकार है।

१०८ : मनुष्यमात्रको भक्ति और ज्ञानका अधिकार तथा अंत्यजादि मनुष्योंको भी तत्त्वज्ञानका अधिकार

जन्मान्तरके संस्कारोंसे यदि अंत्यजादिको भी जिज्ञासा हो जाय तो पौरुषेय वचनसे उनको भी ज्ञान होकर कार्यसहित अविद्याकी निवृत्ति-रूप मोक्ष हो जाता है। इसलिये देव व असुरोंके समान सभी मनुष्योंको तत्त्वज्ञानका अधिकार है। आत्मस्वरूपके यथार्थ ज्ञानको तत्त्वज्ञान कहते हैं। यदि कोई शरीर आत्महीन हो तो उसे ज्ञानका अनधिकार कहा जाय, इसलिये आत्मज्ञानकी सामर्थ्य तो मनुष्यमात्रमें ही है।

१०९ : तत्त्वज्ञानमें दैवीसम्पदाकी अपेक्षापूर्वक मनुष्य-मात्रके लिये भगवद्भक्ति और तत्त्वज्ञानके अधिकारका निर्धार

जिस शरीरमें दैवीसम्पदाका निवास हो उसीको तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है, आसुरी सम्पदामें कदापि नहीं। सर्वभूतोंमें दया, क्षमा, सत्य, आर्जव और संतोषादि दैवीसम्पदाका सम्भव तो ब्राह्मणमें ही है। क्षत्रिय-का प्रजापालनार्थ प्रवृत्ति-धर्म होनेसे उसमें ब्राह्मणसे किञ्चित् न्यून दैवीसम्पदा हो सकती है और धर्मबुद्धिसे प्रजासंरक्षणार्थ दुष्ट प्राणीकी हिंसा भी अहिंसा ही होती है, इसलिये उसमें दैवीसम्पदाका असम्भव नहीं। यद्यपि वैश्यका शारीरिक कृषिवाणिज्यादि व्यापार क्षत्रियसे भी अधिक होनेसे और उसे आत्मविचारमें अवकाशका असम्भव होनेसे उसमें

आत्मविचारके सामर्थ्यका असम्भव है; तथापि कितने ही भाग्यशील वैश्योंका शरीरव्यापारके विना ही सर्व प्रकार निर्वाह होता है और उनमें दैवीसम्पदाका लाभ सम्भव हो सकता है। जिन आचार्योंके मतसे क्षत्रिय-वैश्यको संन्यासका अधिकार है, उनके मतसे वैश्यमें अनायास ही दैवीसम्पदा सम्भव होती है। शूद्र तथा अंत्यजादिमें यद्यपि दैवीसम्पदा दुर्लभ है; तथापि कर्मका फल अनन्तविध है। इसलिये यदि जन्मान्तरके कर्मोंसे किसी शूद्र-अंत्यजादिको भी दैवीसम्पदाका लाभ हो जाय तो पुराणादिके श्रवणसे शूद्रको और भाषाप्रबन्धादिके श्रवणसे अंत्यजको भी भगवद्भक्ति और तत्त्वज्ञानके लाभद्वारा निर्विघ्न मोक्षका लाभ होता है।

इस प्रकार भगवद्भक्ति और तत्त्वज्ञानका अधिकार मनुष्यमात्रको है, यह सभी शास्त्रोंका निर्धार है।

तत्त्वज्ञानसे स्वहेतु अज्ञानकी निवृत्तिविषय शंका-समाधान

११० : अज्ञानके कार्य अन्तःकरणकी वृत्तिरूप तत्त्वज्ञान-से उसके कारण अज्ञानकी निवृत्तिमें शंका

तत्त्वज्ञानसे कार्यसहित अज्ञानकी निवृत्ति होती है, ऐसा अद्वैत ग्रन्थोंका सिद्धान्त है। यहाँ जीव-ब्रह्मके अभेदगोचर अन्तःकरणकी वृत्तिको तत्त्वज्ञान कहते हैं। परन्तु अन्तःकरण अज्ञानका कार्य होनेसे उसकी वृत्तिरूप तत्त्वज्ञान भी अज्ञानका कार्य ही है और लोकमें कारण-कार्यका परस्पर अविरोध ही प्रसिद्ध है, इसलिये तत्त्वज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति कहना सम्भव नहीं होता।

१११ : उक्त शंकाका समाधान

इस शंकाका यह समाधान है—

कारण-कार्यका परस्पर अविरोध है, यह नियम तो सामान्य है और

समानविषयक ज्ञान-अज्ञानका परस्पर विरोध है, यह नियम विशेष है। इसलिये विशेष नियमसे सामान्य नियमका बाध होता है। जैसे पट और अग्निके संयोगसे पटका नाश होता है, अर्थात् जहाँ संयोग होता है वहाँ संयोगके दो उपादानकारण होते हैं और पट भी संयोगका उपादानकारण ही है, फिर भी पट और अग्निके संयोगका नाश्य-नाशकभावरूप विरोध ही है, अविरोध नहीं। इसलिये कारण-कार्यका परस्पर अविरोध ही होता है, यह नियम सम्भव नहीं है। यद्यपि वैशेषिकशास्त्रकी रीतिसे अग्निसंयोगसे पटका नाश नहीं होता। क्योंकि अग्निसंयोगसे तो पटारम्भक तंतुओंमें क्रिया होती है, क्रियासे तंतुविभाग होता है, विभागसे पटके असमवायिकारण तन्तुसंयोगका नाश होता है और तन्तुसंयोगके नाशसे पटका नाश होता है। इस प्रकार वैशेषिकमतमें असमवायिकारणके नाशसे ही द्रव्यका नाश होता है और पटके नाशमें तन्तुसंयोगका नाश ही हेतु है, पट-अग्निका संयोग पटनाशका हेतु नहीं। तथापि यदि पूर्वोक्त क्रमसे ही पटका नाश होता हो तो अग्निसंयोगसे पञ्चम क्षणमें पटका नाश सम्भव होना चाहिये, परन्तु पटनाश तो अग्निसंयोगसे अव्यवहित उत्तरकालमें ही प्रतीत होता है और अग्निसंयोगसे भस्मीभूत पटके अवयव संश्लिष्ट ही प्रतीत होते हैं। इसी प्रकार मुद्गरसे घटका कपालविभागजन्य संयोगनाशके विना ही चूर्णीभूत नाश प्रतीत होता है। इसलिये अवयवीके नाशमें अवयवसंयोगके नाशको कारणताके असम्भवसे पटनाशमें तंतुसंयोगके नाशको कारण मानना उचित नहीं है। किन्तु पट-अग्निका संयोग ही पटके नाशमें कारण हो सकता है और पट-अग्निके संयोगका अग्निसहित पट उपादान-कारण है।

इस प्रकार कारण-कार्यका भी नाशक-नाश्यभावरूप विरोध प्रसिद्ध होनेसे, 'उनका परस्पर अविरोध ही है' यह नियम सम्भव नहीं होता और इसी प्रकार अविद्याजन्य अन्तःकरणकी वृत्तिरूप तत्त्वज्ञानसे कार्यसहित अज्ञानका नाश हो सकता है।

अविद्यालेशसम्बन्धी विचार

११२ : तत्त्वज्ञानसे अविद्यारूप उपादानके नाश हो जाने पर जीवन्मुक्त विद्वानके शरीरस्थितिकी शंका

यदि तत्त्वज्ञानसे अविद्याका सर्वथा नाश होता हो तो तत्त्वज्ञानसे जीवन्मुक्त विद्वानके देहका अभाव हो जाना चाहिये । क्योंकि उपादान-कारणरूप अविद्याका नाश हो जानेपर कार्यरूप देहकी स्थितिका सम्भव नहीं है ।

११३ : उक्त शंकाका कोई एक आचार्यकी रीतिसे समाधान

जैसे धनुषका नाश हो जानेपर भी प्रक्षिप्त बाणके वेगकी स्थिति रहती है, तैसे ही कारणरूप अज्ञानके नाश हो जानेपर भी प्रारब्धभोग-पर्यन्त विद्वान्के शरीरकी स्थितिका सम्भव होता है ।

११४ : उक्त समाधानका असम्भव

यह समाधान सम्भव नहीं होता, क्योंकि निमित्तकारणका नाश हो जानेपर तो कार्यकी स्थिति रहती है, परन्तु उपादानका नाश हो जानेपर कार्यकी स्थितिका असम्भव है । यहाँ बाणके वेगका उपादानकारण बाण है और उसका निमित्तकारण धनुष है, इसलिये धनुषके नाश हो जानेसे बाणके वेगकी स्थिति सम्भव हो सकती है, परन्तु उपादानरूप अविद्याके नाश हो जानेपर तो कार्यरूप विद्वानके शरीरकी स्थितिका असम्भव ही रहना चाहिये । यहाँ तत्त्वज्ञान हो जानेके बाद भी प्रारब्ध-भोगपर्यन्त विद्वानके शरीरकी स्थिति देखनेमें आती है, इसलिये तत्त्वज्ञान होनेपर भी अविद्याका लेश रहता है, ऐसा कई ग्रन्थकारोंने लिखा है ।

११५ : अविद्यालेशके तीन प्रकार

यहाँ मतभेदसे अविद्यालेशका स्वरूप तीन प्रकारका माना गया है—

(१) जैसे प्रक्षालित लशुनभाण्डमें गन्ध रहती है, तैसे अविद्याके संस्कार शेष रहते हैं और वह अविद्यालेश कहा जाता है।

(२) अथवा अग्निदग्ध पटकी भाँति ज्ञानबाधित, परन्तु स्वकार्यमें असमर्थ अविद्याको अविद्यालेश कहते हैं।

(३) यद्वा आवरणशक्ति और विक्षेपशक्तिरूप अंशद्वयवती अविद्या होती है। उनमेंसे तत्त्वज्ञानसे आवरणशक्तिविशिष्ट अविद्या-अंशका नाश हो जाता है, परन्तु प्रारब्धकर्मरूप प्रतिबन्धके शेष रहनेसे विक्षेपशक्ति-विशिष्ट अविद्या-अंशका नाश नहीं होता। इसलिये तत्त्वज्ञानके उत्तर-कालमें भी देहादि विक्षेपका उपादान विक्षेपशक्तिविशिष्ट अविद्या-अंश शेष तो रहता है, परन्तु उससे स्वरूपका आवरण नहीं होता।

११६ : प्रकृत अर्थमें श्रीसर्वज्ञात्ममुनिका मत

श्रीसर्वज्ञात्ममुनिका मत तो यह है—'तत्त्वज्ञानके उत्तर कालमें ज्ञानीको शरीरादिका प्रतिभास नहीं होता। तथा जीवन्मुक्तिप्रतिपादक वचनोंका अपने अर्थमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु जीवन्मुक्तिप्रतिपादक वचन श्रवण-विधिके लिये केवल अर्थवादरूप ही हैं। उनका आशय इस प्रकार श्रवणमें रुचि बढ़ानेके लिये होता है कि 'जिस श्रवणके प्रतापसे जीवित पुरुष भी मुक्त हो जाते हैं, ऐसा उत्तम आत्मश्रवण है।' इस प्रकार उन अर्थवादरूप वचनोंका तात्पर्य आत्मश्रवणकी स्तुतिमें ही होता है, उन जीवन्मुक्तिप्रतिपादक वचनोंका यह तात्पर्य कदापि नहीं होता कि ज्ञानके पश्चात् ज्ञानीका शरीर रहता है अथवा उसको शरीरका प्रतिभास होता है। वास्तवमें तो तत्त्वज्ञानसे अव्यवहित उत्तर कालमें ही ज्ञानीकी विदेहमोक्ष हो जाती है।' इस मतमें ज्ञानोत्तर अविद्याका कोई भी लेश शेष नहीं रहता।

११७ : उक्तमतका ज्ञानीके अनुभवसे विरोध

परन्तु यह मत ज्ञानीके अनुभवसे विरुद्ध है। क्योंकि जिस तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, उस तत्त्वज्ञानकी निवृत्तिका प्रकार यही माना जा सकता है कि तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होकर उससे उत्तर-कालमें तत्त्वज्ञानकी निवृत्ति होती है। परन्तु उक्त (श्रीसर्वज्ञात्ममुनि) मत मानकर यदि अविद्यालेश न माना जाय तो इस क्रमसे तत्त्वज्ञानकी निवृत्ति न होगी। क्योंकि इस मतके अनुसार तत्त्वज्ञानसे अविद्यादि कोई इतर अनात्म वस्तु तो शेष रहनी न चाहिये, फिर केवल चेतन असंग होनेसे उसमें किसी प्रकार नाशकताका सम्भव हो नहीं सकता और तत्त्वज्ञानमें स्वयं स्वनाशकता भी सम्भव नहीं होती। इसलिये ऐसा मानकर तो तत्त्वज्ञानका नाश ही न होगा।

११८ : अविद्याके निवृत्तिकालमें तत्त्वज्ञानकी निवृत्तिकी रीति

इस प्रकार अविद्यानिवृत्तिके उत्तरकालमें तो तत्त्वज्ञानकी निवृत्तिका असम्भव रहता है। इसलिये अविद्यानिवृत्तिकालमें ही तत्त्वज्ञानकी निवृत्ति इस प्रकार माननी चाहिये कि जैसे जलमें प्रक्षिप्त कतकरजसे ज्योंही जलगत पंकका विश्लेष होता है, त्यों ही उसके साथ कतकरजका भी विश्लेष हो जाता है, कतकरजके विश्लेषके लिये साधनान्तरकी अपेक्षा नहीं रहती। इसी प्रकार तृणकूटमें अंगारके प्रक्षेपसे जब तृणकूट भस्म हो जाता है, तब उसके साथ ही अंगार भी भस्म हो जाता है। इसी नियमके अनुसार जब तत्त्वज्ञानसे कार्यसहित अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है, तब निवृत्ति करनेयोग्य कोई वस्तु शेष न रहनेसे तत्त्वज्ञान भी स्वतः ही निवृत्त हो जाता है। तब तत्त्वज्ञानकी निवृत्तिके लिये साधानान्तरकी अपेक्षा नहीं रहती।

११९ : प्रकृत अर्थमें पञ्चपादिकाकारका मत

पञ्चपादिकाकार श्रीपद्मपादाचार्यका यह मत है कि ज्ञानका अज्ञान-मात्रसे विरोध है। अज्ञानके कार्यसे ज्ञानका विरोध नहीं होनेसे, तत्त्वज्ञानसे तो केवल अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है और अज्ञाननिवृत्तिसे उत्तरकालमें उपादान-अज्ञानके अभावसे उसके कार्यकी स्वतः ही निवृत्ति हो जाती है। परन्तु देहादि कार्यकी निवृत्तिमें प्रारब्ध-कर्म प्रतिबन्धक रहता है, इसलिये उक्त प्रकारसे जबतक अविद्यालेश रहे तबतक जीवन्मुक्तको देहादिकी प्रतीति भी सम्भव होती है। परन्तु प्रारब्धरूप प्रतिबंधका अभाव हो जानेपर तो देहादि और तत्त्वज्ञान दोनों ही निवृत्त हो जाते हैं। इस मतमें प्रारब्धके अभावसहित अविद्याकी निवृत्ति ही तत्त्वज्ञानकी निवृत्तिका हेतु है।

तत्त्वज्ञानके कारण और सहकारीसाधन-सम्बन्धी विचार

१२० : उत्तम और मध्यम अधिकारीके भेदसे तत्त्वज्ञानके दो साधनोंका कथन

जिस तत्त्वज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति होती है, उस तत्त्वज्ञानके दो साधन हैं। उत्तम अधिकारीके लिये तो श्रवणादि ही साधन हैं और मध्यम अधिकारीके लिये निर्गुण ब्रह्मकी अहंग्रह उपासना तत्त्वज्ञानका साधन है, ऐसा सभी अद्वैत शास्त्रोंका सिद्धांत है।

१२१ : उक्त दोनों पक्षोंमें प्रसंख्यानमें तत्त्वज्ञानकी करणतारूप प्रमाणता

परन्तु दोनों ही पक्षोंमें तत्त्वज्ञानका करणरूप प्रमाण प्रसंख्यान ही है, ऐसा अनेक ग्रन्थकारोंका मत है। वृत्तिके प्रवाहको 'प्रसंख्यान' कहते

हैं। अर्थात् जैसे मध्यम अधिकारीके लिये निरन्तर निर्गुणब्रह्माकार वृत्ति-रूप उपासना कर्तव्य है और उसके लिये वही प्रसंख्यान है, तैसे उत्तम अधिकारीके लिये भी मननके पश्चात् निदिध्यासनरूप प्रसंख्यान ही ब्रह्मसाक्षात्कारका करण है। यद्यपि षड्विध प्रमाणोंमें प्रसंख्यानके अभावसे उसमें प्रमाकी करणता सम्भव तो नहीं होती; तथापि सगुण-ब्रह्मका ध्यान सगुणब्रह्मके साक्षात्कारका करण और निर्गुणब्रह्मका ध्यान निर्गुणब्रह्मके साक्षात्कारका करण सभी श्रुति-स्मृतियोंमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार जबकि लोकमें व्यवहित कामिनीका प्रसंख्यान कामिनीके साक्षात्कारका करण प्रसिद्ध है, तब निदिध्यासनरूप प्रसंख्यान भी ब्रह्म-साक्षात्कारका करण अवश्य सम्भव होता है। यद्यपि जैसा ऊपर कहा गया है, प्रसंख्यान कोई प्रमाण नहीं है, इसलिये प्रसंख्यानजन्य ब्रह्मज्ञान भी प्रमाणजन्य नहीं कहा जा सकता और जबकि ब्रह्मज्ञान किसी प्रमाणजन्य नहीं तब उसमें प्रमात्वका भी असम्भव ही रहता है; तथापि सम्वादी भ्रमकी भाँति ब्रह्मज्ञानविना विषयका बाध न होनेसे उसमें प्रमात्व सम्भव होता है। फिर निदिध्यासनरूप प्रसंख्यानका मूल तो शब्दप्रमाण ही है, इसलिये भी प्रमाणजन्य ब्रह्मज्ञानमें प्रमात्व सम्भव होता है।

१२२ : भामतीकार श्रीवाचस्पतिके मतमें प्रसंख्यानमें मनकी सहकारिता और मनमें ब्रह्मज्ञानकी करणता

भामतीकार श्रीवाचस्पतिका मत यह है कि प्रसंख्यान तो मनका सहकारी है और मन ब्रह्मज्ञानका करण है, प्रसंख्यानमें ब्रह्मज्ञानकी करणता अप्रसिद्ध है। सगुण एवं निर्गुण ब्रह्मका ध्यान भी मनका ही सहकारी है, ध्यान उनके साक्षात्कारका करण नहीं, किन्तु मन ही करण है। तैसे ही व्यवहित कामिनीका ध्यान भी कामिनीसाक्षात्कारका करण नहीं, किन्तु कामिनीचिंतनसहित मन ही उसके साक्षात्कारका करण है। इस प्रकार मन ही ब्रह्मज्ञानका करण है।

१२३ : अद्वैत ग्रन्थोंका मुख्य मत (अर्थात् एकाग्रतासहित मन तो सहकारी और वेदान्तवाक्यरूप शब्द ब्रह्मज्ञानके करण)

अद्वैत ग्रन्थोंका मुख्य मत तो यह है कि महावाक्यजन्य ज्ञानसे अनन्तर प्रसंख्यानकी अपेक्षा नहीं, किन्तु तब तो महावाक्यसे ही अद्वैत ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। यद्यपि मन सभी ज्ञानोंमें सहकारी है, इसलिये निदिध्यासनजन्य एकाग्रतासहित मन भी ब्रह्मज्ञानमें सहकारी है; तथापि ब्रह्मज्ञानके करण तो वेदान्तवाक्यरूप शब्द ही हैं, मन नहीं। क्योंकि अन्तःकरण वृत्तिरूप ज्ञानका उपादान होनेसे ज्ञानका आश्रय है, इसलिये मन ज्ञानका कर्ता तो हो सकता है, परन्तु ज्ञानका करण नहीं हो सकता। यदि किसी प्रकार ज्ञानान्तरमें मनकी करणता मान भी ली जाय तो भी मनको ब्रह्मज्ञानका करण मानना तो सर्वथा विरुद्ध है। क्योंकि 'यन्मनसा न मनुते' (जो मनद्वारा मनन नहीं किया जा सकता) इत्यादि श्रुतियोंसे ब्रह्ममें मानस-ज्ञानकी विषयताका निषेध किया गया है, बल्कि ब्रह्मको औपनिषदत्व ही कहा गया है, इसलिये उपनिषद्रूप शब्द ही ब्रह्मज्ञानका करण हो सकता है। यद्यपि कैवल्यशाखामें जहाँ मनमें ब्रह्मज्ञानकी करणताका निषेध किया गया है, वहाँ वाक्में भी ब्रह्मज्ञानकी करणताका निषेध किया गया है, इसलिये शब्द में भी ब्रह्मज्ञानकी करणता श्रुतिविरुद्ध ही है। तथापि 'शब्द ब्रह्मज्ञानका करण नहीं है' यदि इसी अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य हो तो ब्रह्मको उपनिषद्वेद्यत्वरूप औपनिषदत्वकथन असंगत होगा। इसलिये शब्दकी लक्षणावृत्तिसे ही ब्रह्मगोचर ज्ञान होता है, शक्ति-वृत्तिसे नहीं; इसी अर्थमें श्रुतिका तात्पर्य है। इस प्रकार यद्यपि शक्ति-वृत्तिसे तो शब्दमें ब्रह्मज्ञानकी करणताका निषेध होता है; तथापि लक्षणावृत्तिसे शब्दमें ब्रह्मज्ञानकी करणता होनेसे ब्रह्मको औपनिषदत्व कथन भी सम्भव होता है। जो ब्रह्मसाक्षात्कारको मानस मानते हैं,

उनके मतमें भी ब्रह्मका परोक्षज्ञान तो शब्दसे ही माना गया है, इसलिये दोनों ही मतोंमें ब्रह्मज्ञानमें शब्दको करणता आवश्यक होनेसे ब्रह्मसाक्षात्कारका करण शब्द ही मानना चाहिये मन नहीं ।

१२४ : शब्दसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिमें शंका-समाधान

यद्यपि शब्दमें परोक्षज्ञानके उत्पादनका ही सामर्थ्य होता है, फिर शब्दसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्ति असम्भव होगी; तथापि शास्त्रोक्त श्रवणपूर्वक, ब्रह्मगोचर परोक्षज्ञानके संस्कारविशिष्ट और एकाग्रचित्तसहित शब्दसे अपरोक्षज्ञान हो सकता है। जिस प्रकार बिम्ब-प्रतिबिम्बके अभेदवादके अनुसार जलपात्र अथवा दर्पणादि सहकृत नेत्रसे सूर्यादिका साक्षात्कार होता है। तहाँ केवल नेत्रमें तो सूर्यादिके साक्षात्कारकी सामर्थ्य नहीं है और चञ्चल तथा मलिन उपाधिके सन्निधानसे भी नेत्रमें सामर्थ्य नहीं है, किन्तु निश्चल व निर्मल उपाधिसहकृत नेत्रमें ही सूर्यादिके साक्षात्कारकी सामर्थ्य है। इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानके संस्कारविशिष्ट निर्मल-निश्चल चित्तरूपी दर्पणके सहकारसहित शब्दसे भी ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान सम्भव होता है ।

(अन्य दृष्टान्त) जैसे लौकिक अग्निमें होमसे स्वर्गहेतु अपूर्वकी उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु वैदिक संस्कारसहित अग्निमें होम करनेसे स्वर्गजनक अपूर्वकी उत्पत्ति अवश्य होती है । यद्यपि श्रुतिने होमको स्वर्गका साधन बतलाया है, परन्तु द्वितीय क्षणमें ही विनाशी होम कालान्तरभावी स्वर्गका साधन सम्भव नहीं होता। इसलिये होममें स्वर्गसाधनताकी अनुपपत्तिरूप अर्थापत्तिप्रमाणसे अपूर्वकी सिद्धि होती है। इसी प्रकार श्रुतिमें ब्रह्मज्ञानसे अध्यासरूप यावत् दुःखोंकी निवृत्ति कही गई है, तहाँ जबकि कर्तृत्वादि अध्यास अपरोक्ष है, तब ब्रह्मके परोक्षज्ञानसे तो उस अपरोक्षाध्यासकी निवृत्तिका सम्भव हो नहीं सकता, किन्तु अपरोक्षज्ञानसे ही उस अपरोक्षाध्यासकी निवृत्ति हो सकती है। इसलिये ब्रह्मज्ञानमें अपरोक्षाध्यासकी निवृत्तिकी अन्यथा अनुपपत्तिसे प्रमाणान्तरके अगोचर

ब्रह्मका शब्दसे अपरोक्षज्ञान ही सिद्ध होता है । जैसे श्रुतार्थापत्तिसे होमजन्य अपूर्वकी सिद्धि होती है, तैसे शब्दजन्य ब्रह्मके अपरोक्षज्ञानकी सिद्धि भी श्रुतार्थापत्तिसे ही होती है ।

१२५ : अन्य ग्रन्थोंकी रीतिसे शब्दमें अपरोक्षज्ञानकी जनकता

अन्य ग्रन्थोंमें शब्द अपरोक्षज्ञानका जनक इस दृष्टान्तसे कहा गया है । अर्थात् यद्यपि केवल मन बाह्य पदार्थोंके साक्षात्कारमें असमर्थ है; तथापि भावनासहित मनसे नष्ट वनिताका साक्षात्कार अवश्य होता है । इसी प्रकार यद्यपि केवल शब्द अपरोक्षज्ञानमें असमर्थ है; तथापि ब्रह्मगोचर परोक्षज्ञानके संस्कारविशिष्ट एवं एकाग्र मनसहित शब्दसे ब्रह्मका अपरोक्ष-ज्ञान होता है ।

ज्ञान और विषयकी अपरोक्षताविषय विचार

१२६ : कुछ ग्रन्थकारोंकी रीतिसे ज्ञान व विषय दोनोंमें अपरोक्षत्वव्यवहारका कथन

कुछ ग्रन्थकार ऐसा कहते हैं कि ज्ञान और विषय दोनोंमें ही अपरोक्षत्व व्यवहार होता है । क्योंकि जहाँ नेत्र-इन्द्रियसे घट ज्ञात हो, वहाँ घटका प्रत्यक्षज्ञान ही होता है और घट भी प्रत्यक्ष ही होता है, इस प्रकार उभयविध व्यवहार अनुभवसिद्ध है । परन्तु स्मरण रहे कि ज्ञानमें अपरोक्षता प्रमाणके अधीन नहीं होती, क्योंकि यदि इन्द्रियजन्य ज्ञान अपरोक्ष और अनुमानादि-जन्य ज्ञान परोक्ष होता हो तो ज्ञानमें परोक्षता-अपरोक्षता प्रमाणके अधीन हो, परन्तु ग्रन्थकारोंने केवल इन्द्रियजन्य ज्ञानोंमें ही अपरोक्षताका खण्डन किया है । इसलिये यह मानना चाहिये कि अपरोक्ष अर्थगोचर ज्ञान ही अपरोक्ष कहा जाता है, इस प्रकार ज्ञानमें अपरोक्षता विषयके अधीन है, प्रमाणके अधीन नहीं । इसीलिये अपरोक्ष विषयका ज्ञान अपरोक्ष ही

होता है, फिर चाहे वह ज्ञान इन्द्रियजन्य हो अथवा प्रमाणान्तरजन्य, इसमें अभिनिवेश नहीं। इस प्रकार यद्यपि सुखादिज्ञान, ईश्वरज्ञान और स्वप्नज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं भी हैं; तथापि हैं वे प्रत्यक्ष। इसलिये ज्ञानमें अपरोक्षत्व इन्द्रियजन्यत्वरूप नहीं है, किन्तु अपरोक्षअर्थगोचरत्वरूप ही है।

१२७ : उक्त अर्थमें शंका-समाधान

यद्यपि अपरोक्षज्ञानके विषयको अपरोक्ष कहते हैं, फिर यदि अपरोक्ष विषयगोचर ज्ञानको भी अपरोक्ष ही कहा जाय तो अन्योऽन्याश्रय दोष होता है। क्योंकि ज्ञानगत अपरोक्षत्व-निरूपणमें तो विषयगत अपरोक्षत्वका ज्ञान हेतु है और विषयगत अपरोक्षत्वनिरूपणमें ज्ञानगत अपरोक्षत्वका ज्ञान हेतु है। तथापि यदि विषयमें अपरोक्षता अपरोक्षज्ञानकी विषयता-रूप मानी जाय तो अवश्य अन्योऽन्याश्रय दोष हो सकता है, परन्तु वस्तुतः विषयमें अपरोक्षता उक्त स्वरूप नहीं है, किन्तु प्रमातृचेतनका विषयचेतनसे अभेदरूप ही विषयकी अपरोक्षता है। इसलिये ज्ञानके अपरोक्षत्वनिरूपणमें विषयके अपरोक्षत्वकी अपेक्षा रहते हुए भी विषयके अपरोक्षत्वनिरूपणमें ज्ञानगत अपरोक्षत्वका अनुपयोग होनेसे अन्योऽन्याश्रय दोष नहीं रहता।

१२८ : विषयमें परोक्षत्व-अपरोक्षत्वके सम्पादक प्रमातृ-चेतनके भेद और भेदसहित विषयगत परोक्षत्वके अधीन ही ज्ञानगत परोक्षत्वका निरूपण

अन्तःकरणके सुखादि धर्म साक्षिचेतनमें अध्यस्त हैं और अधिष्ठानसे पृथक् अध्यस्तकी अपनी कोई सत्ता नहीं होती। इसलिये प्रमातृचेतनसे सुखादिका सदा अभेद होनेसे उनमें सदा ही अपरोक्षत्व होता है और फिर अपरोक्ष सुखादिगोचर ज्ञान भी अपरोक्ष ही होता है। परन्तु बाह्य घटादि तो बाह्य चेतनमें अध्यस्त होनेसे प्रमातृचेतनका उनसे सर्वदा अभेद नहीं रहता, किन्तु जब वृत्तिद्वारा प्रमातृचेतनका बाह्यचेतनसे अभेद हो तब प्रमातृचेतन ही घटादिका अधिष्ठान होता है। इसलिये जब इन्द्रियजन्य घटादि-

गोचर वृत्ति हो, तभी घटादिमें अपरोक्षत्व-धर्म उपजता है और तब अपरोक्षत्वविशिष्ट घटादिका ज्ञान भी अपरोक्ष कहा जाता है। जब घटादिगोचर अनुमित्यादि वृत्ति हो, तब प्रमातृचेतनका घटादिसे अभेद न होनेसे उनमें अपरोक्षत्व धर्म भी नहीं रहता और तब घटादिके अनुमित्यादि ज्ञानोंको अपरोक्ष भी नहीं कहा जाता, किन्तु परोक्ष ही कहा जाता है। परन्तु प्रमातृचेतनका ब्रह्मचेतनसे सदा ही अभेद रहनेसे ब्रह्मचेतन तो सदा ही अपरोक्ष है, इसलिये महावाक्यरूप शब्दप्रमाणजन्य ब्रह्मका ज्ञान भी अपरोक्ष ही कहलाता है।

इस प्रकार ज्ञानके परोक्षत्व-अपरोक्षत्व प्रमाणाधीन नहीं, किन्तु विषयगत परोक्षत्व-अपरोक्षत्वके अधीन ही ज्ञानगत परोक्षत्व-अपरोक्षत्व होते हैं। विषयमें परोक्षत्व-अपरोक्षत्वका सम्पादक प्रमातृचेतनका विषयचेतनसे भेद-अभेद होता है। इस प्रकार शब्दजन्य ब्रह्मका ज्ञान भी अपरोक्ष है, ऐसा कथन सम्भव होता है।

१२९ : उक्त मतमें अवान्तरवाक्यजन्य ब्रह्मज्ञानमें अपरोक्षताकी प्राप्तिरूप दोष

उपर्युक्त मतमें ऐसी शंका होती है कि इस मतमें अवान्तर-वाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान भी अपरोक्ष ही होना चाहिये। क्योंकि उपर्युक्त रीतिसे प्रमातृचेतनका स्वरूप होनेसे ब्रह्म सदा अपरोक्ष ही माना गया है और अपरोक्ष वस्तुगोचर ज्ञान तो अपरोक्ष होता ही है। इसलिये नित्य ही अपरोक्षस्वभाव ब्रह्मका परोक्षज्ञान सम्भव नहीं होता। परन्तु सभी ग्रन्थकारोंने अवान्तरवाक्यसे ब्रह्मका परोक्षज्ञान ही माना है और इसी प्रकार 'दशमोऽस्ति' (दशवाँ है) इस वाक्यसे दशमका परोक्षज्ञान ही होता है। पञ्चदशी आदि ग्रन्थोंमें भी इस वाक्यसे दशमका परोक्षज्ञान ही कथन किया गया है, यद्यपि दशम प्रमातृचेतनसे अभिन्न ही है। इसलिये ब्रह्मरूप और दशमरूप विषयोंमें अपरोक्षता स्वाभाविक होनेसे उनके ज्ञान भी सर्वदा अपरोक्ष ही होने चाहिये।

१३० : उक्त दोषसे छूटनेके लिये अपरोक्षताका अन्य लक्षण

उक्त दोषसे छूटनेके लिये ऐसा मानना चाहिये कि जैसे सुखादि प्रमातृचेतनमें अध्यस्त हैं, तैसे धर्माधर्म भी यद्यपि प्रमातृचेतनमें अध्यस्त ही हैं, इसलिये सुखादिकी भाँति प्रमातृचेतनसे अभिन्न होनेसे धर्माधर्म भी अपरोक्ष होने चाहियें। तथापि प्रत्यक्षयोग्य विषयका ही प्रमातृचेतनसे अभेद विषयगत अपरोक्षताका सम्पादक होता है, परन्तु धर्मादि तो प्रत्यक्षयोग्य नहीं हैं, इसलिये प्रमातृचेतनसे उनका अभेद होते हुए भी उनमें अपरोक्षता नहीं होती। इस प्रकार जैसे विषयगत अपरोक्षतामें विषयके प्रत्यक्षयोग्यताकी अपेक्षा रहती है, तैसे ही ज्ञानकी अपरोक्षतामें प्रमाणकी योग्यताकी अपेक्षा होती है। परन्तु अवान्तरवाक्यमें और 'दशमोऽस्ति' (दशवाँ है) इस वाक्यमें तो अपरोक्षज्ञानजननकी योग्यता ही नहीं है, किन्तु महावाक्यमें और 'दशमस्त्वमसि' (दशवाँ तू है) इस वाक्यमें ही अपरोक्षज्ञानजननकी योग्यता है, इसलिये योग्यतानुसार अवान्तरवाक्यसे तो ब्रह्मका परोक्षज्ञान और महावाक्यसे अपरोक्षज्ञान होता है। विषयकी योग्यता प्रत्यक्ष्यादि व्यवहारसे जानी जाती है, अर्थात् प्रमातासे अभेद होते हुए जिस विषयमें प्रत्यक्षरूप व्यवहार घटित हो, वह योग्य विषय और प्रमातासे अभेद होते हुए भी जिस विषयमें प्रत्यक्षरूप व्यवहार घटित न हो वह अयोग्य विषय कहलाता है। इस प्रकार जैसे सुख-दुःखादि योग्य विषय तथा धर्माधर्मरूप संस्कार अयोग्य विषय हैं और वे अनुभवसे जाने जाते हैं, तैसे ही विषयके समान प्रमाणमें भी योग्यता अनुभवके अनुसार जाननी चाहिये। अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंमें तो प्रत्यक्ष-ज्ञानजननकी योग्यता है, अनुमानमें परोक्षज्ञानजननकी योग्यता है और अनुपलब्धि व शब्दमें उभयविध ज्ञानजननकी योग्यता होती है।

१३१ : अपरोक्षज्ञानमें श्रीसर्वज्ञात्ममुनिके मतका अनुवाद

परन्तु इतना विशेष है कि प्रमातासे असम्बन्धी पदार्थका तो शब्दसे केवल परोक्षज्ञान ही होता है और जिस पदार्थका प्रमातासे तादात्म्यसम्बन्ध हो एवं उसमें योग्यता भी हो, परन्तु यदि प्रमातासे अभेदबोधक शब्द न हो तो शब्दसे उसका केवल परोक्षज्ञान ही होता है, न कि अपरोक्ष। जैसे 'दशमोऽस्ति' 'ब्रह्मास्ति' इत्यादि वाक्योंमें प्रमातासे अभेदबोधक शब्दोंके अभावसे इन वाक्योंसे श्रोताको स्वाभिन्न दशमका तथा ब्रह्मका परोक्षज्ञान ही होता है, अपरोक्ष नहीं। परन्तु प्रमातासे अभिन्न एवं योग्य विषयका, जिस वाक्यमें प्रमातासे अभेदबोधक शब्द भी हो उस वाक्यसे तो परोक्ष नहीं किन्तु अपरोक्षज्ञान ही होता है, ऐसा श्रीसर्वज्ञात्ममुनिका मत है। इस मतमें ब्रह्मके अपरोक्षज्ञानका हेतु केवल शब्द ही है तथा ब्रह्मके परोक्षज्ञानके संस्कारविशिष्ट एवं एकाग्रचित्तसहित शब्दसे ही ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान होता है, यह मत तो पूर्व कहा ही जा चुका है।

१३२ : विषयगत अपरोक्षताके अधीन ज्ञानगत अपरोक्षता है, इस मतका अनुवाद

इस प्रकार अपरोक्ष अर्थगोचर ज्ञानमें अपरोक्षत्व मानकर ब्रह्मज्ञानमें अपरोक्षता सम्भव होती है, मध्यमें ऐसा तृतीय मत कहा गया और 'नित्य अपरोक्षगोचर होनेसे अवान्तरवाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान भी अपरोक्ष ही होना चाहिये' ऐसा इस मतमें दूषण दिया गया।

१३३ : श्रीअद्वैतविद्याचार्यकी रीतिसे विषयगत और ज्ञानगत अपरोक्षत्वका प्रकारान्तरसे कथन और दूषित उक्तमतमें दूषणान्तरका कथन

श्रीअद्वैतविद्याचार्यने अर्थगत अपरोक्षत्व और ज्ञानगत अपरोक्षत्व प्रकारान्तरसे कथन किया है और दूषित उक्तमतमें दूषणान्तर कहा है, वह इस प्रकार—

यदि प्रमातासे अभिन्न अर्थको अपरोक्षस्वरूप मानकर अपरोक्ष अर्थगोचर ज्ञानमें अपरोक्षत्व कहा जाय तो स्वप्रकाश आत्मसुखरूप ज्ञानमें इस अपरोक्षज्ञानके लक्षणकी अव्याप्ति होगी। क्योंकि अपरोक्ष अर्थ है विषय जिसका, यदि उसी ज्ञानको अपरोक्ष कहा जाय तो विषय और ज्ञानका तो परस्पर भेदसापेक्ष विषय-विषयिभाव सम्बन्ध होता है। अर्थात् जिस स्थानमें विषयगत अपरोक्ष होगा, उसी स्थानमें भेदसापेक्ष ज्ञानगत अपरोक्ष रहेगा। परन्तु स्वप्रकाश सुखस्वरूपका तो ज्ञानस्वरूपसे अभेद होनेसे और उसमें विषय-विषयिभावके असम्भवसे उसमें उक्त लक्षणका सम्भव नहीं होता। यद्यपि प्रभाकरमतमें ज्ञानको स्वप्रकाश कहा गया है और ज्ञानको ज्ञाता, घटादि ज्ञेय तथा अपने स्वरूपका विषय करनेवाला माना गया है। इस प्रकार प्रभाकरमतमें यद्यपि यावत् ज्ञान त्रिपुटिगोचर माने गये हैं और उस मतमें अभेद होते हुए भी विषय-विषयिभावका अंगीकार किया गया है, इसलिये उस मतके अनुसार स्वप्रकाश ज्ञानरूप सुखमें विषय-विषयिभाव असंगत नहीं। वहाँ 'स्वप्रकाश' पदका अर्थ भी इस प्रकार किया गया है कि 'स्व' अर्थात् अपना स्वरूप, 'प्रकाश' अर्थात् विषयी जिसका, वह स्वप्रकाश कहा गया है। इस प्रकार उस मतमें 'स्वप्रकाश' पदके अर्थसे भी अभेदमें विषय-विषयिभाव सम्भव होता है। तथापि प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद अनुभवसिद्ध है, इसलिये प्रभाकरका भेदरहित विषय-विषयिभाव कहना असंगत है। तथा 'स्वप्रकाश' पदका अर्थ भी जैसा ऊपर कहा गया है, संगत नहीं है, किन्तु अद्वैतग्रन्थोंमें तो 'स्वप्रकाश' पदका अर्थ इस प्रकार किया गया है कि 'स्व' अर्थात् अपनी सत्तासे, 'प्रकाश' अर्थात् संशयादिराहित्य, अर्थात् जो अपनी सत्तासे सत्तावान् है और संशयादिराहित्य है, वह स्वप्रकाश है।

इस प्रकार स्वप्रकाश ज्ञानसे अभिन्न स्वरूपसुखमें विषय-विषयिभावके असम्भवसे उसमें अपरोक्षका प्रभाकरोक्त लक्षण सम्भव नहीं होता।

१३४ : उक्त दोषसे रहित अपरोक्षका लक्षण

इसलिये अपरोक्षका यह लक्षण करना चाहिये—

'स्वव्यवहारके अनुकूल चैतन्यसे विषयका अभेद' अपरोक्ष विषयका लक्षण है। आशय यह कि अन्तःकरण और उसके सुखादि धर्म साक्षि-चेतनमें अध्यस्त हैं, इसलिये सुखादि धर्मसहित अन्तःकरणका साक्षिचेतनसे अभेद है तथा साक्षिचेतनसे ही उनका प्रकाश होनेसे साक्षिचेतन उनके व्यवहारके अनुकूल है। उक्त लक्षणकी व्युत्पत्ति इस प्रकार है कि 'स्व' अर्थात् सुखादिसहित अन्तःकरण, उनके व्यवहारके अनुकूल जो साक्षिचेतन, उससे सुखादिसहित अन्तःकरणका जो अभेद, वह अपरोक्ष कहा जाता है। तहाँ धर्मादिका भी यद्यपि साक्षिचेतनसे अभेद तो है, परन्तु उन धर्मादि संस्कारोंमें योग्यताके अभावसे साक्षिचेतन उनके व्यवहारके अनुकूल नहीं है। इसलिये उन धर्मादि संस्कारोंका स्वव्यवहारानुकूल चेतनसे वास्तविक अभेद न होनेसे उनमें अपरोक्षत्व नहीं घटता। इसी प्रकार घटादिगोचर वृत्तिकालमें वृत्त्युपहित चेतनका घटादिके अधिष्ठानचेतनसे अभेद होता है, इसलिये घटादिगोचर वृत्तिकालमें घटादिचेतन घटादि-व्यवहारके अनुकूल होता है और उससे अभिन्न घटादि अपरोक्ष कहे जाते हैं। यद्यपि घटादिगोचर वृत्तिके अभावकालमें भी घटादि अपने अधिष्ठानचेतनसे अभिन्न ही रहते हैं; तथापि उस कालमें उनका अधिष्ठानचेतन उनके व्यवहारके अनुकूल नहीं होता। क्योंकि वृत्त्यु-पहितचेतनसे अभिन्न होकर ही उनका अधिष्ठानचेतन उनके व्यवहारके अनुकूल होता है और इसीलिये घटादिगोचर वृत्तिके अभावकालमें घटादि अपरोक्ष नहीं होते। इसी प्रकार ब्रह्मगोचर वृत्त्युपहित साक्षिचेतन ही ब्रह्मके व्यवहारके अनुकूल होता है और उससे अभिन्न ब्रह्ममें अपरोक्षता सम्भव होती है। इस प्रकार जैसे विषयके व्यवहारानुकूल चेतनसे विषयका अभेद विषयगत प्रत्यक्षत्वका प्रयोजक है, तैसे ही घटादि विषयके व्यवहारा-नुकूल चेतनका घटादि विषयसे अभेद ज्ञानगत प्रत्यक्षत्वका भी प्रयोजक है।

१३५ : वृत्तिरूप प्रत्यक्षज्ञानमें उक्त अपरोक्षलक्षणकी अव्याप्ति

यद्यपि घटादि चेतनमें अध्यस्त हैं और घटाकार वृत्तिकालमें घट-चेतनसे वृत्तिचेतनकी एकता होनेसे अपने अधिष्ठान घटचेतनसे अभिन्न घटादिका वृत्तिचेतनसे तो अभेद रहता है; तथापि उस कालमें भी घटादि-से वृत्तिका अभेद सम्भव नहीं होता। जैसे रज्जुमें कल्पित सर्प, दण्ड और मालाका रज्जुसे अभेद रहते हुए भी सर्प, दण्ड और मालाका तो परस्पर भेद ही रहता है, अभेद नहीं होता। इसी प्रकार ब्रह्ममें कल्पित यावत् द्वैतका ब्रह्मसे अभेद रहते हुए भी उनका परस्पर अभेद नहीं होता। तैसे ही यद्यपि वृत्तिचेतनसे तो वृत्ति व घटादिका अभेद सम्भव होता है; तथापि वृत्ति और घटादि विषयोंका परस्पर अभेद सम्भव नहीं होता। इसलिये वृत्तिरूप प्रत्यक्षज्ञानमें उक्त लक्षणकी अव्याप्ति होती है।

१३६ : उक्त अव्याप्तिका श्रीअद्वैतविद्याचार्यकी रीतिसे उद्धार

श्रीअद्वैतविद्याचार्यकी रीतिसे अपरोक्षत्वधर्म चेतनका है वृत्तिका नहीं। जैसे अनुमितित्व-इच्छात्वादि अन्तःकरणवृत्तिके धर्म होते हैं, तैसे ही वृत्तिमें अपरोक्षत्व धर्म नहीं है। किन्तु अपरोक्षत्वधर्म तो विषयाकार वृत्त्युपहित चेतनका ही होता है और वृत्ति तो चेतनके अपरोक्षत्वकी केवल उपाधिमात्र होती है, इसलिये वृत्तिमें अपरोक्षत्वका आरोप करके 'वृत्तिज्ञान अपरोक्ष हैं' ऐसा व्यवहार होता है। यदि वृत्तिज्ञानमें अपरोक्षत्वधर्म इष्ट होता और उसमें अपरोक्षका लक्षण घटित न होता तो अव्याप्ति होती, परन्तु जबकि वृत्तिज्ञान लक्ष्य ही नहीं तब अव्याप्ति भी नहीं, किन्तु अपरोक्षत्वमें लक्ष्य तो वृत्त्युपहित चेतन ही है। चेतनका धर्म अपरोक्षत्व माननेसे ही सुखादि-ज्ञानोंमें अपरोक्षत्व सम्भव हो सकता है। यदि अपरोक्षत्व वृत्तिका धर्म माना जाय तो जिस पक्षमें सुखादिगोचर वृत्तिका

अंगीकार नहीं है, उस पक्षमें साक्षीरूप सुखादिज्ञानमें वृत्तिके अभावसे अपरोक्षत्वव्यवहार नहीं होना चाहिये।

इस प्रकार अपरोक्षत्व धर्म चेतनका है, वृत्तिका नहीं।

१३७ : उक्त पक्षमें शंका

इस पक्षमें ऐसी शंका होती है कि यदि अपरोक्षत्व चेतनका ही धर्म हो तो संसारदशामें भी जीवका ब्रह्मसे सदा अभेद होनेसे सभी पुरुषोंको 'ब्रह्म अपरोक्ष है' ऐसा व्यवहार होना चाहिये। तथा अवान्तरवाक्यजन्य ब्रह्मज्ञान भी अपरोक्ष ही होना चाहिये, क्योंकि अवान्तरवाक्यजन्य वृत्त्युपहित साक्षिचेतनका ब्रह्मरूप विषयसे सदा ही अभेद है।

१३८ : उक्त शंकाका समाधान

उक्त शंकाका यह समाधान है कि स्वव्यवहारानुकूल चेतनसे अनावृत विषयका अभेद तो अपरोक्ष विषयका लक्षण है और अनावृत विषयसे स्वव्यवहारानुकूल चेतनका अभेद अपरोक्ष ज्ञानका लक्षण है। यहाँ संसारदशामें आवृत ब्रह्मका स्वव्यवहारानुकूल चेतनसे अभेद होते हुए भी ब्रह्म अनावृत न होनेसे अनावृत ब्रह्मरूप विषयका स्वव्यवहारानुकूल चेतनसे अभेद नहीं है, इसलिये ब्रह्ममें अपरोक्षत्व नहीं घटता। इसी प्रकार अवान्तर वाक्यजन्य ज्ञानका भी आवृत ब्रह्मरूप विषयसे अभेद होनेसे उस ज्ञानमें अपरोक्षत्व नहीं घटता।

इसलिये उक्त शंका सम्भव नहीं होती।

१३९ : उक्त पक्षमें अन्य शंका

इस पक्षमें अन्य शंका इस प्रकार है—

उक्त रीतिसे यदि चेतन और अनावृत विषयके परस्पर अभेदसे अपरोक्षत्व माना जाय तो अन्योऽन्याश्रय दोष होगा। क्योंकि यदि समानगोचर अर्थात् ज्ञानमात्रमें आवरणनिवर्तकता मानी जाय तब तो

परोक्षज्ञानसे भी अज्ञानकी निवृत्ति होनी चाहिये । परन्तु सिद्धांतमें परोक्षज्ञानसे यद्यपि असत्त्वापादक अज्ञानांशका तो तिरोधान अथवा नाश माना गया है; तथापि परोक्षज्ञानसे अभानापादक शक्तिविशिष्ट अज्ञानका नाश नहीं माना गया, किन्तु केवल अपरोक्षज्ञानसे ही उस अभानापादक अज्ञानका नाश माना गया है । इस प्रकार ज्ञानके अपरोक्षत्वकी सिद्धिके अधीन तो अज्ञाननिवृत्ति मानी गई और अज्ञाननिवृत्तिके अधीन ज्ञानके अपरोक्षत्वकी सिद्धि मानी गई है । क्योंकि 'अनावृत विषयसे स्वव्यवहारानुकूल चेतनका अभेद' यही ज्ञानके अपरोक्षत्वका लक्षण कहा गया है और इससे अज्ञान-निवृत्तिके अधीन ही ज्ञानके अपरोक्षत्वकी सिद्धि पाई जाती है । इसलिये अन्योऽन्याश्रयदोष खड़ा होता है ॥

१४० : उक्त शंकाका समाधान

इसका समाधान यह है—

यद्यपि पूर्वोक्त रीतिसे ज्ञानके अपरोक्षत्वमें तो अज्ञाननिवृत्तिकी अपेक्षा है; तथापि अज्ञाननिवृत्तिमें ज्ञानके अपरोक्षत्वकी अपेक्षा नहीं है । क्योंकि 'यदि ज्ञानमात्रसे अज्ञानकी निवृत्ति मानी जाय तो परोक्षज्ञानसे भी अज्ञानकी निवृत्ति होनी चाहिये' इस दोषके परिहारार्थ अपरोक्षज्ञानसे अज्ञाननिवृत्ति कही गई और उसमें भी अन्योऽन्याश्रय दोष पाया गया । इसलिये वास्तवमें न तो ज्ञानमात्रसे अज्ञाननिवृत्ति और न अपरोक्षज्ञानसे ही अज्ञाननिवृत्ति कहना इष्ट है, किन्तु प्रमाणकी महिमासे जहाँ विषयसे ज्ञानका तादात्म्य सिद्ध हो उसी ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है, ऐसा माना गया है । इसलिये प्रमाण महिमासे कहीं तो बाह्य इन्द्रियजन्य घटादिका ज्ञान घटादि विषयोंसे तादात्म्यसम्बन्धवाला होता है और कहीं प्रमाणमहिमासे महावाक्यरूप शब्दजन्य ब्रह्मज्ञान ब्रह्मरूप विषयसे तादात्म्यसम्बन्धवाला होता है तथा इन दोनों ही ज्ञानोंसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है । यद्यपि ब्रह्म सर्वका उपादान होनेसे ब्रह्मगोचर यावत् ज्ञानोंका ब्रह्मसे तादात्म्यसंबंध ही है, इसलिये अनुमितिरूप ब्रह्मज्ञान और ब्रह्मके

अवांतरवाक्यजन्य परोक्षज्ञानसे भी ब्रह्मके अज्ञानकी निवृत्ति होनी चाहिये। तथापि इन दोनों ज्ञानोंका ब्रह्मरूप विषयसे जो तादात्म्यसंबंध है वह तो विषयकी महिमासे है, प्रमाणकी महिमासे नहीं, जिससे विषय व ज्ञानकी एकता नहीं होती। परन्तु महावाक्यसे तो जीव-ब्रह्मके अभेदगोचर ही ज्ञान होता है और उस ज्ञानका ब्रह्मरूप विषयसे जो तादात्म्यसम्बन्ध होता है वह प्रमाणकी महिमासे ही होता है, जिससे विषय और ज्ञानकी एकता हो जाती है। ब्रह्म व्यापक होनेसे और सबका उपादान होनेसे अन्य ब्रह्मविषयक ज्ञानोंका ब्रह्मसे जो तादात्म्यसम्बन्ध है, वह तो विषयकी महिमासे ही है, जिससे ज्ञान व विषयकी एकता नहीं हो पाती।

इस प्रकार 'विलक्षण प्रमाणजन्य विषयसम्बन्धी ज्ञानसे अज्ञानकी निवृत्ति होती है' इस कथनसे इधर तो ज्ञानमात्रसे अज्ञाननिवृत्तिकी आपत्ति नहीं रहती और उधर अज्ञाननिवृत्तिमें ज्ञानके अपरोक्षत्वकी अपेक्षाके अभावसे अन्योऽन्याश्रय दोष भी नहीं रहता। इस रीतिसे 'स्वव्यवहारानुकूल अनावृतचेतनसे विषयका अभेद' यह तो अपरोक्ष विषयका लक्षण है और 'अनावृत चेतनका विषयसे अभेद' यह अपरोक्षज्ञानका लक्षण है। इसलिये शब्दजन्य ब्रह्मज्ञानमें भी अपरोक्षता सम्भव होती है।

१४१ : शब्दसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिमें कथन किये गये तीन मतोंमें प्रथम मतकी समीचीनता

इस प्रकार शब्दसे अपरोक्षज्ञानकी उत्पत्तिमें तीन मत कहे गये, उनमें आद्य मत ही समीचीन है। क्योंकि 'ज्ञानगत परोक्षत्व-अपरोक्षत्व प्रमाणाधीन है और सहकारिसाधनविशिष्ट शब्दमें भी अपरोक्षज्ञानके जननकी योग्यता है' ऐसा प्रथम मत है। 'विषयके अधीन ही ज्ञानके अपरोक्षत्वादि धर्म हैं, प्रमाणके अधीन नहीं' इस अभिप्रायसे द्वितीय मत है और तृतीय मत श्रीअद्वैतविद्याचार्यका है। इन दोनों मतोंके अनुसार यदि केवल विषयके अधीन ही अपरोक्षत्वादि माने जायें तो अवांतरवाक्यसे भी ब्रह्मका अपरोक्षज्ञान होना चाहिये। इसलिये ज्ञानके

अपरोक्षत्वमें 'प्रमाणकी अधीनता' अवश्य कहनी चाहिये, अतः प्रथम मत ही समीचीन है ।

वृत्तिके प्रयोजनका कथन

१४२ : ग्रन्थके आरम्भमें उक्त तीन प्रश्नोंका और उनमेंसे कथन किये गये दो प्रश्नोंके उत्तरका अनुवाद

ग्रन्थके आरम्भमें (१) वृत्तिका स्वरूप क्या है ? (२) वृत्तिका कारण कौन है ? और (३) वृत्तिका फल क्या है ? इस प्रकार तीन प्रश्न उपस्थित किये गये थे । उनमेंसे 'अन्तःकरण और अविद्याका प्रकाशरूप परिणाम 'वृत्ति' कही जाती हैं' ऐसा वृत्तिका सामान्य स्वरूप कहा गया और उसके अनन्तर यथार्थत्व-अयथार्थत्वादिके भेदसे वृत्तिका विशेष रूप कहा गया । तदनन्तर प्रमाणोंके निरूपणद्वारा वृत्तिके कारणका स्वरूप भी कहा गया ।

१४३ : वृत्तिके प्रयोजनसम्बन्धी तृतीय प्रश्नके उत्तरका आरम्भ

वृत्तिका प्रयोजन व फल क्या है ? अब इस प्रश्नपर विचार किया जाता है—

जीवको तीनों अवस्थाओंका सम्बन्ध वृत्तिद्वारा ही होता है और पुरुषार्थकी प्राप्ति भी वृत्तिद्वारा ही होती है । चूँकि जीवको अवस्थात्रयके सम्बन्धसेही संसार है, इसलिये संसारप्राप्तिका हेतु भी वृत्ति है और मोक्षप्राप्तिका हेतु भी वृत्ति ही है ।

१४४ : वृत्तिप्रयोजनके कथनके अवसरमें जाग्रत्‌का लक्षण

तहाँ इन्द्रियजन्य ज्ञानकी अवस्थाविशेषको 'जाग्रत्-अवस्था' कहते हैं । यहाँ 'अवस्था' शब्द कालका वाचक है । यद्यपि सुखादिका

ज्ञानकाल और उदासीनकाल भी जाग्रत्-अवस्था ही कही जाती है, परन्तु सुखादिका ज्ञान इन्द्रियजन्य नहीं होता। तैसे ही सुखादिके ज्ञान-कालमें अन्य विषयोंका ज्ञान भी इन्द्रियजन्य नहीं होता और इसी प्रकार उदासीनकालमें भी इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं रहता। तथापि 'वक्ष्यमाण स्वप्नावस्था व सुषुप्त्यवस्थासे भिन्न जो इन्द्रियजन्य ज्ञानका और इन्द्रियजन्य ज्ञानके संस्कारका आधारकाल' वह 'जाग्रत्-अवस्था' कही जानी चाहिये। क्योंकि यद्यपि सुखादिके ज्ञानकाल और उदासीनकालमें इन्द्रियजन्य ज्ञान नहीं है ; तथापि उसके संस्कार रहते हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञानके संस्कार तो स्वप्नावस्था और सुषुप्त्यवस्थामें भी रहते हैं, इसलिये लक्षणमें 'स्वप्नावस्था और सुषुप्त्यवस्थासे भिन्न' कहा गया।

इस प्रकार 'जाग्रत्-अवस्था' यह व्यवहार इन्द्रियजन्य ज्ञानके अधीन है, और वह इन्द्रियजन्य ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिरूप है ।

१४५ : किसी ग्रन्थकारकी रीतिसे वृत्तिका प्रयोजन आवरणका अभिभव

कोई ग्रन्थकार वृत्तिका प्रयोजन 'आवरणका अभिभव' कथन करते हैं। आवरणके अभिभवसम्बन्धमें नाना मत हैं। उनमें कोई ऐसा कहते हैं कि जैसे खद्योतके प्रकाशसे महांधकारके किसी एक देशका नाश होता है, तैसे वृत्तिद्वारा अज्ञानके किसी एक देशका सङ्कुचित हो जाना, यही 'आवरण अभिभव' शब्दका अर्थ है। ऐसा साम्प्रदायिक मत है।

१४६ : समष्टि अज्ञानको जीवकी उपाधि माननेवाले पक्षमें ब्रह्म, ईश्वर अथवा जीवचेतनके सम्बन्धसे आवरणके अभिभवका असम्भव

'समष्टि अज्ञान जीवचेतनकी उपाधि है' इस पक्षमें घटादि विषयोंसे चेतनका सदा सम्बन्ध है, इसलिये चेतनके सम्बन्धसे जो आवरणका अभिभव

सम्भव ही कैसे हो ? क्योंकि ब्रह्मचेतन तो आवरणका साधक है, बाधक नहीं। यदि ईश्वरचेतनसे आवरणका अभिभव कहा जाय तो 'इदं मयावगतम्' (यह मैंने जाना) जीवका ऐसा आवरण-अभिभावात्मक व्यवहार नहीं होना चाहिये, किन्तु 'ईश्वरेणावगतम्' (ईश्वरने जाना) ऐसा ही व्यवहार होना चाहिये। क्योंकि जीव-ईश्वरका व्यावहारिक-भेद तो है ही, इसलिये ईश्वरावगत वस्तु जीवकी अवगत नहीं हो सकती। फिर यदि जीवचेतनके सम्बन्धसे आवरणका अभिभव कहा जाय तो इस पक्षमें जीवचेतनका भी घटादिसे सदा सम्बन्ध है। क्योंकि जीवचेतनकी उपाधि मूलाज्ञान है और उसमें आरोपित प्रतिबिम्बत्वविशिष्ट चेतनको जीव कहते हैं तथा मूलाज्ञानका घटादिसे सदा सम्बन्ध होनेसे जीवचेतनका भी उनसे सदा ही सम्बन्ध है। इसलिये यदि चेतनके सम्बन्धसे आवरणका अभिभव होता हो तो घटादिके आवरणका सदा ही अभिभव रहना चाहिये। इसी प्रकार यदि वृत्तिसे आवरणका अभिभव कहा जाय तो परोक्षवृत्तिसे भी आवरणका अभिभव होना चाहिये।

१४७ : इस पक्षमें अपरोक्षवृत्तिसे अथवा अपरोक्षवृत्तिविशिष्ट चेतनसे आवरणके अभिभवका सम्भव

इसलिये अपरोक्षवृत्तिसे अथवा अपरोक्षवृत्तिविशिष्ट चेतनसे आवरणका अभिभव मानना चाहिये। जैसे खद्योतके प्रकाशसे महांधकारके किसी एक देशका किसी क्षणके लिये सङ्कोच हो जाता है और खद्योतके अभावकालमें महांधकारका पुनः विस्तार हो जाता है, तैसे ही अपरोक्षवृत्ति अथवा अपरोक्षवृत्तिविशिष्ट चेतनके सम्बन्धसे मूलाज्ञानके किसी अंशका किसी क्षणके लिये नाश होता है। परन्तु वृत्तिके अभावमें अज्ञानका पुनः प्रसरण होता है। ऐसा सम्प्रदायके अनुसारी मत है।

१४८ : उक्त पक्षकी रीतिसे वृत्तिका प्रयोजन आवरणनाशकता

इसलिये अज्ञानके अंशका नाश, यही अपरोक्षवृत्तिका प्रयोजन है और असत्त्वापादक अज्ञानांशका नाश, यह परोक्षवृत्तिका प्रयोजन है। इस प्रकार वृत्तिका प्रयोजन आवरणनाश ही है, ऐसा पक्ष कहा गया।

१४९ : द्वितीय पक्षकी रीतिसे जीवचेतनका विषयसे सम्बन्धरूप वृत्तिके प्रयोजनका कथन

जीवचेतनका विषयसे सम्बन्ध, यही वृत्तिका प्रयोजन है, ऐसा जो दूसरा पक्ष है, अब उसका निरूपण किया जाता है—

'समष्टि अज्ञान (मूलाज्ञानमें) प्रतिबिम्ब जीव है' इस पक्षमें यद्यपि जीवचेतनका घटादिसे सर्वदा सम्बन्ध है; तथापि जीवचेतनके सामान्य सम्बन्धसे विषयका प्रकाश नहीं होता। किन्तु विषयप्रकाशका हेतु तो जीवचेतनका विषयसे विजातीय अर्थात् विशेष सम्बन्ध ही होता है और यह सम्बन्ध ही वृत्तिका प्रयोजन होता है। यद्यपि जीवचेतनका विषयसे सम्बन्ध सर्वदा ही है, परन्तु वह सम्बन्ध विषयप्रकाशका हेतु नहीं होता, किन्तु जब वृत्तिविशिष्ट जीवचेतनका विषयसे सम्बन्ध हो तभी विषयका प्रकाश होता है। इसलिये प्रकाशहेतुक सम्बन्ध वृत्तिके अधीन होता है और जीवचेतनका विषयसे वह प्रकाशहेतुक सम्बन्ध अभिव्यञ्जक-अभिव्यंग्यभावरूप ही होता है। विषयमें अभिव्यञ्जकता और जीवचेतनमें अभिव्यंग्यता होती है, अर्थात् जिसमें प्रतिबिम्ब हो उसको 'अभिव्यञ्जक' और जिसका प्रतिबिम्ब हो वह 'अभिव्यंग्य' कहलाता है। जैसे जहाँ दर्पणमें मुखका प्रतिबिम्ब हो वहाँ दर्पण तो अभिव्यञ्जक और मुख अभिव्यंग्य होता है, तैसे ही जहाँ घटादि विषयोंमें चेतनका प्रतिबिम्ब होता है वहाँ घटादि तो अभिव्यञ्जक और चेतन अभिव्यंग्य होता है। इस प्रकार प्रतिबिम्बग्रहणरूप व्यञ्जकता तो घटादि विषयोंमें और प्रतिबिम्ब-

समर्पणरूप व्यंग्यता चेतनमें होती है। घटादिमें स्वभावसे ही प्रतिबिम्बग्रहणकी सामर्थ्य नहीं होती, किन्तु वे अपने आकारवाली वृत्तिके सम्बन्धसे ही चेतनके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेके योग्य होते हैं। जैसे दर्पणके सम्बन्धविना कुडचमें सूर्यका प्रतिबिम्ब नहीं होता, परन्तु दर्पणके सम्बन्धसे ही होता है, इसलिये कुडचमें सूर्यके प्रतिबिम्बको ग्रहण करनेकी योग्यता दर्पणसम्बन्धसे ही होती है। इस दृष्टान्तमें जैसे सूर्यप्रभाका कुडचसे यद्यपि सर्वदा सामान्य सम्बन्ध है; तथापि अभिव्यञ्जक-अभिव्यंग्यभावरूप सम्बन्ध तो दर्पणाधीन ही है। तैसे ही यद्यपि जीवचेतनका विषयसे सर्वदा ही सम्बन्ध है; तथापि घटादिमें जीवचेतनके प्रतिबिम्बको ग्रहणकी योग्यता तो वृत्तिसम्बन्धसे ही आती है। इसलिये जीवचेतनका घटादिसे अभिव्यंग्य-अभिव्यञ्जकभावरूप सम्बन्ध वृत्तिके अधीन होता है।

इस प्रकार घटादिसे जीवचेतनके विलक्षण सम्बन्धकी हेतु वृत्ति होती है और विषयसम्बन्धार्थ ही वह वृत्ति होती है तथा उस सम्बन्धसे ही विषयका प्रकाश होता है। 'जीवचेतन विभु है' इस पक्षमें विलक्षण सम्बन्धकी जनक वृत्ति होती है और इस सम्बन्धको जुटा देना, यही वृत्तिका प्रयोजन होता है।

१५० : अन्तःकरणविशिष्ट चेतन जीव है, इस पक्षमें विषयसम्बन्धार्थ वृत्तिकी अपेक्षा

'अन्तःकरणविशिष्ट चेतन जीवका स्वरूप है' इस पक्षमें वृत्तिके विना तो जीवचेतनका घटादिसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहता, परन्तु जब इन्द्रिय-विषय सम्बन्धसे अन्तःकरणकी वृत्ति घटादि देशमें जाती है तभी जीवचेतनका घटादिसे सम्बन्ध होता है। वृत्तिके बाह्य गमनके विना अंतर्जीवका बाह्य घटादिसे कोई सम्बन्ध नहीं होता।

इस प्रकार 'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन परिच्छिन्नरूप जीव है' इस पक्षमें विषयसम्बन्धार्थ ही वृत्ति होती है, यह अर्थ तो स्पष्ट ही है।

१५१ : उक्त दोनों पक्षोंकी विलक्षणता

इस प्रकार 'अज्ञानोपाधिक जीव है' इस प्रथम पक्षमें तो जीवचेतनका विषयसे सर्वदा सम्बन्ध है, परन्तु अभिव्यञ्जक-अभिव्यंग्यभावरूप सम्बन्ध सर्वदा नहीं है और इस सम्बन्धके लिये ही वृत्ति होती है । तथा 'अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन जीव है' इस दूसरे पक्षमें जीवका विषयसे सर्वदा सम्बन्ध तो नहीं है, परन्तु इस सम्बन्धके लिये ही वृत्ति होती है । इस प्रकार ग्रन्थकारोंने वृत्तिके फल व प्रयोजनके सम्बन्धमें विलक्षणता कथन की है ।

१५२ : मतभेदसे उक्त सम्बन्धमें विलक्षणताके कथनकी असंगतता

परन्तु मतभेदसे वृत्तिके सम्बन्धमें विलक्षणताका कथन असंगत है । क्योंकि जहाँ अन्तःकरण जीवकी उपाधि माना गया है, उस पक्षमें भी अज्ञान तो जीवभावकी उपाधि अवश्य इष्ट है ही, अन्यथा प्राज्ञरूप जीवका अभाव होता है । इसलिये प्रथम मतके अनुसार जीवभावकी उपाधि सबके मतमें अज्ञान ही है । दूसरे मतके अनुसार कर्तृत्वादिका अभिमान अन्तःकरणविशिष्टमें ही हो सकता है, अज्ञानविशिष्टमें नहीं, इसलिये अन्तःकरणावच्छिन्न चेतनको ही जीव कहा गया है । जिस पक्षमें अज्ञानमें प्रतिबिम्बरूप जीव माना गया है, उस पक्षमें भी अज्ञानविशिष्ट चेतन प्रमाता नहीं माना गया, किन्तु प्रमाता तो अन्तःकरणविशिष्ट चेतन ही माना गया है । उस पक्षमें यद्यपि जीवचेतनका विषयसे सर्वदा सम्बन्ध माना गया है और प्रमातृचेतनका विषयसे वैसा सम्बन्ध नहीं माना गया; तथापि विषयका प्रकाश तो प्रमातृचेतनके सम्बन्धसे ही माना गया है, जीवचेतनके सम्बन्धसे विषयका प्रकाश नहीं माना गया । क्योंकि जैसे ब्रह्मचेतन और ईश्वरचेतन अज्ञानके साधक हैं, वैसे ही अज्ञानोपाधिक जीव चेतन भी है । उस जीवचेतनके सम्बन्धसे भी विषयमें कोई

ज्ञाततादि व्यवहार नहीं होता और न जीवचेतनमें ज्ञाततादिका अभिमान ही होता है। किन्तु प्रमाताके सम्बन्धसे ही विषयमें ज्ञाततादिका व्यवहार और उस व्यवहारका अभिमान होता है। ऐसा प्रमाता विषयसे भिन्न देशमें रहता है, इसलिये उस प्रमाताका विषयसे सदा सम्बन्ध नहीं होता किन्तु वृत्तिके अधीन ही प्रमाताका विषयसे सम्बन्ध होता है।

इस प्रकार जीवकी उपाधिको चाहे व्यापक माना जाय अथवा परिच्छिन्न माना जाय, परन्तु दोनों ही पक्षोंमें वृत्तिके अधीन प्रमाताका विषयसे सम्बन्ध समान ही है। फिर उसमें विलक्षणताका कथन केवल बुद्धिप्रवीणताके आख्यापनार्थ ही है।

१५३ : चार चेतनके कथनपूर्वक उक्त अर्थकी सिद्धि

वास्तवमें प्रमाताका विषयसे सदा सम्बन्ध नहीं है, इसीलिये प्रमातृ-चेतन, प्रमाणचेतन, विषयचेतन और फलचेतनके भेदसे चार प्रकारके चेतन कहे गये हैं। यदि प्रमाताका विषयसे सदा सम्बन्ध हो तो प्रमातृ-चेतन और विषयचेतनका विभागकथन असंगत होगा। चार चेतनोंमें अन्तःकरणविशिष्ट चेतनको 'प्रमातृचेतन' 'वृत्त्यवच्छिन्न चेतनको' 'प्रमाण-चेतन' घटाद्यवच्छिन्न चेतनको विषयचेतन' और वृत्तिके सम्बन्धसे घटादिमें जो चेतनका प्रतिबिम्ब होता है उसको 'फलचेतन' कहते हैं। कोई ऐसा कहते हैं कि घटावच्छिन्न चेतन ही जब अज्ञात हो तब तो वह विषयचेतन और ज्ञात हो तब फलचेतन कहलाता है, उसीको प्रमेयचेतन भी कहते हैं। इसीलिये श्रीविद्यारण्यस्वामी और श्रीवार्तिककारने प्रमाण-वृत्तिसे उत्तरकालमें घटादिमें जो चेतनका आभास होता है, उसीको फल-चेतन कहा है।

इस प्रकार प्रमातृचेतन परिच्छिन्न है और उसके सम्बन्धसे ही विषयका प्रकाश होता है। फिर यदि जीवचेतनको विभु माना जाय तब भी प्रमाताका विषयसे सम्बन्ध तो वृत्तिकृत ही मानना होगा। इसलिये दोनों ही मतोंमें विषय सम्बन्धमें तो कोई विलक्षणता नहीं होती।

१५४ : जाग्रत्में होनेवाली वृत्तिके अनुवादपूर्वक स्वप्नावस्थाका लक्षण

इस प्रकार जाग्रत्-अवस्थामें पूर्वोक्त प्रयोजनवती इन्द्रियजन्य अन्तः-करणकी वृत्ति होती है। इसके विपरीत इन्द्रिय-अजन्य विषयगोचर जो अन्तःकरणकी अपरोक्षवृत्ति, उसकी अवस्थाको 'स्वप्नावस्था' कहते हैं; क्योंकि स्वप्नमें ज्ञान और ज्ञेय अन्तःकरणके ही परिणाम होते हैं।

१५५ : सुषुप्ति-अवस्थाका लक्षण

अज्ञानका साक्षात् परिणामरूप जो सुखगोचर एवं अविद्यागोचर वृत्तिकी अवस्था, उसको 'सुषुप्ति-अवस्था' कहते हैं, क्योंकि सुषुप्तिमें अविद्याकी सुखगोचर और अज्ञानगोचर ही वृत्ति होती है। यद्यपि 'अहं न जानामि' (मैं नहीं जानता हूँ) इस प्रकार जाग्रत्में भी अविद्यागोचर वृत्ति तो होती है; तथापि वह वृत्ति अन्तःकरणकी होती है अविद्याकी नहीं, इसलिये सुषुप्तिके लक्षणकी जाग्रत्में अतिव्याप्ति नहीं होती। इसी प्रकार जाग्रत्में प्रातिभासिक जो रजताकारवृत्ति, वह अविद्याका परिणाम तो है, परन्तु वह अविद्यागोचर नहीं। तैसे ही जाग्रत्में जो सुखाकारवृत्ति वह अन्तःकरणका परिणाम तो है, परन्तु प्रातिभासिक नहीं।

इस प्रकार सुखगोचर और अविद्यागोचर अविद्यावृत्तिकी अवस्थाको सुषुप्ति-अवस्था कहते हैं।

१५६ : सुषुप्तिसम्बन्धी अर्थका कथन

सुषुप्तिमें अविद्याकी वृत्तिमें आरूढ़ साक्षी अविद्याको और स्वरूप-सुखको प्रकाश करता है। सुषुप्त्यवस्थामें जिस अज्ञानांशका सुखाकार परिणाम हुआ है, उसी अज्ञानांशमें उस पुरुषका अन्तःकरण लीन होकर रहता है। फिर जाग्रत् कालमें उसी अज्ञानांशका अन्तःकरणरूप परिणाम होता है, इसलिये जाग्रत्में उस अनुभूत सुखकी अन्तःकरणवृत्तिसे स्मृति

होती है । चूंकि उपादान और कार्यका भेद नहीं होता, इसलिये अनुभव और स्मरणमें व्यधिकरणता भी नहीं होती ।

इस प्रकार जीवकी तीन अवस्थाएँ हैं, कोई मरण और मूर्च्छाका सुषुप्तिमें अन्तर्भाव कहते हैं और कोई इन्हें पृथक् कहते हैं ।

१५७ : उक्त अवस्थाभेदमें वृत्तिकी अधीनता

उक्त अवस्थाओंका भेद वृत्तिके अधीन ही होता है । तहाँ जाग्रत्-स्वप्नमें तो अन्तःकरणकी वृत्ति होती है और सुषुप्तिमें अज्ञानकी वृत्ति । जाग्रत्‌में अन्तःकरणकी वृत्ति इन्द्रियजन्य होती है, परन्तु स्वप्नमें अन्तः-करणकी वृत्ति इन्द्रियअजन्य ।

१५८ : वृत्तिके प्रयोजनका कथन

इस प्रकार अवस्थाका अभिमान ही बंध है और अभिमान भ्रमज्ञानको कहते हैं, जोकि वृत्तिविशेष ही है, इसलिये वृत्तिकृत बंध ही संसार है । परन्तु जब वेदान्त-वाक्यसे 'अहं ब्रह्मास्मि' ऐसी अन्तःकरणकी वृत्ति हो, तब उससे प्रपञ्चसहित अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, वही मोक्ष है । इसलिये वृत्तिका प्रयोजन संसार-दशामें तो व्यवहारसिद्धि होता है और परम प्रयोजन मोक्ष होता है ।

कल्पितकी निवृत्तिविषय विचार

१५९ : कल्पितकी निवृत्तिको अधिष्ठानरूपतापूर्वक मोक्षमें द्वैतापत्तिके कथनकी अयुक्तता

कल्पितकी निवृत्ति अधिष्ठानरूप होती है, इसलिये 'संसारनिवृत्ति ही मोक्ष है' इस कथनसे 'मोक्ष ब्रह्मरूप ही है' ऐसा सिद्ध होता है । इसके विपरीत कल्पितकी निवृत्तिको कल्पितका ध्वंस मानकर मोक्षमें द्वैतापत्तिका दोष कथन करना अज्ञानप्रयुक्त है ।

१६० : न्यायमकरन्दकारोक्त अधिष्ठानरूप कल्पितनिवृत्तिके पक्षमें दूषण

श्रीन्यायमकरन्दकारने कल्पितनिवृत्तिको इधर तो अधिष्ठानरूप नहीं माना और उधर कल्पितनिवृत्तिमें द्वैतापत्तिका समाधान भी किया है, परन्तु उनका ऐसा लेख अनुभवानुसारी नहीं है। उनका लेख इस प्रकार है—

'वास्तवमें कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानसे भिन्न है। यदि कल्पित-निवृत्तिको अधिष्ठानरूप कहा जाय तो अधिष्ठान और कल्पितनिवृत्ति एक ही पदार्थ है दो नहीं, ऐसा सिद्ध होगा। तब यह प्रश्न होता है कि अधिष्ठानमें अन्तर्भाव मानकर कल्पितनिवृत्तिका लोप इष्ट है? अथवा कल्पितनिवृत्तिमें अधिष्ठानका अन्तर्भाव मानकर अधिष्ठानका लोप इष्ट है? क्योंकि एकमें अपरका अन्तर्भाव ही कहना होगा, अन्य प्रकार तो सम्भव होता नहीं है। अब यदि प्रथम पक्ष कहा जाय तो सम्भव नहीं होता, क्योंकि संसारका अधिष्ठान ब्रह्म है, फिर यदि संसारकी निवृत्ति ब्रह्मसे भिन्न न हो तो संसारनिवृत्तिके साधनमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये। क्योंकि संसारनिवृत्ति (कल्पितनिवृत्ति) ब्रह्म(अधिष्ठान)से पृथक् तो मानी नहीं गई और ब्रह्म स्वभावसिद्ध है ही। फिर प्रवृत्ति तो व्यापारसाध्यके अर्थ ही हुआ करती है, परन्तु ब्रह्म तो स्वभावसिद्ध होनेसे उसके लिये ज्ञानके साधन श्रवणादिमें प्रवृत्ति सम्भव न होगी। इसलिये संसारनिवृत्ति (कल्पितनिवृत्ति) का नित्यसिद्ध अधिष्ठानरूप ब्रह्ममें तो अन्तर्भाव सम्भव नहीं होता। अब यदि दूसरा पक्ष संसारनिवृत्तिमें ब्रह्मका अन्तर्भाव कहा जाय, तो भी संसारभ्रमका असम्भव होनेसे उसकी निवृत्तिके लिये ज्ञानके साधनः श्रवणादिमें प्रवृत्ति न होनी चाहिये। क्योंकि यह तो अनुभव-सिद्ध है कि संसारकी निवृत्ति तो ज्ञानसे उत्तरकालमें ही होती है, ज्ञानसे पूर्व तो संसारकी निवृत्ति (कल्पित निवृत्ति) होती नहीं है। परन्तु जबकि संसारनिवृत्तिसे ब्रह्म पृथक् माना ही नहीं गया और संसारनिवृत्तिमें उसका अन्तर्भाव मान लिया गया, तब ज्ञानसे पूर्व स्वाभाविक ही ब्रह्मरूप अधि-

ष्ठानके अभावसे संसारभ्रम सम्भव ही नहीं होता। इसके अतिरिक्त दूसरी बात यह कि संसार तो अनुभवसिद्ध है, इसलिये इसका अभाव तो कहा नहीं जा सकता। फिर इसको सत्य ही कहना होगा और ज्ञानसे सत्यकी निवृत्ति असम्भव है। तीसरे, संसारनिवृत्ति ज्ञानसे पूर्वकालमें तो है नहीं, किन्तु ज्ञानसे उत्तरकालमें होनेसे वह सादि ही होगी। परन्तु ब्रह्म तो अनादि है, इसलिये सादि पदार्थमें अनादि पदार्थका अन्तर्भाव कहना अयुक्त है। इस प्रकार दोनोंका परस्पर अन्तर्भाव सम्भव नहीं होता, इसलिये 'कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानरूप हैं' यह पक्ष असम्भव है। यदि ऐसा कहा जाय—

'यद्यपि हम इनमेंसे किसीका परस्पर अन्तर्भाव नहीं कहते हैं; तथापि कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानसे पृथक् नहीं है, किन्तु अधिष्ठानकी अवस्थाविशेष ही कल्पितनिवृत्ति है। अधिष्ठानकी अज्ञात और ज्ञात दो अवस्था होती हैं, उनमें ज्ञानसे पूर्व तो अज्ञात-अवस्था और ज्ञानोत्तर ज्ञात-अवस्था होती है। इन दोनोंमेंसे कल्पितकी निवृत्ति ज्ञातअधिष्ठानरूप होती है और ज्ञातअधिष्ठाम चूँकि सादि है, इसलिये ज्ञानके श्रवणादि साधन निष्फल नहीं होते। इस प्रकार संसारनिवृत्ति ब्रह्मसे पृथक् नहीं।'

इस प्रकार यदि कल्पितनिवृत्ति ज्ञातअधिष्ठानरूप भी मानी जाय, तो भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि ज्ञानके विषयको ज्ञात और अज्ञानके विषयको अज्ञात कहते हैं। अज्ञानकृत आवरण ही अज्ञानकी विषयता कही जाती है और जब ज्ञानसे अज्ञानका अभाव हो जाता है, तब अज्ञात व्यवहार नहीं रहता। इसी प्रकार विदेहदशामें देहादिके अभावसे ज्ञानका अभाव हो जानेसे ज्ञातताका भी अभाव हो जाता है। इसलिये विदेहदशामें अज्ञातअवस्थाकी भाँति ज्ञातअवस्थाका भी अभाव होनेसे मोक्षमें ज्ञातअधिष्ठानरूप कल्पितनिवृत्तिका भी अभाव होना चाहिये। फिर यदि मोक्षमें उसका अभाव माना गया तो इस कल्पितनिवृत्तिमें अनन्तताके अभावसे औषधजन्य रोगनिवृत्तिकी भाँति इसमें परम पुरुषार्थताका अभाव होगा।

१६१ : श्रीन्यायमकरन्दकारकी रीतिसे अधिष्ठानसे भिन्न कल्पितनिवृत्तिका स्वरूप

इसलिये यह मानना चाहिये कि कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानरूप नहीं, किन्तु उससे पृथक् है और अधिष्ठानभिन्न भी वह कल्पितनिवृत्ति द्वैतकी सम्पादक नहीं होती। क्योंकि यदि अधिष्ठानसे पृथक् कोई अन्य सत्य होता हो तो द्वैतकी आपत्ति हो और यदि सत्यसे विलक्षण पदार्थ भी द्वैतका हेतु होता हो तो 'सिद्धांतमें सदा अद्वैत है' इस अर्थका बाध होगा। इसलिये सत्य पदार्थका भेद ही द्वैतका साधक होता है, परन्तु कल्पितनिवृत्ति तो अधिष्ठानसे भिन्न है और सत्य नहीं, इसलिये इससे कोई द्वैतसिद्धि नहीं होती।

१६२ : श्रीन्यायमकरन्दकारकी रीतिसे कल्पितनिवृत्तिके स्वरूपनिर्णयार्थ अनेक विकल्पोंका लेख

कल्पितनिवृत्तिके स्वरूपनिर्णयके लिये इस प्रकार विकल्प खड़े हो सकते हैं—

अधिष्ठानसे भिन्न वह कल्पितनिवृत्ति सद्रूप है वा असद्रूप तथा सदसद्रूप है वा सदसद्विलक्षण? इस प्रकार चार विकल्प खड़े होते हैं, उनमें प्रथम विकल्पके सम्बन्धमें उसे यदि सद्रूप कहा जाय तो व्यावहारिक सत् है अथवा पारमार्थिक सद्रूप? यदि व्यावहारिक सत् है तो ब्रह्मज्ञानसे उत्तरव्यावहारिक सत्का सम्भव न होनेसे ब्रह्मज्ञानसे उत्तर उस कल्पित-निवृत्ति (संसारनिवृत्ति) का अभाव होना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे पूर्व जिसका बाध न हो और ब्रह्मज्ञानसे उत्तर जिसकी सत्ता-स्फूर्ति न रहे, वह व्यावहारिक सत् कहा जाता है। इसलिये कल्पितनिवृत्तिको यदि व्यावहारिक सद्रूप माना जाय तो ज्ञानोत्तर उसका सम्भव नहीं रहना चाहिये। यदि अधिष्ठानसे भिन्न उस कल्पितनिवृत्तिको पारमार्थिक सद्रूप कहा जाय तो द्वैतकी आपत्ति होगी। इसलिये अधिष्ठानसे भिन्न

कल्पितनिवृत्ति व्यावहारिक अथवा पारमार्थिक सद्रूप नहीं कही जा सकती। अब द्वितीय विकल्पके सम्बन्धमें यदि अधिष्ठानसे भिन्न उस कल्पित-निवृत्तिको असत् कहा जाय तो उस 'असत्' शब्दका अर्थ अनिर्वचनीय है, अथवा तुच्छ है ? यदि अनिर्वचनीय कहा जाय तो आगे चतुर्थ विकल्पके खण्डनमें कहे गये दोष उपस्थित होंगे और यदि तुच्छ कहा जाय तो संसार-निवृत्ति पुरुषार्थरूप न रहेगी। इस प्रकार द्वितीय विकल्प भी सम्भव नहीं होता। तृतीय विकल्पके सम्बन्धमें अधिष्ठानसे भिन्न उस कल्पितनिवृत्तिको यदि सदसद्रूप कहा जाय तो विरोधी होनेसे एक ही पदार्थमें सद्रूपता और असद्रूपता सम्भव नहीं होते और यदि सदसद्रूप माना भी जाय तो पूर्वोक्त सत् पक्षके दोष और असत्पक्षके दोष लागू होंगे। अर्थात् कल्पितनिवृत्तिमें सत् अंशको लेकर तो द्वैत होगा और असत् अंशको लेकर अपुरुषार्थता होगी। यदि 'सद्सत्' शब्दका ऐसा अर्थ किया जाय—

'सत्' अर्थात् व्यावहारिक सत्ताका आश्रय है और 'असत्' अर्थात् पारमार्थिक सत्से पृथक् है। ऐसा अर्थ करनेसे सत्-असत्का परस्पर विरोध नहीं होता, क्योंकि घटादि व्यावहारिक सत्ताके आश्रय और पारमार्थिक सत्से भिन्न प्रसिद्ध हैं। इसलिये पूर्वोक्त विरोध भी नहीं और पारमार्थिक सत्ताका निषेध करनेसे द्वैत भी नहीं। साथ ही व्यावहारिक सत्ता तो है परन्तु तुच्छ नहीं, इसलिये अपुरुषार्थता भी नहीं होती। इस प्रकार अधिष्ठानसे भिन्न कल्पितनिवृत्ति पारमार्थिक सत्ताशून्य और व्यावहारिक सत्तावाली है।

यदि उपर्युक्त अभिप्रायसे सदसत्का स्वरूप कहा जाय तो जैसा प्रथम विकल्पके सम्बन्धमें व्यावहारिक सत् माननेमें जो यह दोष कहा गया था कि 'ज्ञानोत्तर व्यावहारिक पदार्थका असम्भव हो जाता है' उस दोषसे सदसत्का उपर्युक्त अर्थ भी सम्भव नहीं होता। इसलिये तृतीय विकल्पका भी असम्भव है। अब यदि चतुर्थ विकल्पके सम्बन्धमें अधिष्ठानसे भिन्न कल्पितनिवृत्तिको सदसत्विलक्षण कहा जाय तो यद्यपि सद्विलक्षण कहनेसे द्वैतकी आपत्ति नहीं होती और असद्विलक्षण कहनेसे अपुरुषार्थताकी

आपत्ति भी नहीं होती; तथापि यह भी सम्भव नहीं होता। क्योंकि सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय होता है, इसलिये 'कल्पितनिवृत्ति अनिर्वचनीय है' यही सिद्ध होगा। फिर अनिर्वचनीय तो माया अथवा उसका कार्य ही हुआ करता है। अब यदि अज्ञानसहित संसारकी निवृत्ति (कल्पितनिवृत्ति) भी अनिर्वचनीय हो तो अज्ञानसहित प्रपञ्चनिवृत्ति भी मायारूप अथवा मायाका कार्यरूप माननी होगी। फिर यदि संसारनिवृत्तिको मायारूप अथवा मायाका कार्यरूप कहा जाय तो 'घटकी निवृत्ति घटरूप है' इस कथनकी भाँति उक्त कथन भी हास्यास्पद होगा। इसके साथ ही यह सिद्धांत है कि ब्रह्मज्ञानसे अज्ञानसहित प्रपञ्चकी निवृत्ति हो जानेपर तदनन्तर पुरुषार्थके साधनकी कोई सामग्री नहीं रहा करती। इस सिद्धान्तके अनुसार ब्रह्मज्ञानका फल जो कल्पितकी निवृत्ति, वह यदि मायारूप अथवा मायाका कार्यरूप हो तो फिर उसका कोई निवर्त्तक न रहना चाहिये। इस प्रकार तब मोक्षदशामें भी माया तथा उसके कार्यका नित्य सम्बन्ध रहनेसे निर्विशेष ब्रह्मकी प्राप्तिरूप मोक्षका अभाव ही रहेगा। इसलिये चतुर्थ पक्ष भी सम्भव नहीं होता।

इस प्रकार अज्ञान और तत्कार्यकी निवृत्ति (कल्पितनिवृत्ति) ब्रह्मसे भिन्न तो है, परन्तु वह सद्रूप नहीं, इसलिये द्वैत नहीं। वह असद्रूप नहीं, इसलिये अपुरुषार्थता नहीं। वह सदसद्रूप नहीं, इसलिये उभय पक्ष उक्त दोष नहीं। तथा वह सदसद्विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय भी नहीं, इसलिये मोक्षदशामें अज्ञान और तत्कार्यका शेष नहीं रहता। इस रीतिसे कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानसे पृथक् तो है, परन्तु वह उक्त चतुर्विध प्रकारसे विलक्षण है।

१६३ : श्रीन्यायमकरन्दकारकी रीतिसे उक्त चतुष्प्रकारसे विलक्षण ब्रह्मसे भिन्न पञ्चम प्रकाररूप कल्पितनिवृत्तिका स्वरूप

अब चतुर्विधसे विलक्षण पञ्चम प्रकारकी कल्पितनिवृत्तिका स्वरूप

कथन किया जाता है। जैसे अद्वैतमतमें सदसद्विलक्षण पदार्थकी अनिर्वचनीय परिभाषा की गई है, तैसे ही हमारे मतसे सद्रूप, असद्रूप, सदसद्रूप और सदसद्विलक्षण, इन चारों प्रकारोंसे विलक्षण प्रकारवाली कल्पितनिवृत्ति होती है। अर्थात् चतुर्विधसे विलक्षण प्रकारका नाम पञ्चम प्रकार है। इस प्रकार कल्पितनिवृत्ति ब्रह्मसे भिन्न है और वह पञ्चम प्रकारवाली है। ऐसा न्यायमकरन्दमें लिखा गया है।

१६४ : श्रीन्यायमकरन्दकारके मतकी असमीचीनता

यह मत समीचीन नहीं है। क्योंकि लोकमें व्यावहारिक सत् पदार्थ तो प्रसिद्ध है ही और इन्द्रजालकृत अनिर्वचनीय पदार्थ भी लोकमें प्रसिद्ध है। इसी प्रकार शास्त्रमें पारमार्थिक सत् पदार्थ ब्रह्म प्रसिद्ध है और वह विद्वानोंके अनुभवसिद्ध भी है। परन्तु इन सबसे विलक्षण अन्य कोई वस्तु लोक अथवा शास्त्रमें प्रसिद्ध नहीं है। फिर यदि अत्यंत अप्रसिद्धरूप कल्पितनिवृत्ति मानी जाय तो पुरुषार्थताका अभाव ही होगा। क्योंकि पुरुषकी अभिलाषाका विषय 'पुरुषार्थ' कहा जाता है और अत्यंत अप्रसिद्धमें किसी भी पुरुषकी अभिलाषा नहीं होती, किन्तु सभी पुरुषोंकी प्रसिद्धमें ही अभिलाषा हुआ करती है। इसलिये प्रसिद्ध पदार्थोंसे विलक्षण कल्पितनिवृत्ति हो नहीं सकती। यद्यपि कल्पितनिवृत्तिको अधिष्ठानरूप माना जाय तब भी संसारका अधिष्ठानरूप ब्रह्म सर्वके अनुभूत न होनेसे प्रसिद्ध नहीं है; तथापि पूर्वानुभूतमें ही अभिलाषा हो, ऐसा नियम नहीं होता, किन्तु अनुभूतके सजातीयमें तथा श्रद्धेय गुरु-शास्त्रके द्वारा श्रवण किये हुएमें भी अभिलाषा होती है। जैसे भयरूप अनर्थहेतु सर्पकी निवृत्ति अधिष्ठान रज्जुरूप होती है, तैसे ही जन्म-मरणादिरूप अनर्थहेतु संसारनिवृत्ति अधिष्ठान ब्रह्मरूप होती है। इस प्रकार संसारनिवृत्ति अधिष्ठानत्व धर्मसे ब्रह्मरूप होनेसे और वह अनुभूतके सजातीय होनेसे पुरुषकी अभिलाषाका विषय सम्भव होती है। परन्तु पञ्चमप्रकारवादीके मतमें तो पञ्चम प्रकार न अनुभूत है और न किसीके सजातीय ही है, इसलिये

वह किसी भी पुरुषकी अभिलाषाका विषय सम्भव नहीं होता। इसके साथ ही यदि कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानसे भिन्न मानी जाय तो श्रीभाष्यकारके वचनसे विरोध होगा, क्योंकि श्रीभाष्यकारने कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानरूप ही कथन की है।

१६५ : श्रीन्यायमकरन्दकार द्वारा ज्ञात अधिष्ठानरूप कल्पितनिवृत्तिपक्षमें दिये गये दोषका उद्धार और प्रसंगसे विशेषण, उपाधि एवं उपलक्षणका लक्षण

श्रीन्यायमकरन्दकारद्वारा कल्पितनिवृत्तिको ज्ञातअधिष्ठानरूप माननेमें जो यह दोष दिया गया कि 'मोक्षदशामें ज्ञातत्वके अभावकी भाँति कल्पितनिवृत्तिका भी मोक्षदशामें अभाव हो जानेसे कल्पितका पुनरुज्जीवन होगा' इसका समाधान यह है:—

मोक्षकालमें ब्रह्म ज्ञातत्वविशिष्ट अथवा ज्ञातत्वोपहित तो होता नहीं है, क्योंकि ज्ञातत्वरूप विशेषणवालेको ज्ञातत्वविशिष्ट और ज्ञातत्वरूप उपाधिवालेको ज्ञातत्वोपहित कहते हैं। जो कार्यसे सम्बन्धी और वर्तमान व्यावर्तक हो वह 'विशेषण' कहलाता है। जैसे 'नीलरूपवाला घट उत्पन्न होता है' इस स्थलमें 'नीलरूप' घटका विशेषण है, क्योंकि नीलरूप घटरूप कार्यसे सम्बन्धी है और घटमें वर्तमान हुआ पीतघटसे व्यावर्तक है। जो कार्यसे असम्बन्धी हो और वर्तमान व्यावर्तक हो वह 'उपाधि' कही जाती है। जैसे 'भेरी उपहित आकाशमें शब्द होता है' इस स्थानमें भेरी आकाशकी उपाधि है, क्योंकि भेरीका शब्दकी अधिकरणतासे तो सम्बन्ध नहीं और भेरी अपनेमें वर्तमान आकाशका बाह्याकाशसे व्यावर्तक है। तथा जो कार्यसे असम्बन्धी और व्यावर्तक हो वह 'उपलक्षण' कहलाता है, उपलक्षणमें वर्तमानताकी अपेक्षा नहीं है। क्योंकि उपलक्षण अतीत भी होता है और उपाधि तो विशेष्यके सर्व देशमें होती है, परन्तु उपलक्षण तो एक देशमें ही होता है। जैसे 'काकवत् गृहे गच्छ' (काकवाले घरमें जाओ) ऐसा श्रवण करके जिस घरमें काकका संयोग देखा है, उस घरसे

चाहे काक उड़ भी जाय तो भी उस घरमें गमन होता है। यहाँ काक गृहका उपलक्षण है, क्योंकि काक गमनरूप कार्यसे तो असम्बन्धी है परन्तु गृहका आदेश देता है तथा वर्तमान अथवा अतीत काक इस गृहका अन्य गृहोंसे व्यावर्तक है। इस प्रकार विशेषण और उपाधि तो वर्तमान होते हैं और वे विशेष्यके सर्वदेश व सर्वकालमें होते हैं, विशेष्यके जिस देश और जिस कालमें वे न हों उस देश-कालमें विशिष्ट और उपहित व्यवहार भी नहीं होता, किन्तु जितने देश-कालमें व्यावर्तक हो उतने देश-कालमें ही विशिष्ट और उपहित व्यवहार होता है।

इस प्रकार इन तीनों अवस्थाओंमेंसे मोक्षदशामें वर्तमान ज्ञातत्वका तो सम्बन्ध नहीं, किन्तु पूर्व ज्ञातत्व ही होना चाहिये। इसलिये मोक्षदशामें अधिष्ठान यद्यपि ज्ञातत्वविशिष्ट अथवा ज्ञातत्वोपहित तो नहीं रहता; तथापि ज्ञातत्वोपलक्षित अवश्य रहता है। क्योंकि व्यावर्तकमात्रको उपलक्षण कहते हैं और उपलक्षणमें वर्तमानका आग्रह नहीं होता, इसलिये विशेष्यके किसी एक देश और एक कालसे सम्बन्ध होनेपर भी उस व्यावर्तक को उपलक्षण कहा जा सकता है। इतर पदार्थसे भेदज्ञानको 'व्यावृत्ति' कहा जाता है। इस प्रकार विशेषण, उपाधि और उपलक्षण ये तीनों ही व्यावृत्ति करनेवाले हैं। इनमें विशेषण तो जितने देश-कालमें आप रहता है उतने देश-कालमें रहनेवाले विशेष्यकी अपने सहित व्यावृत्ति करता है और जिसकी विशेषणसे व्यावृत्ति हो वह 'विशिष्ट' कहा जाता है। जितने देश-कालमें व्यावर्तक हो उतने देश-कालमें वर्तनेवालेकी जो व्यावृत्ति करे और जो आप बहिर्भूत रहे, वह उपाधि कहा जाता है तथा जिसकी उपाधि-द्वारा व्यावृत्ति हो वह उपहित कहलाता है। जो व्यावर्तनीय वस्तुके एकदेशमें रहकर और कदाचित् रहकर व्यावृत्ति करे एवं उपाधिके समान आप बहिर्भूत रहे, वह उपलक्षण कहलाता है और जिस वस्तुकी उपलक्षण-द्वारा व्यावृत्ति हो उसको उपलक्षित कहते हैं। सारांश, निष्कर्ष यह कि व्यावर्तक और व्यावर्तनीय इन दोनोंको मिलाकर तो विशिष्ट व्यवहार होता है। जितने देशमें व्यावर्तक हो, उतने देशमें स्थित व्यावर्तनीयमात्रमें

उपहित व्यवहार होता है, परन्तु व्यावर्तककी विद्यमानतामें ही व्यावर्तकको त्याग कर उपहित व्यवहार हो सकेगा। जहाँ व्यावर्तक व्यावर्तनीयके एकदेशमें कदाचित् हो, वहाँ व्यवर्तनीयमात्रमें उपलक्षित व्यवहार होता है, यहाँ व्यावर्तकके सद्भावकी अपेक्षा नहीं होती।

इस प्रकार इन विशेषणादिके भेदसे अन्तःकरणविशिष्ट प्रमाता, अन्तःकरणोपहित जीवसाक्षी और अन्तःकरणोपलक्षिय ईश्वरसाक्षी होते हैं। यहाँ प्रसंग यह है कि यद्यपि मोक्षदशामें ज्ञातत्वके अभावसे अधिष्ठान ज्ञातत्वविशिष्ट और ज्ञातत्वोपहित तो सम्भव नहीं होता; तथापि ज्ञातत्वोपलक्षित तो उस दशामें भी रहता है।

१६६ : अधिष्ठानरूप कल्पितनिवृत्तिके पक्षमें पञ्चम-प्रकारवादीकी शंका

यदि पञ्चमप्रकारवादी ऐसी शंका करे कि जिसमें कदाचित् ज्ञातत्व हो उसमें ज्ञातत्वके अभावकालमें भी यदि ज्ञातत्वोपलक्षित माना जाय तो ज्ञातत्वसे पूर्व कालमें भी उसमें भावी ज्ञातत्वको मानकर ज्ञातत्वोपलक्षित कहना चाहिये। अब यदि पूर्वकालमें भी ज्ञातत्वोपलक्षित माना जाय तो संसारकालमें भी ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठानरूप संसारनिवृत्ति होनेसे अनायास ही पुरुषार्थप्राप्ति होगी। इसलिये ज्ञातत्वके अभावकालमें कल्पितनिवृत्तिको ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठानरूप कहना योग्य नहीं।

१६७ : उक्त शंकाका समाधान

इसका समाधान यह है—

व्यावर्तकके सम्बन्धसे उत्तरकालमें ही उपलक्षित व्यवहार हुआ करता है, पूर्वकालमें कदापि नहीं। जैसे काकके सम्बन्धसे उत्तरकालमें ही काकोपलक्षित व्यवहार होता है, तैसे ज्ञातत्वकी उत्पत्तिसे पूर्व संसार-दशामें ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठान नहीं कहा जा सकता, किन्तु ज्ञातत्वके उत्तरकालमें तो ज्ञातत्वके असद्भावमें भी ज्ञातत्वोपलक्षित अधिष्ठान कहा जा सकता है और संसारनिवृत्ति उसका स्वरूप ही होता है।

१६८ : श्रीन्यायमकरन्दकारसे पृथक् अन्य रीतिसे अधिष्ठानसे भिन्न कल्पितनिवृत्तिका स्वरूप

'कल्पितनिवृत्ति अधिष्ठानसे भिन्न है' यदि इसी पक्षमें आग्रह हो तब न्यायमकरन्दोक्त अत्यंत अप्रसिद्ध पञ्चम प्रकार मानना तो निष्फल ही है, क्योंकि कल्पित अर्थात् अनिर्वचनीयकी निवृत्ति भी अनिर्वचनीय ही होती है। निवृत्ति नाम ध्वंसका है, अब यदि उस ध्वंसको अनन्त अभावरूप माना जाय और अधिष्ठानसे भिन्न भी माना जाय तब तो मोक्षदशामें द्वैत होगा। परन्तु वस्तुतः वह ध्वंस अनन्त अभावरूप नहीं है, किन्तु वह क्षणिक भावविकाररूप है। श्रीयास्कनाम मुनिने वेदका अंग निरुक्त रचा है, उसमें जन्म, सत्ता, वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और विनाश—ये षड् भावविकार कथन किये हैं। भाव अर्थात् अनिर्वचनीय वस्तु, उसके विकार अर्थात् अवस्थाविशेष हैं। अनिर्वचनीय वस्तुकी अवस्थाविशेष होनेसे जन्मसे आदि लेकर नाशपर्यन्त सभी अवस्थाएँ अनिर्वचनीय ही हैं। जैसे जन्मरूप अवस्था क्षणिक है, क्योंकि वस्तुसे आद्य क्षणके सम्बन्धका नाम जन्म है। इसलिये प्रथम क्षणमें ही 'जायते' (उत्पन्न होता है) ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु द्वितीयादि क्षणमें तो 'जातः' (उत्पन्न हुआ) ऐसा ही व्यवहार होता है, 'जायते' ऐसा व्यवहार कदापि नहीं होता। इसी प्रकार जब मुद्गरादिसे घटका चूर्णादि भाव हो, तब प्रथम क्षणमें ही 'घटो नश्यति' (घटका नाश होता है) ऐसा व्यवहार होता है, परन्तु द्वितीयादि क्षणमें तो 'नष्टो घटः' (घट नष्ट हो गया) ऐसा ही व्यवहार होता है, 'नश्यति' ऐसा व्यवहार कदापि नहीं। इस प्रकार जन्म व नाश क्षणिक हैं, अर्थात् 'जायते घटः' इस वाक्यसे तो घटका वर्तमान जन्म और 'जातो घटः' इस वाक्यसे घटका अतीत जन्म प्रतीत होता है। इसी प्रकार 'नश्यति घटः' इस वाक्यसे घटका वर्तमान नाश और 'नष्टो घटः' इस वाक्यसे घटका अतीत नाश प्रतीत होता है। अब यदि ध्वंसरूप नाश अनन्त होता हो तो नाशमें अतीतत्व-व्यवहार नहीं होना चाहिये। इसलिये नाश

अनन्त नहीं, किन्तु क्षणिक है और भावरूप विकार है, अभावरूप नहीं। अनुपलब्धिप्रमाणके निरूपणमें ध्वंसको जो अनन्त अभावरूप कहा गया है, वह तो न्यायकी रीतिसे ही कहा गया है, परन्तु वेदान्तमतमें तो एक अत्यंताभाव ही अभाव पदार्थ है।

इस प्रकार कल्पितकी निवृत्ति भी क्षणिक है और अनिर्वचनीय ही है। जैसे विद्वान्के अनिर्वचनीय शरीरादि ज्ञानोत्तर भी प्रारब्धबलसे किञ्चित-काल रहते हैं और वे द्वैतके साधक नहीं होते, तैसे ही कल्पितनिवृत्ति ज्ञानोत्तर एक क्षण रहती है और वह द्वैतकी साधक नहीं होती। एक क्षणके पश्चात् उस कल्पितनिवृत्तिका अत्यंताभाव हो जाता है, वह ब्रह्मरूप है।

१६९ : उक्त मतमें पुरुषार्थका स्वरूप (दुःखाभाव वा केवल सुख)

इस मतमें दुःखनिवृत्ति क्षणिक भावरूप होनेसे पुरुषार्थ नहीं कही जा सकती, किन्तु केवल सुख ही पुरुषार्थ हो सकता है। क्योंकि अनन्त दुःखसहित जो ग्राम्यधर्मादिका सुख है, उसमें स्वाभाविक सभी जीवोंकी प्रवृत्ति होती है। यदि दुःखाभाव ही पुरुषकी अभिलाषाका विषय हो तो सर्वथा दुःखग्रसित सुखमें पुरुषकी अभिलाषा नहीं होनी चाहिये। जहाँ दुःखाभावमें अभिलाषा होती है वहाँ भी दुःखको स्वरूपसुखानुभवका प्रतिबन्धक जानकर और उसके अभावमें स्वरूपसुखके प्रादुर्भावकी आशा रखकर ही अभिलाषा होती है। इसलिये दुःखाभावमें पुरुषकी अभिलाषा स्वरूपसुखके निमित्त ही होती है। इस प्रकार मुख्य पुरुषार्थ दुःखाभाव नहीं किन्तु केवल सुख ही है। इसलिये यदि दुःखात्यंताभावको भी ब्रह्मरूप न माना जाय और अनिर्वचनीय ही माना जाय तो उस अनिर्वचनीयका तो बाध ही होगा, फिर अनिर्वचनीयका बाध अधिष्ठानरूप होना अनुभवसिद्ध है ही।

इस प्रकार अज्ञानसहित भावाभावरूप प्रपञ्च और उसकी निवृत्ति सभी अनिर्वचनीय हैं और उन सबका बाध अधिष्ठानरूप मोक्ष है तथा वही अद्वैतस्वरूप, परमानन्दरूप और परम पुरुषार्थ है ।

श्रीवृत्तिप्रभाकर ग्रन्थमें जीवेश्वरस्वरूपनिरूपणपूर्वक वृत्तिप्रयोजननिरूपण सहित कल्पित्निवृत्तिस्वरूपनिरूपण नामक अष्टम प्रकाश समाप्त ।। ८ ।।

इति श्रीवृत्तिप्रभाकरः समाप्तः

यह ग्रन्थरत्न आश्विन शुक्ला तृतीया (तृतीय नवरात्र) सम्वत् २०१२ को तीर्थराज श्रीपुष्करमें समाप्त हुआ

ॐ ॐ ॐ

आनन्द-कुटीर-ट्रस्ट, पुष्करद्वारा प्रकाशित

जीवनोपयोगी बहुमूल्य रचनाएँ
श्रद्धेय श्रीस्वामी आत्मानन्दजी मुनिद्वारा रचित—

(१) गीता-दर्पण

(श्रीमद्भगवद्गीतापर एक अपूर्व हिन्दी-भाष्य)

तृतीयावृत्ति, पृष्ठसंख्या ११००, २०"×३०"=१६ पेजी
पक्का बाइन्डिग मूल्य ७.५०

(१) श्रीमन्महर्षि योगिराज राजगुरु वेदवाचस्पति महा-महोपाध्याय भारतमार्तण्ड अनन्त श्रीविभूषित श्री श्री १००८ श्रीस्वामी माधवानन्दजी महाराज, जयपुर—

आत्मानन्दाभिधेयैर्हृदिसमुदित गीताज्ञानभानुप्रकाशै-
र्विद्वद्भिः स्वामिवर्यैर्विरचितमधुना श्रेयसे मानवानाम् ।
यद् 'गीतादर्पणं' तद् विविधविपुलदैवीसम्पदाभूरिशोभिः
लोकंलोकं मया तु प्रमुदितमनसा भूयत्तेऽद्य प्रभूतम् ॥१॥

वेदान्तशास्त्रीय दुरुहभावाः
प्रस्थानविज्ञानलसत्प्रभावाः ।
साधारणानां न हि ये सुबोधाः
विवेचितास्तेऽपि विवेकिनाऽत्र ॥२॥

द्वैतादयो ये विविधा विवादा
गीतोपदेशेषु मिलन्ति कामम् ।
ते सन्ति सर्वे खलु योगमाया—
वच्छिन्नबोधात् पुरुषस्य लोके ॥३॥

महामायाव्यवच्छिन्ने पुरुषे स्वीकृते तु ते।
सहसैव प्रलीयन्ते झञ्झावाते यथा घनाः ॥४॥
ग्रन्थेऽस्मिन् सर्वमेवेदं व्याख्याय जनभाषया।
मतैक्यं स्थापितं सम्यक् श्रीमता स्वामिनाऽमुना ॥५॥
यथाऽऽध्यात्मिकतत्त्वानां सरलं सद्विवेचनम्।
प्राप्यतेऽत्र तथाऽन्यत्र वर्तते न हि पुस्तके ॥६॥
बुभुत्सुभिर्बुद्ध सुबुद्धिभावै–
र्वेदान्तजिज्ञासुजनैरजिह्मैः।
ग्रन्थोत्तमोऽयं पठनीय एव
जनोऽयमेवं ननु मन्मनीति ॥७॥

अर्थ

(१) जिनके हृदयमें गीता-ज्ञानरूपी सूर्यके प्रकाशका उदय हो गया है, ऐसे आत्मानन्द नामक विद्वान् स्वामीजीद्वारा इस समय मानव कल्याणके लिए विरचित जो विविध प्रकारकी महती दैवी सम्पत्तिसे अत्यन्त शोभायमान गीतादर्पण है, उसे देख-देखकर आज मैं अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो रहा हूँ।

(२) वेदान्त शास्त्रके जिन दुरुह भावोंपर उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और गीताका प्रभाव है और जो जनसाधारणके लिए सरलतासे बोधगम्य नहीं हैं, उनका भी ज्ञानवान् स्वामीजीने यहाँ विवेचन किया है।

(३) द्वैत आदि जो विविध विवाद गीताके उपदेशोंमें दिखाई देते हैं, वे इस संसारमें ऐसे पुरुषको ही प्रतीत होते हैं जिसका बोध योगमायाके द्वारा नष्ट कर दिया गया है।

(४) महामायासे भ्रान्त पुरुषके आत्मस्थित हो जानेपर वे विवाद एकदम ऐसे नष्ट हो जाते हैं जैसे तेज वायुसे बादल।

(५) इस ग्रन्थमें ये सब विवाद जनभाषामें समझाकर श्रीमान् स्वामीजीने पूर्ण रूपसे मतैक्य स्थापित किया है।

(६) आध्यात्मिक तत्त्वोंका जैसा सरल और उत्तम विवेचन इस पुस्तकमें प्राप्त होता है, वैसा दूसरी किसी पुस्तकमें नहीं है।

(७) जिन्हें ज्ञानकी इच्छा है, जिनके भाव सुबुद्धि युक्त हैं, जिन्हें वेदान्तके प्रति जिज्ञासा है और जो कुटिल नहीं हैं, उनके द्वारा यह ग्रन्थ पढ़ा जाना ही चाहिए, ऐसा मेरा मत है।

(2) Sind Observer, Karachi.

Prof : R. S. Dvivedi, M. A., St. John's College, Agra.

I have read with great interest and profit Swami Atmanandji's Gita-Darpan in Hindi. Its merit lies in the correct exposition of the highest philosophical truths of the Gita in a language that is intelligible to the mind of a layman like myself. The treatment of the subject matter is marked by a depth of learning and thought that is rare. Swamiji's interpretation establishes a synthesis between 'Karmyog' and 'Sankhyayog' that is at once masterly and convincing.

The most important point emphasized by Swamiji is that Karmyog taught by Bhagwan Krishna consists in 'Skilled action' (योगः कर्मसु कौशलम्) which is neither inaction nor action whose fruit is dedicated to God, but action that is devoid of reactions which create bondage for the doer and cause the endless chain of births and deaths. This is अकर्म or सहजकर्म.

Gita-Darpan thus corrects erroneous views of some of the modern commentators whose approach has been mainly intellectual and who have read in the divine words little more than the approval of their own mental inclinations tempered, as they are, by the contemporary environment. Any one interested in the right message of the Gita ought to read Gita-Darpan.

(२) सिंध ओवज़रवर, करांची —

(समालोचक—पं० श्रीरामस्वरूपजी द्विवेदी, एम० ए०, प्रोफेसर सेण्ट-जोन्स कालेज, आगरा)

मैंने अत्यन्त रुचि तथा लाभके साथ स्वामी आत्मानन्दजीद्वारा रचित 'गीता-दर्पण' का स्वाध्याय किया है। इस ग्रन्थकी विशेषता यह है कि इसमें गीताके उच्चतम दार्शनिक तथ्योंका यथार्थ विवेचन ऐसी सरल भाषामें किया गया है, जिसे मेरे जैसा साधारण व्यक्ति भी समझ सकता है। विषयका प्रतिपादन जिस पाण्डित्य तथा गम्भीर विचारसे किया गया है, वह अन्यत्र नहीं मिलेगा। स्वामीजी की व्याख्या 'कर्मयोग' एवं 'सांख्य-योग' का जैसा समन्वय करती है, वह एकदम अनूठी तथा हृदय-ग्राही है। स्वामीजीके दृष्टिकोणसे भगवान् श्रीकृष्णद्वारा प्रतिपादित 'कर्म-योग' अर्थात् 'कर्म-कौशलता' न तो निष्क्रियतामें ही है और न उस कर्ममें ही है जिसका फल भगवान्के अर्पण कर दिया जाय; वरन् उस यथार्थ कर्ममें है, जिसमें वह बन्धनात्मक प्रतिक्रिया नहीं रहती जोकि कर्ताके असंख्य जन्म-मरणके प्रवाहका हेतु होता है। यही वास्तवमें 'अकर्म' या 'सहजकर्म' है। इस प्रकार गीता-दर्पण कतिपय टीकाकारोंके उस नितान्त बौद्धिक दृष्टि-भ्रमका उन्मूलन करता है, जिसके अनुसार उन्होंने तत्कालीन वातावरणसे प्रभावित होकर भगवद्-वचनोंमें केवल अपने ही विचारोंकी पुष्टि समझ ली है। अतः गीताके सत्य सन्देशके जिज्ञासुओंको गीता-दर्पण अवश्य पढ़ना चाहिये।

(३) "धर्मयुग", मुम्बई—

यह बृहद् ग्रन्थ गीताके महत्त्व, दर्शन तथा मीमांसा विषयमें आजतक प्रकाशित पुस्तक़ोंका निचोड़ है। कर्मयोग और सांख्ययोगका संतुलित समन्वय करके विद्वान् लेखकने स्पष्ट कर दिया है कि गीताके कर्मयोगका अर्थ न तो एकान्त निष्क्रियता ही है और न कर्मफलका एकान्त त्याग। कुशलतापूर्वक अपना कर्तव्य कर्म करके उस कर्मका विनियोग जन्म-मरणकी बन्धनात्मक प्रतिक्रियाके प्रतिकारमें करना और उस कर्ममें आसक्त न होना ही वास्तविक कर्मयोग है।

इस दृष्टिसे गीताका यह अध्ययन वास्तवमें जीवनको उत्साहित करनेवाला और हृदयग्राही है। पुस्तक संग्राह्य है।

(4) The Modern Review, Calcutta.

Reviewer : Swami Jagdishwaranandji

The sub-title of the book is rightly given Jnana-Yoga Shastra, as Gita expounds Brahma-Jnana and the means to its realisation. In the lengthy introduction covering more than three hundred pages, the Swami gives a critical analysis of each chapter of the Gita and useful annotations on the nature of Freedom, Bondage, yoga and other relevant problems. This has made the volume quite interesting and attractive to the general readers for whom it is primarily intended. The historical setting in the form of a narrative leading to the origin of the Gita is appropriately appended to the introduction. It must be said to the credit of the author that his exposition has succeeded in carrying his understanding and insight to the reader in a simple manner. Because he practises what he writes about, his exposition is so clear

and convincing. It is a book unique of its kind and is sure to democratise the message of the Gita among the Hindi Reading Public.

(४) 'मोडर्न रिव्यु', कलकत्ता —

(समालोचक—श्रीस्वामी जगदीश्वरानन्दजी)

प्रस्तुत पुस्तकका नाम जो 'ज्ञान-योग-शास्त्र' रखा गया है वह उपयुक्त ही है, क्योंकि गीता ब्रह्मज्ञान और उसके साक्षात्कारके साधनोंका ही प्रतिपादन करती है। तीन सौ (३००) पृष्ठसे अधिक इस ग्रन्थकी विस्तृत प्रस्तावनामें स्वामीजीने गीताके प्रत्येक अध्यायका आलोचनात्मक विश्लेषण करते हुए 'मुक्ति' 'वन्धन' 'योग' तथा अन्य सम्वन्धित विषयोंकी उपयोगी व्याख्या की है, जिससे यह ग्रन्थ साधारण जनताके लिये, मुख्यतया जिनको लक्ष्य करके ही यह लिखा गया है, अत्यन्त रोचक तथा हृदयग्राही बन गया है। महाभारतका वह ऐतिहासिक वृत्तान्त भी जो गीताके जन्मका कारण बना, प्रस्तावनाके साथ जोड़ा गया है, वह उपयुक्त ही है। यह माननीय है कि स्वामीजी अपने विश्लेषणद्वारा अपने भाव व अनुभवको सरलताके साथ पाठकोंतक पहुँचानेमें सफल हुए हैं, क्योंकि वे अपने अनुभवके आधारपर लिखते हैं, इसलिये उनकी व्याख्या स्पष्ट व विश्वास करानेवाली है। यह ग्रन्थ अपने ढंगका अनुपम है और हिन्दी जनतामें निश्चयसे गीताका सन्देश विस्तृतरूपमें प्रचार कर सकेगा।

(5) 'Bombay Chronicle.'

Reviewer : Hon. Manu Subedar, M. L. A. Central.

This is an outstanding publication consisting of two parts. The original verses with explanation for each verse are in the second part. There is a note at the end of each chapter, giving a review of the teaching therein. It is, however the first part which is remarkably original

contribution to the Gita literature of India. In this the author has dealt in fine terse language with plenty of illustrations and stories with some of the basic doctrines both of Sankhya and of yoga philosophy. He has further given a discourse on each chapter correlating the teaching and picking out of the central thread, which is running throughout this great and universally accepted revelation.

A variety of new standpoints, the same teaching in a different form and from a new angle, is therefore helpful, and it is in this light that we strongly recommend lovers of Gita to read this Hindi publication of Swami Atmanand Muni.

(५) बोम्बे क्रानिकल —

(समालोचक—माननीय श्रीमनु सूबेदार, *M. L. A. Central*)

यह अमूल्य रचना दो खण्डोंमें विभक्त है। द्वितीय खण्डमें मूल श्लोक और उनका भावार्थ दिया गया है। प्रत्येक अध्यायके अन्तमें उसी अध्याय-का स्पष्टीकरण भी दिया गया है। परन्तु यह वह पहला खण्ड है, जोकि भारतके गीता-साहित्यके लिये एक मौलिक और स्वतंत्र देन है। इसमें लेखकने 'सांख्य' व 'योग' दोनोंके मूलभूत सिद्धान्तको अनेकों युक्तियों व दृष्टान्तोंसे सुन्दर व संक्षिप्त भाषामें खोला है। उन्होंने प्रत्येक अध्यायपर समालोचना भी दी है, जिसके द्वारा उन्होंने गीताके उपदेशोंका समन्वय किया है तथा इस जगन्मान्य भगवद्-वाणीमें आदिसे अन्ततक चलनेवाले सारभूत सूत्रको पकड़कर प्रकट कर दिया है।

नये-नये मतोंका कई रूपोंमें प्रतिपादन तथा मूलभूत उपदेशका एक निराले ढंगसे तथा नये दृष्टिकोणसे विवेचन बहुत उपयोगी है। इस आधारपर हम गीता-प्रेमियोंको सानुरोध परामर्श देते हैं कि वे इस हिन्दी रचनाका मनन करें।

(६) माधुरी लखनऊ—

(समालोचक—राय बहादुर मदनमोहनजी वर्मा, एम० ए०)

हिन्दूधर्मके आध्यात्मिक ग्रन्थोंमें श्रीमद्भगवद्गीताका अनूठा स्थान है और यह सद्ग्रन्थ भारतके अतिरिक्त पाश्चात्त्य देशोंमें भी प्रतिष्ठित है। इसकी अनेक टीकाएँ तथा टिप्पणियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, परन्तु बहुधा टीकाकारोंने अपनी-अपनी निष्ठाके अनुसार अपनी टिप्पणियोंमें 'कर्म' को विशेष स्थान देकर साधन और साध्यका अभेद-सा कर दिया है। स्वर्गीय विद्यावाचस्पति तिलक महोदयने अपनी प्रख्यात पुस्तक 'गीता-रहस्य' में गीताके सूक्ष्म उपदेशको कर्मपरही तोड़ दिया है। ज्ञाननिष्ठ श्रीआत्मानन्द मुनिजी महाराजने 'गीता-दर्पण' रचकर एक प्रकारसे दूध-का-दूध और पानी-का-पानी कर दिया है और अपने स्थानपर कर्मकी उपयोगिताको मानते हुए सिद्ध किया है कि निष्काम-कर्म गीताके सूक्ष्म उपदेशकी पराकाष्ठा नहीं है, वरन् आत्मसाक्षात्कारके पात्र बननेका एक साधन है। स्वामीजीने बड़े परिश्रम तथा बड़ी विद्वत्तासे ही नहीं, स्वानुभवसे गीता के अमृतमय उपदेशोंमें पद-पदपर जो रहस्य भरा पड़ा है, उसपर खूब ही प्रकाश डाला है। हो सकता है कि आधुनिक टीकाकारोंकी भरमारसे पीड़ित होकर लेखककी लेखनीमें कर्मवादियोंके प्रति कहीं-कहीं किसी अंशमें कठोरता नहीं तो पक्षपातकी-सी झलक प्रतीत हो और भाषा-की दृष्टिसे कई बातें अनेक बार दुहराई गई मालूम हों, परन्तु उनसे यह लाभ भी होगा कि अधिकतर आधुनिक टीकाकारोंकी टीकाएँ जिन्होंने पढ़ी हैं, उनको तथा अन्य पाठकोंको स्वामीजीकी स्पष्ट, विस्तृत व सरल लेखनी द्वारा समझनेमें बड़ी सुगमता होगी। इस दृष्टिसे 'गीता-दर्पण' एक बड़ी ही उपयोगी और नवीन पुस्तक साबित होगी, जिससे जिज्ञासु व विद्वान् परम लाभ उठावेंगे।

(२) आत्मविलास

तृतीयावृत्ति, पृष्ठ संख्या ५४०, २०"×३०"=१६ पेजी, मूल्य ३.५०

(१) श्रीमन्महर्षि योगिराज राजगुरु वेदवाचस्पति महा-महोपाध्याय भारतमार्तण्ड अनन्तश्रीविभूषित श्री १००८ श्री स्वामी माधवानन्दजी महाराज जयपुर :—

आत्मानन्दमहोदयैर्विरचितो योगीश्वरैः स्वामिभि–
ग्रन्थस्त्वात्मविलासनाम कलितः सम्यङ् मयाऽऽलोचितः ।
दर्शं दर्शमिमं ममाद्य हृदये प्राप्त प्रतोषोदये
कोऽप्युल्लासविकासपूरलसितो मोदः समुज्जृम्भते ।।१।।

यद्यप्यत्र परात्मचिन्तन कृते वेदान्त संविन्मया
प्रस्थानत्रय भूषिता वहुतमा ग्रन्थोत्तमाः सन्त्यहो ।
विद्यन्ते खलुः किन्तु ते विलिखिता गीर्वाण वाण्यामतः
सामान्यैर्मनुजैर्नं तैरविकलं लाभान्वितैर्भूयते ।।२।।

आत्मविलास ग्रन्थस्य मननोत्तरमेव ये ।
वेदान्तं पापठिष्यन्ति तत्त्वं लप्स्यत एव तैः ।।

पाठ्यग्रन्थेषु चेदस्य समावेशोऽपि जायते
छात्राणामुपकारः स्यादिति जाज्ञेमि निश्चितम् ।।४।।

तेलगु-तामिल-कनडी-मलयालम-स्पेन प्रभृतिभाषासु ।
अपि मुद्रितो भवेच्चेदुपकृतये स्यादयं सुधियाम् ।।५।।

संस्करणे द्वितीये तु वेदान्त स्थूल प्रक्रियाः ।
विशेषेण समाविष्टाः क्रियेरन्निति मे मतिः ।।६।।

वैदुष्यानुभवेन शास्त्रगहनज्ञानेन योगेन च
श्रीमत्स्वामिपदाभिः संश्रुत महाराजैरुदाराशयैः ।
हिन्द्यामात्मविलास एष रचितो ग्रन्थो जगत्यन्वहं
भूयाज्ज्ञानविभावनाढ्यविदुषां निःश्रेयसे भूयसे ।।७।।

अन्तेसदो मम समे भव मुक्तिकामा
वेदान्तचिल्लसितमात्मविलासमेनम् ।
ग्रंथ पठन्तु हृदि चास्य धरन्तु भावाः
नित्यैव मेऽस्ति परमा शुभ लालसाऽद्य ।।८।।

ग्रंन्थ आत्मविलासोऽयमात्मानन्दमहात्मनः ।
नाम्ना सह चिरञ्जीवेदिति वाञ्छत्ययं जनः ।।९।।

अर्थ

(१) स्वामी आत्मानन्दजीद्वारा विरचित आत्मविलास नामक ग्रन्थ मैंने भलीभाँति देखा। इसको देख-देखकर आज मेरा हृदय प्रफुल्लित हो रहा है और कुछ विचित्र ही विकासपूर्ण उल्लास व मोद प्रकट होता है।

(२) यद्यपि परमात्मचिन्तन करनेपर मैंने भलीभाँति वेदान्तको जाना है और प्रस्थानत्रयसे विभूषित निश्चयसे बहुत-से उत्तम ग्रन्थ भी विद्यमान हैं। परन्तु वे संस्कृत वाणीमें ही लिखे गये हैं, इसलिये वे सामान्य मनुष्योंद्वारा निश्चयसे लाभान्वित नहीं हो पाते।

(३) आत्मविलास ग्रन्थके मननके पश्चात् जो वेदान्तका अध्ययन करेंगे, वे अवश्य तत्त्वको प्राप्त करेंगे।

(४) विद्यार्थियोंके पाठ्य ग्रन्थोंमें यदि इस ग्रन्थका समावेश हो जाय तो उनका उपकार होगा, ऐसा मैं निश्चयसे जानता हूँ।

(५) यदि इस ग्रन्थका तेलगु, तामिल, कनडी, मलयालम और स्पेन आदि भाषाओंमें मुद्रण हो तो यह विद्वानोंके लिये उपकारी होगा।

(६) दूसरे संस्करणमें वेदान्तकी स्थूल प्रक्रियाएँ विशेषरूपसे इसमें समावेश की जायँ, ऐसा मेरा विचार है।

(७) उदाराशय स्वामीजीके द्वारा अपनी विद्वत्ता, अनुभव, शास्त्रीय गम्भीर ज्ञान और योगबलसे जनहितार्थ हिन्दी भाषामें निर्मित यह आत्म-विलास ग्रन्थ आत्मचिन्तनाभिलाषी विद्वानोंका भलीभाँति कल्याण सम्पादन करे, ऐसी हमारी अभिलाषा है।

(८) इस युगमें वेदान्तप्रचारकी परम आवश्यकता है। इसलिये मेरे शिष्य मुक्तिकी कामनावाले होकर इस आत्मविलास ग्रन्थको नित्य ही पढ़ें और इसके भावोंको हृदयमें धारण करें, ऐसी मेरी परमशुभ लालसा है।

(९) यह आत्मविलास ग्रन्थ महात्मा-आत्मानन्दद्वारा रचित अपने 'आत्मविलास' नामको सफल करे, ऐसी मेरी अभिलाषा है।

(२) माननीय श्रीमनु सूबेदार, वम्बई (*M.L.A. Central*)

I have come across 'Atma Vilas' published by you and I am reading it with my great delight and profit. Its author has gone to the root of human nature and has evidently practised the various steps, which he has recommended in order to turn the normal human being from his activities in search for worldy possession and welfare to a feeling of renunciation. In Indian religious works, 'Vairagya' is regarded as a sudden impulse arising spontaneously. In the closest analysis it is a complete revesal of the direction, in which a man's mind is fully active and such a reversal is not possible except by constant reflection step by step. The withdrawal is extremely reluctant and has to be assisted both by faith and by a teacher wherever one is available. I find 'Atma Vilas' different from other

religious works in this aspect, it has struck me as remarkable, I consider the work most useful not only to men, who are bewildered with the world, but to those who have made considerable progress in the spiritual path.

(२) मैंने आपके द्वारा प्रकाशित 'आत्म-विलास' को देखा है और मैं बड़ी प्रसन्नता तथा लाभके साथ इसका अध्ययन कर रहा हूँ। कहना चाहिये कि इस पुस्तकके लेखक मानव-प्रकृतिके मूल (जड़) तक पहुँचे हैं। क्योंकि साधारण मनुष्य जो सांसारिक पकड़ और वैभवकी खोजमें ही संलग्न हो रहे हैं, उनका उधरसे मुँह मोड़कर त्यागकी ओर प्रवृत्त करनेके निमित्त जो विभिन्न सोपान लेखकने प्रस्तुत किए हैं, उनका उन्होंने साक्षात् अभ्यास किया है। भारतीय धार्मिक ग्रन्थोंमें वैराग्यको एक ऐसी प्रेरणा बतलाया गया है जो स्वतः अकस्मात् उत्पन्न होती है। सूक्ष्मतासे विचार करनेपर वैराग्य इस दशा के बिल्कुल विपरीत है; क्योंकि मानव-बुद्धि जिस संसारमें पूर्णतया रची-पची अथवा संलग्न हो रही है, उससे मुड़ना उस समयतक सम्भव नहीं हो सकता, जबतक सतत विचार-प्रवाह सोपान-क्रमसे न चलाया जाय। यह आकर्षण अत्यन्त भारी होता है और यह विश्वास और गुरु जहाँ प्राप्य हों, उन दोनोंकी सहायतासे ही छूटना सम्भव है। इस सम्बन्धमें मैंने आत्म-विलासको अन्य धार्मिक ग्रन्थोंसे विलक्षण पाया है और इसने मुझे आकर्षित किया है। मैं इस ग्रन्थको केवल उन व्यक्तियोंके लिये ही अत्यन्त लाभदायक नहीं समझता हूँ जो संसार-चक्रमें फँसे हुए हैं, बल्कि उनके लिए भी, जिन्होंने आध्यात्मिक क्षेत्रमें काफी प्रगति प्राप्त कर ली है।

(२) शास्त्रार्थमहारथी पंडितराज श्रीवेणीमाधवजी शास्त्री,

घटिकाशतक शतावधान संस्कृताशु कवि कविचक्रवर्ती, काशीसे लिखते हैं—

आपका लिखा हुआ आत्म-विलास नामका दार्शनिक रहस्य-प्रकाश देखकर हृदय अत्यन्त प्रसन्न हुआ। आपने बहुत परिश्रमसे इस दर्शन-

शास्त्रको तैयार किया है। आपने इस पुस्तकको विद्यावलसे नहीं लिखा, किन्तु विद्या-ज्ञान दोनों बलसे लिखा है, जैसा कि तुलसीदास स्वामीका रामायण दोनों वलसे है। लोकमान्य तिलकके प्रवृत्ति-मार्गको आपने प्रमाण व युक्तियोंसे ऐसा खण्डन किया है कि अभूतपूर्व कल्पना आपने की है। इस पुस्तकसे देशका महान् कल्याण है। व्याकरण-न्यायादि शास्त्रों-पर हम भी वहुत टीकाएँ लिख चुके हैं, लेखरहस्य का हमको अनुभव है। आपका सुलेख हमको मुग्ध कर आपके दर्शनकी इच्छा करा रहा है।

(४) श्रीयुत हनुमान प्रसादजी पोद्दार, सम्पादक 'कल्याण' गोरखपुर—

यह कहनेकी आवश्यकता नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ आध्यात्मिक विषयकी खानि है और यदि इसका विस्तृत रूपसे प्रचार किया जाय तो निश्चय ही यह पाठकोंको अत्यन्त आध्यात्मिक लाभ प्रदान करेगा।

(५) 'हिन्दुस्तान', देहली—

यह आत्म-चिन्तन विषयक ग्रन्थ दो खंडोंमें विभक्त है। पहले खंडमें पुण्य-पापकी व्याख्या ६२ पृष्ठोंमें की गई है और मनुष्योंको पेटपालु, कुटुम्बपालु, जाति-प्रेमी, देशभक्त तथा तत्त्ववेत्ता प्रकारांतरसे उद्भिज्ज, कीट, पशु, मनुष्य और दैवत्वपूर्ण बताकर ६२वें पृष्ठसे आगे साधारण धर्मका विवेचन किया गया है। तथा इस साधारण धर्मके प्रकरणमें भी मनुष्योंके पामर, विषयी, निष्कामी, उपासक तथा वैराग्यवान् जिज्ञासु—पाँच भेद किये गये हैं। सिद्धार्थ अर्थात् लक्ष्य यह बताया गया है कि तत्त्ववेत्ता पुरुष ही संसारकी विभूति है और उसके बिना विश्वमें शांतिकी सच्ची स्थापना नहीं हो सकती। विद्वान् लेखकका अनुभव-आधारित अध्यात्मज्ञान सर्वत्र सरल शैलीद्वारा प्रस्फुटित हुआ है। कर्माकर्मका रहस्य, सगुणोपासना, पञ्च देवभक्ति आदि जटिलतर विषयोंकी बोधप्रद व्याख्या पाठककी पर्याप्त मनस्तुष्टि कर सकती है। इसके उत्तर या द्वितीय खंडमें लोकमान्य तिलकद्वारा प्रतिपादित इस सिद्धान्तका कि 'गीता-कर्म-

योगप्रधान शास्त्र है' निराकरण किया गया है। वास्तवमें गीताके ७०० श्लोक इतने लचीले हैं कि उनका बुद्धिपुरस्सर अर्थ करनेमें विद्वानोंको सुलभता रही है। कोई उसे अनासक्ति प्रधान, कोई उसे ज्ञानयोग प्रधान और कोई उसे द्वैताद्वैतका सम्मिश्रण मानते हैं। स्वामीजी ने—

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥

इस श्लोककी 'प्राप्यते' और 'गम्यते' क्रियाओंको लेकर कर्म-योगियोंसे ज्ञानयोगियोंकी जो अधिक महत्ता प्रतिपादित की है और गीताको ज्ञान-प्रधान सिद्ध किया है, उसमें उनकी तर्क-पद्धति वड़ी अभिराम है! पुस्तकके अन्तके ४० पृष्ठोंमें मनकी एकाग्रता सम्बन्धी विवेचना भी श्रद्धालु पुरुषोंके लिये कामकी वस्तु है। प्रयोजन यह है कि जिन्हें आत्मसम्बन्धी जानकारी-की वास्तविक इच्छा हो उनके लिये यह ग्रन्थ निश्चित रूपसे सच्चा मार्ग प्रदर्शन कर सकता है, ऐसी हमारी मान्यता है। ग्रन्थकी भाषा सरल एवं रोचक है और वेदान्त-जैसे जटिल विषयको समझानेमें लेखकको सफलता मिलना साधारण वात नहीं है।

—ब्रह्मदत्त शर्मा

(६) श्री १०८ पूज्य अमरचन्दजी मुनि, जैन आचार्य, 'जैन प्रकाश' मुम्वई।

मानव न केवल आत्मा है और न केवल शरीर। वह है, आत्मा तथा शरीरका एक मधुर संयोग। उसकी रचना दुहरी है। इस दुहरी रचनाके लिये खूराक भी दुहरी ही चाहिए, इसमें दो मत नहीं हो सकते! आत्माको आत्माकी खूराक और शरीरको शरीरकी खूराक देनेमें ही मानव-जन्मकी सार्थकता निहित है। आत्माकी खूराक है अहिंसा, सत्य, त्याग, वैराग्य, इन्द्रिय-संयम, तप आदि आत्मगुणोंमें सतत रमण करना, और शरीरकी खूराक है रोटी, मकान, कपड़ा आदि। आज जागतिक रंगमंचकी हलचलकी ओर जव आँख उठाकर देखते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है, मानो सारा विश्व आत्माको छोड़कर मात्र शरीरसे ही चिपट गया हो। भौतिक-

वादकी दौड़में प्रत्येक राष्ट्र पड़ोसीको पीछे छोड़ देनेमें ही अपनी कृतकृत्यता समझ वैठा है। मानवके मन-वच-कायमें भौतिकता ऐसी गहरी वैठ गई है कि उसकी बोल-चाल, रहन-सहन, सोचने-समझनेमें सर्वत्र भौतिकताकी ही छाप नजर आती है। ऐहिक महत्त्वाकांक्षाएँ, पदार्थ वाद की होड़ा-होड़ी, पार्थिवलिप्सा, रोटी और भोगविलासमें रचेपचे रहना—यही आजके मानव की सर्वोच्चताके मान-दण्ड बन गये हैं, ये ही आजके महत्त्वपूर्ण और जिन्दा प्रश्न बन गये हैं। परन्तु आत्मा जो भूखसे कराह रही है, उसकी चिन्ता आज किसे है? आज समूचे विश्वकी आत्मा भूखी है। वह तड़प रही है शान्तिके लिए, सुखके लिये, त्याग-वैराग्य एवं संयमकी आत्ममुखी प्रवृत्तिके लिए, जो उसकी असली खूराक हैं। यदि आत्मा को आत्माकी खूराक नहीं दी गई तो वह दिन दूर नहीं, जब विश्वका रंग-मंच त्राहि-त्राहिकी दर्दनाक आवाजसे कराह उठेगा।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि स्वामी आत्मानन्दजीने आत्माकी सच्ची खूराक जुटानेके लिये 'आत्म-विलास' के रूपमें एक स्तुत्य एवं अनुकरणीय रचनात्मक प्रयास किया है। आत्म-विलासमें है क्या? सीधी-सादी भाषामें आत्माकी बात, आत्म-रमणकी बात। साथमें भारतके जीवित वेदान्त-दर्शनकी पुट सोनेपर सुहागेका काम करती है। सच्चे सुख का झरना कहाँ वहता है? आत्म-शान्तिका उपाय क्या है? पुण्य-पाप क्या है? धर्मका प्राण क्या है? कर्मका महत्त्व क्या है? आदि प्रश्नोंका हृदयस्पर्शी विवेचन मनको वरवश अपनी ओर खींच लेता है। पुस्तक केवल कुछ पढ़े-लिखे तथा बुद्धि-जीवियोंके कामकी ही चीज न रहकर जनसाधारणके जीवनमें प्रवेश पानेयोग्य है। आत्म-रसके रसिक इस आत्म-निर्झरसे अधिक-से-अधिक लाभान्वित हों, एकमात्र यही मंगल कामना है।

(७) 'शान्ति-संदेश', खगड़िया (मुंगेर)–

विश्वके प्राणिमात्रमें आत्माका अधिवास है, पर आत्माका वास्तविक उन्नयन मानव-प्राणीमें ही सबल एवं सजीव रूपमें हुआ है। आत्मापर

अज्ञानका मैल जम जानेके कारण जीवमात्र अपने-अपने स्वरूप और विश्वके रहस्योंको जानने, समझने और परखनेमें असमर्थ है। विश्वके रहस्यों तथा प्रकृतिमाताकी दैनिक क्रियाओंसे परिचित हो जानेपर ही जीव आप ही परमात्माके रहस्यों और लीलाओंको जानकर उस जगन्नियंतासे साक्षात् कर निर्वाणका पद प्राप्त कर सकता है। अवस्था-भेद, शरीर-भेद और योनि-भेदके ऊपर अन्त:करण से विश्वास कर 'अहं' और 'स्वार्थ' को परित्याग करते हुए अपने-अपने उत्तरदायित्वको परिपालन करनेसे ही जीव सांसारिक कष्टोंसे मुक्त हो सकता है! 'आत्म-विलास' के विद्वान् और ज्ञान तथा अनुभवके धनी लेखकने अपनी सूझों, आत्मानुभूति, साधना और यौगिक क्रियाओंमें तल्लीन रहकर जो अनुभव प्राप्त किये हैं, उसे इस ग्रन्थमें सच्चे साधककी भाँति अभिव्यक्त कर दिये हैं। प्रकृतिमाताकी गोदमें सब समय जीव खेलते रहनेपर भी वह क्यों प्रकृति और ईश्वरके बतलाये तथा दिखलाये रास्तेसे दूर भागकर रात-दिन विषय-वासना, लोभ-लालच और छल-प्रपञ्चमें डूबा रहता है? इस प्रश्नका समाधान 'आत्म-विलास' नामक ग्रन्थके मनन, चिन्तन एवं पठन करनेसे ही होगा। यह ग्रन्थ वेदान्तका निचोड़ है। इस समय हिन्दी-साहित्यमें ऐसे ग्रन्थोंका सर्वथा अभाव-ही-अभाव है। अध्यात्मवादपर आस्था रखनेवाले प्रत्येक जिज्ञासुको ग्रन्थकी एक प्रति अपने पास रखनी चाहिये। हाँ, 'आत्म-विलास' में विषयोंका वर्गीकरण कर उसका प्रतिपादन, विश्लेषण तथा चित्रण जिस तरह किया गया है, उसे देखकर अटूट विश्वास होता है कि ऐसे ही ग्रन्थोंको अपने जीवनमें आश्रय देनेसे भारतीयोंका नैतिक स्तर ऊँचा होगा और हृदयमें मानवताका विस्तार हो सकेगा।

—श्रीरामवरणसिंह 'साथी'

श्रीआनन्द-कुटीर-ट्रस्ट, पुष्करद्वारा
प्रकाशित जीवनोपयोगी बहुमूल्य रचनाएँ

	नाम	पृष्ठ संख्या	मूल्य
(१)	पारसमणि (तृतीय संस्करण)	९१५	८·००
(२)	गीता-दर्पण (तृतीय संस्करण)	११००	७·५०
(३)	*आत्म-विलास (तृतीय संस्करण)	५४०	३·५०
(४)	ATMA-VILAS (English)	५००	८·००
(५)	श्रीमद्भगवद्गीता (पदच्छेद अन्वय सहित)	४६४	१·५०
(६)	*समता क्या है ?............	११२	०·७५
(७)	*मोक्ष प्राप्तिके दो विभिन्न मार्गोंकी भ्रमरूपता	८०	०·५०
(८)	गीताका प्रधान विषय तथा इसका अङ्क नं० २–३	२४०	१·५०
(९)	मनकी एकाग्रताका स्वरूप तथा तत्सम्वन्धी विभिन्न विचार व प्रार्थनाएँ	४०	०·२५
(१०)	हिन्दी–गीता (गीताका हिन्दीमें समश्लोकी अनुवाद)	१०९	०·५०
(११)	भगवद्गीता (भाषाटीका गुटका साइज़)		०·५०
(१२)	गीतोक्त योग क्या है ?...............	३०	०·२५
(१३)	ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः	७०	०·५०

पुस्तक मिलने के पते—

(१) श्रीआनन्द-कुटीर-आश्रम, पुष्कर (अजमेर)

(२) श्रीगणपतराम गंगाराम सर्राफ, नया बाजार, अजमेर

(३) श्रीजयपुर-पेपर-मार्ट, शारदा-भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर

*इन तीनों पुस्तकोंका गुजराती अनुवाद श्रीमणिलाल एण्ड ब्रादर्स, ६१९ रीड-रोड, अहमदाबाद–२ से मिल सकता है ।